महामाहेश्वरश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः

श्रीतन्त्रालोकः

व्याख्याद्वयोपेतः

[अष्टमो भागः]

कुलपतेः डॉ. मण्डनमिश्रस्य प्रस्तावनया समलङ्कृतः

हिन्दीभाष्यकारःसम्पादकश्च

डॉ. परमहंसमिश्रः 'हंसः'

योगतन्त्र-ग्रन्थमाला

[१७]

महामाहेश्वरश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः

श्रीतन्त्रालोकः

व्याख्याद्वयोपेतः

[अष्टमो भागः]

कुलपतेः डॉ० मण्डनमिश्रस्य प्रस्तावनया समलङ्कृतः

सम्पादकः

डॉ० परमहंसमिश्रः 'हंसः'

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः

वाराणसी

YOGATANTRA-GRANTHAMĀLĀ

[Vol. 17]

ŚRĪTANTRĀLOKA

OF

MAHĀMĀHEŚVARA ŚRĪ ABHINAVAGUPTAPĀDĀCĀRYA

[PART VIII]

With Two Commentaries

'VIVEKA'

BY

ĀCĀRYA ŚRĪ JAYARATHA

'NĪRAKSĪRAVIVEKA'

BY

DR. PARAMHANS MISHRA 'HANS'

FOREWORD BY

DR. MANDAN MISHRA

VICE-CHANCELLOR

EDITED BY

DR. PARAMHANS MISHRA 'HANS'

VARANASI

1999

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Director, Publication Department
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

First Edition, 1000 Copies
Price : Rs. 160.00

Printed by—
VIJAYA PRESS,
Sarasauli, Bhojubeer
Varanasi.

योगतन्त्र-ग्रन्थमाला

[१७]

महामाहेश्वरश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः

श्रीतन्त्रालोकः

[अष्टमो भागः]

श्रीमदाचार्यजयरथकृतया

'विवेक' व्याख्यया

डॉ० परमहंसमिश्रकृतेन

'नीरक्षीरविवेक'-हिन्दीभाष्येण

कुलपतेः डॉ०मण्डनमिश्रस्य प्रस्तावनया च समलङ्कृतः

सम्पादकः

डॉ० परमहंसमिश्रः 'हंसः'

वाराणस्याम्

२०५५ तमे वैक्रमाब्दे १९२० तमे शकाब्दे १९९९ तमे खैस्ताब्दे

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षकः —
निदेशकः, अनुसन्धान-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये
वाराणसी ।

□

प्रकाशकः —
डॉ० हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी
निदेशकः, प्रकाशनविभागस्य
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये
वाराणसी–२२१ ००२.

□

प्राप्ति-स्थानम् —
विक्रय-विभागः,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य
वाराणसी–२२१ ००२.

□

प्रथमं संस्करणम्, १००० प्रतिरूपाणि
मूल्यम्—१६०=०० रूप्यकाणि

□

मुद्रकः —
विजय-प्रेस
सरसौली, भोजूबीर
वाराणसी ।

प्रस्तावना

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥

एतादृशेष्वेव रससिद्धेषु साहित्येषु रससिद्धान्तप्रवर्त्तकाः पारिमित्यविलापितकाये शिवानन्दरसानुभूति-सम्भूतिसिद्धाः, तन्त्रागमपरम्परायाः पारिवृढ्य-प्रतीक-प्रज्ञापुरुषाः सोमानन्दप्रभृतिगुरुवर्याणां शैवानुग्रहसम्प्राप्तज्ञानविज्ञान-गौरवान्विता अत्रिगुप्तकुलकमलप्रकाशनभास्करभास्वरा महामाहेश्वरा योगिनीभुवां भूमानोऽभिनवगुप्तपादाचार्याः । तेषां चत्वारिंशत्कृतिरत्नेषु हीरक-प्रकल्पा **श्रीतन्त्रालोक** इति विश्रुतसंज्ञार्मविभूषिता अशेषागमोपनिषद्रहस्यरूपा रचना । कश्मीरनृपतिश्रीहरिसिंहजूदेवशर्मणा सञ्चालितया कश्मीरसिरीज इति प्रसिद्धिं गतया प्रकाशनसंस्थया सर्वप्रथमं प्रकाशितेयं मनीषिणां मनांसि समाहरत् । एकादशशताब्द एव सन्दृब्धा राजानकजयरथाचार्यप्रवर्त्तितया **विवेक**व्याख्यया संवलितेयं महती कृतिः कालक्रमेण स्वात्मसंविद्रश्मिरोचिष्णुतया शिवभक्तियोगसम्पन्नानां साधनाया आधारभूता ऊनविंशेऽस्मिन् शताब्दे लखनऊविश्वविद्यालयस्य प्राध्यापकेन स्व० कान्तिचन्द्रपाण्डेयेन विदुषाऽऽङ्ग्ल-भाषामाध्यमेन गवेषणाविषयीकृता ।

तत्पश्चात् सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य पूर्वमन्तेवासिभिः शाम्भवाद्वैतसंवित्तादात्म्यसिद्धैः **डॉ० परमहंसमिश्र**शुभाभिधेयैः साधकशिरोमणिभिः **नीर-क्षीर-विवेक**भाष्येण संविभूषितः श्रीतन्त्रालोकः सम्पूर्णानन्द-संस्कृतविश्वविद्यालयतः सुप्रसादात्शिवस्यैव क्रमशः प्राकाश्यं नीतः ।

तस्यायमागमिकग्रन्थरत्नस्याष्टमो भागः । विमर्शश्रियश्चाष्टदलेष्वष्ट-मातृकामाहात्म्यं मनोज्ञतया सुगुम्फितमनुभूयते । तन्त्रालोके श्रीचक्रमण्डले ब्राह्म्या ब्रह्ममयत्वम्, माहेश्वर्या माहेश्वरसामरस्यम्, वैष्णव्याः सर्वव्यापकत्वं तथैवान्यासामपि मातृणां विश्वव्यवस्थापनसामर्थ्यम्, सर्ववृत्तिसञ्चालनसर्वा-धिनायकत्वम्, संवित्साम्राज्या विमर्शसाचिव्यम्, चिन्मयचमत्कारप्रचारचण्डत्व-चरिष्णुचारित्र्यं च चातुर्येण चरितार्थ्यन्ते ।

विश्वात्मकेऽस्मिन्सम्प्रसारे भावानां घातप्रतिघातमयं मायात्मकस्य सद्विद्यामयत्वस्योभयाकारमवभासं प्रकाशयन्तो शैवसंवित्तिः श्रीतन्त्रालोकस्य प्रतिभागरूपकिरणदर्पणेषु प्रतिबिम्बिता मनीषिणां मनांसि मोदयन्ती समुल्लसति ।

गोषु गोत्वधवलत्वादिवद् विश्वस्मिन् सम्प्रसारे सामान्यविशेषविषयतया भेदप्रथैव प्रथिता प्रथते। तत्र सामग्रीवादमाश्रित्य सार्वात्म्यमेव समग्रप्रत्यया-त्प्रतिभासते—

सामग्री च समग्राणां यद्येकं नेष्यते वपुः।
हेतुभेदान्न भेदः स्यात्फले तच्चासमञ्जसम्॥ (श्रीत० ९।३०)

इति नीत्या एकप्रमातृविश्रान्तिलक्षणं ज्ञानमेव मनीषां मोदयति। वस्तुत एकप्रमातृविश्रान्तिलक्षणं ज्ञानमेव मुक्तिमाविष्करोति। श्रीतन्त्रालोकस्य मुख्यं प्रतिपाद्यं मोक्षप्रदत्वमेव। अत एव समुद्घोष्यते श्रीतन्त्रालोके—

स्वात्मन्येव चिदाकाशे विश्वमस्म्यवभासयन्।
स्रष्टा विश्वात्मक इति प्रथया भैरवात्मता॥
(श्रीत० ३।२८३)

मह्यं महते मोदायेदं समपद्यत यत् श्रीतन्त्रालोकस्य निखिलागम-विश्वकोषस्य भाष्यमपि सुप्रसिद्धैः साधकैरेव समपादि। चिदैक्यचमत्कार-चारुत्वचित्रितं भाष्यं तन्त्राध्येतॄणां श्रेयसेऽस्त्विति भाष्यकारा भूयोभूयोऽभिनन्द्यन्तेऽस्माभिरिति।

प्रकाशननिदेशकाः श्रीमन्तो डॉ० हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठिमहोदया अस्मिन् सन्दर्भेऽभिनन्दनीयाः। तेषां मनोयोगेन प्रकाशनसौविध्यं स्वयं शिव एव विदधाति। वर्द्धन्तां हरिश्चन्द्रश्रेयांसि प्रकाशनप्रेयांसि, सौमनस्यं च यान्तु समेषां मनांसीति।

मुद्रकः श्रीगिरीशचन्द्रश्चाभिषिच्यते आशीर्भिरिति शिवम्।

वाराणस्याम्
श्रीरामनवम्याम्,
वि० सं० २०५१

मण्डनमिश्रः
कुलपतिः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

पुरोवाक्

पं० परमहंस मिश्र तन्त्रशास्त्र के अध्येता हैं, केवल यह जानता था। पर जब मैं कई वर्ष पूर्व तन्त्रसार पर उनका अनुवाद देखा, तो उनकी विद्वत्ता की गहराई का कुछ-कुछ अन्दाज लगा। तन्त्र के क्षेत्र में मेरा प्रवेश नया है पर उतने से ही मैं यह अनुभव करता हूँ कि, यह क्षेत्र सुगम नहीं है। इसका दर्शन देखने में तो केवल एक महाजाल लगता है, पर साधक की दृष्टि से देखें, तो यह दर्शन समस्त सृष्टि की परस्पर सम्बद्धता को समझने के लिये शास्त्र भी है, प्रक्रिया भी है। पं० परमहंस मिश्र बरसों से साधना कर रहे हैं और तब उन्हें यह दृष्टि मिली है कि, वे तन्त्र के रहस्यों को सर्वसाधारण के सामने युक्तिपूर्ण ढंग से रख सकें। मैंने ही उनसे अनुरोध किया कि, आपने तन्त्रसार लिखकर केवल बानगी दी है। तन्त्रालोक की व्याख्या का कार्य अपने हाथ लीजिये। उन्होंने मेरी बात का आदर किया और लगभग सात वर्षों में समग्र तन्त्रालोक की व्याख्या आठ खण्डों में पूरी की। प्रस्तुत खण्ड अन्तिम खण्ड है। मैं सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में जब कुलपति था, तो मैंने यह योजना उन्हें सौंपी थी और उस समय पहला खण्ड ही छप पाया था। मुझे कितनी प्रसन्नता हुई जब यह काम पूरा हुआ, इसका अनुमान कोई भी लगा सकता है। एक यज्ञ जैसा अनुष्ठान पूरा हुआ। परमहंस जी यज्ञ ही के रूप में इसे लेते रहे और पैर में पलास्टर बँधा था, तब भी वे अविराम गति से अपनी व्याख्या का कार्य चलाते रहे। इसीलिये इतनी विशद, सर्वांगपूर्ण व्याख्या पूरी हुई और उनकी देखरेख में छप भी गई।

तन्त्र दर्शन के बारे में लोगों की रुचि अनेक कारणों से है पर जितनी अधिक रुचि जाग्रत हो रही है उतनी ही अधिक इसके बारे में भ्रम भी फैलता जा रहा है। इस दर्शन को जादू-टोना, सिद्धि और वर्जित आचार की छूट के लिये प्रशस्त पथ मानने का भ्रम बहुत है, जब कि वास्तविकता यह है कि, तन्त्र दर्शन नहीं है। अनवरत साधना और साधना के द्वारा ऐसे अनुभव का दर्शन है, जिसमें आत्मा नर्तक हो जाता है, अन्तःकरण रंगमंच और इन्द्रियाँ दर्शक हो जाती हैं और जब वे आत्मस्वरूप की लीला देखती हैं, तो उनके लिये कोई वस्तु विषय नहीं रह जाती, वस्तुमात्र विषयी बन जाती है। ऐसा

अनुभव जीवन में ही पाया जा सकता है और यह अनुभव जीवन का अंश बन सकता है। यह तन्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य है। वह न तो दृश्य संसार का निषेध करता है, न इसके विषयों का तिरस्कार करता है। इन सबको ऐसी भूमिका में ढालता है, जिसमें पड़ने पर आत्मतत्त्व या प्रकाश तत्त्व कुछ भी निरपेक्ष नहीं रह जाता और विषय वस्तु वस्तु नहीं रह जाती है।

पं० परमहंस मिश्र ने परत-दर-परत तन्त्र के उन रहस्यों को खोलने का प्रयास किया है, जिनको समाहित मन से महायोगी अभिनवगुप्त पादाचार्य ने हजारों ग्रन्थों से अपनी पूर्ववर्ती परम्पराओं से और अपने गुरुओं से प्राप्त किया था और उनको एक सूत्र में गूँथा। तन्त्रालोक पहले पाठ मात्र काश्मीर सिरीज से छपा था। उसी का पुनर्मुद्रण कुछ वर्षों पहले मोतीलाल बनारसीदास ने किया। अभिनबगुप्त पर पहला गहन अध्ययन स्व० कान्ति चन्द्र पाण्डेय ने किया और उसका साधकीय दृष्टि से अध्ययन स्व० पं० रामेश्वर झा ने किया। पं० परमहंस मिश्र ने अपने सभी पूर्ववर्ती अध्ययनों को अपने सामने रखा। व्याख्या करते समय उनका केन्द्रीय ध्यान अर्थ सगति पर रहा है। पूरा तन्त्रालोक उनके लिये इस प्रकार एक वाक्य है—यह बात उनकी व्याख्या में जगह-जगह दिये गये सन्दर्भों से स्पष्ट हो जाती है। मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि, यह ग्रन्थ सुरुचि के साथ संस्कृत विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया और पं० परमहंस मिश्र जी का तो संकल्प पूरा ही हुआ, साथ ही मेरी भी इच्छा पूरी हुई। मुझे पूर्ण विश्वास है कि, विद्वत् समाज और तन्त्र जिज्ञासु समाज तन्त्रालोक के नीर-क्षीर विवेक भाष्य का रस लेगा और यह देखेगा कि, किस प्रकार से जयरथ के विवेक भाष्य का यह पूरक है।

मेरी हार्दिक शुभकामना है कि, पं० परमहंस मिश्र उत्तरोत्तर इसी प्रकार सार्थक अध्ययन-लेखन के द्वारा संस्कृत प्रेमियों को उपकृत करते रहें।

विद्यानिवास मिश्र

दिनांक : ११-३-१९९९

स्वात्मविमर्श

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित प्राप्त ग्रन्थों में सर्वातिशायी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ श्रीतन्त्रालोक ही है। यह एक आकर ग्रन्थ है। उस समय प्रचलित समस्त शैवागम परम्पराओं और पद्धतियों का यह आदर्श प्रतीक रूप सारस्वत प्रयास है। इसे अशेषागमोपनिषद् कहकर आचार्यों ने इसके महत्त्व को स्वीकार किया है।

इसका प्रतिपाद्य विषय क्या है ? इस विषय में विद्वद्वर्ग में मतैक्य नहीं है। कुछ लोग यह कहते हैं कि, कुल दर्शन का ही इसमें मुख्यतः प्रतिपादन है। अभिनवगुप्त अनुत्तर और अकुल तत्त्वों की कौलिकी शक्ति के उपासक थे[1]। कौलिकी शक्ति को ही ये पराशक्ति मानते थे। इस आधार पर उन्हें कौल कहते हैं।

अधिकांश लोग उन्हें प्रत्यभिज्ञावादी मानते हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन शैवागम का एक मुख्य अंग है। इसे त्रिक दर्शन कहते हैं। इस परम्परा के आचार्यों की मान्यता के अनुसार शिव के दो रूप हैं। १. विश्वोत्तीर्ण और २. विश्वमय। इस प्रकार विश्वविस्तार और इसे अतिक्रान्त कर व्याप्त समस्त विश्वविस्फार को तीन दृष्टियों से देखना पड़ता है।

१. शैवात्मक व्याप्ति, २. शाक्त व्याप्ति और ३. नरात्मक सृजन सम्पत्ति[2]। इसी को श्रीतन्त्रालोक यह मानता है कि, अहंपरामर्शमय परात्मक महास्फुरत्ता रूप परमेष्ठि के हृदय में नरशक्तिशिवात्मक यह विश्व अविभाग रूप से लीन है—

---

१. अनुत्तरं परं धाम तदेवाकुलमुच्यते।
विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते ॥ (३।१९५)
अकुलस्यास्य देवस्य कुलप्रथन-शालिनी।
कौलिकी सा पराशक्तिरवियुक्तो यया प्रभुः ॥ (३।६७)

२. आ० १।१११ में भी त्रिधाभेद सत्ता का उल्लेख इन्होंने किया है।

अत्र विश्वमिदंलीनमत्रान्तःस्थं च गम्यते ।
इदं तल्लक्षणं पूर्णशक्ति भैरवसंविदः ॥ ५।११३ ॥

इसी को नृशिव शक्त्यविभागवत् अव्यक्तलिङ्ग शब्द से भी व्यक्त किया गया है। शैव समावेश, शाक्त समावेश और आणव समावेश क्रमशः शिवात्मकता, शक्तिमत्ता और नरात्मकता के स्वरूप को ही व्यक्त करते हैं। यह मौलिक त्रिक दृष्टि है। श्रीतन्त्रालोक में विज्ञान भेद से प्रारम्भ कर नर-शक्ति शिवात्मकता के सन्दर्भ में जननादि समन्विता दीक्षा तक के १७ आह्निकों में इसी दृष्टि की प्रधानता है। इसकी महत्ता के विशिष्ट प्रतिपादन के कारण महामाहेश्वर को प्रत्यभिज्ञावादो मानना भी युक्ति और प्रमाणसंगत है।

त्रिकदर्शन षडर्ध दर्शन भी कहलाता है। 'वर्ण, पद-मन्त्र' तथा 'तत्त्व कला और भुवन' रूप अध्वावर्ग में दो त्रिक स्पष्ट है। अनुत्तर, इच्छा और उन्मेष का जितना मौलिक विश्लेषण श्रीतन्त्रालोक में है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। उत्तम, मध्यम और अन्य पुरुष, एकवचन, द्विवचन और बहुवचन रूप वैयाकरण सन्दर्भ इसी शिव, शक्ति और नरात्मक दृष्टि से प्रभावित है। त्रिदेव, त्रिनेत्र, शक्तित्रय, त्रिस्वर, त्रैलोक्य, त्रयी, त्रिपदा गायत्री, त्रिब्रह्म, त्रिवर्ग यह सब त्रिक दृष्टि के पोषक हैं। इन सबके सन्दर्भ श्रीतन्त्रालोक में हैं। इसके समर्थक अभिनवगुप्तपाद भी प्रत्यभिज्ञावादी आचार्य कहे जा सकते हैं।

प्रतिभाशाली, भविष्यदुत्कर्ष की लाक्षणिकता से विलक्षण, मेधावी छात्र और ग्राहिका शक्ति के अप्रतिम प्रज्ञा के प्रतीक अभिनव को पाकर कोई भी गुरु प्रसन्नता का अनुभव करता था। श्रीतन्त्रालोक में इन्होंने अपने गुरुजनों का खुलकर उल्लेख किया है। ये गुरुजनों के घर पर भी रहते थे—'करोति दास्यं गुरुवेश्मसु स्वयम्' (श्रीत० ३७।५९)। इनकी सेवा से सभी प्रसन्न हो जाते थे। श्रीतन्त्रालोक में स्पष्ट उल्लेख है कि,

एते सेवारसविरचितानुग्रहाः शास्त्रसारं
प्रौढादेशप्रकटसुभगं स्वाधिकारं किलास्मै ।
यत्संप्रादुः .... ॥ (श्रीतन्त्रालोक, अ० ३७।६३)

सर्वप्रथम इनके गुरुदेव इनके पितृचरण श्रीनरसिंह गुप्त ही थे (३७।५८)। इनके अतिरिक्त इनके गुरुजनों के उल्लेख भी श्रीतन्त्रालोक में हैं। जैसे—

१. श्रीकण्ठ—(भुवि प्रथितः)[१]

२. श्री सुमतिनाथ के शिष्य श्री शम्भुनाथ[२]।

३. श्रीवामननाथ (आमर्दसन्ततिमहार्णवकर्णधारः)[३]।

४. श्रीभूतिराजतनय (श्रीनाथसन्ततिमहाम्बरधर्मकान्तिः)[४]।

५. श्रीभूतिराज (यः साक्षादभजच्छ्रीमान् श्रीकण्ठो मानुषीं तनुम्)[५]।

६. श्रीलक्ष्मण गुप्त (त्र्यम्बकप्रसरसागरशायिसोमानन्दात्मजोत्पलज-लक्ष्मणगुप्तनाथः)[६]।

७. चतुर्दश गुरु (श्रीचन्द्र, भवानन्द, भक्तविलास, योगानन्द, अभिनन्द, शिवशक्तिनाथ, विचित्रनाथ, धर्मानन्द, शिवानन्द, वामनाथ, उद्भटनाथ, भूतेशनाथ, भास्कर और श्रीमुखानन्दनाथ)[७]।

साहित्य शास्त्र के इनके गुरु श्री इन्दुराज और श्री भट्टतौत थे। अधर शासन के गुरुजनों का भी इन्होंने सादर उल्लेख किया है[८]। चतुर्थ आह्निक में विभिन्न गुरुजनों का नामोल्लेख है।

ये योगिनी भूःस्वरूप सिद्ध महापुरुष थे। ऐसे सिद्ध महापुरुष का लक्षण सहित चित्रण आह्निक ८ में किया गया है। उसके अनुसार रुद्रशक्ति समावेश सिद्ध, ध्रुव, अनन्य रुद्रभक्तिप्रवण, मनन और त्राणप्रक्रिया कृतार्थ, प्रारब्ध कार्य निष्पत्ति रूपा सिद्धि से विभूषित, कवित्व शक्ति सम्पन्न और सर्वशास्त्ररहस्यवेत्तृत्व विभूषित प्रज्ञा पुरुष योगिनी भूः होता है। ये सभी लक्षण उनमें चरितार्थ होते थे। 'श्रीतन्त्रालोक' सदृश आगमोपनिषद् रूप आकर ग्रन्थ उनके महान् व्यक्तित्व का सारस्वत प्रमाण है। उनके शिष्य 'मधुराजयोगिन्' ने उन्हें श्रीकण्ठ के साक्षात् अवतार रूप में प्रतिष्ठित किया है और उन्हें दक्षिणामूर्ति के प्रत्यक्ष विग्रह रूप में चित्रित किया है। इसी आधार पर

---

१. श्रीत० १।९, २. श्रीत० ५।४१, १।१३ पृ० ४०, ४३।
३. श्रीत० ३७।६० ४. श्रीत० ३७।६०, ५. ३।१९४।
६. ३७।६१, ७. ३७।६२, ८. श्री० १३।३४५।

डॉ० के० सी० पाण्डेय ने उनका चित्र निर्मित कराकर अपने विश्वप्रसिद्ध 'अभिनवगुप्त' नामक प्रबन्ध में मुद्रित कराया था। यह मेरा परम सौभाग्य है कि, मुझे स्वयं स्वप्न दर्शन से उन्होंने कृतार्थ किया। वह चित्र मेरे नेत्रफलक पर विद्यमान है। मैं उन्हें अपना परमेष्ठि गुरु मानता हूँ।

श्रीतन्त्रालोक की आलोकमयी आभा विभा से विभासित होते मेरे नौ वर्ष व्यतीत हो गये हैं। सन् १९८९ में 'श्रीतन्त्रसार' का द्वितीय खण्ड प्रकाशित हो गया था। उसके बाद ही मैंने इस महान् आकर ग्रन्थ रूप आगमिक उपनिषद् के भाष्य लेखन के लिये लेखनी का स्पर्श किया था। मैंने श्रीतन्त्रा-लोक के प्रथम खण्ड के स्वात्म विमर्श के प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि, इस महान् कार्य में कैसे प्रवृत्त हुआ, किसकी प्रेरणा से प्रवृत्त हुआ और किसकी अनुग्रह-सुधा से सिक्त रहता हुआ इस सारस्वत महाप्रयास में सतत संलग्न रह सका। मेरी संलग्नता क्या थी, एक चमत्कार था। सारस्वत आसन पर विराजमान होते ही मेरा हृदय एक नये आलोक से आलोकित हो उठता था। मेरी चेतना भूतकालिक उस वर्त्तमान में चली जाती थी, जिस समय मेरे परमेष्ठी गुरु महामाहेश्वर अभिनवगुप्त श्रीतन्त्रालोक का निर्माण कर रहे थे। मेरे ऊपर उनकी अपार अनुकम्पा की वर्षा सी हो रही होती थी। मुझे उनके जिस दिव्यरूप के दर्शन का सौभाग्य मिला, वह रूप मेरे अस्तित्व को कृतार्थ कर गया। मैंने महा मनीषी जयरथ के भी दर्शन पाये। उन्हें मैंने जिस वज्रासन पर प्रौढ भाव से अपने गुरुदेव के समीप बैठे देखा था, मुझे अचरज हुआ कि, यह तो मेरा अपना सिद्ध आसन है। इसी आसन पर बैठ कर मैंने सारा तन्त्रालोक भाष्य लिखा है। मैं इस पर लगातार छः छः घंटे बैठता था। मेरुदण्ड के साथ प्राण भी दण्डाकार होकर चेतना केन्द्र में स्पन्दित रहता था। उसी में तन्त्रालोक के रहस्यार्थ का आकलन होता था और लेखनी का विषय बनता जाता था।

लेखनी के अग्रभाग में गणपति, अंगुलियों के स्पन्द में अम्बिका, बाहुओं में वज्रधारिणी का निवास और मस्तिष्क में संवित्ति का वार्णिक उल्लास रहा है। यह मेरे अवरोध रहित अजस्र लेखन का इतिहास है। आज यह मेरा इतिहास बन गया है। श्रीतन्त्रालोक भाष्य मेरे ७२ वें जन्म दिन पर सन्

१९९८ श्रावण शुक्ल सप्तमी के दिन पूरा हो गया है। इसके साथ, विवेककार जयरथ के ४७ श्लोक परिशिष्ट [अ] तन्त्रसार का साररूप लघुकाय तत्रग्रन्थ 'तन्त्रोच्चय' परिशिष्ट [आ] और श्री अभिनव विरचित उपलब्ध स्तोत्र-द्वादशिका परिशिष्ट [इ] को भी संयुक्त कर दिया गया है। पूरे श्रीतन्त्रालोक के आठवें और अन्तिम खण्ड का यह सारस्वत प्रकाश आप तक पहुँच रहा है, यह मेरे लिये सौभाग्य का विषय है।

सर्वप्रथम इस महान् ग्रन्थ का पूरा सदुपयोग मैंने 'तन्त्रसार' नामक तन्त्र ग्रन्थ की भाष्य रचना के समय किया था। इसके स्वाध्याय में कुछ ऐसा लगा था, मानो यह पूरा ग्रन्थ सन्दर्भ मेरे संस्कारों से सम्पृक्त रहा हो। कई बार ऐसे अवसर आये, जहाँ मेरी मनीषा को अतिक्रान्त कर कुछ ऐसा लिख जाता था; जिसे पढ़ कर मैं प्रसन्न हो उठता था। मुझे इस लेखन में अदृश्य सहायता मिलती थी। मेरी चेतना के निर्मल मुकुर में कभी दीक्षा गुरु श्री लक्ष्मणजू देव, कभी राजानक जयरथ, कभी स्वयं महामाहेश्वर की झलक मिलती थी। कभी जब रहस्यार्थ का अनुसन्धान नहीं हो पाता था, तो परमाम्बा की ओर मनुहारभरी दृष्टि से निहारने लगता। माँ की स्मिति रश्मियों से संवित्ति सुधा की फुहार मुझे भिगो जाती और लेखनी में महा स्फुरत्ता सी उतर आती। मैं कृतार्थ हो जाता और लेखन चल पड़ता। इस तरह मेरी पगदण्डी राजमार्ग में बदल जाती थी। आह्निक पर आह्निकों के भाष्य इसी प्रकार रूप ग्रहण करते चले गये। इस तन्त्र-यात्रा में मेरे नौ वर्ष कैसे बीतते चले गये, भाष्य के प्रत्येक वर्ण इसके साक्षी हैं।

यह तो हुई एक समर्पित भाषा-भाष्यकार साधक की आपबीती। श्रीतन्त्रालोक के व्यापक स्वाध्याय के सभी सन्दर्भ, जिनसे होकर मुझे यह तन्त्र यात्रा पूरी करनी पड़ी है, अब तक सात खण्डों के प्रकाशनों में उन पर प्रकाश डाला गया है। इस अन्तिम भाग में उन मुख्य आह्निक प्रतिपाद्य विषयों पर एक दृष्टि निक्षेप आवश्यक है। प्रथम आह्निक के क्रम से इसे मैं आप के समक्ष रख देना चाहता हूँ।

श्रीतन्त्रालोक के ३७ आह्निकों में सारा आगम विज्ञान प्रतिपादित किया गया है। आह्निकों के क्रमानुसार उसमें तान्त्रिक विज्ञान के प्रायः सभी

विषय आ गये हैं। प्रत्येक खण्ड के अनुसार वे श्लोक संख्या के साथ क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. प्रथम भाग आ०—१. विज्ञान भेद श्लोक सं० ३३३, २. अनुपाय विज्ञान [५०] और ३. शाम्भवोपाय [२९३]

२. द्वितीय भाग—४. शाक्तोपाय [२७८], ५. आणवोपाय [१५८]
६. कालतत्त्व [२५१], ७. चक्रोदय [७१]

३. तृतीय भाग—८. देशाध्वा [४५२], ९. तत्त्व स्वरूप [३१४]

४. चतुर्थ भाग—१०. तत्त्वभेद [३०९], ११. कलाध्वा [११८]
१२. अध्वोपाय [२६], १३. शक्तिपात [३६१]

५. पञ्चम भाग—१४. दीक्षा [४६], १५. समयदीक्षा [६१३]

६. छठाँ भाग—१६. प्रमेय [३११], १७. नर-शक्ति-शिव सन्दर्भ में जननादिसमन्विता विक्षिप्त दीक्षा [३२२]
१८. संक्षिप्त दीक्षा [११], १९. सद्यः उत्क्रान्ति [५६]
२०. तुला दीक्षा [१५], २१. परोक्ष दीक्षा [२१]
२२. लिङ्गोद्धार [४८], २३. अभिषेक [१०३]
२४. अन्त्येष्टि दीक्षा [२४], २५. श्राद्ध [२९]
२६. शेषवृत्ति [स्थण्डिलयाग ७६] २७. लिङ्गार्चा [५९]

७. सातवाँ भाग—२८. पर्वपवित्रकादिविधि [४३४],
२९. रहस्य विधि [२९१]

८. आठवाँ भाग—३०. मन्त्र विद्या [१२३], ३१. मण्डल सद्भाव [१६३]
३२. मुद्रा [६७], ३३. एकीकार [३२]
३४. स्वस्वरूपप्रवेश [४], ३५. शास्त्रमेलन [४४]
३६. आयातिक्रम [१६], ३७. शास्त्र प्रयोजन एवम् स्वात्मेतिवृत्त [८५]

इसके अतिरिक्त इस भाग में, जयरथकृत 'तन्त्रोच्चय' नामक लघुकाय ग्रन्थ और अभिनवविरचित एवं प्राप्त बारह स्तोत्र भी अर्थ सहित मुद्रित हैं। इससे इस भाग की उपयोगिता और बढ़ गयी है।

इस तरह आठ भागों में ३७ आह्निकों के ३७ प्रमुख विषयों और असंख्य अवान्तर विषयों को ५०८७ श्लोकों के माध्यम से शास्त्रकार ने व्यक्त किया है। इस पर भाषाभाष्य का यह सारस्वत महाप्रयास इसमें रूपायित है। पाँच हजार पृष्ठों में प्रकाशित यह आगमोपनिषत् संस्कृत वाङ्मय का विश्वकोश है, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। इस महान् आकर ग्रन्थ का स्वाध्याय करने वाला, अवश्य शैवमहाभाव के ध्रुव धाम में अधिष्ठित हो जाता है, यह ध्रुव सत्य है।

श्रीतन्त्रालोक की ही चर्चा चल रही थी। पद्मभूषण पूज्य प्रो० विद्यानिवास मिश्र जी ने अकस्मात् हमसे कहा—आपने इसके लिये इतना समय लगाया, परिश्रम किया। थोड़े में यह बताइये कि, अन्य शास्त्रों से और दार्शनिक मान्यताओं से इसमें क्या वैशिष्ट्य है ? वह कौन सा तत्त्व है, जिससे इसको महत्त्वपूर्ण माना जाय ? मैंने तो इस दृष्टि से अभी सोचा भी नहीं था। मुझे लगा, एक महाप्राज्ञ पुरुष अपने विशाल विमर्श स्तर से मेरी समझ को सहला रहा है। मैंने शाम्भव समावेश, बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद अनुपाय विज्ञान की बात की तो, उन्होंने छूटते ही कहा–ब्रह्म के प्रतिपादन में अनेक औपनिषदिक सन्दर्भ समावेश की बात का प्रतिपादन करते हैं। बिम्बप्रतिबिम्बवाद को भी अन्य शास्त्रों में चर्चा है। यह तो कोई महत्त्व हुआ नहीं। अनुपाय विज्ञान का नाम लेने पर उन्होंने कहा—यह भी 'सहज' भाव के अतिरिक्त कुछ नहीं है। मैं श्रीतन्त्रालोक में व्यक्त रहस्य—साधना विधियों की बात की तो उन्होंने कुछ हामी सी भरी और कहा—साधना विधि में उतरने को बात मानी जा सकती है।

वस्तुतः पातञ्जल योग हठ योग की श्रेणी में आता है। तान्त्रिक योग प्रक्रिया सरल भाव से विधि में उतारने की प्रक्रिया है। श्रीतन्त्रालोक में विधियों के द्वारा स्वात्म को जानने की सरल विधियाँ हैं। यद्यपि 'विज्ञान-भैरव में ११२ विधियों के द्वारा स्वात्मसंवित्तादात्म्य की बात भी है किन्तु श्रीतन्त्रालोक के एतद्विषयक विमर्श का क्षेत्र अत्यन्त विशाल है। इसमें प्राणापानवाह प्रक्रिया, क्षेप, आक्रान्ति, चिदुद्बोध, स्थापन, दीपन, तत्संवित्ति और तदापत्ति साधना, त्रिशूलाब्ज मण्डल साधना, पञ्चपिण्डनाथ की

व्यापकता में व्याप्त होने की साधना के साथ, करणेश्वरी स्वरूप, वर्णोदय विज्ञान, कालोदय विज्ञान द्वारा महास्फुरता के मूल में अनुप्रवेश की साधना, श्वासजित् अवस्था में चेतसिक चिन्तन साधना और अकिंचित् चिन्तन द्वारा महाप्रबोध साधना का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन है। बीजाक्षरों और बीज मन्त्रों के शाक्त परिवेश का आकलन और उनका प्रायोगिक महत्त्व, अलंग्रास रस और हठपरिपाक रस, महाजाल प्रयोग आदि ऐसे विषय हैं, जो इस शास्त्र को सर्वातिशायी महत्त्व प्रदान करते हैं।

पहले के भागों में सभी आह्निकों के सम्बन्ध में सार निष्कर्ष दिया गया है। इस भाग में आह्निकों के सम्बन्ध में अत्यन्त संक्षेप रूप से कुछ मूल-भूत तथ्यों की ओर ही आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ—

१. आह्निक ३०—इस आह्निक में महामाहेश्वर ने त्रिक, कुल और क्रमदर्शनों में प्रयुक्त मन्त्रवर्ग का वर्णन किया है। यद्यपि मन्त्रों की रहस्यमयता के कारण इन्हें अत्यन्त सुगोप्य मानते हैं, फिर भी इन्हें प्रकट कर महामाहेश्वर ने साधकों का परम कल्याण किया है। तन्त्र की यह मान्यता है कि, नात्यन्तं गोपनीयं क्वचित् उद्घाटनीयं च। इसी दृष्टि से इस आह्निक में अत्यन्त कृपा कर आवश्यक मन्त्रों का उल्लेख किया गया है। इनकी मुख्य विशेषताओं की जानकारी के लिये इस आह्निक का स्वाध्याय करना चाहिये।

२. आह्निक ३१—इसमें तत्कालीन समाज में प्रचलित मण्डल रचना पर विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी है। विकल्पों के आधार पर इनके तीन करोड़ इकहत्तर लाख अट्ठावन हजार ९५२ भेदों की कलना की गयी है।

३. आह्निक ३२—में मुद्राओं का उल्लेख है। उनके बनाने की विधियों का विशद विवेचन है। सभी मुद्राओं में महत्त्वपूर्ण खेचरी मुद्रा मानी जाती है। योगसंचारशासन के अतिरिक्त, वीरावली शास्त्र के अनुसार भी इसका और इसके त्रिशूलिनी करङ्किणी आदि भेदों का वर्णन भी इसमें किया गया है। योन्याधार शूलमूला इस विद्या का अप्रतिम महत्त्व इसमें वर्णित है। श्रीकामिक शास्त्र में इसके स्वरूप का उल्लेख उपलब्ध है।

श्री कुलगह्वरशास्त्र तो यहाँ तक कहता है कि, 'एका मुद्रा खेचरी' और 'एकं बीजं सृष्टिमयम्', शेष मुद्राओं को वह देह विक्रिया मानता है।

४. ३३वाँ आह्निक एकीकार आह्निक माना गया है। एक तरह से यह चक्रभेद का ही एकीकार है। चक्रों की नदी का यह द्वीप है। चक्रों से यह देवीचक्र, मूर्त्तिचक्र, २४ अरा चक्र के देव और देवियाँ, श्रीकण्ठ चक्र, देवचक्र, मालिनी चक्र आदि का अर्थ लिया जाता है। इनके अतिरिक्त चित्प्रकाश, शक्ति-शक्तिमान् विभाग और तुर्याविश्रान्तिमयी मातृसद्भाव की अवस्थाओं पर विशद प्रकाश डाला गया है।

५. ३४वें आह्निक का नाम 'स्वस्वरूप प्रकाश' है। यह सबसे छोटा आह्निक है किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें क्रमोदित विबोध की महामरीचियों के प्रसार से भैरव भाव में उपलब्ध होने का संकेत है। उपाय निरपेक्ष स्वात्मतत्त्व में अनुप्रवेश ही जीवन का लक्ष्य है। यह अनुपाय विज्ञान से ही सम्भव है।

६. ३५वें आह्निक का नाम शास्त्रमेलन है।

इसमें प्रसिद्धि और आगम का विशद विवेचन है। मानव जीवन का सारा व्यवहार संचालन असर्वज्ञ प्रमाता से संभव नहीं। व्यवहार सिद्धि में प्रसिद्धि ही मुख्य हेतु है। यद्यपि इस अर्थ में प्रसिद्धि अपरिचित है, पर शास्त्रीय दृष्टि से पूर्वाहंपरामर्शमय सर्वज्ञ परमेश्वर ही प्रसिद्धि निबन्धक माना जाता है।

शैव और बौद्धादि भेद से प्रसिद्धि में यद्यपि भेद है फिर भी शाम्भवागम ही धर्म-अर्थ, काम और मोक्ष में एक मात्र उपाय माना जाता है। शैवागम ही त्रिक शब्दित परम धाम है। यही कुल है—'कुलमन्तः प्रतिष्ठितम्' के अनुसार शैवागम महत्त्वपूर्ण आगम है। उसी प्रकार स्वयूथ्यपरयूथ्यगा प्रसिद्धि का भी सर्वाधिक महत्त्व है। प्रसिद्धि और आगम की दृष्टियों से शास्त्रमेलन एक आवश्यक विद्याङ्ग हो जाता है।

७. आह्निक ३६—इसमें शास्त्रों की आयाति का क्रम प्रदर्शित है। सिद्धा-तन्त्र के अनुसार स्वच्छन्द, भैरव, भैरवी, लाकुलीश, अणुराट् (अनन्त)

गहनेश, ब्रह्मा, इन्द्र, बृहस्पति इन नौ तत्त्व पुरुषों द्वारा नौ करोड़ मन्त्रों से युक्त शास्त्रों का एक-एक करोड़ कम होते हुए स्वाध्याय सम्भव हुआ।

गुरु ने ¼ करोड़ (२५ लाख) दक्ष आदि को दिया। ½ करोड़ ५० लाख संवर्त्त आदि को दिया। १२।५० लाख वामन को दिया। ६।२५ लाख भार्गव को दिया। ६।२५ बलि को और ३ लाख बारह हजार मन्त्र सिंह को मिले। १ लाख छप्पन हजार २५० गरुड को, ७८१२५ वासुकि को, वासुकि से रावण, रावण से विभीषण, विभीषण से राम, राम से लक्ष्मण और लक्ष्मण से सिद्धों तथा सिद्धों से मानव जाति को मन्त्र प्राप्त हुए।

गुरुनिरूपित आयातिक्रम—दुर्भाग्यवश जो कुछ भी स्वल्पांश रूप में मन्त्र सम्पत्ति प्राप्त हुई थी, वह भी ह्रास को प्राप्त और लुप्त प्राय थी। सौभाग्य से श्रीकण्ठनाथ की आज्ञा से सिद्धों को प्रतिभा से भासमान सिद्ध अवतरित हुए। इनसे त्रिस्रोतस् परम्परा का प्रचलन हुआ।

१. श्री त्र्यम्बक ने अद्वयवाद की अद्वैत धारा का प्रवर्त्तन किया।

२. श्रीनाथ नामक आचार्य ने द्वयाद्वयवाद और

३. श्री आमर्दक ने द्वैतवाद का समर्थन किया था।

आमर्दक की परम्परा पुत्री के माध्यम से आगे बढ़ सकी। इसीलिये इसे अर्धत्र्यम्बक परम्परा भी कहते हैं। इस तरह यह क्रम अर्धचतस्र क्रम कहलाता है। १. त्र्यम्बक क्रम, २. आमर्दक क्रम, ३. श्रीनाथ क्रम, ४. अर्ध-त्र्यम्बक क्रम। कुछ लोग ३½ क्रम ही मानते हैं। वे अर्धत्र्यम्बक को ½ क्रम ही मानते हैं। महामाहेश्वर के अनुसार इन सारी आध्यात्मिक धाराओं की सारभूत रसाहुति श्रीतन्त्रालोक में है। इसलिये श्रीतन्त्रालोक समस्त रसों का आगार माना जाता है[1]।

८. आह्निक ३७—इस आह्निक में निम्नलिखित बिन्दुओं पर ध्यान देना चाहिये।

१. सर्वप्रथम इसमें आगम को प्रसिद्धि को उपजीव्यता के आधार पर

---

१. श्रीत० ३६।१५।

अवश्य ग्राह्य मानने का अनुरोध है। इससे शैवमहाभाव की सिद्धि हो जाती है, यह शास्त्रकार का विश्वास है।

२. सारा आर्षवाङ्मय मायोदर स्थित[1] माना जाता है। अत एव पात का एक मुख्य हेतु है।

३. अनुत्तर फल प्रदान करने वाला शैवागम ही सर्वज्ञ दृष्ट होने के कारण स्वाध्यातव्य है।

४. अधर शासन और ऊर्ध्वशासन के दो भेदों को दृष्टि में रखते हुए शास्त्रों का स्वाध्याय करना उचित है।

५. शैवागम द्विप्रवाह शासन है—१. श्रीकण्ठ प्रवाह और २. लाकुलीश प्रवाह।

६. श्रीकण्ठ प्रवर्त्तित शासन पञ्चस्रोतस्[2] होता है। इसमें १०, १८ और ६४ धाराओं की भी प्रवर्त्तन हुआ था।

७. अनेक शास्त्रों के उदाहरणों से मोक्ष विद्याहीन विनय अर्थात् अधर शासनों को त्याज्य मानने का उल्लेख है।

८. निर्विकल्प प्रकाशन होने के बाद साधक तुरन्त मुक्त हो जाता है। शरीर यन्त्र मात्र ही रह जाता है।

९. मालिनी श्लोक वार्त्तिक में सारे स्रोतों का विस्तृत वर्णन है।

१०. देश, वंश और दैशिकादि वर्णन के क्रम में कुरिकमाा द्वीप, मध्यदेश और अत्रिगुप्त, ललितादित्य और कश्मीर देश का महत्त्वपूर्ण उल्लेख, श्रीशारदा मन्दिर, काश्मीरी मद्य, नृपति प्रवरसेन और उनका महत्त्व, वितस्ता का वर्णन, वराह गुप्त, चुखुलक (नरसिंह गुप्त), अभिनव गुप्त का उद्भव, मातृवियोग और अभिनव नामक पितृव्य-पुत्र सब का उल्लेख है।

११ अभिनव के गुरुवर्ग—१. आनन्द सन्तति—एरकनाथानन्द, वामानन्द नाथ, २. श्रीनाथ संतति—श्री भूतिराज ३. त्र्यम्बक सन्तति—

१. श्रीत० ३७।५,१२; २. श्रीत० ३७।१६।

सोमानन्द के आत्मज उत्पल और उत्पल पुत्र श्री लक्ष्मणनाथ ४. अर्धत्र्यम्बक सन्तति—श्री शम्भुनाथ (सोमानन्द के शिष्य और अभिनव के मुख्य गुरुदेव)।

१२. कुछ श्रेष्ठ गुरुजन—श्रीचन्द्र आदि १४ गुरुजन और इनका माहेश्वर रूप।

१३. मनोरथ नामक भाई के साथ रहने का प्रसङ्ग, श्रीकर्ण, श्रीमन्द्र, क्षेम, उत्पल, अभिनव, चक्रक, पद्मगुप्त और श्रीराम गुप्त से भी अभिनव का विचारविनिमय। मित्र श्रीमन्द्र की पितृव्यवधू स्त्रीरत्नरूपा वत्सलिका के घर को निवास रूप से अभिनव की स्वीकृति। कर्णवधू के पुत्र योगेश्वरिदत्त, अम्बा नामक शिवभक्त सती, चचेरे भाई अभिनव की सच्चरित्रता का वर्णन स्वयं शास्त्रकार महामाहेश्वर ने बड़े आदर के साथ किया है। इसी प्रसङ्ग में अभिनव की सेवा में रहने वाले लुम्पक का वर्णन भी कर दिया गया है।

१४. श्री मन्द्र के आग्रह को स्वीकार कर अभिनव गुप्त वत्सलिका के आवास पर आकर रहने लगे थे।

१५. उसी आवास पर श्रीतन्त्रालोक नामक महार्थ (३७।८३) अभिधान वाले निबन्ध की रचना की गयी।

१६. अन्त में अभिनव द्वारा ईश को समर्पित कर देने के साथ ही (३७।८५) यह महान् ग्रन्थ अपनी पूर्णता में उल्लसित हो जाता है।

महामाहेश्वर ने यह स्पष्ट घोषणा की है कि, यह मेरे सदृश अप्रतिम प्राज्ञ पुरुष द्वारा लिखा गया[1] महान् महार्थ निबन्ध है[2]। महामाहेश्वर अभिनव का अन्तर्विमर्श ही आराध्यदेव है। उनको अर्पित कर वे अत्यन्त परितुष्ट थे। उन्होंने शिव से विश्व को आत्मसात् करने की प्रार्थना कर ग्रन्थ को पूर्ण कर दिया है।

महामाहेश्वर के हृदय में भी श्रीतन्त्रालोक के प्रति बड़ा समादर था। वे इस तथ्य को जानते थे कि, इसमें जिन विषयों का विश्लेषण किया गया है, वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और गम्भीर हैं। इनका स्वाध्याय कर इन्हें

---

१. आ० १।१६; २. श्रीत० आ० १।३३३।

आत्मसात् कर विश्व के मलावरण के कलुषकलङ्क पङ्क को प्रक्षालित करना सबके वश की बात नहीं। इसीलिये उन्होंने इसके अधिकारी साधकों की पहचान भी दी है। उनका कहना है कि, इस शास्त्र के स्वाध्याय और अभ्यास के वही अधिकारी हैं, जो परावरज्ञ हैं। जिनके चिति के आवरण भग्न हो चुके हैं और जिनमें शिवसद्भाव का सौभाग्योदय हो चुका है—

३ 'इह गलितमलाः परावरज्ञाः शिवसद्भावमया अधिक्रियन्ते'।

इस महान् ग्रन्थ के स्वाध्याय का फल, निर्विकल्प समावेश में सिद्ध होकर भैरवी भाव प्राप्त करना है। वे एक स्थान पर स्पष्ट कहते हैं—

भूयो भूयः समावेशनिर्विकल्पमिमं श्रितः।
अभ्येति भैरवी भावं जीवन्मुक्त्यपराभिधम् ॥

यह ध्रुव सत्य है कि, इसके स्वाध्याय से जीवन्मुक्ति हस्तामलकवत् अनायास सिद्ध हो जाती है। यह भी स्वभावसिद्ध है कि, ऐसे महान् ग्रन्थ को पढ़ने के लिये, इसके अनुसार अपने जीवन को ढालने के लिये वही प्रवृत्त हो सकता है, जिसको स्वयं महेश ने ही प्रेरित किया हो। उनकी उक्ति है कि,

'केतकीकुसुमसौरभे भृशं
भृङ्ग एव रसिको न मक्षिका।
भैरवीयपरमाद्वयार्चने
कोऽपि रज्यति महेशचोदितः ॥'

इसलिये इस आगमिक अरविन्द के मकरन्द रस का आस्वाद अनुभूत करने के लिये मधुपायी की तरह मधुव्रतो बनना आवश्यक है।

यह मार्ग ही ऐसा आकर्षक है। महामाहेश्वर अभिनव के गुरु के गुरु भगवान् उत्पल ने एक स्थान पर लिखा है—

सर्वशङ्काशनिं सर्वलक्ष्मी - कालानलं तथा।
सर्वामाङ्गल्यकल्पान्तं मार्गं माहेश्वरं नुमः[1] ॥

---

१. श्रोत० भा० १२ पृ० १७६, उत्तरस्तोत्र २।२८।

इसी दृष्टि से महार्थमञ्जरीकार श्री महेश्वरानन्द ने महार्थमञ्जरी परिमल में पृ० १९५ पर श्री अभिनवगुप्त की स्मृति में लिखा है—

सत्संवित्समयमहाब्धिकल्पवृक्षान्
आचार्यानभिनवगुप्तपादान् ।
आमूलादमलमतीन् उपघ्नयन्त्यो
वाग्वल्ल्याः प्रचुरफलो ननु प्ररोहः ॥

और कहा है कि,

"पान्थो भूत्वा प्रत्यभिज्ञापदव्यां लब्धवानस्मि बोधम्" ।

आप भी इस पद की श्रेष्ठता का आकलन कर बोध प्राप्त करें, यही सदाशा है ।

मुझे मेरा प्रेय प्राप्त हो गया है । श्रीतन्त्रालोक की विविध साधना पद्धतियों के बोध से मेरे श्रेयस् की सिद्धि हो चुकी है । आज 'हंस' तन्त्र के उन्मुक्त आकाश में उन्मुक्त विहार कर रहा है । शांभव समावेशमय शैव महाभाव के तादात्म्य बोध के वैभव से मेरा अभाव भर गया है । श्रीतन्त्रालोक के आलोक से आलोकित मेरी विश्वमयता शैव सुधा से अभिषिक्त होकर विश्वोत्तीर्णता से सम्पृक्त हो रही है । शिव 'मैं' की अहन्ता में समाहित हो गया है । मैं शिव बन गया है ।

इस पूर्णार्था प्रक्रिया के महोत्सव में सारा विश्व नर्त्तन कर रहा है, गा रहा है और आनन्दविभोर है । मैं भी सर्वात्मक शिव में अपनी शिवता का ऐकात्म्य अनुभूत कर प्रसन्न हूँ । इस अवसर पर मैं अपने गुरुजनों को विनम्र प्रणाम कर रहा हूँ । अपने मित्रों में अभिन्न हृदयता के ऐकात्म्य का अनुभावन कर रहा हूँ । सदा सहयोग में तत्पर प्रिय **डॉ० शीतला प्रसाद उपाध्याय** प्रवक्ता, तन्त्रागम विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय को आशीर्वादों से अभिषिक्त कर रहा हूँ । मुद्रक **श्री गिरीशचन्द्र** ने जागरूक रहकर इसके मुद्रण को कल्पपूर्ण ढङ्ग से पूर्णता प्रदान की है । इन्होंने ही इसके मुद्रण का प्रारम्भ किया था और इन्हीं के हाथों यह पूरा भी हो रहा है । इनकी विनम्रता और सद्व्यवहार से मैं बहुत प्रसन्न हूँ और इन्हें हार्दिक आशीर्वाद दे रहा हूँ ।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रकाशन निदेशक **डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी** का नाम आज संस्कृत जगत् में गौरव के साथ लिया जा रहा है। इन्होंने अपनी लगन, सतत सारस्वत अनुराग और नैपुण्यमय प्रकाशन के स्वाभाविक अध्यवसाय साध्य सामर्थ्य से इस विश्वविद्यालय की ख्याति में चार चाँद लगाये हैं। काशी की गरिमा को गौरवान्वित किया है। इस अशेष आगमोपनिषद् के आठों खण्डों का प्रकाशन इन्हीं की देख-रेख में हुआ है। इसमें इनकी स्नेहपूर्ण सहभागिता रही है। मैं इनके भविष्यदुत्कर्ष की मङ्गल-कामना करता हूँ।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति **डॉ० मण्डन मिश्र** को मेरे अनन्त आशीर्वाद। श्रीतन्त्रालोक की प्रकाशन प्रगति में इनका महत्त्वपूर्ण अवदान अविस्मरणीय है। साथ ही सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति 'पद्मभूषण' **प्रो० विद्यानिवास मिश्र जी** का भी स्मरण करना अपना कर्त्तव्य मानता हूँ। इन्हीं से इस आकर ग्रन्थ के प्रकाशन का प्रारम्भ हुआ था और इन्हीं के करकमलों द्वारा इसको पूर्णता प्राप्त हो रही है। ये इसके आद्यन्त साक्षी हैं। ये हिन्दी-संस्कृत जगत् के प्रज्ञा पुरुष हैं। काल पुरुष इनके शतायुष्ट्व का श्रृङ्गार करे, यही शुभाशंसा है।

अन्त में माँ पराम्बा पराकाली को अपने प्रणाम अर्पित कर रहा हूँ। इनके क्रमसद्भाव की भव्यता ही श्रीतन्त्रालोक को प्राप्त हुई। अष्ट मातृकाओं ने अपनी संख्या के अनुसार ही आठ भागों में प्रकाशित करने का अवसर प्रदान किया है। मेरा समग्र अस्तित्व, व्यक्तित्व और कृतित्व वात्सल्यमयी माँ के चरणों में सादर समर्पित।

परमहंस मिश्र
ए ३६ बादशाह बाग
वाराणसी–२

अभिनवभारती

आविमुखा काविकरा टादिपदा
पादिपार्श्वयुङ् मध्या ।
यावि - हृदया भगवती-
संविद् सरस्वती जयति[1] ॥

संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्त्तैव का
बन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्तिक्रिया ।
मिथ्यामोहकृदेष रज्जुभुजगच्छायापिशाचभ्रमो
मा किञ्चित्त्यज मा गृहाण विलस स्वस्थो यथावस्थितः[2] ॥

अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह
यद्वद्विचित्ररचनामुकुरान्तराले ।
बोधः परं निजविमर्शरसानुवृत्त्या
विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा वै[3] ॥

अज्ञानं किल बन्धहेतुरुदितः शास्त्रे मलं तत्स्मृतं
पूर्णज्ञानकलोदये तदखिलं निर्मूलतां गच्छति ।
ध्वस्ताशेषमलात्मसंविदुदये मोक्षश्च तेनामुना
शास्त्रेण प्रकटीकरोमि निखिलं यज्ज्ञेयतत्त्वं भवेत्[4] ॥

इदमभिनवगुप्तप्रोम्भितं शास्त्रसारं
शिवनिशमय तावत् सर्वतः श्रोत्रतन्त्रः ।
तव किल नुतिरेषा सा हि त्वद्रूपचर्चे-
त्यभिनवपरितुष्टो लोकमात्मीकुरुष्व[5] ॥

●

---

१. रहस्यपञ्चदशिका, २ ;
२. अनुत्तराष्टिका, २ ।
३. तन्त्रोच्चयः, आ० ३।१ ;
४. तन्त्रोच्चयः, आ० १।३ ।
५. श्रीतन्त्रालोकः, ३७।८५ ।

साधकसमवायसमान्विताः

महामाहेश्वराः श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्याः

विषयानुक्रमः

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः
श्रीराजानकजयरथाचार्यकृतविवेकव्याख्यया विभूषितः
डॉ॰ परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलितः

श्रीतन्त्रालोकः

[अष्टमो भागः]

अथ
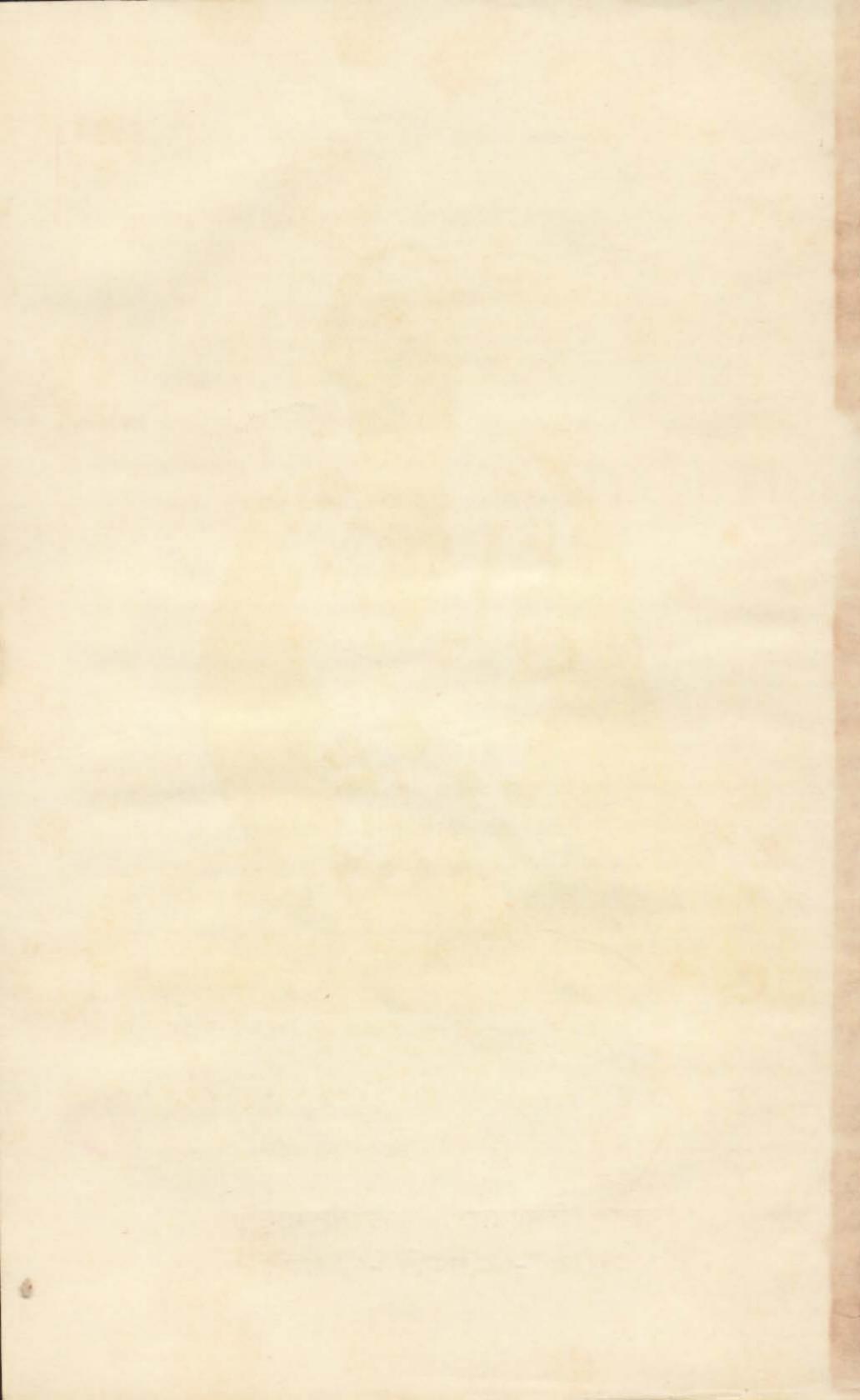
श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते

श्रीजयरथकृतविवेकाख्यटीकोपेते

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलिते

त्रिंशमाह्निकम्

सहजपरामर्शात्मकमहावीर्यसोधधौततनुम् ।
अभिमतसाधकसाधकमनोऽनुगं तं मनोनुगं नौमि ॥

इदानीं द्वितीयार्धेन मन्त्रान् निरूपयितुमाह

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित

श्रीराजानक जयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक

हिन्दी भाष्य संवलित

श्री तन्त्रालोक

[भाग ८]

तीसवाँ आह्निक

सहजविमर्श-विलासबल-सुधा-धौत मनमीत।
साधक-अभिमत जय सुमन, जयरथ सतत विनीत ॥

स्वीकृत शैली के अनुसार दूसरी अर्धाली में मन्त्रों के निरूपण की प्रतिज्ञा कर रहे हैं—

अथ यथोचितमन्त्रकदम्बकं

त्रिककुलक्रमयोगि निरूप्यते ।

ननु किमनेन निरूपितेनेत्याशङ्कय आह

तावद्विमर्शानारूढधियां तत्सिद्धये क्रमात् ॥ १ ॥

तावान् पूर्णः । तत्सिद्धये इति पूर्णाहंविमर्शारोहसंपत्त्यर्थमित्यर्थः ॥ १ ॥

ननु कथमनेन तत् स्यादित्याशङ्कय आह

शास्त्र और परम्परा से प्राप्त उचित रूप से प्रयोग में लाने योग्य त्रिक विज्ञान, कुल दर्शन एवं क्रम सम्प्रदाय के अनुसार मान्यता प्राप्त, मन्त्रवर्ग का यहाँ इसी श्री तन्त्रालोक शास्त्र के तीसवें आह्निक में निरूपण किया जा रहा है ।

जिज्ञासु पूछता है कि, मन्त्र निरूपण का उद्देश्य क्या है ? मन्त्र यदि शास्त्र स्वीकृत हैं, त्रिक, कुल और क्रम दर्शनों की परम्परा से प्राप्त हैं, तो यहाँ उनके निरूपण की क्या आवश्यकता ? इसी प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

मन्त्रार्थ में अनुप्रवेश के लिये पूर्णात्मक परविमर्श में अधिरूढ होना अनिवार्यतः आवश्यक माना जाता है । इस पार्यन्तिक स्तर पर सभी अधिरूढ हों, यह सम्भव नहीं । अनारूढ साधक की यह समीहा होती है कि, परविमर्श समावेश साधना में हम भी समाहित हो सकें । ऐसे ही अनुसन्धित्सु और आरुरुक्षु साधकों के लिये और पूर्ण पर-विमर्श-आरोह-सिद्धि के लिये मन्त्रों का निरूपण किया जा रहा है । सामान्य जन इदन्ता के परामर्श में जी रहा है । साधक पूर्णाहन्तापरामर्श के सर्वातिशायी स्तर पर आरूढ होने का आकाङ्क्षी है । उसको इसकी सिद्धि हो जाय, इसके लिये इन मन्त्रों का निरूपण यहाँ किया जा रहा है । इसी निरूपण में पूरा तीसवाँ आह्निक उपक्रान्त है ॥ १ ॥

जो अभी अनारूढ है, वह मन्त्रानुसन्धान से विमर्शारोह सम्पत्ति को कैसे प्राप्त कर सकता है ? इस जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं—

प्रतिबुद्धा हि ते मन्त्रा विमर्शैकस्वभावकाः ।

ननु विमर्शस्वभावत्वं नाम कर्तुरेव संभवतीत्युक्तं प्राक् बहुशः, मन्त्राश्च करणरूपा इति कथमेषामेवं न्याय्यमित्याशङ्क्य आह

स्वतन्त्रस्यैव चिद्धाम्नः स्वातन्त्र्यात् कर्तृतामयाः ॥ २ ॥

ननु यदि एवं, तत् कथमाचार्यस्य दोक्षानुग्रहादौ कर्तृत्वं घटेतेत्याशङ्क्य आह

यमाविशन्ति चाचार्यं तं तादात्म्यनिरूढितः ।
स्वतन्त्रीकुर्वते यान्ति करणान्यपि कर्तृताम् ॥ ३ ॥

शास्त्रकार के अनुसार वे मन्त्र बोध के प्रतीक होते हैं। मायात्मकता के प्रतिकूल इनके सांमुख्य से प्रतिबोध हो जाता है। इसलिये मन्त्रों को 'प्रतिबुद्ध' कहते हैं। इनका स्वभाव ही विमर्शात्मक है। उनसे विमर्श सिद्धि अवश्यम्भावी मानो जाती है।

इस तथ्यात्मक धारणा के विरुद्ध एक प्रश्न यहाँ उपस्थापित किया जा सकता है कि, विमर्श स्वभावतः कर्त्ता का गुण माना जाता है। यह कर्त्ता में ही होता है। यह पहले के आह्निकों में स्थान-स्थान पर प्रतिपादित किया गया है। यह भो कहा गया है कि, मन्त्र करण रूप माने जाते हैं। ऐसी स्थिति में इन्हें विमर्श स्वभाव कहने का आधार क्या है? इसका उत्तर दे रहे हैं—

शास्त्रकार कहते हैं कि, मन्त्र कर्त्तृत्व सम्पन्न होते हैं। ये कर्त्तृतामय माने जाते हैं। चिद्रूप शिव स्वतन्त्र होता है। स्वतन्त्र चित्तत्व के मूलनिधान शिव के स्वातन्त्र्य की शक्ति से ही ये भी कर्त्तृत्व सम्पन्न हो जाते हैं। इसी आधार पर इन्हें 'कर्त्तृतामय' कहते हैं ॥ २ ॥

जिज्ञासु बड़ा जागरूक है। वह कहता है कि, यदि ऐसी बात सत्य है, तो दोक्षा आदि के प्रसङ्ग में आचार्य में कर्त्तृत्व कैसे घटित होता है? इस जिज्ञासा का उपशमन कर रहे हैं—

ननु यदि एवं, तत् करणमन्तरेण एषां कर्तृत्वमेव कथं घटत इत्याशङ्क्य उक्तं यान्ति करणान्यपि कर्तृतामिति मन्त्रा हि कर्तृतां यान्त्यपि करणानि अजहत्कर्तृभावां करणतामधिशेरते इत्यर्थः ॥ ३ ॥

इदानीं मन्त्राणामेव स्वरूपं निरूपयति

आधारशक्तौ ह्रीं पृथ्वीप्रभृतौ तु चतुष्टये ।
क्ष्लां क्ष्वीं वं क्षमिति प्राहुः क्रमाद्वर्णचतुष्टयम् ॥ ४ ॥

मन्त्र की यह शक्ति है कि, जिस आचार्य पर इनका आवेश होता है, उससे इनका तादात्म्य हो जाता है। तादात्म्य को निरूढि से मन्त्र ही आचार्य में भी स्वातन्त्र्य शक्ति का उल्लास कर देते हैं। इसी से आचार्य में स्वातन्त्र्य घटित हो जाता है। यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि, यदि मन्त्र तादात्म्यनिरूढि से उन्हें स्वतन्त्र करते हैं, तो उन्हें कारण रूप करणधर्मा क्यों नहीं मानते ? क्योंकि इनमें कर्त्तृत्व और करणत्व दोनों भाव विद्यमान होते हैं। कर्त्तृत्व को वरण करने के साथ ही ये करणधर्म के भी आधार बने रहते हैं। करण धर्म का परित्याग नहीं करते। करणता उनकी शय्या है और कर्त्तृत्व उनका गुण। इस तरह मन्त्र कर्त्तृत्व और करणत्व के उभयत्व से संवलित माने जाते हैं। दोनों कार्य साथ-साथ सम्पादित करते हैं ॥ ३ ॥

अब मन्त्रों के स्वरूप का ही निरूपण कर रहे हैं—

आधार शक्ति विश्व को धारण करने वाली शक्ति मानी जाती है। शरीर में यह मूलाधार चक्र में रहती है। इसका बीज मन्त्र 'ह्रीं' माना जाता है। मूलाधार के देवता ब्रह्मा हैं। सृष्टि की क्षिप्रता का प्रतीक ही 'ह्रीं' बीज मन्त्र है। सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा हैं। अतः यह बीज ब्रह्मा को सृष्टि का सहयोगी माना जाता है। इसकी शक्ति कमलासना मानी जाती है। जिस आधार पर बैठ कर इस मूल से सम्पृक्त होकर साधक जप करता है, वहाँ यदि यह बीज न रहे, तो साधक की विद्युत्शक्ति को पृथ्वी आत्मसात् कर लेती है। 'ह्रीं' बीज पर बैठ कर जप करने से शरीर में ऊर्जा का विपुल विस्फार होता रहता है। साधक यथा शीघ्र सिद्धि का अनुभव करने लगता है। यह बीज मन्त्र सृष्टि के समस्त आधारों को पुष्ट करता है। इसके विभिन्न प्रयोग शास्त्रों में उल्लिखित हैं।

हं नाले यं तथा रं लं वं धर्मादिचतुष्टये ।
ॠं ॠं ॡं ॡं चतुष्के च विपरीतक्रमाद्भवेत् ॥ ५ ॥

ओं औं ह्रस्त्रयमित्येतद्विद्यामायाकलात्रये ।
अनुस्वारविसर्गौ च विद्येशेश्वरतत्त्वयोः ॥ ६ ॥

कादिभान्ताः केसरेषु प्राणोऽष्टस्वरसंयुतः ।
सबिन्दुको दलेष्वष्टस्वथ स्वं नाम दीपितम् ॥ ७ ॥

पृथ्वीप्रभृताविति धरायां सुरोदे पोते कन्दे च। तेन आधारशक्तौ मायाबीजम्, अन्यत्र तु नाभिर्वामस्तनक्षीराभ्यां कण्ठनासाभ्यां युक्ता केवला च, पोते तु कण्ठः, तेजश्च सर्वत्रेति। नाले इति दण्डे, तेन अत्र सौजाः प्राणः। विपरीते इति अधर्मादौ, तेन अत्र ओजः सभिन्नमन्तःस्थानां चतुष्टयं नपुंसकानां च। विद्येति चतुष्किकारूपमसूरकमयी मायेति अधश्छादनरूपा, कलेति ऊर्ध्वच्छादनरूपा। विद्याया एव ईश्वरतत्त्वं सन्निकृष्टोपरितनभूमिका, तेन अत्र जङ्घाद्वयं सविसर्गः प्राणश्चेति। विद्येशेति विद्येश्वराधिष्ठानस्थानं पद्माकारमीश्वरतत्त्वम्, ईश्वरेति सदाशिवः; कर्णिकायां हि शुद्धावरणादिरूपा व्याप्तिरिति भावः। कादिभान्ता इति चतुर्विंशतिः, तेन प्रतिकेसरमेकैको वर्णः। प्राणो हकारः। अआ इई उऊ एऐ इत्यष्टौ स्वराः। अथेति नवकस्येति च उक्तेरिदमापतितं यत् कर्णिकायामपि प्राण एव नवमस्वरभिन्न इति। तदुक्तं

'केसरेषु भकारान्ता हं हां हिं हीं च हुं तथा।
हूं हें हैं हों दलेष्वेवं स्वसंज्ञाभिश्च शक्तयः।' इति ॥ ४-७ ॥

आधार शक्ति पर गहराई से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि, यह समस्त धरा पर्यन्त विश्व को धारण करने वाली इच्छा शक्ति रूपा ही है। शिव शक्ति सामरस्य में इस विश्वात्मकता का उल्लास होता है। सर्व प्रथम पारमेश्वरी इच्छा शक्ति, उसमें धरा, धरापर सुरोद, सुरोद में पार-प्रतिष्ठिति जहाँ पोत का 'उपरति' (रुकने की जगह) होती है। पोत मरुत् माना जाता

है। जहाँ तक कन्द का प्रश्न है, किसी कन्द से जैसे लताओं का उदय होता है, उसी तरह इससे विश्व का आसूत्रण होता है।

मूलाधार से शाक्त पद्मनाल ऊपर अग्रेसर होता है। 'हं' यह पद्मनाल का बीज है। इस नाल के साथ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष भी आगे बढ़ते हैं। धर्म बीज'यं', ज्ञान बीज 'रं' वैराग्य बीज 'लं' और ऐश्वर्य बीज 'वं' माने जाते हैं। इसके विपरीत अधम, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य के क्रमशः में 'ॡं' 'ऌं', 'ॠं' और 'ऋं' बीज होते हैं।

'ओं', 'औं' और 'हः' ये तीन बीज क्रमशः विद्या, माया और कला के प्रतीक हैं। अनुस्वार (ं) और विसर्ग (:) ये दानों 'अ' मूल स्वर के साथ शुद्ध विद्या और ईश्वर तत्त्व के बीज माने जाते हैं। क से लेकर भान्त अर्थात् 'भ' वर्ण तक अर्थात् स्पर्श रूप २४ वर्ण उस कमल के केशर रूप माने जाते हैं।

इस तथ्य को श्री मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, अधिकार ८ श्लोक ५४-६० के आधार पर ही व्याख्यायित किया जाना चाहिये। वहाँ अन्तःकृति शब्द पर बल प्रदान किया गया है। आत्म पूजा के पश्चात् करणीय अन्तर्याग की प्रक्रिया अपनायी जाती है। समस्त योगों के आचार्य इस अन्तःकृति प्रक्रिया का आदर करते हैं।

नाभि के नीचे चार अङ्गुल की व्याप्ति में पिण्ड की आधार शक्ति का उल्लास होता है। यह समझने योग्य आङ्गिक निर्मिति है। चारों अङ्गुलों में व्याप्त आधार शक्ति का स्वाध्याय श्रीतन्त्रालोक भाग पाँच १५। २९५-३०८ के प्रकरण के आधार पर किया जा सकता है। धरा, सुरोद, पोत और कन्द ये चार पारिभाषिक शब्द हैं। नाभि से कन्दतक १६ अङ्गुलों की मिति मानी जाती है। इसको चार भागों में बाँटने पर चार-चार अङ्गुल का क्षेत्र धरा, ४ अङ्गुल सुरोद, चार अङ्गुल पोत, और चार अङ्गुल कन्द का भाग आता है। एक-एक अङ्गुल में भी इनको माना जाता है। योग की प्रक्रिया में इनका प्रयोग आनिवार्यतः आवश्यक होता है।

इस सन्दर्भ को अभिव्यक्ति देने के लिये कई पारिभाषिक और कूट शब्दों का प्रयोग यहाँ किया गया है। उनको स्पष्ट रूप से इस प्रकार समझा जा सकता है—

१. आधारशक्ति—माया बीजात्म इस शक्ति के सम्बन्ध में आचार्य जयरथ ने स्पष्ट लिखा है कि, "आधारशक्तिरिच्छात्मा पर्यन्तवर्त्तिनी पारमेश्वरो धारिका शक्तिर्यस्यां धरादि विश्वमाध्रियते।" अर्थात् परमात्मा की पर्यन्त वर्त्तिनी विश्वधारिका इच्छा शक्ति को ही आधार शक्ति कहते हैं। धरा ३६ तत्त्वों की पार्यन्तिकी अन्तिम आधार मानो जातो है। धरातत्त्व के साथ तीन अन्य अवस्थान भी विचारणोय हैं—

२. सुरोद—जलीय सारा भाग धरा पर हो आधारित है। सुरा के उदक से परिपूर्ण एक समुद्र का प्रकल्पन योगवेत्ता विद्वद्वर्ग करता है। शारीरिक संरचना के इस शारीरक विज्ञान का निर्देशक शास्त्र करते हैं। इस सुरोद की आधार धराशक्ति ही है। सभी एक दूसरे के ये क्रमिक आधार माने जाते हैं। यह अप् तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है।

३. पोत—मरुत्तत्त्व का प्रतिनिधि है। संवित् प्राण रूप में परिणत होती है। अर्थात् संविद्विमर्श में प्राण रूप मरुत् का प्रवाह ही प्रवाहित होता है। मेय रूप सामुद्रिक पदार्थों से भरे सुरोद में पोतों के ठहरने को जगहें ते रहती हैं। वे स्थान ही कण्ठ पर्यन्त अवस्थित हैं।

४. कन्द—श्रीतन्त्रालोक ६।४९-५०

कन्द बोजात्मक होता है। जैसे बीज में वृक्ष का अवस्थान शाश्वत है, उसी तरह कन्द भी विश्व का आसूत्रण करने वाला अङ्ग माना जाता है। इस क्रम में आधार शक्ति का बीज ह्रीं, धरा बीज 'क्ष्लां', सुरोद बीज 'क्ष्वों', पोत बोज 'वं' और कन्द बीज 'क्षं' योगियों और साधकों द्वारा अनुभूत और शास्त्र स्वीकृत बीज हैं। इसी तथ्य को शास्त्रकार ने 'प्राहुः' क्रिया द्वारा संकेतित किया है।

आचार्य जयरथ ने यहाँ मेरो कल्पना के अनुसार एक साधना के विशिष्ट पक्ष का उद्घाटन किया है। आधार शक्ति में माया बीज के न्यास के

बाद नाभि, पोत और तेज के क्रम में उन्होंने उस समय प्रचलित परम्परा का ही उल्लेख किया है। नाभि में दो तरह का मन्त्र न्यस्त किया जाना चाहिये। अर्थात् मन्त्र का यही स्वरूप वहाँ उपयुक्त है। एक युक्त मन्त्र स्वरूप और दूसरा केवल मन्त्र स्वरूप। युक्त मन्त्र वाम स्तन (ल) और क्षीर क्ष् अर्थात् 'क्ष्लां' बीज के साथ कण्ठ 'व' और नासा 'ई'=क्ष्ल्वीं बोज रूप में उद्धार किया जाता है। दूसरे पक्ष में केवल 'क्ष्लां' बीज ही पूर्वोक्त विधान के अनुसार उचित है।

जहाँ तक पोत का प्रश्न है, यह मरुत् तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें कण्ठ अर्थात् 'वं' बीज का ही मन्त्र उचित है। इसी तरह तेज की व्याप्ति सर्वत्र मानी जाती है। अर्थात् धरा, सुरोद, पोत और कण्ठ सर्वत्र तेज बीज (ं) 'बिन्दु' का प्रयोग आवश्यक होता है। इस क्रमिकता पर ध्यान देना चाहिये ॥ ४ ॥

नाल दण्ड को कहते हैं। नाल में 'ह्' बीज-मन्त्र सर्वदा उल्लसित रहता रहता है। अर्थात इसी बीज की शक्ति से दण्ड का अस्तित्व सुरक्षित रहता है। श्री तन्त्रालोक २१।२५ के आधार पर यहाँ ह्रों बीज की शक्ति का प्रकल्पन किया जा सकता है। दण्ड में प्राण भो दण्डाकार हो जाता [1]है। श्री जयरथ के अनुसार 'तात्स्थ्यात् तदाकार' का यही तात्पर्य है[2]।

आचार्य जयरथ ने यहाँ प्राण का विचित्र विशेषण प्रयुक्त किया है। आह्निक २९ तक इसका प्रयोग श्रीतन्त्रालोक में कहीं उपलब्ध नहीं है। २१।२५ वाली पंक्ति में शाक्तबल का प्रयोग है। स और ओजस् से बने इस 'सौजाः' के आगमिक व्युत्पत्ति के साथ विशिष्ट अर्थ निकाले जा सकते हैं। परात्रीशिका के अनुसार चतुर्दश धाम के साथ सृष्टि के सीत्कार को मिलाकर बने बीज मन्त्र के समान कोई मन्त्र नहीं होता। उसी से सारे मन्त्र निष्क्रान्त होंते हैं। यह उन्मना के पराशूलाब्ज पर उल्लसित रहता है। महाशैव भाव से भावित सभी योगी इसे जानते हैं। यहाँ सौजाः का सकार

१. श्री तन्त्रालोक २१।२५

२. स्वच्छन्द तन्त्र २।५५-५९

प्राण का भी विशेषण है। इसका एक अर्थ विन्दु युक्त चार अन्तःस्थ और चार नपुंसक वर्ण भी होता है। नपुंसक व अन्तःस्थ को ओजस् भी कहते हैं। अर्थात् विन्दु से युक्त अन्तस्थ और नपुंसक ऋ, ॠ, ऌ, ॡ ये चार वर्ण भी सौजाः कहे जाते हैं।

(अ)

धर्मादि चतुष्ट्य पौराणिक धर्मादि चतुष्टय के अतिरिक्त परिगणित हैं। ये क्रमशः १. धर्म, २. ज्ञान, ३. वैराग्य और ४. ऐश्वर्य माने जाते हैं। धर्म में बोज मन्त्र 'यं', ज्ञान में 'रं', वैराग्य में 'लं' और ऐश्वर्य में बीज मन्त्र' का रूप 'वं' होता है। इनको ध्यान प्रक्रिया में मन्त्र के स्वरूप यं धर्माय नमः, रं ज्ञानाय नमः लं वैराग्याय नमः और 'वं' ऐश्वर्याय नमः ये चार प्रकार के बनते हैं। इनमें बिन्दु युक्त अन्तःस्थ हैं।

(आ)

जहाँ तक अधर्मादिका प्रश्न है, ये धर्म के विपरीत हैं। ये अधर्मादि भी चार ही होते हैं। ये हैं—१. अधर्म, २. अज्ञान, ३. अवैराग्य और ४. अनैश्वर्य। इनके मन्त्रों का रूप इस प्रकार निर्धारित किया जाना चाहिये—१. ऋं अधर्माय नमः २. ॠं अज्ञानाय नमः, ३. ऌं अवैराग्याय नमः और ४. ॡं अनैश्वर्याय नमः। ये चार अधर्मादि के मन्त्र-स्वरूप (बिन्दु युक्त नपुंसक वर्णों के साथ) तन्त्र स्वीकार करता है। इसे धर्माद्यष्टक भी कहते हैं। चार धर्मादि और चार अधर्मादि एक साथ मिलाकर ये आठ हो जाते हैं। एक शब्द में धर्माद्यष्टक का प्रयोग ही प्रचलित है॥ ५॥

इस विश्लेषण से आन्तरिक पूजन[1] क्रम की एक विशिष्ट प्रक्रिया का पता चलता है। साधना में संलग्न साधक इसे आज भी अपनाते हैं। यहाँ पृथक आसन बनाकर स्वतन्त्र व्यक्तिगत पूजा का विधान है। उसमें प्रयुक्त मन्त्रों के स्वरूप की प्रस्तुति भी यहाँ है।[2]

अ स्व० तन्त्र २।६१　　आ २।६३

१. श्री मा० वि० ८।५४

२. श्रीत० ३०।९

पृथक् आसन पर पूजा में अवस्थित साधक ऐश्वर्य पूजन के साथ ही आज्ञा भूमि पर अवस्थित हो चुका होता है। इसके ऊपर साधक विद्या क्षेत्र में प्रवेश करता है। विन्दुतत्त्व की साधना के कई भेद हैं। जैसे—अर्ध चन्द्र से निरोधिका तक विन्दु की व्याप्ति मानी जाती है। अतः कुछ साधक नामानुसन्धि के सन्धान में इसी मार्ग से सफल हो जाते हैं। दूसरे मित्र विद्या क्षेत्र का आनन्द लेते हैं।

विद्या चतुष्किका रूप मसूर के दाने के आकार में योगियों को प्रत्यक्ष साक्षात्कृत हो जाती है।[1] यह माया के अधर और कला के ऊर्ध्व आच्छादन के बीच में विराजमान रहती है। माया को ग्रन्थि कहते हैं। चतुष्किका इसी ग्रन्थि के ऊपर अवस्थित होती है। इसी को अशुद्ध विद्यातत्त्व कहते हैं।[2] यह तीन छदन संवलित प्रमुख तत्त्व है। ऊपर के छदन का नाम 'कला' तत्त्व है। कला और माया के मध्य में होने से क, ख छदन मयी विद्या को ईश्वर तत्त्व तक पहुँचने का आधार माना जाता है। विद्या, माया और कला इन तीनों में मन्त्र का स्वरूप 'ओं', औं और 'हः' बीजों के रूप में शास्त्र में निर्दिष्ट हैं। तन्त्र अभिधान के अनुसार ओं औं को जङ्घाद्वय कहते हैं और 'हः' को सविसर्ग प्राण कहते हैं।

जहाँ तक विद्या के ऊर्ध्व अवस्थान का प्रश्न है, साधक वर्ग जब आगे बढ़ता है, तो उसे विद्येश तत्त्व का परिवेश प्राप्त होता है। विद्येश्वराधिष्ठान-स्थान पर पद्माकार ईश्वरतत्त्व का प्रभाव होता है। इसे विद्येश कहते हैं। विद्येश के ईश्वर का विद्येशेश्वर कहते हैं। यहाँ सदाशिव तत्त्व का प्रभाव है। इन दोनों के मन्त्रों का स्वरूप क्रमशः 'अं' और 'अः' माना जाता है।

ईश्वर तत्त्व का आकार पद्म के समान नितान्त आकर्षण से संवलित होता है। इस पद्म में ईश्वर और सदाशिव तत्त्व अधिष्ठित रहते हैं। इसमें अनुस्वार और विसर्ग रूप मन्त्रों को व्याप्ति अनुभूति का विषय है। इन पद्मों की कर्णिका इन्हीं शुद्ध मन्त्रस्थ आवरणों से व्याप्त रहती है। पद्म में केसर

१. श्रीमा० वि० ८।६०

२. स्वच्छन्दतन्त्र–२।५८

का होना प्राकृतिक संरचना के वैचक्षण्य का प्रतोक माना जाता है। इन मध्यावस्थित चौबोस केसरों में 'क' से लेकर 'भ' तक (कादिभान्त) २४ अक्षर अपनी स्वात्म मन्त्रात्मक सत्ता में विराजमान होते हैं। इस पद्म के आठ दल निर्धारित हैं। इन पर बिन्दु के साथ क्रमिक आठों स्वर उल्लसित होते हैं। आठ स्वरों के क्रम इस प्रकार निर्दिष्ट हैं।

अ आ, इ ई, उ ऊ, और ए-ऐ (श्रीमा० वि० तन्त्र ८।६२) के अनुसार इनका क्रम पूर्व से प्रारम्भ किया जाता है।

आचार्य जयरथ ने श्लोक ७ में आये 'अथ' और श्लोक आठ में आये 'नवकस्य' इन दो शब्दों के आधार पर यह अनुमित किया है कि, आठ दलों के अतिरिक्त कर्णिका में भी प्राणवर्ण (ह्) नवम स्वर संवलित होकर उल्लसित होता है। अर्थात् दलों में भी उक्त आठों स्वर प्राण के साथ ही उल्लसित होते हैं। इसके लिये उन्होंने अपने तर्क के समर्थन में एक आगमिक प्रामाण्य भी प्रस्तुत किया है—

"केसरों में क से लेकर भ तक २४ स्पर्श वर्ण और पूरब के दल से प्रारम्भ कर हं, हां, हिं, हीं, हुं, हूं, हें और हैं ये बोज मन्त्र अन्तिम आठवें तक पूरे हो जाते हैं। बचता है नवाँ स्वर 'ओं'। इसको भी प्राण पर प्रतिष्ठित कर कर्णिका में प्रतिष्ठापित करना चाहिये।"

शास्त्र का स्पष्ट निर्देश है कि, इन दलों पर शक्तियों के उनके अपने नाम उदीप्त होते रहने चाहिये। ये नव नाम (श्रोमा० वि० तन्त्र के अधिकार ८।६३-६४) एवं (स्व० तन्त्र २।६८-७०) में उद्दिष्ट हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—१. वामा पूर्वदल, २. ज्येष्ठा अग्निकोणीय दल, ३. रौद्री दक्षिण दल, ४. काली नैऋत्य दल, ५. कलविकरणो वारुणदल, ६. बलविकरणी वायव्यदल, ७. बलप्रमथिनो उत्तर दल, ८. सर्वभूतदमनी ईशान दल। इस क्रम में नवीं मनान्मनी को जयरथ कर्णिका में न्यस्य मानते हैं। (स्व० तन्त्र २।७१ में यह स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट है—"मध्ये मनोन्मनीं देवीं कर्णिकायां निवेशयेत्" अर्थात् मनोन्मनी देवी को कर्णिका में विशेष रूप से निविष्ट करना चाहिये ॥ ४-७ ॥

शक्तीनां नवकस्य स्याच्छषसा मण्डलत्रये।
सबिन्दुकाः क्ष्मं प्रेते जूं शूलशृङ्गेषु कल्पयेत् ॥ ८ ॥

मण्डलत्रये इति अर्थादधिष्ठातृसहिते, तेन आग्नेये मण्डले गुह्यं, सौरे उदरं, चान्द्रे जीव इति। प्रेते च ओजःसंभिन्ने नाभिकटौ। शूलशृङ्गेषु च

श, ष और स ये श वर्ग के तीन प्रमुख वर्ण हैं। ये तीन मण्डलों के प्रतीक हैं। तीनों मण्डलों के नाम आचार्य जयरथ ने दिये हैं। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. आग्नेय मण्डल, २. सौर मण्डल और ३. सोम मण्डल।

१. आग्नेय मण्डल—अग्नि प्रमाता तत्त्व माना जाता है। अग्नि कोण वाले अग्नि शब्द का यहाँ अर्थ नहीं है। विश्व को अग्नि, सूर्य और सोम तत्त्वों से आवृत माना जाता है। यह शरीर भी इन तत्त्वों से व्याप्त है। अग्नि तत्त्व के परिवेश को अग्नि मण्डल कहते हैं। यह ध्यान देना चाहिये कि, मण्डल आजीवन इन जीवों में जिजीविषा के मूल आधार हैं। शरीर में अग्नि मण्डल 'गुह्य' में अवस्थित है। सौर मण्डल 'उदर देश' में और सोम मण्डल 'जोव भाव' में विद्यमान है। आग्नेय मण्डल के अधिष्ठाता 'ब्रह्मा' हैं। मण्डल का ध्यान और न्यास में उपयोग आदि कार्य अधिष्ठाता के साथ ही करना चाहिये। आन्तर पद्म कर्णिका में इसका अवस्थान होता है।

२. सौर मण्डल—शरीर में इसका अवस्थान उदर भाग में होता है। इसके अधिष्ठाता 'विष्णु' हैं। पद्म में जहाँ आसन की कल्पना होती है, उसमें मध्य पत्र में इसका अवस्थान होना चाहिये। कुछ लोग पूर्वपत्र में भी इसको प्रतिष्ठित करते हैं।

३. सोम मण्डल—यह पद्म[1] के केशर भाग में प्रतिष्ठित किया जाता है और शरीर में इसका अवस्थान शारीरक 'जोव-भाव' है। इसके अधिष्ठाता 'हर' शुभाभिधेय शिव हैं।

एक महत्त्वपूर्ण शक्तिमन्त बीजमन्त्र है, (क्ष्मं) विन्दु युक्त 'क्षकार' युक्त मकार का संयोगाक्षर। शरीर में इसे 'प्रेत' स्थान में प्रतिष्ठित करते हैं।

---

१. स्वच्छन्द तन्त्र २।२७०

पृथगासनपूजायां क्रमान्मन्त्रा इमे स्मृताः ।
संक्षेपपूजने तु प्रागाद्यमन्त्यं च बीजकम् ॥ ९ ॥
आदायाधारशक्त्यादिशूलशृङ्गान्तमर्चयेत् ।
अग्निमारुतपृथ्व्यम्बुसषष्ठस्वरबिन्दुकम् ॥ १० ॥

सबिन्दुदण्डशूलम् । आद्यमिति आधारशक्तिवाचकं मायाबीजम् । अन्त्यमिति शूलारवाचकं जूँकारं, तेन ह्रीं जूँ आसनपक्षाय नम इत्यूहः । अग्निः रेफः, मारुतो य, पृथ्वी ल, अम्बु व, षष्ठः स्वर ऊकारः । अ इ उ ए ओ इति पञ्च

'प्रेत' एक कूट पारिभाषिक शब्द है । इसका अर्थ होता है—ओजस् संवलित नाभि और कटि प्रदेश । शूलत्रय की चर्चा पहले आ चुकी है । उनके शृङ्ग शूल शृङ्ग कहलाते हैं । शूलशृङ्गों पर 'जूँ' बीज मन्त्र का प्रकल्पन आवश्यक है । इस बीज मन्त्र में अवस्थान साधक को चित्तत्त्व के एक नये आयाम में लाकर खड़ा कर देता है ।

मातामानमेयात्म इस सार्जनिक उल्लास में अग्नि, सूर्य और सोम मण्डल का साक्षात्कार करने वाला साधक यह जानता है कि, धरा से प्रारम्भ होकर यहाँ तक के बीजों के एक दूसरे के आधारभूत अङ्ग कौन कौन और किस क्रम से हैं । पृथगासन पूजा के क्रम में इनका प्रयोग और साथ ही संक्षेप पूजन में इनका कैसा स्वरूप होता है ? इस पर विशेष ध्यान देना चाहिये । संक्षेप पूजन में आधार शक्ति का बीज मन्त्र 'ह्रीं' के साथ 'जूँ' अन्तिम बीज लगाकर एक बीजात्मक प्रत्याहार बनता है । उसके साथ आसनपक्षाय नमः लगाकर 'ह्रीं जूं आसनपक्षाय नमः' यह ऊहात्मक मन्त्र बनता है । इसी मन्त्र से संक्षेप से आसन-पूजन का विधान पूरा हो जाता है ॥ ८-९ ॥

शास्त्रकार यह स्पष्ट कर रहे हैं कि, आधार शक्ति से आरम्भकर शूलशृङ्गपर्यन्त अर्चन करना चाहिये । अग्नि-र(रेफ), मारुत 'य', पृथ्वी 'ल' अम्बु 'व' षष्ठ स्वर 'ऊ कार', ये सभी बिन्दु युक्त होकर एक साथ प्रयुक्त करने पर रतिशेखर मन्त्र की आकृति ग्रहण करते हैं । 'य्ल्वूँ' या 'र्य्ल्वूँ'

रतिशेखरमन्त्रोऽस्य वक्त्राङ्गं ह्रस्वदीर्घकैः ।
अग्निप्राणाग्निसंहारकालेन्द्राम्बुसमीरणाः ॥ ११ ॥
सषष्ठस्वरबिन्द्वर्धचन्द्राद्याः स्युर्नवात्मनः ।

ह्रस्वाः आ ई ऊ ऐ औ अः इति षट् दीर्घाः । एवमापाते एवं वचनादन्यत्रापि अङ्गवक्त्राणामियमेव वार्तेति आवेदितम् । अग्निः रेफः, प्राणो ह, अग्निः रेफः, संहारः क्ष, काला म, इन्द्रो ल, अम्बु व, समीरणो य, षष्ठः स्वर ऊकारः ॥ ८-११ ॥

मन्त्र का ऊहात्मक पञ्च-वक्त्र स्वरूप है। जहाँ तक इसके वक्त्राङ्ग का प्रश्न है, यह ह्रस्व और दीर्घ दोनों प्रकार के स्वरों से संयुक्त कर प्रयुक्त किया जा सकता है। इसका ऊहात्मक स्वरूप इस प्रकार से आकृति ग्रहण कर सकता है—

क्रम	ह्रस्व अग्निबीज		दीर्घ अग्निबीज,	वक्त्राङ्ग का संयुक्त स्वरूप
१.	रं	अथवा	रां	हृदयाय नमः
२.	यिं	,,	यीं	शिरसे स्वाहा
३.	लुं	,,	लूं	शिखायै वषट्
४.	वें	,,	वैं	कवचाय हुम्
५.	ओं	,,	औं	लोचनत्रयाय वौषट्

ह्रस्व और दीर्घ स्वरों के साथ रतिशेखर बीज के पाँच वर्ण बीजों के प्रयोग से ये वक्त्राङ्ग बनते हैं। जहाँ तक अस्त्रमन्त्र के प्रयोग का प्रश्न है, उसमें षष्ठ स्वर 'ऊ' माना जाता है। फलतः ऊं अस्त्रायफट् मन्त्र बनेगा। यह ह्रस्व और दीर्घ वक्त्राङ्गों दोनों में समान रूप से प्रयुक्त किया जाना चाहिये।

अग्नि 'र', प्राण 'ह', अग्नि 'र' संहार 'क्ष', मल 'म', इन्द्र 'ल' अम्बु 'व' समीरण 'य', छठाँ स्वर 'ऊ'+विन्दु या अर्धचन्द्र मिलाकर सभी वर्ण एक मन्त्र का रूप ग्रहण करते हैं। इस नवात्मक मन्त्र का ऊहात्मक स्वरूप 'र्ह्रक्ष्म्ल्व्यूं' अथवा र्ह्रक्ष्म्ल्व्यूँ दो आकृतियों में व्यक्त होता है। यह मन्त्र

बिन्द्वादीनां च अन्यत्र अन्यथा व्यपदेश इत्याह

बिन्दुनादादिका व्याप्तिः श्रीमत्त्रैशिरसे मते ॥ १२ ॥

क्षेपाक्रान्तिचिदुद्बोधदीपनस्थापनान्यथ　।

बिन्दोरेव च अर्धचन्द्रनिरोधिकान्ता व्याप्तिरिति अत्र तदनन्तरमेव नादस्य वचनम् । एवं बिन्दोः

'............ **बिन्दुश्चैवेश्वरः स्वयम्** ।' (स्व० ४।२६४)

इत्युक्तेरीश्वरतायां

तत्संवित्तिस्तदापत्तिरिति संज्ञाभिशब्दिता ॥ १३ ॥

एतावतो महाव्याप्तिर्मूर्तित्वेनात्र कीर्तिता ।

'**ईश्वरो बहिरुन्मेष** ....।' (ई० प्र० ३।१।३)

इत्युक्त्या बहिरुल्लसनमेव सतत्त्वमिति क्षेप इति उक्तम् । नादस्य च

भी रतिशेखर मन्त्र है। इसे नवात्मक रतिशेखर कह सकते हैं। शास्त्रकार ने यहाँ उपसंहारात्मक उल्लेख कर ऊह के लिये अवकाश प्रदान किया है। आचार्य जयरथ भी इस विषय में मौन हैं ॥ १०-११ ॥

साधना के सन्दर्भ के उस अंश पर प्रकाश प्रक्षिप्त कर रहे हैं, जहाँ आज्ञाचक्र में बिन्दु तत्त्व से आगे की तन्त्र-यात्रा शुरू होती है। साधक विन्दु से सहस्रार तक की एक यात्रा पूरी कर उससे भी ऊर्ध्व उन्मना के औन्मनस परिवेश में प्रतिष्ठित होकर चिदैकात्म्य की अनुभूति से भव्य बन जाता है। बिन्दु को ब्रह्म कहते हैं। इसको व्याप्ति अर्धचन्द्र और निरोधिका तक मानी जाती है। वहीं अनन्तेश्वर का अवस्थान है। महामाया उन्हीं के माध्यम से सितेतर सृष्टि करती है। सित सृष्टि वस्तुतः नाद से ही प्रारम्भ होती है। वहीं शुद्ध विद्या मार्ग दर्शन करती है और साधक अपनी साधना में संलग्न रह कर जीवन को धन्य बना रहा होता है। प्रारम्भ में कुछ क्रियायें होती हैं। उनकी एक से एक ऊर्ध्व पड़ावों पर जाने में उत्पन्न क्रियाओं के नाम यहाँ

……………नादे वाच्यः सदाशिवः।' (स्व० ४।२६५) इति
……………निमेषोऽन्तः सदाशिवः।' (ई० प्र० ३।१।३)

इति च उक्त्या बहिरुल्लसितस्य विश्वस्य अन्तराक्रमणमेव रूपमिति आक्रान्तिरिति। एवमपि इदन्तानिमज्जनादहन्तोन्मज्जनात्मनि नादान्ते प्रमातृरूपायाः संविद एव प्रबोध इति चिदुद्बोध इति। एवं बुद्धायाः संविदः

प्रस्तुत कर रहे हैं। वे इस प्रकार हैं—१. क्षेप, २. आक्रान्ति, ३. चिदुद्बोध, ४. दीपन, ५. स्थापन, ६. तत्संवित्ति और ७. तदापत्ति। इन्हें क्रमशः समझना है—

१. **क्षेप**—बिन्दु की चर्चा ऊपर हुई है। बिन्दु के बाद नाद का ही नाम आता है। (स्व० तन्त्र ४।२६४ के अनुसार बिन्दु ही ईश्वर है।

"और बिन्दु तो ईश्वर ही है।" (स्व० तन्त्र २६४)

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा ३।१।३ कहती है कि,

"ईश्वर बाह्य उन्मेष ही है।"

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि, बिन्दु का ऊर्ध्व उल्लास एक ऐसी क्रिया है, जो अप्रयत्न से या साधना की सिद्धि से उत्क्षिप्त होती है। उल्लास स्वयं में क्या है ? विसर्ग बिन्दु से क्षेप क्रिया के माध्यम से ही बनता है। उसी तरह बिन्दु जब उल्लसित होकर नाद में समाहित होना चाहता है, तो उसमें एक क्षेप होता है, एक स्पन्द, एक उबाल और बिन्दु, अर्धचन्द्र और निरोधिनी के अवरोध को पारकर नाद में समाहित हो जाता है। इस क्रिया को, शास्त्रकारों ने विशेष रूप से त्रैशिरसमत ने 'क्षेप' की संज्ञा दी है। क्षेप इस प्राथमिक उल्लास अर्थ में रूढ़ हो गया है।

२. **आक्रान्ति**—आक्रान्ति का अर्थ आन्तर आक्रमण होता है। स्वच्छन्द तन्त्र कहता है कि,

"नाद में सदाशिव का मुख्य अर्थ ही ओत-प्रोत है।"

"नाद से सदाशिव वाच्य है।" स्व०तन्त्र ४।२६५ और ईश्वर प्रत्यभिज्ञा के अनुसार—

"निमेष का अन्त ही सदाशिव है।"

शक्तिदशायमुद्रेकः, व्यापिन्यां कथञ्चिदुद्रेकेऽपि तथैव अवस्थानं, यावद्योगिनां समनापदे तत्साक्षात्कारः, उन्मनाभूमौ च तदैकात्म्यमित्येवमुक्तम्। एतावतीति उन्मनैकात्म्यापत्तिपर्यन्ता। यदुक्तं तत्र

**'क्षेपमाक्रमणं चैव चिदुद्बोधं च दीपनम्।
स्थापनं चैव संवित्तिस्तदापत्तिस्तथैव च॥
कारणक्रमयोगेन शास्त्रेऽस्मिन् सुरसुन्दरि।
आधाराधेयभावेन मूर्तिः सप्तविधा स्मृता॥'**

इन विचारों और उक्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि, ईश्वर सदाशिव भाव में जाने का उपक्रम कर रहा है। अर्थात् नाद अब भीतर ही बाह्य उल्लास को समेट कर उन्मेष को निमेष में प्रवेश करा रहा है। नाद की नादान्त को ओर यह आक्रान्ति है। एक तरह से नाद सदाशिव दशा है। इसमें आकर बाह्य उल्लास का आन्तर आक्रान्त हो गया। इस क्रिया को आक्रान्ति कहते हैं।

३. **चिदुद्बोध**—उस अवसर पर इदन्ता का अर्थात् बहिरुल्लास का अब निमज्जन होना है। यह क्रिया तब तक नहीं हो सकती, जब तक उन्मेष निमेष में मिल जाने के लिये लालायित न हो जाता हो। यह एक प्रकार का 'चित्' तत्त्व का उद्बोध होता है। तभी नादान्त की सिद्धि हो सकती है। प्रमातृ रूप संविद् प्रबुद्ध हो जाती है।

४. **दीपन**—उद्बुद्ध संविद्का शक्ति में उद्रेक होता है और वह उद्दीप्त हो उठती है। उद्दीप्ति ही दीपन है। यह शक्ति दशा में लीन होने की प्रक्रिया है।

५. **स्थापन**—शक्ति दशा से उद्रिक्त संवित्तत्त्व व्यापिनी भाव में जाकर कुछ स्थिरता सा प्राप्त करता है। उसका यह अवस्थान ही स्थापन है।

६. **तत्संवित्ति**—संवित्ति शब्द यहाँ साक्षात्कार अर्थ में प्रयुक्त है। प्रबुद्ध संविद् का साक्षात्कार समना की सहस्रार साधना में होता है। संविद् की संवित्ति एक महत्त्वपूर्ण सिद्धि मानी जाती है।

इति उपक्रम्य

> 'क्षेपस्तु कथितो बिन्दुराक्रान्तिर्नाद उच्यते ।
> चिदुद्बोधः परावस्था दीपनं शक्तिरुच्यते ॥
> स्थापनं व्यापिनी प्रोक्ता संवित्तिः समना स्मृता ।
> उन्मना च तदापत्तिरित्येषा मूर्तिरुच्यते ॥' इति ॥१२-१३॥

न केवलमियं मूर्तेरेव एतावतो व्याप्तिः, यावत् मन्त्रदीपकतया अभिमतस्य नमस्कारस्य अपीत्याह

---

७. तदापत्ति—आपत्ति तादात्म्य दशा है। संविदैकात्म्य उन्मना भूमि का वरदान है। जब स्वात्म संवित्ति ही उपलब्ध हो गयी, तो अब शेष बचा ही क्या ? यही वह दशा है, जिसे श्री गोपीनाथ कविराज 'अखण्ड महायोग कहा करते थे। ये सात संज्ञायें सात सोपान हैं। इनमें छः को पार करने पर ही स्वात्म संविद् का साक्षात्कार होता है। यह महाव्याप्ति है। शास्त्रकार इसे 'मूर्त्ति' कहते हैं। श्रीमत्त्रैशिरस शास्त्र में लिखा है कि,

"क्षेप, आक्रमण, चिदुद्बोध, दीपन, स्थापन, तत्संवित्ति और तदापत्ति ये सातों एक दूसरे के क्रमिक रूप से कारण हैं। भगवान् शिव कहते हैं, देव-स्वामिनि ! शास्त्र का यह सिद्धान्त है। ये एक-एक कर मूर्त्ति हैं' अर्थात् सात मूर्त्तियों की यह एक विधा है अर्थात् मूर्त्ति क्रम है।" यहाँ से प्रारम्भ कर त्रैशिरस शास्त्र आगे कहता है कि,

"क्षेप ही बिन्दु रूप से उक्त है। आक्रान्ति ही नाद है। चिदुद्बोध नादान्त है। दीपन शक्ति है। स्थापन व्यापिनी है। संवित्ति समना ही है और उन्मना तदापत्ति है।"

यह एक शुद्ध स्वात्म के सात स्पन्दात्मक निर्माण प्रक्रिया के प्रतीक हैं।" साधना का एक चित्रात्मक दर्शन यहाँ हो जाता है। इस महाव्याप्ति के महत्त्व का आकलन करना चाहिये ॥ १२-१३ ॥

शास्त्रकार प्रसङ्गवश नमस्कार का स्वरूप निर्दिष्ट कर रहे हैं—

परिणामस्तल्लयश्च नमस्कारः स उच्यते ॥ १४ ॥
एष त्र्यर्णोज्झितोऽधस्ताद्दीर्घैः षड्भिः स्वरैर्युतः ।
षडङ्गानि हृदादीनि वक्त्राण्यस्य च कल्पयेत् ॥ १५ ॥
क्षयरवलबीजैस्तु दीप्तैर्बिन्दुविभूषितैः ।

मूर्त्ति और महाव्याप्ति के सन्दर्भ में यह स्पष्ट हो गया है कि, तदापत्ति की सातवीं स्थिति एक प्रकार की परिणाम दशा है। उसमें साधक सर्वात्मना लीन सा हो जाता है। ये दोनों अवस्थायें नमस्कर्त्ता (साधक) के देहादि में प्रमातृता भाव का निराकरण करती हैं। साथ ही चित्प्रमातृता से सम्पन्न कर देती हैं। यह एक प्रकार का नमस्कर्त्ता का नया जन्म है। व्याप्ति ही उसकी जाति है। अतः व्याप्ति भावभी नमस्कार भाव है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि, तदापत्ति की इस अवस्था में तल्लीनता के फलस्वरूप पुनः प्रच्याव असंभव हो जाता है। इसलिये शास्त्रकार परिणाम, तल्लय, महाव्याप्ति और नमस्कार के व्यापक परिवेश से अध्येता को परिचित करा देना चाहते हैं ॥१४॥

नमस्कार की नित्यता में अभिनन्दित व्याप्ति-मूर्त्ति का मन्त्र तीन वर्णों से रहित माना जाता है। ये तीन वर्ण हैं—१. 'व' २. 'य', और ३. 'ऊ'। इतिशेखर मन्त्र में से इन तीनों को निकाल देने पर केवल 'र' और 'ल' ये दो वर्ण बचते हैं। इनके साथ दीर्घ स्वरों को जोड़कर षडङ्ग हृदयादि ऊहात्मक वक्त्र इस प्रकार बन सकते हैं—

क्रम	दीर्घ स्वर युक्त वर्ण १	२		शेष मन्त्र
	↓	↓		
	र	ल		
१.	रां	लां	—	हृदयाय नमः
२.	रीं	लीं	—	शिरसे स्वाहा

क्षकारसंहृतिप्राणाः सषष्ठस्वरबिन्दुकाः ॥ १६ ॥
एष भैरवसद्भावश्चन्द्रार्धादिविभूषितः ।
मातृकामालिनीमन्त्रौ प्रागेव समुदाहृतौ ॥ १७ ॥
ओंकारोऽथ चतुर्थ्यन्ता संज्ञा नतिरिति क्रमात् ।
गणेशादिषु मन्त्रः स्याद्बीजं येषु न चोदितम् ॥ १८ ॥
नामाद्यक्षरमाकारबिन्दुचन्द्रादिदीपितम् ।

---

३. रूँ लूं — शिखायै वषट्
४. रैं लैं — कवचाय हुम्
५. रौं लौं — नेत्रत्रयाय वौषट्
६. रः लः — अस्त्राय फट्

इस प्रकल्पन की विधि का संकेत शास्त्रकार ने 'कल्पयेत्' क्रिया द्वारा दे दिया है ॥ १५ ॥

भैरव सद्भाव मन्त्र के स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं। यह मन्त्र क्ष् य् र् व् ल् बीजों के विन्दु से विभूषित रूप के साथ 'ज्ञ' संहृति 'क्ष' और प्राण 'ह' इन तीनों में छठें स्वर और बिन्दु से विभूषित वर्ण बीज मिलाकर बनाया जाता है। इस मन्त्र की यह विशेषता है कि, अनुस्वार लगाकर लिखते या बोलते हैं। कभी अर्धचन्द्र अर्थात् अनुनासिकवत् प्रयोग भी होता है ॥१६-१७॥

मातृका और मालिनी दोनों का वर्णन पन्द्रहवें आह्निक में किया गया है। इसके बाद गणपति मन्त्र का स्वरूप स्पष्ट कर रहे हैं। इसमें बीज के विषय में कुछ स्पष्ट नहीं कहा गया है। सर्वप्रथम ॐकार का प्रयोग करे। पुन चतुर्थ्यन्त संज्ञा शब्द और अन्त में नति अर्थात् नमः लगाकर यह प्रयोग में लाया जाता है। यह मन्त्र बनता है—'ओं गणेशाय नमः'। यही मन्त्रोद्धार

सर्वेषामेव बीजानां तच्चतुर्दशषष्ठयुक् ॥ १९ ॥
आमन्त्रितान्यघोर्यादित्रितयस्य क्रमोदितैः ।
बीजैर्विसर्गिणी माया हुं हकारो विसर्गवान् ॥ २० ॥
पुनर्देवीत्रयस्यापि क्रमादामन्त्रणत्रयम् ।
द्वितीयस्मिन्पदेऽकार एकारस्येह च स्मृतः ॥ २१ ॥

का क्रम हैं। गणेश आदि देवों के लिये भी यह पद्धति अपनायी जानी चाहिये।

इसका एक दूसरा स्वरूप भी मिलता है। देवता के नाम का पहला अक्षर लोजिये। उसमें 'आ' की मात्रा लगावें। उसके बाद उसमें या तो बिन्दु लगाइये या अर्धचन्द्र। यह बन गया देवता मन्त्र का बीज। जैसे गणेश का आद्यक्षर 'ग', इसमें आ की मात्रा से बना गा। इस पर बिन्दु लगावें या अर्धचन्द्र बनेगा—'गां' या 'गाँ'। गणपति मन्त्रों के बीजों का भी बीजमन्त्र तब बनता है, जब 'ग' के साथ दोर्घ ऊकार और साथ ही चतुर्दश धाम रूप औ की मात्रा का प्रयोग करते हैं। मन्त्र का स्वरूप बनता है 'गूौं'। साधक जप में इन्हीं बीज मन्त्रों का प्रयोग करते हैं ॥ १७-१९ ॥

यहाँ से परा, परापरा और अपरा मन्त्रों के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए सर्वप्रथम परापरा बीज का उद्धार कर रहे हैं—

आमन्त्रित अर्थात् सम्बोधन के एक वचनान्त तीन रूप १. 'अघोरे', २. 'परमघारे' और ३. 'घोररूपे' हैं। क्रमशः इनमें क्रमोदित विसर्ग सहित माया बीज, 'हुं' बीज और विसर्गवान् हकार लगाना चाहिये। पुनः तीनों देवी सम्बोधन १. घोरमुखि, २. भीमे और ३. भोषणे प्रयोग में लाये जाते हैं। यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि, उच्चारण के समय द्वितीय आमन्त्रण 'भोमे' के 'ए' कार के स्थान में अकार का प्रयोग करना चाहिये। इस तरह यह उच्चारण घोरमुखि भोम भोषणे ! ह्रो जायेगा ॥ २०-२१ ॥

ततः शक्तिद्वयामन्त्रो लुप्तं तत्रान्त्यमक्षरम् ।
हेऽग्निवर्णावुभौ पञ्चस्वरयुक्तौ परौ पृथक् ॥ २२ ॥
अकारयुक्तावस्त्रं हुं ह विसर्गो पुनः शरः ।
तारेण सह वस्वग्निवर्णार्धार्णद्वयाधिका ॥ २३ ॥
एषा परापरादेव्या विद्या श्रीत्रिकशासने ।
पञ्चषट्पञ्चवेदाक्षिवह्निनेत्राक्षरं पदम् ॥ २४ ॥
अघोर्यादौ सप्तके स्यात् पिबन्याः परिशिष्टकम् ।

इसके बाद दो शक्तियों के नाम वमनी और पिबनी का आमन्त्रित रूप वमनि और पिबनि ! बनाकर दोनों 'नि' का लोप कर देते हैं। इसमें हे लगाते हैं। तब यह 'वम पिब हे !' बनता है। यह बुद्धि क्षेत्र का विषय है। इसके साथ दो दो अग्निबीज का प्रयोग करते हैं। इसके तीसरे और चौथे अग्निबीज में पाँचवाँ ह्रस्व स्वर उकार लगाकर और पहले दोनों में अकार लगाकर अर्थात् 'र र रु रु' रूप में प्रयोग करते हैं। अब अस्त्र (फट्) को लगाकर मन्त्र का उद्धार करते हैं। पुनः हुं और विसर्ग युक्त 'ह' अर्थात् हः लिखकर अस्त्र मन्त्र लिखते हैं।

इस मन्त्र के आदि में तार अक्षर अर्थात् ओङ्कार का प्रयोग आवश्यक है। वसु और अग्नि मिलाकर ३८ बनता है। इतने अक्षरों का यह पूरा मन्त्र है। इस मन्त्र में दो अर्धार्ण अर्थात् स्वर रहित ट् प्रयुक्त हो रहे हैं। श्री त्रिक तन्त्र में इसे परा विद्या कहते हैं। पाँच, छः, पाँच, चार, दो, तीन, दो अक्षरों वाले शब्दों के साथ अघोर से लेकर सात पद सम्बोधन के होते हैं। इसमें पिबनी का परिशिष्ट अर्थात्, पिब जोड़ना चाहिये तथा सार्धार्ण अर्थात् अस्त्र मन्त्रों के साथ ग्यारह अक्षर के पद भी संवलित कर दिये जाते हैं ॥ २२-२४½ ॥

प्रत्येकवर्णगोऽप्युक्तः सिद्धयोगीश्वरीमते ॥ २५ ॥
देवताचक्रविन्यासः स बहुत्वान्न लिप्यते ।
माया विसर्गिणी हुं फट् चेति मन्त्रोऽपरात्मकः ॥ २६ ॥
परायास्तूक्तसद्व्याप्तिर्जीवः सहचतुर्दशः ।
सानेकभेदा त्रिशिरःशास्त्रे प्रोक्ता महेशिना ॥ २७ ॥
स्वरूपतो विभिन्नापि रचनानेकसङ्कुला ।

इयमेतावती व्याप्तिरेव जातितया सर्वत्र प्रसिद्धो नमस्कार उच्यते यदसौ नमस्कर्तर्देहादिप्रमातृताहारात् चित्प्रमातृतादानेन तात्कर्म्यात् परिणाम

सिद्ध योगेश्वरी मतानुसार यहाँ प्रतिवर्ण देवताचक्र विन्यास की ओर संकेत कर रहे हैं। यहाँ एक तथ्य भी सामने रख देते हैं कि, ये देवता तो चालिस हैं। उनका उल्लेख करने से ग्रन्थ को मसिलिप्त करना अर्थात् विस्तार करना अनावश्यक है, यह संकेत भी दे दिया गया है ॥ २५½ ॥

इसके बाद अपरा विद्या का उल्लेख कर रहे हैं—

अपरा विद्या का रूप है—विसर्गिणी माया 'ह्रीः', इसमें लगाया गया 'हुं' और अस्त्र फट्' इसके एक साथ लिखने पर जो मन्त्र बनता है, उसे अपरा विद्या का मन्त्र कहते हैं ॥ २६ ॥

जहाँ तक परा विद्या के मन्त्र का प्रश्न है यह पहले भी सांकेतिक भाषा में उक्त है। जीवः 'सः' चतुर्दश स्वर 'औकार' के साथ उच्चारण करने पर जो बीज मन्त्र बनता है, उसे परा बीज कहते हैं। त्रिशिरः शास्त्र में स्वयं महेश्वर भगवान् शिव ने इसे अनेक रूपों में अभिव्यक्त किया है। यद्यपि इनमें स्वरूप का परिवर्त्तन दृष्टिगोचर होता है किन्तु उस बीज की रचना अनेक रहस्यों की आधार है ॥ २७½ ॥

इव परिणामः। एवमपि अस्य तत्त्वादप्रच्यावो न संभाव्य इत्याह तल्लयश्चेति। श्र्यर्णोज्झित इति व य ऊ इत्येभिर्हीनः। बीजैरिति ह्रस्वपञ्चकसंभिन्नैराकाशवायुवह्निजलपृथ्वीरूपैः। दीप्तैरिति ओकारादीनामकारादीनां ह्रस्वानामाग्नेयस्वभावत्वात् तेजोमयैरिति प्राच्याः, सरेफैरिति श्रीमल्लक्ष्मणगुप्तपादाः। यदागमः

'षड्विंशकं परं बीजं रेफयुक्तं सबिन्दुकम्।
पूर्ववक्त्र महेशस्य देवीनां चैव पार्वति॥
मान्तान्तं तु सबिन्दुञ्च सरेफं भैरवाकृति।
दक्षिणं तद्भवेदास्यं देवदेवीगणस्य तु॥
पुनरैन्द्रं महाबीजमष्टाविंशतिमं शुभम्।
सरेफं बिन्दुसंयुक्तं पश्चिमं वदनं शुभम्॥

श्लोक १६ में दीप्तैः शब्द का प्रयोग विचारकों के समक्ष एक समस्या के रूप में प्रयुक्त है। कुछ विचारक कहते हैं कि, अ इ उ ए ओ ये पाँचों वर्ण ह्रस्व हैं। ह्रस्व वर्ण आग्नेय माने जाते हैं। आग्नेय सम्पर्क के कारण ये दीप्त माने जाते हैं। श्रीमान् आचार्य लक्ष्मण गुप्त पाद के अनुसार वही वर्ण दीप्त हो सकते हैं, जो अग्निबीज रेफ से संयुक्त होते हैं। अर्थात् क्ष् य् र् व् और ल् वर्णों के साथ रेफ भी लगता है। विन्दु का प्रयोग भी करते हैं। आगम भी कहता है कि,

"छब्बीसवाँ वर्ण सर्वोत्तम बीज है। इसमें रेफ का संयोग कर उस पर बिन्दु लगाते हैं। यह बीज, भगवान् कह रहे हैं कि, पार्वति ! महेश और देवी वर्ग का पूर्ववक्त्र माना जाता है। मान्तान्त अर्थात् म है अन्त में जिसके वह 'भ' वर्ण है अन्त में जिसके वह अक्षर ब अक्षर रेफ और बिन्दु के साथ भैरव की आकृति रूप में मान्य है। यह देवी और देव वर्ग का दक्षवक्त्र माना जाता है।

वारुणं च परं बीजमग्निबीजेन भेदितम् ।
बिन्दुमस्तकसंभिन्नं वदनं चोत्तरं शुभम् ॥' इति ।

झकारो दक्षिणाङ्गुलितया अभिमतः, संहृतिः क्ष, प्राणो ह । षष्ठः स्वर ऊकारः । प्रागिति पञ्चदशाह्निके । न चोदितमिति श्रीपूर्वशास्त्रे, तेन ओं गणेशाय नम इत्यादिः प्रयोगः । नामाद्यक्षरमिति गणेशस्य गेति वागीश्वर्या वेति, तेन ओं गां गणेशाय नमः, ओं वां वागीश्वर्यै नम इत्यादिः प्रयोगः । तदिति नामाद्यक्षरम् । चतुर्दश औकारः, षष्ठः स्वर ऊकारः, तेन गूँ इति । अघोर्यादित्रितयस्य आमन्त्रितानीति अघोरे परमघोरे घोररूपे इति क्रमोदितैर्बीजैरिति अर्थादन्ते उपलक्षितानि । विसर्गिणीत्युक्तेर्माया अत्र बिन्दुरहिता । तेन अघोरे ह्रीः परमघोरे कवचबीजं घोररूपे हः इति ।

ऐन्द्र बीज 'ल' महाबीज के रूप में मान्य है । यह अट्ठाइसवाँ वर्ण है । रेफ और बिन्दु से संवलित होने पर पश्चिम वक्त्र बन जाता है । इसके वाद वारुणं वर्ण 'व' अग्नि बीज और विन्दु के साथ प्रयुक्त होने पर उत्तर वक्त्र के रूप में अभिव्यक्त होता है ।"

१६वें श्लोक में 'झ' अक्षर का प्रयोग है । तन्त्राभिधान के अनुसार यह दक्ष अंगुलि माना जाता है । संहृति 'क्ष' बीज के रूप में मान्य है । प्राण 'ह' अक्षर को कहते हैं ।

श्लोक १६ में ही षष्ठ स्वर शब्द का प्रयोग है । इसका अर्थ 'ऊ'कार होता है । श्लोक १८ में यह स्पष्ट लिखा है कि, गणेश मन्त्र में कोई बीज मालिनी विजयोत्तर तन्त्र में नहीं लिखा गया है । इसीलिये बिना बीज का यह गणेश मन्त्र 'ओं गणेशाय नमः' प्रमाणिक माना जाता है । ओं गाँ गणेशाय नमः यह मन्त्र श्लोक १९ के प्रथम अर्धभाग के अनुसार बनता है । एक सो स्थिति के कारण वागीश्वरी का बीज 'वां' हो जायेगा । एक तीसरा गणपति मन्त्र 'गूँ' श्लोक १९ की दूसरी अर्धाली के अनुसार निर्मित होता है ।

पुनरामन्त्रणत्रयमिति घोरमुखि भीमे भीषणे इति, किंतु अत्र द्वितीयस्मिन्नामन्त्रणपदे एकारस्थाने अकारः कार्यो येन अस्य भीमेति रूपं स्यात्। शक्तिद्वयामन्त्र इति वमनि पिबनि इति। अन्त्यमिति नीत्यक्षरं, तेन वम पिब इति। ततोऽपि दक्षजानुयुतः प्राणः, अग्निवर्णाविति रेफद्वयम्। पञ्चमः स्वर उकारः। पराविति अग्निवर्णावेव, अस्त्रमिति फट्, ततः कवचबीजं, सविसर्गः प्राणश्च, पुनः शर इति द्वितीयमस्त्रम्। तारेणेति प्रथममवस्थितेन प्रणवेन। वस्वग्नीति अष्टात्रिंशत्। अर्धार्णेति अनच्कष्टकारः। तदुक्तं त्रिशिरोभैरवे

'एवं परापरा देवी पदाष्टकविभूषिता।
अष्टात्रिंशाक्षरा सैषा प्रोद्धृता परमेश्वरी॥
अर्धाक्षरद्वयं चास्या ज्ञातव्यं तत्त्ववेदिभिः।' इति।

श्लोक २० के अनुसार—

'अघोरे' परमघोरे और घोररूपे ये तीन अघोरी देवी के सम्बोधन हैं। इन तीनों के अन्त में तीन बीज प्रयुक्त होते हैं। अघोरे के साथ विसर्गिणी माया अर्थात् 'ह्रीः' बीज लगता है। परमघोरे के साथ हुं बीज प्रयुक्त होता है और घोररूपे के साथ 'हः' बीज लगाया जाता है।

श्लोक २१ के आमन्त्रण त्रयम् के अनुसार घोरमुखि, भीमे ओर भीषणे ये तीन सम्बोधन शब्द हैं। प्रयोग में 'घोरमुखि भीम भीषणे' यह रूप बनता है। श्लोक २२ के अनुसार "वम और पिब हे' मन्त्र बनता है। श्लोक २२-२३ के अनुसार रर रुरु फट् और हुं हः फट्' मन्त्र बनते हैं। इस तरह पूरा मन्त्र आदि में ओंकार जोड़ देने पर ३८ अक्षरों का हो जाता है। अन्तिम दोनों पदों में 'फट्' अस्त्र मन्त्र का प्रयोग करते हैं। इस तरह श्लोक २० से २३ तक में जो मन्त्र बनता है, वह है—

"ओं अघोरे ह्रीः, परमघोरे हुं, घोररूपे हः, घोरमुखि ! भीम भीषणे ! वम पिब हे, रर रुरु फट् हुं हः फट्" यह परापरा देवी का बीज मन्त्र है।

पञ्चेति यथा ओं अघोरे ह्रीः इति अघोर्याः। वेदेति चत्वारः। अक्षीति द्वयम्। वह्नीति त्रयम्। नेत्रेति द्वयम्। परिशिष्टकमिति सार्धार्णद्वयमेकादशाक्षरं पदम्। यदुक्तं

'परापराङ्गसंभूता योगिन्योऽष्टौ महाबलाः।
पञ्च षट् पञ्च चत्वारि द्वित्रिद्विवर्णाः क्रमेण तु॥
ज्ञेयाः सप्तैकादशार्णा एकार्धार्णद्वयान्विता।'
(मा० वि० ३।६०) इति।

देवताचक्रेति चत्वारिंशत्संख्याकस्य। यदुक्तं तत्र

प्रणवे भैरवो देवः कर्णिकायां व्यवस्थितः।
अकारे उत्फुल्लनयना घोकारे पीनपयोधरा॥
रेकारे त्वष्टूरूपा तु ह्रीःकारे व्याघ्ररूपिका।
पकारे सिंहरूपा तु रकारे पाननिरता॥
ततश्चैव क्रमायाता मकारे राक्षसी तथा।
घोकारे मांसभक्षी तु रेकारे तु रणाशिनी॥

श्लोक २४ तक इस पूरे मत्र का मन्त्रोद्धार सम्पन्न होता है। इस मन्त्र के पदों के अक्षरों का अङ्गभूत क्रम आठ योगिनियों पर निर्भर करता है। इसमें ५, ६, ५, ४, २, ३ और दो वर्णो के क्रम से १९ वर्ण होते हैं।

इसके बाद श्लोक २५ के अनुसार श्री सिद्ध योगीश्वरी शास्त्र के अनुसार प्रत्येक वर्ण में देवता चक्र के विन्यास का क्रम समझाया गया है। आचार्य जयरथ ने त्रैशिरस शास्त्र का उदाहृण प्रस्तुत किया है। वहाँ कहा गया है कि,

"प्रणव में भैरव देव कर्णिका में विराजमान रहते हैं।

अकार में उत्फुल्लानना, घोकार में पीनपयोधरा, रेकार में त्वष्टा (विश्वकर्मा) ह्रीः कार में व्याघ्री, पकार में सिंहिनी रूपा, रकार में पानरता, मकार में राक्षसी देवी, घोकार में मांसभक्षी, रेकार में रण में

रेतोवहा च हुंकारे घोकारे निर्भया स्मृता।
रकारे घोरदशना रूकारे तु अरुन्धती॥
क्रमेणैतास्तु विन्यस्य पेकारे प्रियवादिनी।
हःकारे उग्ररूपा तु घोकारे नग्नरूपिणी॥
रकारे रक्तनेत्री तु युकारे चण्डरूपिणी।
खिकारे पक्षिरूपा तु भीकारे भरणोज्ज्वला॥
मकारे मारणी प्रोक्ता भीकारे च शिवा स्मृता।
विन्यस्यैताः क्रमायाताः षकारे शाकिनी स्मृता॥
णेकारे यन्त्रलेहा तु वकारे वशकारिका।
मकारे कालदमना पिकारे पिङ्गली स्मृता॥
वकारे वर्धनी चैव हेकारे हिमशीतला।
रुक्मिणी च रुकारेण रुकारेण हलायुधा॥
वह्निरूपा रकारेण तेजोरूपा रकारजा।
फकारे योनिरूपा तु टकारे पररूपिणी॥
हुंकारे हुतवहाख्या हःकारे वरदायिका।
फकारेण महारौद्रा टकारे पाशदायिका'॥ इति।

संवेशिनी, हुंकार में रेतोवहा, घोकार में निर्भया, रकार में घोरदर्शना, रूकार में रुरुन्धती, पेकार में प्रियवादिनी, हः कार में उग्ररूपा, घोकार में नग्नरूपिणी, रकार में रक्तनेत्री, मुकार में चण्डरूपिणी, खिकारे पक्षिरूपा, भीकारे में भरणोज्वला, मकार में मारणी, भीकार में शिवा, षकार में शालिनी, णे कार में यन्त्रलेहा, वकार में वशकारिका, मकार में कालदमना, पिकार में पिङ्गली देवो, वकार में वर्धनी, हेकार में हिमशीतला, रुकार में रुक्मिणी, रु में हलायुधा, रकार में वह्निरूपा, रकार में तेजोमयी, फकार में योनिरूपा, टकार में पररूपिणी, हुंकार में हुतवहा देवी, हःकार में वरदायिका, फकार में महारौद्रा, टकार में पाशदायिका।

बहुत्वादिति ग्रन्थविस्तारभयात्, प्रकान्ते श्रीपूर्वशास्त्रे हि एतत्पूजनं न आम्नातमित्याशयः। अपरात्मक इति अपरासंबन्धीत्यर्थः। यदुक्तम्

'अघोरान्तं न्यसेवादौ प्राणं बिन्दुयुतं पुनः।
वाममुद्रान्वितं न्यस्य पाद्यं काद्येन पूर्ववत्'॥

(मा० वि० ३।५१) इति।

उक्तेति पूर्वम्। जीवः स। चतुर्दशः औ। स्वरूपाविभेदेऽपि अनेक-प्रकारताप्रवचने रचनानेकसंकुलेति विशेषणद्वारेण हेतुः॥ २७॥

कुल चालीस अक्षरों में चालीस देवताओं का अधिष्ठान माना जाता है। यही 'देवता चक्र' कहलाता है। विस्तार के भय से शास्त्रकार ने नहीं लिखा था। जयरथ ने त्रैशिरस शास्त्र का उदाहरण प्रस्तुत कर इस विषय को स्पष्ट कर दिया है। यह विवरण श्री तन्त्रालोक के उपजोव्य ग्रन्थ मालिनी विजयोत्तर तन्त्र में नहीं है। अपरा मन्त्र के सम्बन्ध में श्लोक २६ में शब्द 'अपरात्मक' प्रयुक्त है। अपरात्मक का अर्थ अपरा सम्बन्धी होता है। मालिनी-विजयोत्तर तन्त्र ३।५१ में स्पष्ट निर्देश है कि,

"अघोर के अन्त में प्रयुक्त बीज अर्थात् ह्रौः, पहला न्यस्य बीज है। इसके बाद प्राण अर्थात् 'ह' वर्ण पर वाम मुद्रा अर्थात् ह्रस्व 'उ' मात्रा लगायी जाती है। इस का न्यास होता है। इसके ऊपर विन्दु लगाने से कूर्च या कवच बीज बनता है। पुनः फट् अस्त्र मन्त्र लगता है। (पकारादि प्रयोग को पादि बीज (फट्) कहते हैं) पादि पद परापरा मन्त्र में कई हैं। जैसे—परमघोरे पद पादि है। इसे पाद्य कहते हैं। इसी तरह कादि पद दो हैं—घोररूपे ! और घोरमुखि ! यहाँ यह संकेतित करना है कि, परापरा मन्त्र में पूर्व में ही जैसे प्रयोग और क्रम थे, सब पूर्ववत् व्यवहार में प्रवर्तमान रहेंगे॥" मावि० ३।५१॥

परामन्त्र—श्लोक २७वें से परामन्त्र का उद्धार कर रहे हैं। उस श्लोक में 'उक्त सद्व्याप्तिः' और 'जीव' को विशेष रूप से आचार्य जयरथ ने

एतदेव शब्दान्तरद्वारेण पठति

जीवः प्राणस्थ एवात्र प्राणो वा जीवसंस्थितः ॥ २८ ॥

जीव इति अर्थात् सचतुर्दशः । प्राणो ह । तदुक्तं तत्र

'पराशक्तिस्तु सावित्र्या इच्छया च नियोजितः ।
जीवः प्राणस्थ एवात्र प्राणो वा जीवसंस्थितः' ॥ इति ।

तेन स्हौः ह्सौः वेति ॥ २८ ॥

समझाने का प्रयत्न किया है । सद् व्यापि रहस्य गर्भ शब्द है । आनन्द, चित् और सत् का शाश्वत सम्बन्ध है । शास्त्र कहता है कि, भाव में जहाँ आनन्द होता वहाँ चित् और सद् की व्याप्ति होती है । इसी तरह जहाँ भाव में चित् और सत् की व्याप्ति होती है, वहाँ आनन्द उल्लसित होता रहता है । परा विद्या का यही परिवेश उक्त है । यह व्याप्ति जीव भाव में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है । इसी भाव से तन्त्राभिधान कोश में जीव को 'स' कहा गया है । वह जीव रूप 'स' चतुर्दशधाम के आयाम को आत्मसात् कर 'सौ' बन जाता है । विसर्ग भी सद्व्याप्ति का प्रतीक है । इस तरह यह 'सौः[1]' पराबीजरूप से प्रसिद्ध है ॥ १४-२७½ ॥

त्रिशिरः शास्त्र में पराख्पता की 'रचनानेक संकुला' यह परिभाषा की जाती है । अनेक प्रकारता का कथन शास्त्रकार ने श्लोक २८ में किया है । वे कहते हैं कि,

कभी जीव अर्थात् 'स्' प्राणस्थ अर्थात् प्राणरूपो हकार को आश्रय बना लेता है । इस तरह स्ह या ह्स रूप बनते हैं । इन दोनों रूपों में सविसर्ग 'औ' (चतुर्दशधाम स्वर) जोड़ देने पर स्हौः या ह्सौः ये दो बीज मन्त्र उदित होते हैं । इस श्लोक का उपजीव्य श्लोक उद्धृत कर रहे हैं—

---

१. मा० वि० ३।५४

अनयोश्च आधाराधेयभावविपर्ययस्य अभिप्रायं प्रकटयन् विशेषणमेव प्रकाशयति

आधाराधेयभावेन अविनाभावयोगतः ।
हंसं चामृतमध्यस्थं कालरुद्रविभेदितम् ॥ २९ ॥

"पराशक्ति की सद्व्याप्ति की चर्चा श्लोक २७ में आयी हुई है। पराशक्ति का मन्त्र स्वरूप सद्व्याप्ति रूपा सावित्री की इच्छा से ही नियोजित होता है। इसी इच्छा से नियोजित जोव प्राणस्थ रहने पर स्ह और जीवस्थ रहने पर ह्स रूपों में व्यक्त होता है। इनमें सविसर्ग 'औ' की योजनिका से 'स्हौः' या 'ह्सौः' ये दो पराबीज मन्त्र बनते हैं।"

इस प्रकार पराबीज तीन प्रकार के शास्त्रों में पाये जाते हैं। १. सौः बीजमन्त्र, २. स्हौः और ३. ह्सौः। तीनों के अर्थ में व्यापक ऊहात्मक अन्तर सम्भव है। सावित्री 'औकार' को भी कहते हैं। इच्छा विसर्ग को कहते हैं। इस दृष्टि से जोव+प्राण+सावित्री+ इच्छा='स्हौः' मन्त्र का उद्धार होता है। इसी तरह प्राण+जीव+सावित्री+इच्छा मिलाकर ह्सौः' बीज का उद्धार होता है ॥ २८ ॥

प्राणस्थ और जोवस्थ के आधाराधेय भाव के विपर्यय का अभिप्राय प्रकट करते हुए इनके वैशिष्ट्य पर प्रकाश डाल रहे हैं—

आधार पर ही आधेय रहता है। जब जीव आधेय बनता है, तो आधार प्राण बनता है। प्राण के आधेय होने पर जीव ही आधार बन जाता है। दोनों स्थितियों में अविनाभाव योग विद्यमान है। शक्ति और शुद्धात्म शिव का परमैक्य दोनों दशाओं में समान भाव से उल्लसित है।

हंस हकार, अमृत सकार के मध्य में अवस्थित हो और कालरुद्र ऊकार से संयुक्त हो, तो 'स्ह्सू' रूप बनता है। इसमें भुवनेश शिरोभाग 'औकार' की मात्रा लगा देने और अनङ्गद्वय अर्थात् (:) विसर्ग योग करने पर

भुवनेशशिरोयुक्तमनङ्गद्वययोजितम् ।
दीप्ताद्दीप्ततरं ज्ञेयं षट्चक्रक्रमयोजितम् ॥ ३० ।
प्राणं दण्डासनस्थं तु गुह्यशक्तीच्छया युतम् ।
परेयं वाचिकोद्दिष्टा महाज्ञानस्वरूपतः ॥ ३१ ॥
स्फुटं भैरवहृज्ज्ञानमिदं त्वेकाक्षरं परम् ।
अमृतं केवलं खस्थं यद्वा सावित्रिकायुतम् ॥ ३२ ॥
शून्यद्वयसमोपेतं पराया हृदयं परम् ।
युग्मयागे प्रसिद्धं तु कर्तव्यं तत्त्ववेदिभिः ॥ ३३ ॥

'स्ह्सूौं' यह मन्त्र उद्धृत होता है। यह छः चक्र रूप वर्ण क्रम स्, ह्, स्, ऊ, औ तथा : (विसर्ग) से संवलित मन्त्र अत्यन्त दीप्त मन्त्र है। शास्त्रकार इसे दीप्तातिदीप्ततर मन्त्र कहते हैं ॥ २९-३० ॥

प्राण 'ह्' दण्ड 'र' के आसन पर अवस्थित हो, इसके साथ गुह्य शक्ति 'ई' के साथ विसर्ग का योग करने पर 'ह्रीः' रूप अत्यन्त उदात्त और उद्दीप्त शक्ति मन्त्र का उद्धार होता है। यह एक तरह परावाचिका मन्त्र ही इस रूप में उद्दिष्ट है। इसमें महाज्ञान शक्ति कूट कूट कर भरी हुई है। इसमें भैरव भाव का हृदय व्यक्त होता है। यह एकाक्षर मन्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मन्त्र माना जाता है ॥ ३१½ ॥

अमृत 'स', ख अर्थात् आकाशबीज 'ह' में अवस्थित हो और अविनाभाव योग के कारण इसमें विसर्ग का योग हो, तो इससे 'स्हः' रूप अमृतबीज-मन्त्र उदित होता है। इसका एक विकल्प रूप भी शास्त्रों में प्राप्त होता है। अमृत बीज में सावित्रिका स्वर 'औ' और शून्यद्वय अर्थात् विसर्ग (:) का योग हो, तो 'सौः' मन्त्र का उदय होता है। यह परा विद्या का हृदय मन्त्र माना जाता है। यह युग्म याग में अर्थात् यामल भाव में प्रयोज्य है। तत्त्व द्रष्टा साधक को इसके प्रयोग में सावधान रहना चाहिये ॥ ३२-३३ ॥

अन्येऽप्येकाक्षरा ये तु एकवीरविधानतः ।
गुप्ता गुप्ततरास्ते तु अंगाभिजनवर्जिताः ॥ ३४ ॥
यष्टव्यास्तु सदा देवि स्त्रिया वा पुरुषेण वा ।
सकारो दीर्घषट्केन युक्तोऽङ्गान्याननानि तु ॥ ३६ ॥
स्यात् स एव परं ह्रस्वपञ्चस्वरखसंयुतः ।
ओंकारैः पञ्चभिर्मन्त्रो विद्याङ्गहृदयं भवेत् ॥ ३७ ॥

अन्य एकाक्षर मन्त्र जैसे श्लोक २८ में निर्दिष्ट है, वे 'एक वीर विधान' विधि से ही अपना रूप ग्रहण कर लेते हैं। यहीं 'वीर' आधार विधि अर्थ में प्रयुक्त वर्ण विधि का द्योतक बनकर विद्यमान है। इनके कवच नहीं होते और ये नितान्त गोपनीय मन्त्र हैं।

कुलाम्नाय में दीक्षित साधकेन्द्रों द्वारा इन्हीं यामल मन्त्रों से कुल याग की विधि पूरो करनी चाहिये। ये कुलस्थ मन्त्र हैं और परम सिद्धिप्रद माने जाते हैं। कुल क्रम के विधान के अनुसार स्त्री या पुरुष द्वारा सूक्ष्म विज्ञान योग का मार्ग अपनाते हुए, इन मन्त्रों का प्रयोग करना चाहिये ॥ ३४-३५ ॥

'स' वर्ण दीर्घ छः स्वरों से संवलित होकर अङ्गवक्त्रों से मिलकर मन्त्र रूप में प्रयुक्त किया जाता है। जैसे—सां हृदयाय नमः, सीं शिरसे स्वाहा, सूँ शिखायै वषट्, सैं कवचाय हुं, सौं नेत्रत्रयाय वौषट् और सः अस्त्राय फट्। ये छः मन्त्र छः अङ्ग छः जातियों के साथ निर्दिष्ट हैं। शास्त्रकार कहते हैं कि, 'स' ही ह्रस्व ५ स्वरों से और 'ख' अर्थात् विन्दु से समन्वित होकर भी प्रयुक्त होता है। अ, इ, उ, ए और ओ ये पाँच ह्रस्व माने जाते हैं। सं, सिं, सुं, सें और सों ये एकार्ण मन्त्र भी अङ्गवक्त्र युक्त प्रयुक्त होते हैं। केवल पाँच बार 'स' को केवल 'ओं' इस पञ्चम ह्रस्व से मिलाकर सों मन्त्र का भी अङ्गवक्त्रान्वित प्रयोग होता है। इस रूप में इस मन्त्र को विद्याङ्गहृदय मन्त्र कहते है ॥ ३६-३७ ॥

प्रणवश्चामृते तेजोमालिनि स्वाहया सह ।
एकादशाक्षरं ब्रह्मशिरस्तन्मालिनीमते ॥ ३८ ॥
वेदवेदनि हूं फट् च प्रणवादियुता शिखा ।
वज्रिणे वज्रधराय स्वाहेत्योंकारपूर्वकम् ॥ ३९ ॥
एकादशाक्षरं वर्म पुरुष्टुतमिति स्मृतम् ।
तारो द्विजिह्वः खशरस्वरयुग्जीव एव च ॥ ४० ॥
नेत्रमेतत्प्रकाशात्म सर्वसाधारणं स्मृतम् ।
तारः श्लीं पशु हुं फट् च तदस्त्रं रसवर्णकम् ॥ ४१ ॥

प्रणव ओङ्कार के साथ 'अमृते तेजोमालिनि स्वाहा' मन्त्र ग्यारह अक्षरों विभूषित एकादशाक्षर मन्त्र है। मालिनी मतानुसार इसे ब्रह्मशिरस मन्त्र कहते हैं।

इसी तरह आदि में प्रणव लगाकर 'वेदवेदनि हूं फट्' का प्रयोग मन्त्र रूप में करते हैं। प्रणव को आदि में प्रयुक्त कर वेद वेदनि वषट् रूप शिखा का प्रयोग भी मन्त्र रूप में किया जाता है।

इसी तरह प्रणव आदि में लगाकर अर्थात् ओं के साथ वज्रिणे वज्रधराय स्वाहा, जोड़ने से एकादशाक्षर पुरुष्टुत नामक कवच मन्त्र महत्त्वपूर्ण माना जाता है ॥ ३८-३९½ ॥

तार (प्रणव) ओं, द्विजिह्व 'ज' ख (ं) विन्दु, शरस्वर 'उ' जीव सबिसर्ग स अर्थात् सः युक्त 'ओं जुं सः' यह प्रकाशात्मक नेत्र मन्त्र माना जाता है। यह सर्व साधारण में भी प्रसिद्ध मन्त्र है। आत्म रक्षा के लिये यह लघु मृत्युञ्जय मन्त्र रूप माना जाता है। इसके साथ मां रक्ष रक्ष लगाकर विपर्यस्त मन्त्र वर्ण का प्रयोग महत्त्वपूर्ण हो जाता है ॥ ४० ॥

इसी तरह प्रणव 'ओं' के साथ श्लीं बीज का योग करना चाहिये। इसके बाद पशु का नाम (जिसके लिये इस मन्त्र का जप किया जाये) रहना

लरटक्षवयैर्दीर्घैः समयुक्तैः सबिन्दुकैः ।
इन्द्रादयस्तदस्त्राणि ह्रस्वैर्विष्णुप्रजापती ॥ ४२ ॥
स्मृतौ सूर्यद्वितीयाभ्यां ह्रस्वाभ्यां पद्मचक्रके ।
नमः स्वाहा तथा वौषट् हुं वषट् फट् च जातयः ॥ ४३ ॥
अङ्गेषु क्रमशः षट्सु कर्मस्वथ तदात्मिकाः ।
जपे होमे तथाप्याये समुच्चाटेऽथ शान्तिके ॥ ४४ ॥
अभिचारे च मन्त्राणां नमस्कारादिजातयः ।

चाहिये । इस मन्त्र के साथ हुं से लेकर फट् तक के सभी जाति रूप अव्यय जो संख्यामें रस वर्ण अर्थात् छः हैं, प्रयुक्त किये जाते हैं । जैसे 'ओं श्लीं देवदत्त कवचाय हुं' मन्त्र की तरह सभी जातियों के साथ मन्त्र बनेंगे ॥ ४१ ॥

ल, र, ट, क्ष, व और य इन वर्णों के साथ दीर्घ स्वर सविन्दुक लगाकर बीज मन्त्र निर्मित किये जाते हैं । ये सभी पञ्चवक्त्रात्मक इन्द्रादि देवों के लिये प्रयुक्त होते हैं । इन्द्रादि देवों के साथ उनके आयुधों का भी नाम यन्त्र में आना चाहिये ।

जहाँ तक ई का और 'आ' कार का प्रश्न है, ये तुर्य (चतुर्थ) द्वितीय दीर्घ स्वर हैं । इनके ह्रस्व रूप 'इ' कार और अकार होते हैं । ह्रस्व 'इ' कार में विष्णु और 'अ' कार में प्रजापति का प्रकल्पन करते हैं । दीर्घ 'ई' कार और 'आ' कार रूप चौथे और द्वितीय स्वर पद्मचक के जातियों के द्योतक हैं ।

यह ध्यान देने की बात है कि शास्त्र में नमः, स्वाहा, वौषट्, हुं, वषट् और फट् ये 'जाति के नाम से जाने जाते हैं । ये क्रमशः छः अङ्गों हृदय, शिरस्, शिखा, कवच, नेत्रत्रय और अस्त्र रूप से प्रयुक्त होते हैं । ये क्रमशः जप, होम, आप्याय, उच्चाटन, शान्ति और अभिचार प्रयोगों में व्यवहृत होते हैं ॥ ४२-४४½ ॥

अक्षिषण्मुनिवर्गेभ्यो द्वितीयाः सह बिन्दुना ॥ ४५ ॥

योन्यर्णेन च मातॄणां सद्भावः कालकर्षिणी ।
आद्योज्झितो वाप्यन्तेन वर्जितो वाथ संमतः ॥ ४६ ॥

जीवः प्राणपुटान्तःस्थ कालानलसमद्युतिः ।
अतिदीप्तस्तु वामांघ्रिर्भूषितो मूर्ध्नि बिन्दुना ॥ ४७ ॥

दक्षजानुगतश्चायं सर्वमातृगणार्चितः ।
अनेन प्राणिताः सर्वे ददते वाञ्छितं फलम् ॥ ४८ ॥

इसके बाद कालकर्षिणी मन्त्र का अभिधान कर रहे हैं—

अक्षिवर्ग अर्थात् दूसरा अर्थात् द्वितीय वर्ग (कवर्ग) षट् अर्थात् छठाँ पवर्ग मुनि अर्थात् ७ अर्थात् सप्तम यवर्ग इन तीनों वर्गों के द्वितीय वर्ण अर्थात् 'ख', 'फ' और 'र' जब योनि वर्ण अर्थात् 'ए'कार के साथ सबिन्दुक प्रयुक्त होते हैं, तो खें, फें रें रूप में नहीं मिलते अपि तु इससे 'ख्फ्रें' एक मन्त्रात्मक मातृसद्भाव रूप कालकर्षिणी मन्त्र बनता है। इसे 'ख्फें या ख् छोड़ कर फ्रें रूप में भी प्रयुक्त करते हैं। इस तरह इस मन्त्र के चार रूप ख्फ्रें, ख्फें फें और फ्रें शास्त्रानुसार निर्दिष्ट हैं। एक आद्योज्झित है और दूसरे अन्तवर्जित रूप में प्रयुक्त हैं ॥ ४५-४६ ॥

जोव 'स' जब प्राण पुट 'ह' के अन्तः स्थित होता है, तो उस वर्णात्मक आकृति की शोभा कालानल 'र' से संयुक्त और दीप्तिमन्त होती है। जब यह वामांघ्रि 'फ' से भूषित होता है, और बिन्दु युक्त होता है, तो अतिदीप्तिमन्त हो जाता है। अर्थात् फ में 'र' बीज भी युक्त कर दक्षजानु अर्थात् 'ए' स्वर का योग कर देते हैं। 'स्ह्फ्रें' रूप यह मन्त्र सभी मातृवृन्द से भी अर्चनीय माना जाता है। यह जप करने पर वाञ्छित फल प्रदान

सद्भावः परमो ह्येष मातृणां भैरवस्य च ।
तस्मादेनं जपेन्मन्त्री य इच्छेत्सिद्धिमुत्तमाम् ॥ ४९ ॥

रुद्रशक्तिसमावेशो नित्यमत्र प्रतिष्ठितः ।
यस्मादेषा परा शक्तिर्भेदेनान्येन कीर्तिता ॥ ५० ॥

यावत्यः सिद्धयस्तन्त्रे ताः सर्वा कुरुते त्वियम् ।
अङ्गवक्त्राणि चाप्यस्याः प्राग्वत्स्वरनियोगतः ॥ ५१ ॥

दण्डो जीवस्त्रिशूलं च दक्षाङ्गुल्यपरस्तनौ ।
नाभिकण्ठौ मरुद्रुद्रौ विसर्गः सत्रिशूलकः ॥ ५२ ॥

सर्वयोगिनिचक्राणामधिपोऽयमुदाहृतः ।
अस्याप्युच्चारणादेव संवित्तिः स्यात्पुरोदिता ॥ ५३ ॥

करता है । इसे श्वास के साथ जपना लाभप्रद होता है । इसमें मातृ सद्भाव के साथ भैरव सद्भाव भी समान रूप से व्याप्त है । जो सिद्धि का इच्छुक व्यक्ति है, उसे इस मन्त्र का जप अवश्य करना चाहिये । शाश्वत रूप से रुद्रशक्ति का समावेश इस मन्त्र में है । यह पराशक्ति मन्त्र है । कई मनीषियों ने अपने ढङ्ग से इसको दूसरे वैकल्पिक रूपों में भी व्यक्त किया है । तन्त्र में जितनी सिद्धियाँ कल्पित की गयी हैं, उन समस्त सिद्धियों को यह प्रदान करता है । ह्रस्व, दीर्घ स्वरों के पर्याय से इसके अङ्गवक्त्र मन्त्र भी पूर्ववत् प्रयुक्त होते हैं ॥ ४७-५१ ॥

दण्ड 'र', जीव 'स', त्रिशूल 'ज', दक्षाङ्गुलि 'भ', वामस्तन 'ल', नाभि 'क्ष', कण्ठ 'व' मरुत् 'य' रुद्र 'ऊ', विसर्गः और त्रिशूल 'औ' इनके समवाय से बना मन्त्र सर्व योगिनी चक्रों का स्वामी माना जाता है । इसके उच्चारण मात्र से पूर्वोदित संवित्ति का उदय अवश्य होता है ।

महाचण्डेति तु योगेश्वऋ इत्यष्टवर्णकम् ।
नवार्णेयं गुप्ततरा सद्भावः कालकर्षिणी ॥ ५४ ॥
श्रीडामरे महायागे परात्परतरोदिता ।
सुधाच्छेदकषण्ठाद्यैर्बीजं छेदकमस्वरम् ॥ ५५ ॥
अध्यर्धार्णा कालरात्रिः क्षुरिका मालनीमते ।
शतावर्तनया ह्यस्या जायते मूर्ध्नि वेदना ॥ ५६ ॥
एवं प्रत्ययमालोच्य मृत्युजिद्ध्यानमाश्रयेत् ।
नैनां समुच्चरेद्देवि य इच्छेद्दीर्घजीवितम् ॥ ५७ ॥

महाचण्डे योगेश्वरि ! इन दो सम्बोधनों में योगेश्वरी के अन्तिम अर्ण को मिलाकर लिखने से आठवर्ण बनते हैं। यहाँ सद्भाव शब्द का योग भी अपेक्षित है। कालकर्षिणी बीज स्फ्रें' माना जाता है। स्फ्रें बीज के साथ यह नवार्ण मन्त्र हो जाता है। इसके बिना यह आठ वर्ण का ही अधूरा मन्त्र रहता है। इस तरह श्लोक ५२ से ५४ तक के श्लोकों में दो प्रकार के मन्त्रों का उल्लेख किया गया है। श्री डामर महायाग में इसे 'परात्परता' कहते हैं ॥ ५२-५४½ ॥

सुधा 'स' छेदक 'क' शण्ठ आद्यवर्ण 'ऋ' और छेदक अस्वर वर्ण अर्थात् क् कुल मिलाकर बीज बनता है—'स्कृक्'। मालिनी विजयोत्तर तन्त्र के अनुसार इसे क्षुरिका मन्त्र कहते हैं। यह कालरात्रि मन्त्र है। यह अर्धार्णा के अधिकार क्षेत्र में विकसित होने वाली विद्या है। इसके एक माला जप करने से शिर में वेदना होने लगती है। इस प्रकार विश्वास हो जाने पर ध्यान में समाहित हो जाना चाहिये। ध्यान का आश्रय लेने से यह मृत्युजिद् मन्त्र हो जाता है। इस मन्त्र का उच्चारण नहीं होना चाहिये। उच्चारण पूर्वक् जप करने से जीवन के नष्ट होने की सम्भावना बनी रहती है। दीर्घ जीवन की इच्छा रखने वाले साधकों को इस मन्त्र का उच्चारण पूर्वक जप नहीं करना चाहिये ॥ ५५-५७ ॥

द्विर्दण्डाग्नी शूलनभःप्राणाश्छेत्त्रनलौ तथा ।
कूटाग्नी सविसर्गाश्च पञ्चाप्येतेऽथ पञ्चसु ॥ ५८ ॥
व्योमस्विति शिवेनोक्तं तन्त्रसद्भावशासने ।
छेदिनी क्षुरिकेयं स्याद्यया योजयते परे ॥ ५९ ॥
बिन्द्विन्द्वनलकूटाग्निमरुत्षष्ठस्वरैर्युतम् ।
आपादतलमूर्धान्तं स्मरेदस्त्रमिदं ज्वलत् ॥ ६० ॥
कुञ्चनं चाङ्गुलीनां तु कर्तव्यं चोदनं ततः ।
जान्वादिपरचक्रान्तं चक्राच्चक्रं तु कुञ्चयेत् ॥ ६१ ॥
कथितं सरहस्यं तु सद्योनिर्वाणकं परम् ।
अथोच्यते ब्रह्मविद्या सद्यःप्रत्ययदायिनी ॥ ६२ ॥

दण्ड 'र', अग्नि 'र' ये दोनो द्वित्व युक्त प्रयुक्त करने पर र्रं, र्रं, यह बीज वर्ण बनते हैं। शूल 'ज' नभ 'क्ष' प्राण 'ह' आचार्य जयरथ के अनुसार पहले प्राण, पुनः नभ और इसके बाद शूल अर्थात् ह्क्षजः, छेत्ता, 'क' अनल र, मिलाकर 'क्रः', कूट 'क्ष' और अग्नि 'र' मिलाकर क्ष्रः। ये पाँच बीज मन्त्र हैं १. र्रं २. र्रं ३. ह्क्ष्जः, ४. क्रः और ५. क्ष्रः ये पाँचो पाँच व्योम के प्रतीक मन्त्र हैं। तन्त्रसद्भावशास्त्र में शिव ने यह कथन किया है। इसे छेदिनी छुरिका कहते हैं। क्षुरिका के प्रयोग के अवसर पर इसके द्वारा पर में योजित किया जाता है ॥ ५८-५९ ॥

बिन्दु 'ം', इन्दु 'स' अनल 'र' कूट 'क्ष' अग्नि 'र', मरुत् 'य', षष्ठ स्वर 'ऊ' यह जाज्वल्यमान अस्त्र मन्त्र है। यह पादाधस्तल से मूर्धान्त शरीर में स्मरण करना चाहिये। स्मरण करते हुए अङ्गुलियों का आकुञ्चन और संप्रेरण करना चाहिये। इस क्रिया में पुनः जानु से औन्मनस चक्र तक एक चक्र से दूसरे चक्रों के क्रम से आकुञ्चन करना चाहिये। यह रहस्य मयी प्रक्रिया तत्काल निर्वाणप्रदा होती है ॥ ६०-६१½ ॥

शिवः श्रीभूतिराजो यामस्मभ्यं प्रत्यपादयत् ।
सर्वेषामेव भूतानां मरणे समुपस्थिते ॥ ६३ ॥
यया पठितयोत्क्रम्य जीवो याति निरञ्जनम् ।

अविनाभावेति शक्तिशुद्धात्मनोरैकात्म्यात् । यदुक्तं तत्र

'अविनाभावतो देवि शक्तेः शुद्धात्मना सह ।
शिवं शक्ति विजानीयात्प्राणः शुद्धात्मसंज्ञक ॥
एकरूपतया ज्ञेयावाधाराधेययोगतः ।' इति ।

अन्त्यस्य च अस्य बीजस्य

सद्यः प्रत्यय दायिनी ब्रह्म विद्या का कथन करना मन्त्रविद्या के सन्दर्भ में समुचित विचार है और आवश्यक भी है। अतः यहाँ उसका श्री गणेश कर रहे हैं—

शास्त्रकार यह स्वयं घोषित कर रहे हैं कि, इस विद्या को शिव के साक्षात् प्रतीक गुरुदेव श्री भूतिराज ने विशेष रूप से मेरे हित में प्रतिपादित किया था। समस्त प्राणियों को मरण वेला उपस्थित हो जाने पर इस विद्या के पढ़ने मात्र से जीव तत्काल उत्क्रान्ति को उपलब्ध कर निरञ्जन परमेश्वर भाव में प्रवेश कर जाता है ॥ ६२-६३ ॥

श्लोक २९ में आधाराधेय भाव और अविना भाव योग इन दो शब्दों के प्रयोग का निष्कर्ष समझना अत्यन्त आवश्यक है। इस विषय से सम्बन्धित आगम प्रमाण्य प्रस्तुत कर आचार्य जयरथ ने इसे और भी सरल बना दिया है। इससे सामान्य पाठक को प्रामाणिकता के साथ वास्तविकता की जानकारी होगी, इसमें सन्देह नहीं। वस्तुतः शक्ति के विना शक्तिमान् का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। ये दोनों ऐकात्म्य भाव में शाश्वत रूप से उल्लसित हैं। कहा गया है कि,

"एक दूसरे के बिना इनके स्वरूप का आकलन नहीं किया जा सकता। शक्ति का शुद्धात्म शिव के साथ ऐकात्म्य भी शाश्वत है। शिव शक्ति

'हृदयार्णं नितम्बार्णं दक्षजानुगतं प्रिये।
सा देवी स शिवस्तच्च विश्वं तस्यान्यविस्तरः॥
ग्रन्थकोटिसहस्राणामेतत् सारं विचिन्तयेत्।
प्रभावोऽस्या न शक्येत वक्तुं कल्पशतैरपि॥'

इत्यादिना श्रीदेवीपञ्चशतिके माहात्म्यमुक्तम्। अत्र च श्रीमदोजराजस्य पाठव्यत्ययात् मतान्तरमिति तद्गुरव एव प्रमाणम्। हंसो ह, अमृतं स, कालरुद्रः ऊ, भुवनेशः औ, अनङ्गद्वयं विसर्गः स्ह्सौः षट्चक्रेति षडवयवत्वात्।

प्राणो ह, दण्डो रेफः, गुह्यशक्तिरी, इच्छा अः, एवं ह्रीः। अमृतं स, खेति आकाशबीजं ह, एवं स्हः बिन्दुरत्र अविनाभावित्वादाक्षेप्यः। यद्वेति पक्षान्तरे। सावित्रिका औ, तेन शून्यद्वयं विसर्गः, एवं सौः। युग्मयागो यामलम्। यद्यपिच एतत्

ऐकात्म्य के सन्दर्भ में प्राण को शुद्ध आत्म तत्त्व माना जाता है। प्राण 'ह' बीज में उल्लसित होता 'ह' बोज-वर्ण आधार बनता है। अमृत शक्ति सकार का और इसी तरह स आधार बनता है ह कार का। यही आधाराधेय भाव कहलाता है।"

चाहे 'स्ह' बीज बने या 'ह्स' इन दोनों बीजों का विवरण श्लोक २८ में दिया जा चुका है। एक दूसरा उद्धरण भी यही सिद्ध करता है—

अन्त्य बीज हृदय वर्ण और नितम्ब वर्ण दक्षजानु रूप 'ए' स्वर से संवलित होते हैं। करोड़ों ग्रन्थों में जितना कुछ लिखा गया हैं, उन सब का सार निष्कर्ष यही बीज मन्त्र है। शतशत कल्पों तक इसके प्रभाव का वर्णन नहीं किया जा सकता।" यह सारा वर्णन देवीपञ्चशतिक शास्त्र में किया गया है। श्रीमदोराज ने यहां पाठव्यत्यय को स्वीकार किया है। इस प्रकार मतान्तर की गुंजाइश यहाँ उत्पन्न हो गयी है। इस विषय में गुरुवर्य वृन्द ही प्रमाण है। श्लोकों की व्याख्या के प्रसङ्ग में इसकी पूरी चर्चा की गयी है!

.... जीवः सहचतुर्दशः ।' (२७ श्लो०)

इत्यादिना समनन्तरमेव उद्धृतं, तथापि पुनः श्रीत्रिशिरोभैरवग्रन्थशय्यानुगुण्यादुक्तमिति न कश्चिद्दोषः अन्ये इति ।

'जीवः प्राणस्थ.....................।' (श्लो० २८)

इत्यादिना उक्ता । अभिजनेति वक्त्रैः ।

श्लोक ३१, ३२ और ३३वें के कूट शब्दों के अर्थ पहले दिये जा चुके हैं । जहाँ तक श्लोक २७ का प्रश्न है, उसमें—

"चतुर्दश धाम के साथ जीव का सह अस्तित्व (भी परामन्त्र का उद्धार करता है)"

यह उक्ति आयी हुई है । इसके अनुसार 'सौः' परा मन्त्र का उद्धार होता है ।

इसी तरह श्लोक २८ में आया हुआ है कि,

"जीव जब प्राणस्थ होता है आदि"

यह उद्धरण अन्य रचनानेकसंकुल पद्धतियों के सन्दर्भ को व्यक्त करता है ॥

श्लोक ३४ में अंगाभिनवर्जित शब्द विचारणीय है । अभिजन शब्द कुटुम्ब, जन्म, उत्पत्ति, जन्म भूप्रदेश कुलभूषण और परिजन अनादि अर्थों में साहित्य जगत् में प्रयुक्त होता है । यहाँ पर अंग का अभिजन इस षष्ठीतत्पुरुष अर्थ में अभिजन शब्द वक्त्र अर्थ में प्रयुक्त है । श्लोकार्थ श्लोकों के क्रम में द्रष्टव्य है ।

श्लोक ३७ में प्रयुक्त दो शब्दों पर यहाँ विशेष बल दिया गया है । 'स' का अर्थ यहाँ 'वह' सवंनामार्थ नहीं है । वस्तुतः 'सकार' अर्थ में ही प्रयुक्त है । एव यहाँ अवधारणार्थक है । इसी तरह इसी श्लोक में 'ख' वर्ण का भी प्रयोग है । 'ख' आकाश को कहते हैं । शून्य को कहते हैं । स्वच्छन्द तन्त्र में विभिन्न शून्यों का उल्लेख है—१. ऊर्ध्व शून्य 'शक्ति' पद, २. अधः शून्य

तदुक्तं

स एवेति साकारः खेति बिन्दुः ।

'जीवो दीर्घस्वरैः षड्भिः पृथग्जातिसमन्वितः ।
विद्यात्रयस्य गात्राणि ह्रस्वैर्वक्त्राणि पञ्चभिः ॥'

मा० वि० ३।६१ इति ।

अत्र च शिखायां कवचबीजमिति श्रीत्रिशिरोभैरवानुयायिनः, चतुष्कलमिति श्रीदेव्यायामालोपजीविनः, अस्मद्गुरवस्तु द्वितीयमेव पक्षमामनन्ति

अनुल्लसितप्रपञ्च हृत्क्षेत्र और ३. मध्य शून्य (कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, और ब्रह्मरन्ध्र) ४. व्यापिनी शून्य, ५. समना शून्य और छठाँ उन्मना क्षेत्र शून्य। शास्त्र कहते हैं कि, इनका परित्याग कर सातवें परम तत्त्व में लीन होना चाहिये[1]। किन्तु यहाँ ख का अर्थ मात्र विन्दु ही लिया गया है। 'ख' शब्द पर श्री तन्त्रालोक में अन्यत्र भी विचार किये गये हैं[2]। किन्तु इस कूट प्रकरण में 'ख' का अर्थ बिन्दु ही लिया गया है। मालिनी विजयोत्तर तन्त्र में (३!३१) इसी श्लोक का सन्दर्भ इस रूप में दिया गया है—

"जीव 'स' छः दीर्घ स्वरों से युक्त और पृथक् जातियों से समन्वित होकर तीनों विद्याओं की आंगिकता का प्रतीक बन जाता है। वही जब ह्रस्व स्वरों से समन्वित होता है, तो पाँच वक्त्रों के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त होता है।"

इस प्रसङ्ग में यह स्पष्ट करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि, शिखा में कवच बीज 'हुं' का प्रयोग श्री त्रिशिरोभैरव मतवादी मानते हैं। श्री देव्यायामल शास्त्रानुयायी इस स्थान पर चतुष्कल अर्थात् 'हूं' बीज को मान्यता देते हैं। चतुष्कल प्रणव को भी कहते हैं (स्व० १।६९)। आचार्य जयरथ कहते हैं कि, मेरे पूज्य गुरुदेव इसी द्वितीय पक्ष को मान्यता प्रदान

---

१. स्वच्छन्द तन्त्र ४।२८९-२९१

२. श्री तन्त्रालोक —५।९०-९१, ४।२१७, १५।४९५

यदिह श्रीपूर्वशास्त्रानुदितस्यापि नेत्रतन्त्रस्य श्रीत्रिशिरोभैरवीयं मतमपहाय श्रीदेव्यायामलप्रक्रमेणाभिधानात् तदर्थ एव विवक्षित इति। तथाच त्रिशिरो-भैरवः

'गायत्री पञ्चधा कृत्वा शुक्रया तु समन्विताम्।
हृदयायेति मन्त्रोऽयं सर्वज्ञो हृदयं परम्॥
वागीशीं केवलां गृह्य नितम्बं तु समालिखेत्।
निवृत्तिस्थं तु तं कृत्वा तारा तु तदनन्तरम्॥
द्विधायोज्य ज्ञानशक्त्या युक्ता शूलं समुद्धरेत्।
दण्डेन रहितं कृत्वा गायत्र्या तु समन्वितम्॥
महाकाली पयोयुक्ता मायाशक्त्या तु पूतना।
नादिनी जिह्वया युक्ता परमा कण्ठसंयुता॥

करते हैं। इसका एक प्रमाण भी है। श्री पूर्वशास्त्र में 'नेत्र' मन्त्र का कथन नहीं किया गया है। ऐसी अवस्था में हमारे गुरुवर्य ने त्रिशिरोभैरव के मत को मान्यता न देकर श्री देव्यायामल के उपक्रम के अनुसार ही उसी अर्थ को व्याख्यायित करने की आकाङ्क्षा व्यक्त की है। त्रिशिरोभैरव का मत उद्धृत करने के लिये आचार्य जयरथ ने एक लम्बा उद्धरण प्रस्तुत कर ग्रन्थ के कलेवर को व्यर्थ का चोगा पहनाने की चेष्टा की है। इनका क्रमिक अर्थ इस प्रकार है।

१. गायत्री.........हृदयं परम्—

गायत्री मन्त्र को 'ओङ्कार' से पाँच भाग कर शुक्र बीज 'अं' 'ओं', व्रों अथवा शं सं से समन्वित कर हृदयाय नमः लगाने से सर्वज्ञ मन्त्र का उद्धार होता है। पर 'हृदय' यहरूप अर्थात् परम रहस्य गर्भ मन्त्र होता है।''

२. वागीशीं .... तृप्तियुक्तमुदाहृतम्—

''वागीशी बीज वर्ण ह्रीं लिखकर इसके बाद नितम्ब वर्ण 'त' में निवृत्ति 'ऋ' को 'तृ' रूप में स्थित करना चाहिये। पुनः तारा 'त' को दोबारा लिखकर उसे ज्ञान (ज) शक्ति 'ए' से विन्दु के साथ जोड़ना चाहिये। ह्रीं तृं

पयोन्वितां तु तां कृत्वा अम्बिका पयसा युता ।
शिरस्त्रिशिरनाथस्य तृप्तियुक्तमुदाहृतम् ॥
ज्ञानशक्तिस्तु कण्ठस्था दहनीं केवलां न्यसेत् ।
द्विधायोज्य समालिख्य नादिनी तदनन्तरम् ॥
मायया तु समायुक्ता मोहिनी अम्बिकायुता ।
शुक्रादेव्या समायुक्ता फेङ्कारी तदनन्तरम् ॥
कपालं चैव तस्यान्ते स्वरार्धेन विवर्जितम् ।
अनादिबोधसंज्ञा तु शिखा प्रोक्ता सुरेश्वरि ॥
शिखिनीं केवलां दद्याज्जयन्ती दण्डसंयुता ।
जिह्वायुक्ता तु संयोज्या दृग्युक्ता च जनार्दनी ॥

तेजो के बाद महाकाली 'म' को पय 'आ' से युक्त करे। पुनः मायाशक्ति 'इ' को पूतना 'ल' से युक्त करे। पुनः नादिनी 'न' को जिह्वा 'इ' से मिलाना चाहिये। परमा (कण्ठ संयुता) को पय 'आ' से अन्वित करे। पुनः 'त' अन्तिका 'ह' को पय से युक्त करे। कुल मिला कर 'ह्लीं तृं तेजोमालिनि स्वाहा' यह मन्त्र बनता है। यह त्रिशिरोभैरव देव की तृप्ति का प्रतीक मन्त्र है।"

३. ज्ञानशक्ति……………प्रोक्ता सुरेश्वरि—

"ज्ञान शक्ति 'ए' को कण्ठ 'व' में लगाकर दहनी शक्ति 'द' अक्षर लिखने पर 'वेद' और इसी को दो बार लिखकर 'वेदवेद' पद बनाना चाहिये। इसके बाद माया 'इ' से युक्त नादिनी शक्ति का प्रतीक वर्ण 'न' लिखना चाहिये। तदनन्तर मोहिनी 'उ' युक्त अम्बिका शक्ति का वर्ण 'ह' लगाकर शुक्रा देवी (ं) अनुस्वार लगाना चाहिये। इसके बाद फेङ्कारी वर्ण 'फ' और इसके अन्त में कपाल 'ट्' लगाना चाहिये। इस तरह पूरा मन्त्र 'वेदवेदनि हुं फट्' का उद्धार हो जाता है। यह अनादि-बोध संयुक्त शिखा मन्त्र है।"

शिखिनो केवलोद्धार्या त्रिशूलं दण्डसंयुतम् ।
प्रियदर्शान्यतो दण्डः पयसा तु समन्वितः ॥
वायुवेगा तु परमा शिखिनी पयसा युता ।
अम्बिका पयसा युक्ता अभेद्यं कवचं विदुः ॥
चामुण्डा परमा शक्तिरम्बिका च ततोद्धरेत् ।
सावित्र्या सहिताः सर्वा बिन्दुना समलङ्कृताः ॥
नेत्रत्रयं तु देवस्य आख्यातं तव सुव्रते ।
कुसुमा पूतना चैव गुह्यशक्तिसमन्विता ॥

---

४. शिखिनीं .... अभेद्यं कवचं विदुः—

"शिखिनी 'व', दण्ड सयुता जयन्ती 'ज्र', जिह्वा 'इ' से युक्त करने पर 'ज्रि' जनार्दनी 'ण' दृग्युक्ता 'इ' युक्त करने पर 'णि' बनता है। इस तरह 'वज्रिणि' पद का उद्धार हो जाता है। पुनः शिखिनी 'व' में दण्ड संयुक्त त्रिशूल 'ज्र' जोड़ने से वज्र पद बनता है। इसके बाद प्रियदर्शिनी शक्ति का प्रतीक 'ध' पुनः दण्ड 'र' के साथ पय 'आ' और वायुवेगा 'य' अक्षर जोड़ने पर पूरा शब्द 'वज्रधराय' बनता है। इसके बाद परमा 'स' के साथ शिखिनी 'व' में पय 'आ' की मात्रा जोड़नी चाहिये। इसके बाद अम्बिका वर्ण 'ह' में पय 'आ' युक्त करने पर कुल मिलाकर 'स्वाहा' शब्द उभरता है। कुल मन्त्र का रूप बनता है—'वज्रिणि वज्रधराय स्वाहा'। यह अभेद्य कवच मन्त्र है।"

५. चामुण्डा .... सुव्रते—

चामुण्डा शक्ति का प्रतीक वर्ण 'च', परमाशक्ति 'स' और अम्बिका शक्ति 'ह' इन तीनों में बिन्दु से समलङ्कृत सावित्री शक्ति 'औ' को समन्वित करने से तीन 'चौं, सौं, हौं बीज मन्त्र बनते हैं। भगवान् शिव कहते हैं कि, सुव्रते पार्वति ! ये तीनों बीज देवाधिदेव महादेव के तीनों नेत्रों के प्रतीक हैं।'

६. कुसुमा .... सर्वासिद्धिविनाशनम्—

"कुसुमा 'श', पूतना 'ल' और गुह्यशक्ति 'ई' इन तीनों के शुक्रा से

शुक्रया मस्तकोपेता हृदयं केवलं वदेत् ।
गुह्यं मोहनयाभेद्य अम्बिका बिन्दुसयुता ॥
प्रज्ञाशक्तिसमारूढा फेङ्कारी तु कपालिनीम् ।
भिन्नां तु योजयेच्चाशु अस्त्रं भानुसमप्रभम् ॥
महापाशुपतं ख्यातं सर्वासिद्धिविनाशनम् ।' इति ।

श्रीदेव्यायामलमपि

'पञ्चधा हृदयं चास्य आदिवर्णं तु यस्मृतम् ।
वागर्णं च नितम्बं च शिरोमालाद्यसंस्थितम् ॥

संयुक्त होने पर 'श्लों' बीज मन्त्र बनता है । इसके बाद हृदय (मालिनी क्रम) में 'प' गुह्य 'श' और माह्निनी शक्ति 'उ' बिन्दु समन्वित करने पर 'पशुं' पद का उद्धार होता है ।

इसके बाद अम्बिका शक्ति 'ह्' विन्दु समन्विता 'हं' प्रज्ञाशक्ति 'ए' से युक्त करने पर फेङ्कारी 'फ' को 'फे' तथा कपालिनी 'ञ्' से जोड़ने पर फेञ् पद बनता है। इसमें सूर्य समान प्रभास्वर अस्त्र मन्त्र लगाने से पूरा मन्त्र 'श्लीं हं फेञ् फट्' रूप में उद्धृत होता है। यह ऊहात्मक त्रिशिरो भैरव समर्थित 'मन्त्र महापाशुपत' मन्त्र के रूप में विख्यात है। यह समस्त असिद्धियों का विनाशक अर्थात् सर्वसिद्धि प्रदाता सिद्ध मन्त्र है।"

इसके बाद देव्यायामल शास्त्र के उद्धरण प्रस्तुत कर द्वितीय पक्ष को मान्यता प्रदान कर रहे हैं—

१. पञ्चधा·········प्रणवादि विभूषितम्

"जिसे आदि वर्ण कहते हैं" वह 'ओ' है । उसमें मातृका क्रम से 'म' हृदय लगता है। वही इसका हृदय है अर्थात् 'म' मूलमर्म है। वह पाँच प्रकार से प्रयोज्य है। नितम्ब वर्ण त के साथ शिरोमाला के चारों वर्णों का आदि वर्ण ऋ मिलने से 'तृ' बनता है। उरु मालिनी क्रम में 'त' को कहते हैं। यह दक्ष जानु में स्थित होकर 'ते' बनता है। इसे दो बार प्रयुक्त करके शूल

ऊरु दक्षिणजानुस्थं द्विधा कृत्वा समन्ततः ।
परतस्तूद्धरेद्वर्णं शूलमोकारदीपितम् ॥
नितम्बं क्षीरयुक्तं तु शिरोमालातृतीयकम् ।
नि स्वाहा शिर आख्यातं प्रणवादिविभूषितम् ॥
प्रणवं कण्ठवर्णं च वक्षजानुनियोजितम् ।
द्विधा कृत्वा ततः पश्चात् सव्यपादं च मध्यतः ॥
सव्यपादं ततोद्धृत्य जिह्वार्णेन शिखा युता ।
अपरान्त्यद्वयं योज्य शिखा, वज्रिण उद्धरेत् ॥
कण्ठार्णं च त्रिशूलं च नेत्रे परत उद्धरेत् ।
क्षीरार्णं शूलदण्डं च स्वाहान्ते कवचोऽग्रतः ॥

वर्ण का प्रयोग करते हैं। इसमें ओङ्कार लगा होता है। शूल वर्ण के विषय में मतभेद है। श्री तन्त्रालाक ३०।५८ के अनुसार शूल 'ज' वर्ण है। त्रिशिरो भैरव के अनुसार भी शूल 'ज' वर्ण है। शूलाग्र को भी 'ज' कहते हैं। यहाँ शूल 'ज' को मानकर ओकार से जोड़ने पर तेजो बनता है। नितम्ब वर्ण 'म' और त दोनों हैं। यहाँ 'म' की मान्यता है। इसमें क्षीर वर्ण 'आ' जोड़ने से 'मा' बनता है। शिरोमालातृतीय। लं में 'ति' जोड़कर 'स्वाहा' लगाने से पूरा मन्त्र "ओं ओं ओं ओं ओं तृं तेजो मालिनि स्वाहा" बनता है। यह शिरो मन्त्र माना जाता है।"

२. प्रणवं ···· कण्ठवर्णं योज्य शिखा

"प्रणव[1] 'ओं' कण्ठ 'व' दक्षजानु 'ए' दो बार प्रयोग कर सब्य पाद अर्थात् वामपाद 'क' लगाने पर वेद वेद बनता है। जिह्वा वर्ण 'इ' से युक्त शिखा वर्ण 'न' लगाने पर 'नि' होता है। इसे दूसरे वेद के साथ जोड़ने पर 'वेदवेदनि' बनता है। अपरा मन्त्र का अन्तिम दो पद हुं फट् लगाने पर "ओम् वेदवेदनि हुं फट्" यह मन्त्र बनता है। यह शिखा मन्त्र है।"

---

१. मा० वि ३।६३

प्रणवं शूलवर्णं तु कर्णपूरेण भूषितम् ।
दक्षिणेन नितम्बाढ्यमात्मा योज्यो विसर्गवान् ॥
नेत्रं देव्या भवेदेतन्मृत्युञ्जयकरं परम् ।
श्लीं पशुं प्रणवाद्यं च प्राणं परत एव च ॥
युक्तं च सर्वतः कुर्याद्वामश्रवणभूषणे ।
शिखान्ताद्योजयेद्वर्णमस्त्रं परमदारुणम्' ॥ इति ।

---

३. वज्रिण.........कवचोऽग्रतः—

"सर्व प्रथम इस मन्त्र में वज्रिणे लिखकर कण्ठ वर्ण 'व' लगाया जाता है। इसमें त्रिशूल 'ज्र' जोड़ने के बाद नेत्र 'ध' शूलदण्ड 'र' और क्षीरार्ण 'आ' तथा 'य' लगाने पर 'वज्रिणे वज्रधराय' बनता है[1]। इसके बाद 'स्वाहा' का प्रयोग करते हैं। यह इन्द्र कवच मन्त्र है।"

४. प्रणवं.........मृत्युञ्जयकरं परम्—

"प्रणव 'ओम्' शूलवर्ण 'ज' कर्णपूर 'ऊ' से तथा नितम्ब 'म्' भूषित होने पर 'ओम् जूं' बनता है। इसके साथ विसर्गवान् आत्मा 'सः' का प्रयोग करते हैं। पूरा मन्त्र 'ओम् जूं सः' बनता है। यह देवी का नेत्र मन्त्र है। इसे मृत्यु को जीतने वाला मृत्युञ्जय मन्त्र भी कहते हैं।"

५. श्लीं.........परमदारुणम्

प्रणव 'ओम्' पूर्व में प्रयुक्त कर 'श्लीं' बीज लिखना चाहिये। इसके बाद पशु अर्थात् यजमान का नाम लिखने के बाद प्राण 'ह्' + वामकर्ण भूषण 'उ' के साथ बिन्दु '(˙)' जोड़ने पर हुं तथा अस्त्र जोड़ने पर पूरा मन्त्र "ओम् श्लीं' देवदत्त फट्[2]" इस रूप में बनता है। यह परम दारुण मन्त्र कहलाता है। इसे कवचाय हुं से अस्त्राय फट् तक छः रूपों में निर्मित किया जा सकता है।"

---

१. मा० वि० ३।६४			२. मा० वि० ३।६५

तारः प्रणवः, द्विजिह्वो ज, ख, बिन्दुः, शरस्वरः उ, जीवः सविसर्गः स। रसेति षट्, टकारो हि अनच्कत्वादिह न गणितः। दीर्घैरिति प्रागुक्त-दीर्घषट्कयुक्तैः, कुबेरेशानयोस्तु षष्ठेन द्वितीयेन च दीर्घेण संभिन्नौ सकार-मकाराविति उक्तं सूमायुक्तैरिति। ह्रस्वैरिति दीर्घानुगुणैः। दुयक्तं

पूतना शूलदण्डस्तु कपालं नाभिरेव च।
शिखिनी वायुवेगा च परमा च नितम्बकः॥

दीर्घैः .... जातयः (४२-४३)

श्लोक ४२ सम्बन्धी कुछ विचार जयरथ ने यहाँ प्रस्तुत किये हैं। इन्द्रादि को 'सास्त्र' या 'हस्तगतास्त्र' संज्ञा से विभूषित किया जाता है।[1] इनके मन्त्रों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये। इनके बीज मन्त्रों में दीर्घ स्वरों का सबिन्दुक प्रयोग करते हैं। इन्द्र मन्त्र में 'ल' बीज के साथ दीर्घ स्वर आ के साथ बिन्दु लगाने पर 'लां वज्रधराय इन्द्राय हृदयाय नमः' बनता है। 'रां सशक्तिकायाग्नये शिरसे स्वाहा' यह अग्नि नामक लोकपाल का मन्त्र बनता है। इस तरह इन्द्र अग्नि, यम (ट+आं) निऋति (क्ष+आं) वरुण (व+आं) और वायु का (य+आं) के साथ जाति चिह्न लगाकर मन्त्र बनाते हैं। कुबेर और ईशान लोकपालों के बीज के साथ छठाँ दीर्घ (ः) और द्वितीय दीर्घ (ई) का प्रयोग करते हैं। विष्णु और प्रजापति को कर्म काण्ड में अनन्त और ब्रह्मा कहते हैं। अनन्त का स्थान निऋति के उत्तर में और ब्रह्मा का स्थान ईशान के पूर्व में माना जाता है। इनके साथ ह्रस्व (तुर्य स्वर) 'ए' और द्वितीय ह्रस्व 'इ' स्वर का प्रयोग कर मन्त्र का निर्माण करते हैं। इस सम्बन्ध में उद्धरण प्रस्तुत कर इस दृष्टिकोण को पुष्टि कर रहे हैं—

"पूतना 'ल', शूलदण्ड 'र', कपाल 'ट', नाभि 'क्ष', शिखिनी (शिखि वाहनी) 'व' और वायु वेगा 'य', इनके अतिरिक्त परमा 'स' और नितम्ब

---

१. श्रीतन्त्रालोक १५।३५६

विज्ञेयाश्च मवादेवि दीर्घयुक्ताः सबिन्दुकाः ।
मन्त्रास्तु लोकपालानां तदस्त्रा दीर्घवर्जिताः ॥ इति ।

तुर्यद्वितीयाभ्यामिति ईकाराकाराभ्याम् । ह्रस्वाभ्यामिति इकाराकाराभ्यां

तद्वन्नासापयोभ्यां तु कल्प्यौ विष्णुप्रजापती ।
स्वरावाद्यतृतीयौ तु वाचकौ पद्मचक्रयोः' ॥ इति ।

षट्स्विति काकाक्षिन्यायेन योज्यम् । कर्मणामपि हि षड्विधत्वमेव विवक्षितम् । तदात्मिका इति क्रमरूपा इत्यर्थः । तदात्मकत्वमेव दर्शयति

'म' वर्ण ये सभी सबिन्दुक दीर्घ स्वरों के साथ सायुध सपरिवार लोकपालों के मन्त्र में जातियों के साथ ही और अस्त्र में दीर्घवर्जित प्रयुक्त होते हैं ।"[1]

श्लोक ४३-जहाँ तक तुर्य और द्वितीय दीर्घ स्वरों का प्रश्न है, जयरथ के विवेक में 'ईकार' और 'आकार' का उल्लेख है । यह पाँच ह्रस्वर और छः दीर्घ स्वर का तुर्य दीर्घ क्रम नहीं है । सामान्यतया अ आ इ ई क्रमानुसार यह गणना है । अतः चौथा दीर्घ स्वर 'ई' और द्वितीय दीर्घ स्वर 'आ' माना गया है । उद्धरण से इसे प्रमाणित कर रहे हैं—

"उसी तरह नासा अर्थात् 'ई' और परा अर्थात् 'आ' स्वरों के द्वारा विष्णु और प्रजापति के मन्त्रों की रचना और उनका पूजन प्रककल्पित करना चाहिये । जहाँ तक आद्य और तृतीय स्वरों का प्रश्न है, ये अकार और ह्रस्व 'इ' कार हैं । ये पद्मचक्र के वाचक हैं ।"[2]

श्लोक ४४—४६—

'षट्सु' इस सप्तम्यन्त पद का प्रयोग काकाक्षिन्याय से जातियों के साथ और चूँकि कर्म भी छः ही होते हैं । अतः सभी कर्मों के साथ भी प्रयोज्य है । इसमें क्रमिकता का सदा ध्यान रखना चाहिये ।"

श्लोक ४६ में कालकर्षिणो देवी का प्रसङ्ग आया हुआ है । श्लोक के

---

१. मा० वि० ३।६६　　२. मावि० ३।६७

जपे इत्यादिना । अक्षीति द्वितीयः कवर्गः । षडिति षष्ठः पवर्गः । मुनीति सप्तमो यवर्गः । द्वितीया इति खफराः । योन्यर्णेन एकारेण । एवं पञ्चपिण्ड-नाथः । यदुक्तं

'दन्तपङ्क्त्या द्वितीयं तु वामपादं तथैवच ।
अधो दण्डनियुक्तं तु दक्षजानुसमायुतम् ॥
तिलकेन समाक्रान्तं सर्वसिद्धिप्रदायकम्' । इति ।

आद्येति खकारेण, तेन क्रें इति । अन्त्येनाप्नोति न केवलमाद्येन खकारेण यावदन्त्येन रेफेणापीत्यर्थः, तेन फें इति । जीवः स । प्राणयोर्हंकारयोः पुटम् । कालानलो र । वामाङ्घ्रिः फ । अतिदीप्तोऽधोवर्तिना रेफेण । दक्षजानुरे । स्वरेति ह्रस्वदीर्घभेदेन । दण्डो र । जीवः स । त्रिशूलं ज । दक्षाङ्गुलिर्भ । अपरो दक्षापेक्षया वामः स्तनो ल । नाभिः क्ष । कण्ठो व ।

भाष्यार्थ में पूरा स्पष्टीकरण है । यह ध्यान देने की बात है कि, 'ख, फ, और र' ये मातृसद्भाव वर्ण है । तीनोंमें से किसी का भी सद्भाव कालकर्षिणी के लिये आवश्यक है । इस तरह यहाँ पञ्चपिण्डनाथ का संकेत किया गया है । उद्धरण से इसे स्पष्ट कर रहे हैं—

"दन्तपंक्ति अर्थात् कवर्ग का द्वितीय वर्ण ख, वामपाद 'फ' अधोदण्ड नियुक्त अर्थात् 'र' के योग से प्रतिष्ठित, दक्षजानु अर्थात् 'ए' कार से समन्वित और तिलक अर्थात् बिन्दु विभूषित करने पर जो बीज मन्त्र बनता है, वह समस्त सिद्धियों को प्रदान करने वाला माना जाता है" ।

श्लोक ४७ से ५२ तक के भाष्य श्लोक भाष्यार्थ में निहित हैं । जहाँ तक श्लोक ५४ का प्रश्न है, उसमें अष्टवर्णक शब्द आया हुआ है ।

यह अष्टवर्णक बीजाक्षर शण्ठ वर्णों का आदि वर्ण 'ऋ' है । इसलिये 'महाचण्डे महायोगेश्वरि के आठवें 'रि' वर्ण के स्थान पर स्वर 'ऋ' वर्ण का ही प्रयोग तन्त्र में स्वीकृत है । इस प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि, व्याकरण और साहित्य के प्रयोगों से तन्त्र बहुत आगे बढ़ कर रहस्यार्थ के

मरुत् य । रुद्रः ऊ । विसर्गः अः । त्रिशूलं औ । अष्टमश्च अत्र वर्णः शण्ठाद्य इति संहितया आवेदितम् । तदुक्तं

'कालं सर्वगतं चैव दारणाक्रान्तमस्तकम् ।
तृतीयाद्यं तरङ्गं च डाकिनीमर्मसंयुतम् ॥
पवनं नवमे युक्तं तस्मात्सप्तममेयुतम् ।
लक्ष्मीबीजं ततोद्धृत्य उदधीशसमन्वितम् ॥
सोमात्सप्तममुद्धृत्य नववर्णा कुलेश्वरी । इति ।

कालो म । सर्वगतो ह । दारणा आ । तृतीयाद्यं च । तरङ्गं ण, डाकिनीमर्म ड । पवनो य । नवमः ओ । तस्मादिति एकारात् सप्तमो ग, ए एकारः । लक्ष्मीबीजं श, उदधीशो व । सोमात् सप्तमः ऋ । नववर्णेयमिति,

'......सद्भावः कालकर्षिणी' । (श्लो० ४६)

इत्युक्त्या सद्भावादिभ्य एकतमेन सहेत्यर्थः । इयता च अनयोः पिण्डयोः पिण्डनाथेन समव्याप्तिकत्वमावेदितम् । परात्परतरेति । यदुक्तं तत्र

विमर्श में सक्षम हो जाता है । इसमें 'ख्फ्रें, या फ्रें या फें इन तीनों में से किसी एक के योग से यह गुप्ततरा नवार्णा कालकर्षिणी मन्त्र हो जाता है । इसे आगम प्रामाण्य से पुष्ट कर रहे हैं—

"काल 'म' सर्वगत 'ह' दारणा 'आ' तीनों मिलकर महा', तृतीयाद्य 'च' तरङ्ग 'ण्' डाकिनीमर्म 'ड' में दारणाक्रान्त करने पर महाचण्डा' शब्द का उद्धार होता है । इसके बाद पवन 'य' नवम स्वर 'ओ' ए से सातवाँ अक्षर 'ग' इसमें ए को जोड़कर लक्ष्मी बीज 'श', उदधीश 'व' सोमवर्ण से सातवाँ वर्ण 'ऋ' लगाने से योगेश्वऋ पद का उद्धार होता है । इसमें ख् फ् र् और ऐं सद्भाव युक्त वर्णों में से किसी एक का जोड़ने से यह नववर्णा कुलेश्वरी मन्त्र सिद्ध हो जाता है ।"

इसी मत को श्लोक ४६ का

"सद्भावः कालकर्षिणी"

यह अंश समर्थित करता है ।

'या सा सङ्कर्षिणी देवी परातीता व्यवस्थिता' । इति ।

सुधा स, छेदकः क, शण्ठाद्यं ऋ, छेदकमस्वरमिति अनच्ककारमेवं स्कृक् । तदुक्तं

'जीवमादिद्विजारूढं शिरोमालादिसंयुतम् ।
कृत्वा ततोऽग्रे कुर्वीत द्विजमाद्यमजीवकम् ॥
इत्येषा कथिता कालरात्रिमर्मनिकृन्तनी ।
नैनां समुच्चरेद्देवि य इच्छेद्दीर्घजीवितम् ॥
शतार्धोच्चारयोगेन जायते मूर्ध्नि वेदना ।
एवं प्रत्ययमालोच्य मृत्युजिद्धयानमाश्रयेत्' ॥
(मा० वि० १७।३१) इति ।

दण्डो र, अग्निः र, तौ च द्विः, तेन रः रः । प्राणो ह, नभः क्ष, शूलं ज, एवं ह् क्ष् जः । छेत्ता क, अनलो र, एवं क्रः । कूटं क्ष, अग्निः र एवं क्ष्रः ।

श्लोक ५५ में प्रयुक्त 'परात्परतरा' शब्द का समर्थन "संकर्षिणी देवी परातीता देवी के रूप में शास्त्रों में व्यवस्थित ढङ्ग से वर्णित है।" इस उद्धरण से हो जाता है ।

श्लोक ५५ से श्लोक ५७ तक का सन्दर्भ ऐसे बीज मन्त्र से सम्बद्ध है, जिसका स्पष्ट उच्चारण करना शिरोव्यथा प्रदायक माना जाता है । इससे सम्बन्धित उद्धरण से इसका समर्थन हो रहा है—

"जीव 'स' आदि द्विज 'क' पर आरूढ हो गया हो और उसमें शिरोमाला का आदि वर्ण ऋ मिलाने पर 'स्कृ' पद का उदार होता है । इसके आगे "आद्य द्विज वर्ण को अनच्क अवस्था में योग करने पर 'स्कृक्' यह बीज मन्त्र उदित होता है । यह मर्म कृन्तनी कालरात्रि की बीज शक्ति है । इसका स्पष्टतया उच्चारण नहीं करना चाहिये । जो दीर्घजीवन का आकांक्षी है, उसे इसका उच्चारण कदापि नहीं करना चाहिये । इसे ५० या सौ बार ही यदि कोई बोल दे, तो उसे शिरोवेदना हो जाती है । इस तरह विश्वास प्राप्त कर मृत्युजित् योगी इसका मात्र ध्यान करे, यही उचित है ।"

बिन्दुः, इन्दुः स, अनलो र, कूटं क्ष, अग्निः र, मरुत् य, षष्ठः स्वरः ऊ, एवं स्क्ष्र्यूं ॥

सद्यः प्रत्ययदायित्वमेव अस्या दर्शयति

या ज्ञानिनोऽपि संपूर्णकृत्यस्यापि श्रुता सती ॥ ६४ ॥

प्राणादिच्छेदजां मृत्युव्यथां सद्यो व्यपोहति ।

यामाकर्ण्य महामोहविवशोऽपि क्रमाद्गतः ॥ ६५ ॥

प्रबोधं वक्तृसांमुख्यमभ्येति रभसात्स्वयम् ।

परमपदात्त्वमिहागाः सनातनस्त्वं जहीहि देहान्तम् ॥ ६६ ॥

श्लोक ५८ से ६३½ तक के श्लोकों में तन्त्रसद्भावगत १. र्ः, २. र्ः, ३. ह्क्ष्जः, ४. कः और ५. क्षूः इन पाँच छेदिनी क्षुरिकाओं का वर्णन है। साथ ही साथ 'स्क्ष्र्यूं' बीज मन्त्र का भी उद्धार किया गया है। इसके साथ ही अंगुलिमुद्रा विधान द्वारा इन बीज मन्त्रों के प्रयोग का भी संकेत किया गया है ॥ २९-६३½ ॥

श्लोक ६२ में सद्यः प्रत्ययदायिनी ब्रह्मविद्या की चर्चा आयी हुई है। यहाँ उस विद्या के सद्यः प्रत्ययदायित्व का ही स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

सभी ज्ञानी पुरुष धन्य होते हैं। वे सम्पूर्णकृत्य कहलाते हैं। उनके कर्म क्षय हो गये होते हैं। ऐसे ज्ञानी लोग भी मरते हैं। प्राणतन्तु के टूटने से अवश्यंभावी मृत्युव्यथा की चिन्ता फिर भी उनमें रहती है। उपर्युक्त ब्रह्मविद्या इतनी महत्त्वपूर्ण होती है कि, इसे सुनते ही प्राणव्युच्छेद की भीतिचिन्ता सद्यः समाप्त हो जाती है।

इसे सुन कर माया के महामोह से ग्रस्त विवश जीव भी क्रमशः प्रबोध को प्राप्त कर लेता है। ब्रह्म विद्या के प्रभाव से भावित ऐसा मुग्ध पुरुष भी बरबस वक्ता के समक्ष आ कर अपने अस्तित्व को परिष्कृत करने को प्रार्थना करता है। वक्ता उसे यह आर्या सुनाता है—

पादाङ्गुष्ठादि विभो निबन्धनं बन्धनं ह्युग्रम् ।
आर्यावाक्यमिदं पूर्वं भुवनाख्यैः पदैर्भवेत् ॥ ६७ ॥

गुल्फान्ते जानुगतं जत्रुस्थं बन्धनं तथा मेढ्रे ।
जहिहि पुरमग्र्यमध्यं हृत्पद्मात्त्वं समुत्तिष्ठ ॥ ६८ ॥

'आत्मन्! तू परमपद पर अधिष्ठित परम पुरुष ही है। वहाँ से तू यहाँ भोगभव में आ गया था। तू वस्तुतः यह नहीं है। तू सनातन पुरुष है। 'तू देहत्याग करेगा' इस बद्धमूल जड़ विचार का तू तत्काल परित्याग कर। हे विभुता के प्रतीक विराट् पुरुष! पैर से लेकर अङ्गुष्ठ पर्यन्त यह देह की सीमा का झूठा बन्धन भ्रम है। इस भ्रम को तू छोड़।' इस आर्यावाक्य का यह उपदेश भुवन-पद सीमा के परिवेश में होता है और भुवन संख्यक लोकों से जोव को मुक्त करता है ॥ ६४-६७ ॥

श्रोता पुरुष को दूसरो आर्या का उपदेश सुनायी पड़ता है। वक्ता कहता है कि,

आत्मन्! तुम्हें शरीर के प्रति बड़ा मोह है। अपने अंगों के प्रति तुम्हारे मन में बड़ा आकर्षण है। तुम अपने गुल्फान्त के सौन्दर्यबोध से ग्रस्त हो। तुम्हें अपने घुटनों का बड़ा अभिमान है। तुम्हें अपने स्कन्धों की सन्धि के अनुसन्धान से सकून मिलता है। प्रेम से इसे सहलाते हुए फूले नहीं समाते हो। तुम्हें अपनो जननेन्द्रिय और उससे मिलने वाले सुख पर बड़ा सन्तोष है। किन्तु वत्स! यह सारा आकर्षण झूठा है। इसका तत्काल परित्याग करो। यह शरीर अग्रमध्य पुर है। इसे छोड़ो। तुम अपने हृदय कमल को विकसित करो। विमर्शात्मक स्पन्द से प्रेरित होकर उठो और रहस्य-वरदान प्राप्त करो। इन वचनों के अमृत से भरे उपदेश इस द्वितीय आर्या वाक्य से उसे मिलते हैं और जोवन्मुक्ति की ओर अग्रसर कर देते हैं ॥ ६८ ॥

एतावद्भिः पदैरेतदार्यावाक्यं द्वितीयकम् ।
हंस हयग्रीव विभो
सदाशिवस्त्वं परोऽसि जीवाख्यः ॥ ६९ ॥
रविसोमवह्निसङ्घट्टबिन्दुदेहो हहह समुत्क्राम ।
तृतीयमार्यावाक्यं प्राक्संख्यैरेकाधिकैः पदैः ॥ ७० ॥
हंसमहामन्त्रमयः सनातनस्त्वं शुभाशुभापेक्षी ।
मण्डलमध्यनिविष्टः शक्तिमहासेतुकारणमहार्थः ॥ ७१ ॥

वत्स ! तुम यह शरीर नहीं हो। शारीरिक अवयवों से तुम्हारी पहचान नहीं की जा सकती। तुम अपने को पहचानो। मैं तुम्हारा परिपूर्ण परिचय दे रहा हूँ। सुनो कि, तुम कौन हो ?

वस्तुतः तुम 'हंस' हो। तुम्हीं हयग्रीव हो, विभु हो, विराट् हो ! तुम सदाशिव हो। तुम परात्पर हो। इस जीवभाव में वही तुम व्याप्त हो। अग्नि प्रमाता, सूर्य प्रमाण और सोम के प्रमेयों का संघट्ट यह छोटा सा लघुतम शरीर तुम्हें छोड़ना ही है। शीघ्र ही तुम इससे उत्क्रान्ति प्राप्त करो। यह तीसरा आर्या वाक्य है। इन पन्द्रह समस्त-पदों में उपदेश की सुधा भरी हुई है। इन्हें सुन कर वह तत्काल प्रेरित होता है और उसकी प्रवृत्तियों का परिष्कार हो जाता है ॥ ६९-७० ॥

रुद्र संख्यक पदों वाली आर्या से रुद्रलोक का पद प्रदान करने वाली आर्या का उपदेश इस प्रकार है—

वत्स ! तुम महामन्त्रात्मा हंस हो। सनातन हो, शुभ और अशुभ की अपेक्षा में विचक्षण तुम (पिण्ड) मण्डल के मध्य में निविष्ट हो रहे हो। तुम शक्ति के महासेतु के कारण निरन्तर शिव सम्पृक्त हो कर महार्थ का ही अनुसन्धान कर रहे हो। मूलाधार और सहस्रार रूप दो कमलों के परिवेश में ही तुम्हारा निवेश हो गया है। तुम दिव्य शक्ति सम्पन्न देहधारी

कमलोभयविनिर्विष्टः प्रबोधमायाहि देवतादेह ।
आर्यावाक्यमिदं सार्धं रुद्रसंख्यपदेरितम् ॥ ७२ ॥
निःश्वासे त्वपशब्दस्य स्थानेऽस्त्युप इति ध्वनिः ।
अज्ञानात्त्वं बद्धः प्रबोधितोत्तिष्ठ देवादे ! ॥ ७३ ॥
एतत्पञ्चममार्यार्धवाक्यं स्यात्सप्तभिः पदैः ।
व्रज तालुसाह्वयान्तं ह्यौडम्बरघट्टितं महाद्वारम् ॥ ७४ ॥

हो! तुम नींद का परित्याग कर प्रबोध के प्रकाश के आनन्द को उपलब्ध हो जाओ। इस आर्या में शक्ति महासेतु की चर्चा की गयी है। यह समझने का विषय है। श्वास शक्ति का ही एक शाश्वत गतिशील चमत्कार है। श्वास अनवरत व्यक्त शरीर से अव्यक्त शिव में समाहित हो रहा है। पुनः अव्यक्त से व्यक्त में प्रवेश करता है। इस तरह यह व्यक्त से अव्यक्त में जाने और अव्यक्त से व्यक्त में आने का महासेतु है। शरीर से अशरीर में, इदम् से अहम् में, स्थूल से सूक्ष्म में जाने आने का यह महासेतु है। इस रहस्य का अनुसन्धान ही महार्थ है। यह आर्या ११½ पदों में निबद्ध है। इसको यह महार्था प्रक्रिया विशेष ध्यातव्य है ॥ ७१-७२ ॥

निःश्वास के समय 'अप' शब्द के स्थान पर उप-ध्वनि कुछ सन्देश दे रही है। यह कहती है—वत्स! तुम परमेश्वर शिव के तत्त्वावधान में आसीन हो। आत्यन्तिक सान्निध्य और सांनिकट्य है तुम्हारा और शिव का। इस 'उप' ने पार्थक्यबोध का अज्ञान तुम्हें दिया है। इससे तुम बन्धन में पड़ गये हो। उठो, जागो, और वरदान प्राप्त कर यह सिद्ध कर दो कि 'तुम निश्चय ही आदि देव हो।' यह पाँचवीं आर्या की अर्धाली मात्र सात पदों में ही पूर्ण है ॥ ७३-७४ ॥

इस आर्या के माध्यम से शास्त्रकार श्वास-साधना के सन्दर्भों को प्रस्तुत कर रहे हैं—

प्राप्य प्रयाहि हंहो हंहो वा वामदेवपदम् ।
आर्य्यावाक्यमिदं षष्ठं स्याच्चतुर्दशभिः पदैः ॥ ७५ ॥
ग्रन्थीश्वर परमात्मन् शान्त महातालुरन्ध्रमासाद्य ।
उत्क्रम हे वेहेश्वर निरञ्जनं शिवपदं प्रयाह्याशु ॥ ७६ ॥

तालुरन्ध्र से ब्रह्मरन्ध्र तक की यात्रा के विभिन्न पड़ाव हैं। साधक के लिये ये मार्ग आयास साध्य हैं। गुरु के आदेश से ही यह यात्रा आरम्भ होती है। परमेष्ठि गुरु-कल्प शास्त्रकार समक्ष वर्त्तमान साधना-रत शिष्य को आदेश दे रहे हैं। मध्यम पुरुप के एकवचन और लोट् आज्ञा लकार का प्रयोग शिष्य को आदेश दे रहा है। उसके पथ का निर्देश तालु शब्द से होता है और हो रहा है। आगे के ठहराव के विन्दु के विभिन्न नाम हैं। ये सभी साह्वय संज्ञा के अन्तर्गत आते हैं। नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना-यात्रा-क्रिया की संज्ञाओं के नाम १५।१३ में आये हुए हैं। साह्वयान्त तक पहुँचना है। यह स्थान महत्त्वपूर्ण है, आकर्षक है और सृष्टि रचना के चमत्कार से भरा हुआ है। ताम्रिक अर्थात् उदुम्बर (ताँवा या गूलर) से निर्मित वहाँ प्रवेश के लिये महाद्वार है। वहाँ तक पहुँचना है। सहस्रार कमल भी इसी वर्ण का होता है। गुरुदेव कहते हैं—वत्स ! वहाँ पहुँच कर तुम्हें वाम देव रूप वामा शक्ति के प्रतीक सदाशिव भाव तक की यात्रा आनन्द के साथ हंहो हंहो करते हुए पूरी करनी है।

शास्त्रकार कहते हैं कि, यह छठीं आर्या के वाक्य हैं। इसमें कुल मिला कर १४ पद हैं। इस आर्या की रहस्यवादिता में उतरने का महा-प्रयास साधक का परम चरम कर्त्तव्य है ॥ ७४-७५ ॥

मायात्मक जितने बन्धन हैं, वे सभी अनेक प्रकार की ग्रन्थियाँ हैं। मायापति स्वयं शिव हैं। शास्त्रकार समझा रहे हैं, वत्स ! तुम अपने स्वरूप का आकलन करो। तुम स्वयं ग्रन्थिरूप माया के ईश्वर हो। तुम स्वात्म

आर्यावाक्यं सप्तमं स्यात्तच्चतुर्दशभिः पदैः ।
प्रभञ्जनस्त्वमित्येव पाठो निःश्वासशासने ॥ ७७ ॥
आक्रम्य मध्यमार्गं प्राणापानौ समाहृत्य ।
धर्माधर्मौ त्यक्त्वा नारायण याहि शान्तान्तम् ॥ ७८ ॥
आर्यावाक्यमिदं प्रोक्तमष्टमं नवभिः पदैः ।
हे ब्रह्मन् हे विष्णो हे रुद्र शिवोऽसि वासुदेवस्त्वम् ॥ ७९ ॥
अग्नीषोमसनातनमृत्पिण्डं जहिहि हे महाकाश ।
एतद्भुवनसंख्यातैराय्र्यावाक्यं प्रकीर्तितम् ॥ ८० ॥

को इस दृष्टि से देखो । ये अपने आप खुल जायेंगी । तुम परम आत्मा परमेश्वर हो । शाश्वत शान्त हो । साधना के क्रम में महातालुरन्ध्र को प्राप्त कर हे देव रूप विश्व के अधिपति परमेश्वर यथा शीघ्र निरञ्जन पद को प्राप्त कर लो ।

यह सातवीं आर्या का उपदेश है । यह १४ पदों में विरचित आर्या छन्द चतुर्दशधामप्राप्ति की ओर संकेत कर रही है । निःश्वास शासन नामक शास्त्र में 'उत्क्रम हे देहेश प्रभञ्जनस्त्वं प्रयाह्याशु' पाठ है । इस आर्या में पदों की गणना में भी अनिश्चय की स्थिति है ॥ ७६-७७ ॥

मध्य मार्ग सुषुम्ना को अतिक्रान्त कर प्राणापानजित् बनकर धर्म और अधर्म रूप व्यवस्था अर्थात् ज्ञानज्ञान वैराग्य-अवैराग्य और ऐश्वर्यानैश्वर्य की व्यवहारवादिता से ऊपर उठकर हे नारायण रूप ! तुम शान्तातीत दशा के परिवेश में महाविश्राम करने में अब विलम्ब मत करो अर्थात् त्वरित वहाँ के आनन्द में समाहित हो जाओ । विलम्ब इसमें व्याघात उत्पन्न करता है । यह अष्टमी आर्या है और पूर्णता ज्ञापिका नवसंख्या में ही सारे पद समाहित हैं ॥ ७८ ॥

तुम ब्रह्मा हो, तुम विष्णु हो, तुम रुद्र, शिव और स्वयं वासुदेव हो ! हे त्रिदेव रूप त्रिदशेश्वर, महाकाश रूप परमेश्वर ! इस अग्निसोमात्मक

सनात्म त्रिपिण्डमिति महाकोशमिति स्थितम् ।
पदत्रयं तु निःश्वासमुकुटोत्तरकादिषु ॥ ८१ ॥
अङ्गुष्ठमात्रममलमावरणं जहिहि हे महासूक्ष्म ।

सनातन मर्त्य पिण्ड का तत्काल परित्याग कर अमरत्व को अपना लो। यह चौदह भुवनों को पदसंख्या को आख्यात करने वाले चौदह पदों में प्रकट नवीं आर्या है। इसको अपने आचरण में उतार लो ॥ ७९-८० ॥

निःश्वास शासन, मुकुटोत्तर शास्त्र आदि शास्त्रों में आर्या संख्या ८० की द्वितोय अर्धाली के स्थान पर 'सनात्म त्रिपिण्डं महाकोशं जहिहि' इत्यादि पाठ पाया जाता है। इस पाठ का भा वहो अर्थ है। त्रिपिण्ड, सनात्म और महाकोश इन पदों का पाठान्तर मात्र किसी व्यतिरिक्त अर्थ का संकेत नहीं देता। वास्तव में वैदिक मान्यता के अनुसार पिण्ड जगत् अग्नि सामात्मक हो माना जाता है किन्तु तान्त्रिक मान्यता अग्नि प्रमाता, सूर्यप्रमाण और सोम प्रमेय के त्रिधा प्रकल्पन में ही त्रिपिण्डता को चरितार्थ करती है ॥ ८१ ॥

महासूक्ष्म अप्रकल्प्य अवस्था में भी अङ्गुष्ठ मात्र का आवरण बना रहता है। साधक परमोच्च साधन संवित्ति में भी उसका परित्याग कठिनाई से कर पाता है। यहाँ दसवों आर्या वाक्य के माध्यम से उसका परित्याग करने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं—

शास्त्रकार कह रहे हैं कि, हे महासूक्ष्म ! अभी तुम्हारे ऊपर एक आवरण पड़ा हुआ है। यह अंगुष्ठ परिमाण ही होता है। आवरण और अंगुष्ठ मात्र यह बात थोड़ो बैठती नहीं लगतो और खूबी यह कि, यह आवरण भी अमल है। यह बात भी कुछ तर्कसंगत नहीं लगती। आवरण तो मलरूप होता हो है। तोसरा बिन्दु तो और भो विचित्र है। एक तरफ महाकाश और दूसरी ओर अंगुष्ठ मात्र का आवरण। भला यह छोटी सी अंगुष्ठ मात्र की आवरणिका और कहाँ महाकाश का महाविस्तार। इन विरोधाभासों में ही सारा रहस्य सुगुप्त है।

आर्य्यावाक्यमिदं षड्भिः पदैर्दशममुच्यते ॥ ८२ ॥
अलं द्विरिति सूक्ष्मं चेत्येवं श्रीमुकुटोत्तरे ।
पुरुषस्त्वं प्रकृतिमयैर्बद्धोऽहङ्कारतन्तुना बन्धैः ॥ ८३ ॥
अभवाभव नित्योदित परमात्मंस्त्यज सरागमध्वानम् ।
एतत्त्रयोदशपदं स्यादार्यावाक्यमुत्तमम् ॥ ८४ ॥

वास्तविकता यह है कि हाथ की सभी अंगुलियों में पञ्चतत्त्वों का अधिष्ठान है। कनिष्ठिका अप् तत्त्व, अनामिका पृथ्वीतत्त्व मध्यमा आकाश तत्त्व, तर्जनी वायु तत्त्व और अंगुष्ठ अग्नितत्त्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। अग्नि प्रमाता तत्त्व का प्रातिनिध्य वहन करता है। अंगुष्ठ की आकृति और उसकी सत्ता में पुरुष प्रमाता की प्रतिष्ठा है। मृत्यु के उपरान्त आत्मा पुरुष शरीर की करोड़ों कोशिकाओं और प्रवृत्तियों के संस्कार से इसी अग्निप्रतीक अंगुष्ठ का रूप ग्रहण कर उस लोक को प्रस्थान करता है, जहाँ उसे जाना है। अंगुष्ठ की इसी रहस्यमयता का प्रख्यापन यहाँ शास्त्रकार कर रहे हैं। आत्मा के साथ संस्कारों का समवाय अंगुष्ठ मात्र पुरुष में समाहित रहता है। वही आवरण है। वह महाकाश रूप आत्मा के साथ अमल भाव से सक्रिय होता है। इसी आधार पर यह आर्या साधक को यह सन्देश दे रही है कि, हे महासूक्ष्म आत्मन्! तुम इस आवरण का भी निराकरण कर स्वात्म नैर्मल्य में व्याप्त हो जाओ। मुकुटोत्तर शास्त्र में इसके पादभेद का स्वरूप दो बार आया है और सूक्ष्मपदों के अवस्थान से सम्बद्ध है ॥ ८२ ॥

ग्यारहवीं त्रयोदशपदा आर्या के उपदेश का अवतरण कर रहे हैं—

प्रिय शिष्य साधक! तुम स्वयं साक्षात् पुरुष हो। प्रकृत्यात्मक बन्धनों के लिये अहङ्कार के धामों का उपयोग होता है। सर्वसमर्थ पुरुष होकर भी तुम इन्हीं अहङ्कार के तन्तुओं से बँध गये हो। हे अभव के भी अभव अर्थात् अभव नित्यमुक्त होने के कारण अभव अर्थात् अनुत्पत्तिरूप परमात्मन्!

ह्रौंहूँमन्त्रशरीरमविलम्बमाशु त्वमेहि देहान्तम् ।
आर्याधवाक्यमेतत्स्याद् द्वादशं षट्पदं परम् ॥ ८५ ॥

तदिदं गुणभूतमयं त्यज स्व षाटकोशिकं पिण्डम् ।
स्यात् त्रयोदशमार्याधं पदैः सप्तभिरीदृशम् ॥ ८६ ॥

मा देहं भूतमयं प्रगृह्य तां शाश्वतं महादेहम् ।
आर्याधवाक्यं तावद्भिः पदैरेतच्चतुर्दशम् ॥ ८७ ॥

तुम नित्योदित हो । अपने इस परम रहस्यात्मक रूप का ध्यान में रखकर तुम रागरञ्जित इस जागतिक अध्वा का भी परित्याग कर स्वात्मरूप में अवस्थित हो जाओ ॥ ८३-८४ ॥

बारहवीं आर्या की अर्धाली मात्र है । इसमें छः पद हैं । इन पदों के माध्यम से अमूल्य उपदेश का अमृत उड़ेल रहे हैं। शास्त्रकार कहते हैं कि,

आत्मन् ! तुम इस देह का अस्त कर दो । केवल देही बनकर इस भोगवाद में पड़े रहना अब तुम्हारे लिये उचित नहीं । ह्रीं हूं इस बीज रूप निष्कल ब्रह्मविद्या के मन्त्र के मन्त्रात्मक स्वरूप श्लोक ९०-९१ के भाव को अविलम्ब प्राप्त कर मन्त्रमय बन जाओ ॥ ८५ ॥

यह षाट्कोशिक पिण्ड अब तुम्हारे अधिष्ठान के योग्य नहीं रहा । यह त्रैगुण्य के वैगुण्य से विकृत हो चुका है । इसे तत्काल त्याग कर स्वात्म में अधिष्ठित हो जाओ ! यह सात पदों वाली तेरहवीं आर्या की अर्धाली है ॥ ८६ ॥

यह पाञ्च भौतिक शरीर धारण करना अब अग्राह्य समझकर इसका परित्याग होना चाहिये । महादेव रूप विराट् परमेश्वर में आत्मसात् होकर स्वयं विराट् बन जाना ही अब श्रेयस्कर है । यह चौदहवीं आर्या अपने सात पदों द्वारा यह उपदेश दे रही है ॥ ८७ ॥

मण्डलममलमनन्तं त्रिधा स्थितं गच्छ भित्त्वैतत् ।
आर्यार्धवाक्यमष्टाभिः पदैः पञ्चदशं त्विदम् ॥ ८८ ॥
सकलेयं ब्रह्मविद्या स्यात्पञ्चदशभिः स्फुटैः ।
वाक्यैः पञ्चाक्षरैस्त्वस्या निष्कला परिकीर्त्यते ॥ ८९ ॥
प्रतिवाक्यं यथाद्यन्तयोजिता परिपठ्यते ।

यह अनन्त अमल मण्डल विश्व त्रैगुण्य से विकृत है। तुला को तीन रस्सियों के विषम आधार पर अवलम्बित है। अग्नि, सूर्य एवं सोम के वैषम्य से विभूषित है। भूत, वर्त्तमान और भविष्य की भीषा से भीषण है। काम, क्रोध और लोभ से लुंज पुंज है। भू भुंवः और स्वः में विभक्त है। मन, वाक् और कर्म के कालुष्य से ग्रस्त है। सृष्टि, स्थिति और संहार के हालाहल से बेहाल है। त्रिदोष से दूषित है। त्रिलिङ्ग, त्रिवचन और त्रिपुरुष के वाग्जाल से विह्वल है। त्रिवर्ग, त्रिवर्ण, और त्र्यभाव (अश्रद्धा, अवित्त और अविधि) आदि की विक्रिया से विजित है। यह रहने के योग्य नहीं है। इन समस्त अवरोधों को तोड़कर यहाँ से जाना अनिवार्यतः आवश्यक है। वत्स इनका भेदन करो और अपने परमधाम के परम शान्तपूर्ण सिंहासन पर विराजमान हो जाओ। अष्टपदो रूप पन्द्रहवीं आर्या के ये वाक्य साधक शिष्य को इस प्रकार उद्बुद्ध कर रहे हैं॥ ८८ ॥

यह सकला ब्रह्मविद्या का स्वरूप है। पञ्चदश आर्या वाक्यों द्वारा यह यहाँ व्यक्त है। ये सभी वाक्य सरल, बोधगम्य और सुस्पष्ट हैं। इनके अतिरिक्त एक निष्कला ब्रह्मविद्या का भी प्रकथन आगम शास्त्रों में है। वह पञ्चाक्षर वाक्यों द्वारा प्रतिवाक्य आद्यन्तयोजित होती है। विज्ञ लोग उसका इसी विधि से व्यवहार करते हैं।

भुवनाख्यैरिति चतुर्दशभिः। एतावद्भिरिति चतुर्दशभिरेव। प्राक्संख्यै-रेकाधिकैरिति पञ्चदशभिः। रुद्रसंख्यैरिति एकादशभिः। उपइतीति तेन अत्र शुभाशुभापेक्षीति पाठः। निःश्वासशासने इति तत्र हि उत्क्रम हे देहेश प्रभञ्जनस्त्वं प्रयाह्याशु—इति पाठः, पदविभागस्तु अविशिष्ट एव। नव-भिरिति समाहृत्येत्यस्य एकत्वेन इष्टेः। भुवनसंख्यातैरिति चतुर्दशभिः। अग्नी-षोमसनातनमृत्पिण्डेति एकमेव पदम्। आर्य्यावाक्यमिति अर्थात् नवमम्।

इस सकला ब्रह्मविद्या वर्णन के प्रसङ्ग में आये कुछ शब्दों पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। जैसे—

१. भुवनाख्य—

भुवन १४ होते हैं। अतः श्लोक ६७ में आये भुवनाख्य शब्द का १४ पद वाला अर्थ लगाना चाहिये।

२. एतावद्भिः—श्लोक ६९ में यह शब्द प्रयुक्त होता है। एतावत् का अर्थ 'इतना' होता है। यहाँ आर्या में १४ पद हैं। इसलिये इस शब्द से चौदह पदका ही अर्थ लेना चाहिये।

३. प्राक्संख्य, रुद्रसंख्य—श्लोक ७० और श्लोक ७२ में ये दोनों शब्द प्रयुक्त हैं। इनके अर्थ श्लोकार्थ में आ गये हैं।

४. उप इति—श्लोक ७३ में यह शब्द प्रयुक्त है। श्लोक ७१ में शुभा-शुभापेक्षी पाठ है। इन दोनों के समान सन्दर्भों पर विचार करना चाहिये। उपध्वनि शुभ होती है और अप ध्वनि अशुभ होती है। हंस महामन्त्र में निःश्वास के समय 'अप' और 'उप' के उच्चारणों पर ध्यान देना चाहिये।

५. निःश्वासशासने—यह शब्द श्लोक ७७ में प्रयुक्त है। श्लोक भाष्य में इसे स्पष्ट कर दिया गया है।

पदत्रयमिति निःश्वासादौ हि अग्नीषोमसनात्म त्रिपिण्डं जहिहि हे महाकोशमिति पाठः, तेन अत्र पञ्चदश पदानीति सिद्धम् । आर्यावाक्यमिति अर्धादर्धम् । द्विरिति द्वौ वारौ, तेन अत्र अङ्गुष्ठमात्रमलमलमावरणं जहिहि हे महासूक्ष्म इति पाठ । आर्यावाक्यमिति अर्धादेकादशकम् । तावद्भिरिति सप्तभिः । पञ्चदश-भिर्वाक्येरिति, आर्याभिस्तु द्वादशभिः सार्धाभिः ॥

---

६. **नवभिः**—यह शब्द श्लोक ७९ में प्रयुक्त है। इस आर्या में ९ पद हैं। पर मिलने पर सम् और आहृत्य को मिलाकर दश पद होते हैं। शास्त्रकार नव पद कहते हैं। अतः गणना में 'सम् और आहृत्य' को मिलाकर एक पद मानना ही उचित है। इस तरह पद नौ हो जाते हैं।

७. **अग्निसोमसनातनमृत्पिण्डम्**—यह शब्द श्लोक ८० में प्रयुक्त है। पूरे शब्द को एक पद मानने पर इस आर्या में भुवन संख्यक अर्थात् चौदह पद सिद्ध हो जाते हैं।

८. **पदत्रयम्**—श्लोक ८१ में यह शब्द प्रयुक्त है। यह श्लोक के पाठ भेद से सम्बन्धित है। श्लोक भाष्य में इसे स्पष्ट कर दिया गया है।

९. **द्विरिति**—श्लोक ८२ में अङ्गुष्ठमात्रम्, अमलम् और आवरणम् तीन शब्द एक साथ मिले हुए हैं। इसके साथ ही उस अर्धाली के अन्त में 'महा-सूक्ष्म' सम्बोधन का पद भी प्रयुक्त है। इसका एक पाठभेद श्री मुकुटोत्तर शास्त्र में आया हुआ है। इसके अनुसार 'अलम् अलम्' दो बार और अन्त में 'हे महासूक्ष्म' यह पाठभेद है। पूरा पद इस प्रकार लिखा जा सकता है—

'अङ्गुष्ठमात्रमलमलमावरणं जहिहि हे महासूक्ष्म' इस पाठ भेद में पूरा अर्थ ही बदल जाता है। इसके अनुसार महासूक्ष्म 'आवरणं' का का विशेषण हो जाता है। अङ्गुष्ठ मात्र का अर्थ भाष्य में दिया गया है ॥ ६७-८९ ॥

निष्कलामेव ब्रह्मविद्यां निर्दिशति

तारो माया वेदकलो मातृतारो नवात्मकः ॥ ९० ॥

इति पञ्चाक्षराणि स्युः प्रोक्तव्याप्त्यनुसारतः ।

बिन्दुप्राणामृतजलं मरुत्षष्ठस्वरान्वितम् ॥ ९१ ॥

एतेन शक्त्युच्चारस्थबीजेनालभ्यते पशुः ।

कृतदीक्षाविधिः पूर्वं ब्रह्मघ्नोऽपि विशुद्ध्यति ॥ ९२ ॥

यहाँ पूर्वचर्चित निष्कला ब्रह्मविद्या [ओं ह्रीं हूं फ्रें ह्लक्ष्म्ल्व्यूं] का निर्देश कर रहे हैं—

तार प्रणव 'ओं' माया 'ह्रीं' चतुष्कलः 'हूं' मातृतारः (फ्रें) और नवात्मक एक बीज मन्त्र मिलाकर यह ब्रह्मविद्या पञ्चाक्षरा ही मानी जाती है। नवात्मक एक बीज मन्त्र में विन्दु '·' प्राण 'ह' दण्ड 'र' नाभि 'क्ष' नितम्ब 'म' वामस्तन 'ल' कण्ठ 'व' वामस्कन्ध 'य' वामकर्णाभरण ऊ बीज एक साथ मिलाकर लिखे जा सकते हैं। यही श्लोक ८५ में आये ह्रीं हूं मन्त्र शरीर का भी तात्पर्य है। इस ब्रह्मविद्या का पाठ करते हुए शरीर त्याग से साक्षाद् ब्रह्मप्राप्ति होती है। यही प्रोक्त मन्त्र व्याप्ति है ॥ ९०½ ॥

यह ऐसी विद्या है, जिसका उच्चारण कर पशु का आलम्भन किया जाता है। उसी विद्या का बीजात्मक संकेत दे रहे हैं—

विन्दु प्राण 'ह' अमृत 'स', जल 'व' मरुत् 'य' षष्ठ स्वर 'ऊ' इनको मिलाकर 'ह्स्व्यूं' बीज मन्त्र निष्पन्न होता है। यह पश्वालम्भन मन्त्र है। इसका प्रयोग करने से वध्य पशु को मोक्ष की प्राप्ति अवश्य होती है। यह शक्त्युच्चारस्थ बीज मन्त्र है। इसी बीज से पशु का आलम्भन किया जाता है। दीक्षा की समस्त विधियों को निष्पादित कर पूर्ण करने वाला यदि ब्रह्मवध का भी पाप इस मन्त्र से किया है, तो वह तत्काल इस मन्त्र के प्रयोग से शुद्ध हो जाता है ॥ ९१-९२ ॥

लघुत्वेन तुलाशुद्धिः सद्यःप्रत्ययकारिणी ।
तारः शमरयैः पिण्डो नतिश्च चतुरर्णकम् ॥ ९३ ॥

शाकिनीस्तोभनं मर्म हृदयं जीवितं त्विदम् ।
षष्ठप्राणत्रिकूटोर्ध्वबाहुशूलाख्यबिन्दुभिः ॥ ९४ ॥

अनच्कनासाधोवक्त्रचन्द्रखण्डैश्च मण्डितम् ।
हृदयं भैरवाख्यं तु सर्वसंहारकारकम् ॥ ९५ ॥

वेदकलश्चतुष्कलः । मातृतारः फंकारः । नवात्मा विन्दुप्राणदण्डनाभिनितम्बवामस्तनकण्ठवामस्कन्धवामकर्णाभरणाक्षराख्यः । एतच्च सार्धमार्याद्वादशकमवमृष्टप्रागुक्तार्धसतत्त्वस्य स्वयमवगन्तुं शक्यत्वात् ग्रन्थविस्तरभयाच्च न प्रातिपद्येन व्याख्यातमिति न विद्वद्भिरस्मभ्यमसूयितव्यम् । बिन्दुः शून्यं, प्राणो ह, अमृतं स, जलं व, मरुत् य, षष्ठस्वरः ऊ, एवं ह्स्व्यूं । शमरयैरिति गुह्यनितम्बदण्डवामस्कन्धैः, तेन श्म्र्यूं नम इति । षष्ठः ऊ, प्राणो ह, त्रिकूटः

जहाँ तक तुलाशुद्धि का प्रश्न है, यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जो तत्काल विश्वास कराती है । शिष्य मन्त्र के बल से इतना हल्का अर्थात् भारहीन हो जाता है कि, वह तुला के एक पल्ले पर ऊपर उठ जाता है । लोग इस तुला शुद्धि पर तत्काल विश्वास कर लेते हैं । इससे शास्त्र और आचार्य की प्रामाणिकता का लोगों के हृदय पर सिक्का जम जाता है । तार प्रणव 'ओं', शमरय अर्थात् गुह्य 'श' नितम्ब 'म', दण्ड 'र' और य अर्थात् वामस्कन्ध इस तरह कुल ओं श्म्र्यूं बीज के निष्पन्न होने बाद इसमें नमः लगा देने से पूरा मन्त्र 'ओं श्म्र्यूं नमः' निष्पन्न होता है । यह शाकिनी स्तोभन मन्त्र माना जाता है । यह मन्त्रात्मकता का मर्म है, यह सारभूत तत्त्व है । इसलिये इसे 'हृदय' मन्त्र भी कहते हैं । यह मन्त्रों की प्राणवत्ता का प्रतोक है अर्थात् जीवित तत्त्व रूप ही है ॥ ९३ ॥

षष्ठ 'ऊ' प्राण 'ह' त्रिकूट 'क्ष' ऊर्ध्वबाहु 'झ', शूल 'औ' बिन्दु '॰'

क्ष, ऊर्ध्वबाहुर्झं, शूलमौ, बिन्दुः शून्यं, अनच्को नादः, नासा शक्तिरधोवक्त्र-श्चन्द्रखण्डः अर्धचन्द्रः, एवं हृक्ष्म्लौं ॥ ९५ ॥

सर्वसंहारकत्वमेव अस्य दर्शयति

अग्निमण्डलमध्यस्थ　भैरवानलतापिताः ।
वशमायान्ति शाकिन्यः स्थानमेतेन चेद्दहेत् ॥ ९६ ॥
विसर्जयेत्ताः प्रथममन्यथा च्छिद्रयन्ति ताः ।
ह्रीं क्लीं ब्लें क्लें एभिर्वर्णैर्द्वादशस्वरभूषितैः ॥ ९७ ॥

अनच्क स्वर रहित अर्थात् 'नाद' नासाशक्ति 'अधोमुख चन्द्रमा '̮' इन सबको मिलाकर जो बीज मन्त्र बनता है, उसका स्वरूप 'हृक्ष्म्लौं" इस तरह का निष्पन्न होता है। सर्वसंहारक यह भैरवहृदय नामक मन्त्र है ॥ ९४-९५ ॥

भैरवहृदयमन्त्र को सर्वसंहारकता का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

शाकिनियाँ भैरवग्नि से संतप्त हो जाती हैं। संतप्त होने का कारण यह है कि, आचार्य इस भैरवहृदय नामक मन्त्र को सिद्ध कर इस मन्त्र से ही शाकिनियों को दग्ध कर देने का प्रयत्न करता है। भैरव अग्नि मण्डल के मध्यस्थ रहता है। इस मन्त्र के प्रयोग का समग्र दाहक प्रभाव शाकिनियों पर ही पड़ता है। वे जलने लगती हैं। उनका स्थान भी भस्मसात् हो जाता है। वे भागकर प्रयोगकर्त्ता के पास मिलने हेतु आ जातीं हैं। उस समय उन्हें सर्वप्रथमतःविसर्जित करना चाहिये। यदि ये कुछ देर ठहर जाती हैं, तो वहीं छिद्र या कर्मदौर्बल्य देखकर उस पर प्रहार कर बैठती हैं। वे सर्वदा छिद्रान्वेषण कर कुछ बिगाड़ने का ही प्रयत्न करती रहती हैं। अतः उनका ससपर्य विसर्जन आवश्यक माना जाता है।

'ह्रीं क्लीं ब्लें क्लें' शास्त्र वर्णित इन बीजों को इसी क्रम में बारह स्वरों से विभूषित कर ह्रीं को सम्पुटित करने से जप योग्य अत्यन्त प्रभावोत्पादक मन्त्र बनता है। इसे प्रिय मेलापन मन्त्र कहते हैं। द्वादश स्वरों से विभूषित करने में भी कई विकल्पों का निर्देश शास्त्रकार करते हैं—

प्रियमेलापनं नाम हृदयं सम्पुटं जपेत् ।
प्रत्येकमथवा द्वाभ्यां सर्वैर्वा विधिरुत्तमः । ९८ ॥

वशमायान्तीति हठेन मेलापं कुर्वन्तीत्यर्थः । प्रथमिति मेलापसामनन्तर्येणेत्यर्थः । एभिर्वर्णैरिति मायाबीजकामराजाभ्यां वामस्तनदक्षजानुबिन्दुसंभिन्नाभ्यां कण्ठादिदन्ताभ्यां चेत्येवंरूपैः । प्रत्येकमिति यथा क्लं ब्लं वलं ह्लीं क्लं व्लं इति । द्वाभ्यामिति यथा व्लां क्लां ह्लीं क्लीं व्लां क्लां इति, ह्लिं क्लि ब्लि क्लि ह्लीं क्ली व्लें क्लें क्लि ब्लि क्लि ह्लि इति । एवं स्वरान्तरभूषित्वेऽपि ज्ञेयम् ॥ ९८ ॥

अत्रैव गुर्वागमौ दर्शयति

---

१. प्रत्येक में एक स्वर लगाकर ह्लीं को सम्पुटित करना । इस पद्धति में ह्लीं क्लंब्लं क्लं ह्लीं क्लं व्लं क्लं ह्लीं वर्णों से भूषित यह आकार निष्पन्न मन्त्र होगा ।

२. दो स्वरों का लगाकर दो दो से दो को सम्पुटित करने पर जैसे ह्लीं क्लीं क्लां क्लां ह्लीं क्लीं ब्लां व्लां इस रूप से यह आकार विभूषित मन्त्र निष्पन्न होगा ।

३. सभी वर्णों के साथ किसी एक स्वर के प्रयोग पर जैसे ह्रस्व इकार के साथ सभी वर्णों का प्रयोग इस प्रकार का मन्त्रात्मक रूप लेगा—

'ह्लि क्लि ब्लि क्लि ह्लीं क्लीं व्लें क्लि ब्लि क्लि ह्लिं' इस मन्त्र में मूल चारों वर्णों को चारों वर्णों से सम्पुटित किया गया है ।

४. इसी तरह शेष ९ स्वरों के प्रयोग भी ऊह के आधार पर मन्त्र प्रयोक्ता को यथावसर प्रयोग करना चाहिये । ये तान्त्रिक मन्त्र प्रयोग केवल कल्पना नहीं वरन् ये अनुभव की कसौटो पर कसे गये रामबाण रूप प्रयोगात्मक मन्त्र हैं ॥ ९६-९८ ॥

इसी सन्दर्भ में गुरु और आगमों के सम्बन्ध में अपने शास्त्रीय दृष्टिकोण को प्रस्तुत कर रहे हैं—

तुलामेलकयोगः श्रीतन्त्रसद्भावशासने ।
य उक्तः शम्भुनाथेन स मया दर्शितः क्रमात् ॥ ९९ ॥

अथ वित्तविहीनानां प्रपन्नानां च तत्त्वतः ।
देशकालादिदोषेण न तथाध्यवसायिनाम् ॥ १०० ॥

प्रकर्तव्या यथा दीक्षा श्रीसन्तत्यागमोदिता ।
कथ्यते हाटकेशानपातालाधिपचोदिता ॥ १०१ ॥

तदेव आह

श्रीनाथ आर्य भगवन्नेतत्त्रितयं हि कन्द आधारे ।
वरुणो मच्छन्दो भगदत्त इति त्रयमिदं हृदये ॥ १०२ ॥

तुलामेलक योग श्री तन्त्र सद्भावशासन में वर्णित है। श्री शम्भुनाथ शुभाभिधेय मेरे गुरुदेव ने उसे वाणी का विषय बनाकर मुझे कृतार्थ किया था। मुझ शास्त्रकार द्वारा वही गुरु प्राप्त विज्ञान क्रमशः प्रदर्शित किया गया है। इस सन्दर्भ में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि, वित्तविहीन अर्थात् निर्धन शिष्य और साथ हो साथ जो शरणागत अन्तेवासी बन गुरु चरणों में अपने को अर्पित कर चुका है, देश और काल आदि दोषों से जो ग्रस्त है अर्थात् भाषागत अथवा संस्कारगत दौर्बल्य से जो प्रभावित है, ऐसा शिष्य जो समयाचार पालन के अध्यवसाय में असमर्थ है, ऐसे या इसी तरह के अन्य शिष्यों को जैसी दीक्षा दी जानी चाहिये, उसका वर्णन 'श्रीसन्तति' नामक आगम में किया गया है। इसे हाटकेश्वर, ईशान और पातालेश्वरदेव ने भी अपने आम्नाय में वर्णित किया है। वह दीक्षा विधि इस समय मेरे द्वारा व्यक्त की जा रही है ॥ ९९-१०१ ॥

कन्द और मूलाधार ये समान व्याप्तिक योग साधन के प्रधान अंग हैं। इनमें श्रीनाथ, आर्य, भगवन् इन तीन पदों को प्रतिष्ठित करे। इसी तरह वरुण, मच्छन्द और भगदत इन तीन पदों को हृदय में प्रतिष्ठित करना

धर्मादिवर्गसंज्ञाश्चत्वारः कण्ठदेशगाः पूज्याः ।
ह्रींश्रींपूर्वा सर्वे सम्बोधजुषश्च पादशब्दान्ताः ॥ १०३ ॥

मूर्धतले विद्यात्रयमुक्तं भाव्यथ मनोऽभियोगेन ।
कुसुमैरानन्दैर्वा भावनया वापि केवलया ॥ १०४ ॥

गुरुणा तत्त्वविदा किल
शिष्यो यदि मोक्षमात्रकृतहृदयः ।
मोक्षैकदानचतुरा दीक्षा सेयं परोपनिषदुक्ता ॥ १०५ ॥

चाहिये। धर्म, ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य इन चारों को कण्ठ में स्थापित करना चाहिये। ये सभी इन्हीं अवयवों में अवस्थित कर अर्चा के योग्य होते हैं। प्रतिष्ठा के समय जब इन पदों का प्रयोग करना हो, तो पहले ही ह्रीं श्रीं इन बीज मन्त्रों का प्रयोग कर लेना चाहिये। साथ ही सारे पदों को सम्बोधन कारक का प्रयोग होना चाहिये। मूर्धतल पर विद्यात्रय का प्रयोग करना आवश्यक है। इस त्रयी विद्या अर्थात् परापरा और अपरा रूप तीनों का बड़े ही मनोयोग से भावन करना चाहिये। कुसुमों से इनको पूजा तो की ही जाती है, आनन्द (सुरा आदि) द्रव्य (आम्नाय स्वीकृत) से भो इनकी पूजा को जाती है। इस प्रकार की स्थूल बाह्य पूजा के अतिरिक्त आन्तर पूजा अर्थात् केवल भावना से ही इनका भावन होना चाहिये ॥ १०२-१०४ ॥

इस दीक्षा क्रम में गुरु का तत्त्ववेत्ता होना अत्यन्त आवश्यक है। वह यह जान लेता है कि, शिष्य मात्र मोक्ष के प्रति ही अपने हृदय में लालसा लगाये हुए है। अर्थात् वह मुमुक्षु है। हृदय से उसकी लालसा है कि, वह मोक्ष प्राप्त करे। इस वस्तुस्थिति को जानकारो के बाद उसे तत्त्वदर्शी गुरु यही मोक्षैकदानचतुरा दीक्षा दे। त्रिक दर्शन परम्परा की आम्नायाम्नात यह 'परोपनिषद्' दीक्षा मानी जाती है ॥ १०५ ॥

एतद्दीक्षादीक्षित एतद्विद्यात्रयं स्मरन् हृदये ।
बाह्यार्चादि विनैव हि व्रजति परं धाम देहान्ते ॥ १०६ ॥

धर्मादिवर्गेति धर्मार्थकाममोक्षलक्षणचतुर्वर्गः, तेन धर्मनाथः, अर्थनाथः, कामनाथः, मोक्षनाथ इति, सम्बोध आमन्त्रणं, तेन ह्रीं श्रीं श्रीनाथपादेत्यादिः क्रमः। उक्तमिति परापरादयात्मकम् । भावीति वक्ष्यमाणम् । अथेति विकल्पे । मनोऽभियोगेनेति अनुसन्धानदार्ढ्येनेत्यर्थः । आनन्देरिति तत्कारिभिः सुरादिभिः । परं धामेत्यनेन अस्या मुमुक्षुविषयत्वमेव निर्वाहितम् ॥

एतदेव विद्यात्रयं निर्दिशति

प्रणवो माया विन्दुर्वर्णत्रयमादितः कुर्यात् ।
पदपञ्चकस्य सम्बोधनयुक्तस्याग्निदयितान्ते ॥ १०७ ॥

इस परोपनिषद् दोक्षा से दीक्षित शिष्य का यह परम कर्त्तव्य है कि, वह हृदय में तीनों विद्याओं का पहले स्मरण करे मूर्धतत्व में इनकी प्रतिष्ठा करे। तत्पश्चात् ध्यान करना चाहिये क्योंकि मूर्धा में ही ये तीनों प्रतिष्ठित है। हृदय में ध्यान करने से सारे शरीर में स्वात्मसंवित्ति की वैद्युतिक धारा का संचार मूर्धापर्यन्त स्वाभाविक रूप से हो जाता है। शास्त्रकार कहते हैं कि, इस प्रकार की दोक्षा से दोक्षित पुरुष को बाह्य अर्चा की तनिक आवश्यकता नहीं होती। वह मात्र भावना से स्वात्म को भावित करता है। इसी भाव में स्वात्म संविद्वपुष् परमेश्वर की आराधना सम्पन्न हो जाती है। देहान्त के उपरान्त वह परमधाम का अधिकारी हो जाता है अर्थात् उसे मोक्ष मिल जाता है।। १०६॥

श्लोक संख्या १०३ में, धर्म आदि की चर्चा है। तन्त्राम्नाय के अनुसार धर्म, विज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये धर्मवर्ग में आते हैं। आचार्य जयरथ यहाँ धर्मादिवर्ग में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चतुर्वर्ग की

प्रणवः ओं, माया ह्रीं, बिन्दुश्चतुष्कलतया हूँ। अग्निदयिता स्वाहा ॥ १०७ ॥

पदपञ्चकमेव निर्दिशति

सिद्धसाधनि तत्पूर्वं शब्दब्रह्मस्वरूपिणि ।
समस्तबन्धशब्देन सहितं च निकृन्तनि ॥ १०८ ॥
बोधनि शिवसद्भावजनन्यामन्त्रितं च तत् ।

पौराणिक मान्यता को अपनाते हुए अपनी विवेक व्याख्या में इनको सम्बुद्धि का रूप धर्मनाथ ! कामनाथ ! अर्थनाथ ! और मोक्षनाथ प्रयोग करने का आशय व्यक्त किया है। इसके साथ ही भावि, अथ (श्लोक १०४), मनोभियोग (१०४) आनन्द (१०४) और परंधाम (श्लोक १०६) शब्दों की व्याख्या हिन्दी भावार्थ में कर दी गयी है ॥

श्लोक १०४ में मूर्धातल में विद्यात्रय का प्रसङ्ग आया हुआ है। तीन विद्यायें परा, परापरा और अपरा रूप में त्रिक आम्नाय में प्रसिद्ध हैं। यहाँ उन तीन विद्याओं का बीजात्मक रूप निर्दिष्ट कर रहे हैं—

१. प्रथमतः प्रणव ओं माया 'ह्रीं' और विन्दु अर्थात् चतुष्कल बीज हूँ इन पदों को पहले प्रयुक्त करना चाहिये। इसके बाद सम्बोधन युक्त पाँचों पदों का इन तीन पदों से समन्वित प्रयोग कर अन्त में अग्निदयिता अर्थात् अग्नि देव की पत्नी 'स्वाहा' संज्ञा का प्रयोग करना चाहिये ।! १०७ ॥

पदपञ्चक कौन कौन से हैं, इनका उल्लेख इन कारिकाओं में कर रहे हैं—

'तत्पूर्वं' अर्थात् स्वाहा पद के पहले ही पाँचों पद प्रयुक्त होते हैं, पहले सिद्धसाधनि, पुनः शब्दब्रह्मस्वरूपिणि सम्बोधन पद का उल्लेख या उच्चारण करना चाहिये। इसके बाद समस्त बन्ध निकृन्तनि अर्थात् समस्त बन्धनिकृन्तनि इस सामासिक सम्बोधन पद का प्रयोग करना चाहिये।

पञ्चाष्टरन्ध्रत्र्यष्टार्णक्रमेण पदपञ्चकम् ॥ १०९ ॥
खपञ्चार्णा परब्रह्मविद्येयं मोक्षदा शिवा ।
अनुत्तरेच्छे घान्तश्च सत्रयोदशसुस्वरः ॥ ११० ॥
अस्य वर्णत्रयस्यान्ते त्वन्तःस्थानां चतुष्टयम् ।
वर्गाद्यश्वौ श्यस्त्रबिन्दुयुक्पान्तोऽर्णत्रयादतः ॥ १११ ॥

पुनःबोधनि और शिवसद्भावजननि रूप आमन्त्रण अर्थात् सम्बोधन पदों का प्रयोग ही पञ्चपद प्रयाग है। इस क्रम में 'सिद्ध साधनि' पाँच वर्णों, 'शब्द ब्रह्मस्वरूपिणि' आठ अर्णों, 'समस्तबन्धनिकृन्तनि' नव वर्णों 'बोधनि' तीन वर्णों और शिवसद्भावजननि आठ वर्णों वाले पद हैं। ५+८+९+३+८= ३३ वर्णों से सुशोभित पाँचों पद प्रयुक्त हैं। इन पाँचों के पहले प्रणव, माया और सबिन्दुचतुष्कल 'हूं' का पाँच बार प्रयोग करने से ५×३=१५ वर्ण बढ़ जाते हैं। कुल वर्ण संख्या ३३+१५=४८ हो जाती है।

इस तरह त्रिवर्ण विभूषित पञ्चपदों के प्रयोग में अड़तालिस वर्ण होते हैं। इसके साथ अग्निपत्नो स्वाहा के प्रयोग से दो वर्ण और बढ़ जाने पर इस पञ्चाशद्वर्णा पराब्रह्मविद्या का उद्धार होता है। यह शिवा अर्थात् परमकल्याणकारिणी विद्या है और इस विद्या के प्रभाव से मोक्ष अवश्यम्भावी हो जाता है। पूरा मन्त्र "ओं ह्रीं हूं" सिद्धसाधनि ओं ह्रीं हूं शब्द-ब्रह्म-स्वरूपिणि, ओं ह्रीं हूँ समस्तबन्धनिकृत्तनि ओं ह्रीं हूँ बोधनि ओं ह्रीं हूं शिवसद्भावजननि स्वाहा" रूप में प्रयोग करना चाहिये ॥ १०८-१०९ ॥

२. इसके बाद विसर्ग ब्रह्मयुक्त दोक्षा विद्या-मन्त्र का उद्धार कर रहे हैं—

अनुत्तर 'अ', इच्छा 'इ', धान्त 'ङ', में सत्रयोदश सुस्वर 'ओ' मिलने से 'ङो' इस तरह अइङो रूप त्रिवर्ण का उद्धार होता है। इन तीनों वर्णों के अन्त में अन्तःस्थचतुष्टय 'यरलव' का प्रयोग करना चाहिये। इसके बाद वर्गादि

महाहाटकशब्दाद्यमीश्वरीत्यर्णसप्तकम् ।
आमन्त्रित क्षमस्वेति त्र्यर्णं पापान्तकारिणि ॥ ११२ ॥

षडर्णं पापशब्दादिविमोहनिपदं ततः ।
पापं हन धुन द्विर्द्विर्दशार्णं पदमीदृशम् ॥ ११३ ॥

पञ्चम्यन्तं षडर्णं स्याद्रुद्रशक्तिवशादिति ।
तत एकाक्षरं यत्तद्विसर्गंब्रह्म कीर्तितम् ॥ ११४ ॥

तदनच्कतकारेण सहैकीभावतः पठेत् ।
रन्ध्राब्धिवर्णा विद्येयं दीक्षाविद्येति कीर्तिता ॥ ११५ ॥

वर्ण 'अ' अश्व 'ण' त्र्यस्त्र 'ए' तथा विन्दुयुक् पान्त 'फ' अर्थात् अणफें इन वर्णों के बाद महाहाटकेश्वरि इस सप्तवर्णी सम्बोधन पद का उल्लेख कर 'क्षमस्व' इस क्रिया का प्रयोग करना चाहिये। इसके बाद षट्वर्णी 'पापान्त-कारिणि' इस सम्बोधनान्त पद का उल्लेख करना चाहिये। पुनः पाप-विमोहनि! पापं हनधुनधुन का प्रयोग करना चाहिये। पापं हन हन धुन धुन के प्रयोग में हन और धुन के दो दो बार आने से कुल दश अक्षर हो जाते हैं। इसके बाद 'रुद्रशक्तिवशात्' यह पञ्चम्यन्त षडक्षर प्रयोग होता है। इसके वाद एकाक्षर सद्ब्रह्म का उल्लेख अनच्क तकार के साथ करने से सत् शब्द का उद्धार होता है। यह विद्या रन्ध्राब्धि वर्णा होती है। अब्धि ४ और रन्ध्र ९ के क्रम से उन्चास वर्ण का यह मन्त्र दीक्षाविद्या मन्त्र कहलाता है। इस महत्त्वपूर्ण मन्त्र के जप से दीक्षा सफल होती है। अदीक्षित के जप करने से उसे दीक्षा की आवश्यकता नहीं रह जाती॥ ११०-११५॥

३. दो महत्त्वपूर्ण विद्याओं का उल्लेख करने के बाद यहाँ सार्धार्ण ट् के साथ पचास वर्णों वाली पारमेश्वरी विद्या का उल्लेख कर रहे हैं—

मायार्णञ्च परे ब्रह्मे चतुर्विद्ये पदत्रयम्।
अष्टार्णमथ पञ्चार्णं योगधारिरिणिसंज्ञितम् ॥ ११६ ॥
आत्मान्तरात्मपरमात्मरूपं च पदत्रयम्।
एकारान्तं बोधनस्थं दशार्णं परिकीर्तितम् ॥ ११७ ॥
रुद्रशक्तीति वेदार्णं स्याद्रुद्रदयितेऽथ मे।
पापं दहदहेत्येषा द्वादशार्णा चतुष्पदी ॥ ११८ ॥
सौम्ये सदाशिवे युग्मं षट्कं बिन्द्विषुसावहा।
सार्धवर्णचतुष्कं तदित्येषा समयापहा ॥ ११९ ॥
विद्या सार्धार्णखशरसंख्या सा पारमेश्वरी।

पदपञ्चकस्यैव वर्णविभागमपि आह पञ्चेत्यादि। रन्ध्रेति नव। खपञ्चार्णेति पञ्चाशद्वर्णाः, एवं ओं ह्रीं हूँ बोधनि ओं ह्रीं हूँ शिवसद्भाव-जननि स्वाहा। अनुत्तरः अ, इच्छा इ। घान्तः ङ। त्रयोदशः स्वर ओ। अन्तःस्था यरलवाः। वर्गाद्यः अ। अश्वो ण। त्र्यस्रं ए बिन्दुयुक् पान्तः फ, एवं फें। विसर्गब्रह्म स, रन्ध्राब्धीति एकान्नपञ्चाशत्। एवं अइङोयरलव-

---

मायार्ण 'ह्रीं', 'परे ब्रह्मे चतुर्विद्ये' ये आठ वर्ण वाले तीन पद, पाँच वर्ण वाला योगधारिणि एक पद, संबोधन एकारान्त आत्मे अन्तरात्मे परमात्मे दश वर्ण वाले ये तीन पद, चतुर्वर्ण रुद्रशक्ति के साथ रुद्रदयिते, के बाद मे पापं दह दह, पुनः सौम्ये सदाशिवे, बिन्दु 'हुं' और इषु 'फट्' के साथ 'स्वाहा' लगाकर ट् के साथ पचास वर्णों वाले इस मन्त्र का उद्धार होता है। इसे पारमेश्वरी विद्या कहते हैं ॥ ११६-११९ ॥

ब्रह्मविद्याओं का स्वरूप—

१. श्लोक संख्या १०७ से लेकर १०९½ श्लोकों तक जिस मन्त्र का उल्लेख किया गया है, इसे मोक्षदा परब्रह्मविद्या कहते हैं। आचार्य जयरथ ने सभी कूटवर्णों का अर्थ अपनी विवेक व्याख्या में दे दिया है।

अणफें महाहाटकेश्वरि क्षमस्व पापान्तकारिणी पापविमोहनि पापं हन हन धुन धुन रुद्रशक्तिवशात् सत्। मायार्णं ह्रीं। एकारान्तं बाधनस्थमिति तेन आत्मे अन्तरात्मे परमात्मे इति। चतुष्पदीति इह दहेति एकमेव हि पदम्। युग्मं पदयोः। षट्कं वर्णानाम्। बिन्दुः हूँ। इषुः फट्। सावहा स्वाहा। खशरेति पञ्चाशत्। सार्धार्णट्। एवं ह्रीं परे ब्रह्मे चतुर्विद्ये योगधारिणि आत्मे अन्तरात्मे परमात्मे रुद्रशक्तिरुद्रदयिते मे पापं दह दह सौम्ये सदाशिवे हूँ फट् स्वाहा॥

एतच्च अस्माकं गुरुभिरुपदिष्टमित्याह

एतद्विद्यात्रयं श्रीमद्भूतिराजो न्यरूपयत्॥ १२०॥
यः साक्षादभजच्छ्रीमाच्छ्रीकण्ठो मानुषीं तनुम्।

---

२. इसी तरह श्लोक ११० से श्लोक ११५ तक दीक्षा विद्या नामक दूसरी विद्या का उल्लेख है। भाष्य में सारे कूट वर्णों के अर्थ और उनका स्पष्टोकरण कर दिया गया है। मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार का है—

'अइङो यरलव अणफं महाहाटकेश्वरि क्षमस्व पापान्तकारिणि पापविमोहनि पापं हनहन धुनधुन रुद्रशक्तिवशात् सत्'। ४९ वर्णों की यह दीक्षा विद्या तन्त्रविश्रुत रहस्य विद्या है।

३. तोसरी महाब्रह्मविद्या का नाम पारमेश्वरो विद्या है। पञ्चाशन् वर्णा इस विद्या के जप और ध्यान से ब्रह्मैक्य रूप शैव तादात्म्य की तत्काल उपलब्धि हो जाती है। इस मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार का है—

"ह्रीं परे ब्रह्मे चतुर्विद्ये योगधारिणि आत्मे अन्तरात्मे परमात्मे रुद्रशक्तिरुद्रदयिते मे पापं दहदह सौम्ये सदाशिवे हूं फट् स्वाहा"

श्लोक १०६ में इन विद्याओं के महत्त्व पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। इनका हृदय में स्मरण मात्र से बिना वाह्य अर्चा के ही मुक्ति प्राप्त होती है। जीवित दशा में भी साधक शिव के अनुग्रह का अधिकारी बना रहता है॥ १०७-११९½॥

ननु इह मन्त्राणां स्वरूपं दर्शितं, वीर्यं पुनः कस्मात् न उक्तमित्याशङ्क्य आह

अत्र वीर्यं पुरैवोक्तं सर्वत्रानुसरेद्गुरुः ॥ १२१ ॥

अर्थबीजप्रवेशान्तरुच्चाराद्यनुसारतः ।

नहि तत्किंचनाप्यस्ति यत्पुरा न निरूपितम् ॥ १२२ ॥

निष्फला पुनरुक्तिस्तु नास्मभ्यं जातु रोचते ।

ननु अनेकप्रकारं हि तद्वीर्यं, तत् केन प्रकारेण एतदित्याशङ्क्य आह अर्थेत्यादि ॥

इन ब्रह्म विद्याओं का उपदेश शास्त्रकार के श्रद्धेयवर्य गुरुदेव ने किया था। यही कह रहे हैं—

इन तीनों का निरूपण पूर्वक उपदेश गुरुदेव श्रीमान् स्वनामधन्य श्री १००८ श्री भूतिराज शुभाभिधेय प्रज्ञा पुरुष ने किया था। वे साक्षात् श्रीमान् श्रीकण्ठ ही थे, जिन्होंने शिष्यों को कृतार्थ करने के लिये मनुष्य शरीर धारण किया था ॥ १२० ॥

जिज्ञासु पूछता है कि, गुरुवर्य ! आपने मन्त्रों का स्वरूप यहाँ प्रदर्शित किया है, इन मन्त्रों की वीर्यात्मकता का वर्णन नहीं किया। यह क्यों ? इसका उत्तर शास्त्रकार दे रहे हैं—

मैंने मन्त्रों की शक्ति, उनके महाप्रभाव और उनकी वीर्यवत्ता का वर्णन पहले ही मन्त्रों के सन्दर्भ में स्पष्ट रूप से हो किया है। मेरे निर्देश का अनुसरण गुरुजनों को सर्वदा और सर्वत्र करना चाहिये। मन्त्रों के अर्थ, उनका बीजात्मक स्वरूप, उनमें प्रवेश की विधि, उनका आन्तरिक उच्चार और जप तथा ध्यान आदि का पूर्ण वर्णन किया गया है। ऐसी कोई बात छूटी नहीं है, जिसका निरूपण मैंने श्रीतन्त्रालोक में न किया हो। यह पूर्णार्था प्रक्रिया का पावन

एतदेव अर्धेन उपसंहरति

इत्येवं मन्त्रविद्यादिस्वरूपमुपवर्णितम् ॥ १२३ ॥

इति शिवम् ॥

श्रीमद्गुरूपदेशासादितमान्त्रस्वरूपपरितृप्तः ।
एतज्जयरथनामा निरणैषीदाह्निकं त्रिशम् ॥

प्रसाद है। वत्स ! मेरा अपना स्वभाव भी ऐसा ही है कि, मुझे पुनरुक्तियाँ कभी नहीं रुचतीं। पुनरुक्ति हमेशा निष्फल होती है। अर्थ, बीज, अनुप्रवेशप्रकार, आन्तर उच्चार आदि से मन्त्रों के वीर्य पर पूरा प्रकाश पड़ जाता है ॥ १२१-१२२ ॥

जिज्ञासा का समाधान करने के बाद इस आह्निक का उपसंहार कर रहे हैं—

इस प्रकार मन्त्रों और विद्या आदि का वास्तविक स्वरूप उपवर्णित किया गया। इति शिवम् ॥ १२३ ॥

गुरु अनुग्रह से मिला मुझको विमल वरदान
मन्त्र का पीयूष पीकर तृप्त हूँ पवमान।
हो गया चरितार्थ मेरा नाम जयरथ धन्य,
मन्त्रमय व्याख्यात आह्निक तीसवाँ सन्तन्य ॥

\+ \+ \+

बीजस्पन्दतरङ्गभङ्ग-भरिते शैवे रहस्यार्णवे,
सम्यक् स्वैरमनुप्रविश्य सहजं संमथ्य सामर्थ्यवान्।
तत्त्वव्रातविमर्शविश्वकुशलः विज्ञाय गुह्यं परम्,
व्याख्यात् त्रिशकमाह्निकं सुविशदं 'हंसः' शिवानुग्रहात् ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितं
राजाजनकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्यासमुपेतं
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलितं
श्रीतन्त्रालोकस्य 'तत्त्वाध्वाप्रकाशन' नामकं
त्रिंशमाह्निकम् समाप्तम् ॥ ३० ॥
॥ शुभं भूयात् ॥

●

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तविरचित
राजानक जयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीरक्षीरविवेक
हिन्दीभाषाभाष्य संवलित
श्रीतन्त्रालोक का
मन्त्रादि प्रकाशन नामक तीसवाँ आह्निक
परिपूर्ण ॥ ३० ॥
शुभं भूयात्

●

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते

श्रीजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलिते

एकत्रिंशमाह्निकम्

विद्यामायाप्रकृतित्रिप्रकृतिकमध्वसप्तकारमिदम् ।
विश्वत्रिशूलमभितो विकासयञ्जयति कौशिकः शंभुः ॥

इदानीं तात्पर्यतो मण्डलस्वरूपं वक्तुमुपक्रमते

अथ मण्डलसद्भावः संक्षेपेणाभिधीयते ।

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित

श्रीराजानक जयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक

हिन्दी भाष्य संवलित

श्री तन्त्रालोक

का

इकतीसवाँ आह्निक

विद्या, माया प्रकृति, गुण, अध्व सहित सप्तार ।
जय कौशिक शिव कर रहे, जग-त्रिशूल विस्तार ॥

तत्र तावत् चतुरस्रसिद्धिमाह

साधयित्वा दिशं पूर्वां सूत्रमास्फालयेत्समम् ॥ १ ॥
तदर्धयित्वा मध्यप्राक्प्रतीचीष्वङ्कयेत्पुनः ।
ततोऽप्यर्धत्तदर्धार्धमानतः पूर्वपश्चिमौ ॥ २ ॥

मण्डल का स्वरूप—

शास्त्रकार यह प्रतिज्ञा कर रहे हैं कि, इस आह्निक द्वारा मण्डल सद्भाव का संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है । प्रतिज्ञा के इसी सन्दर्भ में मण्डल के जितने प्रकार या स्वरूप होते हैं, उनमें सर्वप्रथम चतुरस्र मण्डल का ही अभिधान कर रहे हैं—

विषुवत् शङ्कु और छाया आदि से पश्चिम से पूर्व दिशा को ध्यान में रखकर कार्यसिद्धि के उद्‌देश्य से उसकी सीमा का निर्धारण कर सूत्र को सीधा सम रूप से आस्फालित करना चाहिये अर्थात् ऊपर उठाकर तने हुए सूत्र को छोड़ना चाहिये । इससे एक रेखा का उभार हो जाता है । यहाँ साधयित्वा क्रिया का प्रयोग प्राचीन काल के प्रयोग की सूचना दे रहा है । साध धातु सिद्ध करने अर्थ में प्रचलित है । यहाँ सिद्ध करने का अर्थ है कि, प्रातः काल या सायंकाल जहाँ भी मण्डल बनाना हो, सर्वप्रथम उस स्थान को कार्यसिद्धि के लिये चुने । उसे वेदो का रूप प्रदान करे । वर्गाकार चार हाथ लम्बाई चौड़ाई का बनाना हो, या गुरुदेव की आज्ञा के अनुसार निर्माण करना हो, तो उसी तरह भूमि चयन कर ले । लीप पोतकर चिकनी भूमि का निर्माण कर ले । यह क्रिया वहीं करे, जहाँ यजमान या गुरु पसन्द करें । इतनी प्रक्रिया के बाद ही पूरब पश्चिम को सूत्र आस्फालन द्वारा चतुरस्र चतुर्भुज का रूप प्रदान करें । इसमें रंगीन सूत्र का आश्रय लेने की प्रथा आज भी है ॥ १ ॥

चतुरस्र में पूर्व रेखा में मध्य बिन्दु पर, पश्चिम मध्य बिन्दु और पूर्व मध्य बिन्दु मिलाकर मध्य रेखा बनाये। अर्ध अन्तराल को पुनः आधा करे। इस पर भी रेखायें आस्फालित करे। इन दो आधे भागों को पुनः दो-दो भागों में बीच से रेखा द्वारा विभाजित करना चाहिये। मध्य रेखा के ऊपर और नीचे रेखाओं से भाग और पुनः उनका आधा करने पर १६ भाग हो जाते हैं। इस तरह एक चतुर्भुज में उत्तर दक्षिण की रेखाओं के बीच में मध्यरेखा को छोड़कर १४ रेखायें, मध्य रेखा को लेकर १५ और उत्तर दक्ष की चतुर्भुज रेखाओं को जोड़कर १७ रेखायें हो जाती हैं। इस वर्णन को इन रेखाचित्रों से समझा जा सकता है।

१. चित्र—

चतुरस्र मण्डल

पूर्व
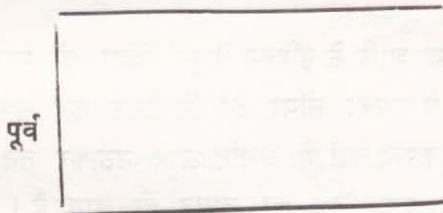
सायं प्रातः पूर्व भावित पश्चिम

२. चित्र—

दो अर्ध भाग

पूर्व
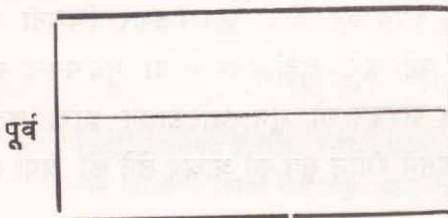
सूत्र के आस्फालन करने पर और चतुर्भुज का आधा करने पर मध्य की बिभाजन रेखा

३. चित्र— अर्ध का अर्ध करने पर
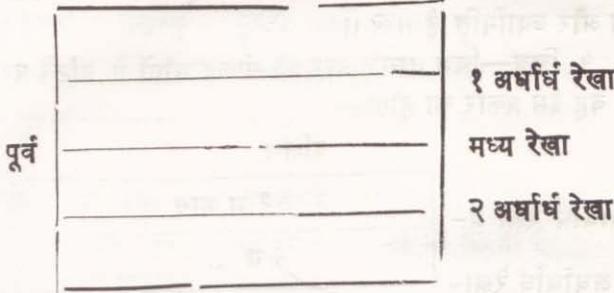
४. चित्र— अर्धार्ध का अर्ध करने पर
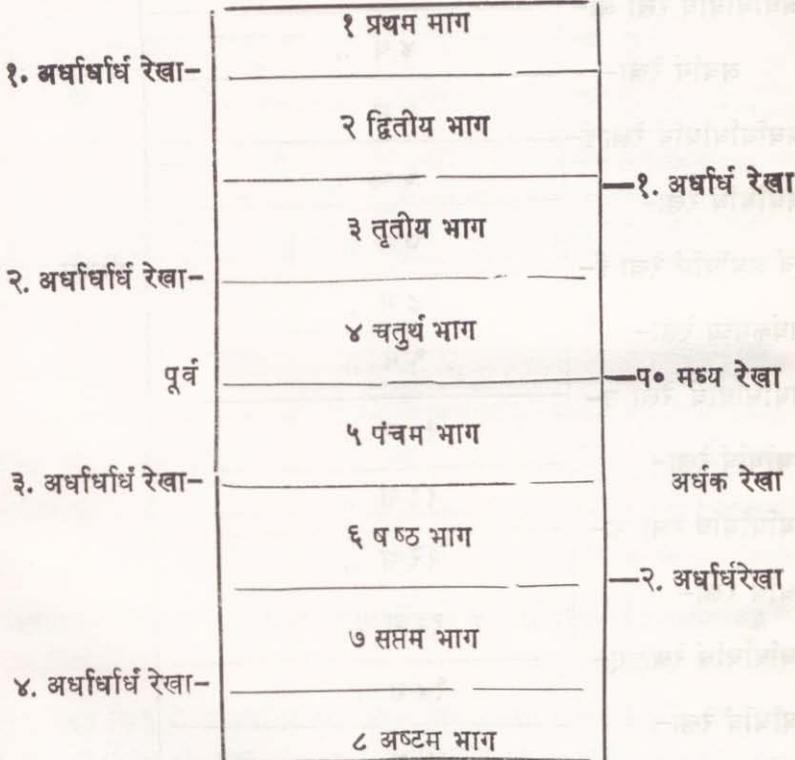
अर्थात् मध्य रेखा के ऊपर तीन रेखा और नीचे भी तीन रेखाओं को मिलाकर ६ रेखाओं में आठ भाग हो जाते हैं। स्वाभाविक है कि, इनका भी आधा करने पर १६ भाग में पूरा चतुरस्र मण्डल विभाजित हो जायेगा।

यह पूर्व और पश्चिम की रेखाओं से बना सोलह भागों में विभक्त मण्डल का गणित और ज्यामिति है ॥ २ ॥

५. चित्र—चित्र नम्बर चार को सोलह भागों में बाँटने पर जो चित्र बनेगा वह इस प्रकार का होगा—

दक्षिण

१ म भाग

अर्धार्धार्ध रेखा अ-

२ य ,,

अर्धार्ध रेखा-

३ य ,,

अर्धार्धार्ध रेखा आ-

४ र्थ ,,

अर्धार्ध रेखा-

५ म ,,

अर्धार्धार्धार्ध रेखा ई-

६ ष्ठ ,,

अर्धार्ध रेखा-

७ म ,,

पूर्व अर्धार्ध रेखा ई- पश्चिम

८ म ,,

अर्धकमध्य रेखा-

९ म ,,

अर्धार्धार्ध रेखा उ-

१० म ,,

अर्धार्ध रेखा-

११ श ,,

अर्धार्धार्ध रेखा ऊ-

१२ श ,,

अर्धार्ध रेखा-

१३ श ,,

अर्धार्धार्ध रेखा ए-

१४ श ,,

अर्धार्ध रेखा-

१५ श ,,

अर्धार्धार्ध रेखा ऐ-

१६ शतम ,,

उत्तर

अङ्कयेत्तावता दद्यात् सूत्रेण भ्रमयुग्मकम् ।
मत्स्यसन्धिद्वयं त्वेवं दक्षिणोत्तरयोर्भवेत् ॥ ३ ॥

भ्रमयुग्मक

इसी चित्र में दो भ्रम उत्पन्न करना है। इसे शास्त्रकार भ्रमयुग्मक कहते हैं। इस चित्र का इस प्रकार ऊहात्मक रूप दिया जा सकता है—

६. चित्र—
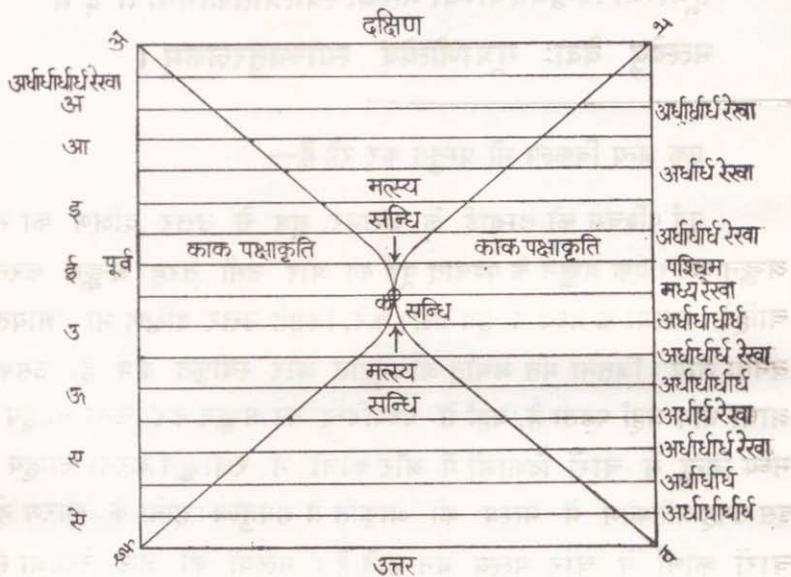
अ=अग्नि । न=नैऋत्य । व=वायव्य । ई=ईशान । अ क इ भ्रमि = प्रथम काक पक्ष
न क व ,, = द्वितीय काक पक्ष

इस चित्र में मत्यसन्धि युग्म और काकपक्ष की गोल आकृति का ऊह स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। दक्षिणार्ध और उत्तरार्ध में मिलकर भ्रम-युग्मक, मत्स्यसन्धिद्वय और काक-पक्ष की आकृतियाँ उभर कर प्रत्यक्ष दृष्टिगत हो रही हैं। मत्स्य सन्धि से ऊपर दक्षिणदिक् और नीचे उत्तर दिशा भी सिद्ध हो जाती हैं॥ ३ ॥

तन्मध्ये पातयेत्सूत्रं दक्षिणोत्तरसिद्धये ।
यदि वा प्राक्परावत्तुल्यसूत्रेणोत्तरदक्षिणे ॥ ४ ॥
अङ्कयेदपरादङ्कात् पूर्वादपि तथैव ते ।
मत्स्यमध्ये क्षिपेत्सूत्रमायतं दक्षिणोत्तरे ॥ ५ ॥
मतक्षेत्रार्धमानेन मध्याद्दिक्ष्वङ्कयेत्ततः ।
सूत्राभ्यां दिग्द्वयोत्थाभ्यां मत्स्यः स्यात्प्रतिकोणगः ॥ ६ ॥
मत्स्येषु वेदाः सूत्राणीत्येवं स्याच्चतुरस्रकम् ।

एक अन्य विकल्प भी प्रस्तुत कर रहे हैं—

पूर्व पश्चिम की लम्बाई के बराबर सूत्र से उत्तर दक्षिण का भी अङ्कन करें। एक अङ्कन के पश्चात् पूर्व की ओर उसी तरह अङ्कन करना चाहिये। मत्स्यों के मध्य में सूत्र प्रक्षेप करे, जिससे उत्तर दक्षिण भी 'आयत' बनता जाय। जितना मत अर्थात् अधिगृहीत और स्वीकृत क्षेत्र है, उसका आधा भाग जहाँ पड़ता है, वहाँ से मध्यबिन्दु का अङ्कन कर लेना चाहिये। मध्य बिन्दु से चारों दिशाओं में और कोणों में रेखाङ्कन करना चाहिये। इस तरह प्रतिकोण में मत्स्य की आकृति से समतुल्य होने के कारण ही चारों कोणों में चार मत्स्य बन जाते हैं। मत्स्यों की आठ रेखाओं से चतुरस्र वेदी की चतुरस्रता सिद्ध हो जाती है। इस विकल्प के अनुसार यह ऊहात्मक आकृति निर्मित होगी—

इस ऊहात्मक आकृति में चार आयत पूर्व-पश्चिम मध्य बिन्दु मिलाने और उत्तर दक्षिण मध्य बिन्दु मिलाने से बनते हैं। बिन्दुओं से वे अङ्कित हैं। इन आयतों की रेखाओं के मध्य बिन्दुओं से कर्णिका के मध्यबिन्दु पर रेखाङ्कन करने से चार मत्स्य भी बनते है। चार आयतों और चार

७. चित्र—
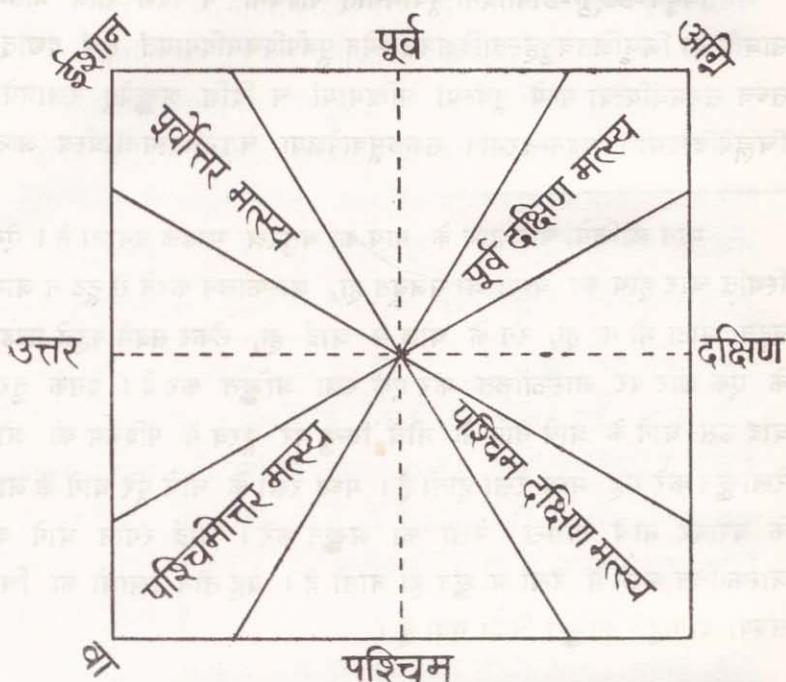
मत्स्यों से यह चतुरस्र वेदी निर्मित की जानी चाहिये। मत्स्यों के मध्य में रेखा खींचने से चार कोणों की स्थिति का आकलन हो जाता है। इसमें आठ त्रिकोण भी बन जाते हैं।

आचार्य जयरथ के विश्लेषण के अनुसार मण्डल निर्माण की पहले तैयारी करनी चाहिये। सर्वप्रथम माप की प्रक्रिया, भूमि का अधिग्रहण करना और सुबह शाम नाप-जोख कर तैयार रहना चाहिये। माप के लिये विषुवत् लम्ब बिन्दु पहली प्रक्रिया है। जनसामान्योचित प्रक्रिया नहीं है। दूसरी प्रक्रिया कील ठोंक कर नापने की है। यह सामान्योचित पद्धति है। तीसरी प्रक्रिया छाया से चिह्नित करने की है। गुरुवर्ग तीनों से परिचित होता है। वह जैसे चाहे वही विधि अपना कर कार्य का श्री गणेश करना चाहिये।

विषुवच्छङ्कुच्छायादिना पूर्वामर्थात् पश्चिमां च दिशं सायं प्रातश्च साधयित्वा जिघृक्षितचतुर्हस्तादिक्षेत्रसाम्येन पूर्वपश्चिमदिगायतं सूत्रं दद्यात्। तच्च सममर्धयित्वा मध्ये पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि अङ्कयेत् रेखात्रयेण चिह्नयेदित्यर्थः। तदनन्तरमपि सकलसूत्रापेक्षया चतुर्भागात्मनोऽर्धस्य अष्ट-

---

मान लीजिये, चार हाथ के नाप का चतुरस्र मण्डल बनाना है। ऐसी स्थिति चार हाथ का धागा जो मजबूत हो, आस्फालन करने से टूट न जाय, बहुत मोटा भी न हो, रंग के घोल से आर्द्र हो, लेकर सबसे पहले मण्डल के एक छोर पर आस्फालित कर एक रेखा अङ्कित कर दे। इसके तुरत बाद उस धागे के आधे नाप के नीचे बिन्दु पर पूरब से पश्चिम की ओर रेखाङ्कन करे यह मध्य रेखा होती है। मध्य रेखा के नीचे पूरे धागे के आधे के बराबर नोचे तोसरो रेखा का अङ्कन करे। आर्द्र रंगीन धागे को आस्फालित करने से रेखा अङ्कित हो जाती है। यह तीन रेखाओं का चित्र संख्या दो पहले अङ्कित किया गया है।

इस तरह बने चित्र संख्या १ वाले आयत के दो भाग हो जाते हैं। यही चित्र संख्या दो है। इन दो आधे भागों को आधा आधा करने पर चित्र संख्या तीन बनता है। दो अर्धार्ध रेखाओं से इसके चार भाग हो जाते हैं। मध्य रेखा के ऊपर अर्धार्ध रेखा से दो भाग और मध्य रेखा से नोचे भी अर्धार्ध रेखा से दो भाग बने हुए हैं। अब उन्हें भी अर्धार्धार्ध रेखाओं से आधा आधाकर विभाजित कर देना चाहिये। यह चित्र संख्या ४ में दर्शित है। इसमें मध्य रेखा से ऊपर तीन रेखायें और मध्य रेखा से नोचे भी तीन रेखायें निर्मित हैं। इस तरह ऊपर नीचे को ३+३ रेखाओं अर्थात् ६ रेखाओं से मण्डल के ८ भाग हो गये हैं। इस चित्र में मध्य की रेखा के अतिरिक्त दो अर्धार्ध रेखायें और चार अर्धार्धार्ध रेखायें मिला कर ही छः रेखायें होती हैं।

भागात्मनस्तदर्धस्य षोडशभागात्मनस्तदर्धस्य च मानमवलम्ब्य पूर्वपश्चिमा- वङ्कयेत् दिग्द्वये बहिर्गतया तत्र तत्र रेखाषट्कं दद्यादित्यर्थः। ततोऽपि तावता पूर्वपश्चिमदिग्द्वयीयतत्तदर्धद्वयमानेन सूत्रेण तत्र तत्र अङ्कस्थाने वामं दक्षिणं च परिस्थाप्य क्रमेण दक्षिणस्यामुत्तरस्यां च दिशि भ्रमयुग्मं दद्यात् येन तत्र काकपक्षाकृति मत्स्यसन्धिद्वयं स्यात्। तस्य मत्स्यसन्धिद्वयस्य मध्ये च पातितेन दक्षिणोत्तरायतेन सूत्रेण तद्दिग्द्वयसिद्धिः। यदिवेति अत्रैव पक्षान्त- रोपक्रमः। प्राक्पराक्तुल्येति सकलेनेत्यर्थः। अपरादङ्कात् पूर्वादपीति अनेन

चित्र सं० ५ में आठ भाग में बँटे हुए पूरे मण्डल को १६ भागों में बाँटने के लिये आठ अर्धार्धार्ध रेखाओं को अ-आ, इ-ई, उ-ऊ, और ए-ऐ रेखाओं के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है। प्रथम अर्ध रेखा से मण्डल पहले दो भागों में, पुनः दोनों भागों को अर्धार्ध रेखा से बाँटने पर मण्डल चार भागों में बाँटा जाया है। पुनः अर्धार्धार्ध रेखाओं से मण्डल आठ भागों में विभाजित होता है। पुनः अर्धार्धार्धार्ध रेखाओं से मण्डल १६ भागों में बाँटा जाता है। अर्थात् ४ अर्धार्धों को ३-३ अर्धार्धार्धार्ध रेखायें बाँट कर मण्डल को १६ धागों में बाँटती है। २ अर्धार्धों को ६ रेखायें बांटती हैं।

भ्रम युग्म—चित्रसंख्या ६—

१६ भागों में बँटे मण्डल की मध्य रेखा के मध्यस्थ बिन्दु को 'क' विन्दु मानिये मण्डल के चतुरस्रों को अग्नि को 'अ' बिन्दु ईशान को 'ई' बिन्दु वायव्य को 'व' बिन्दु और नैऋत्य को 'न' बिन्दु मानिये। अब 'अ क ई' अर्धवृत्त खींचिये। इसी तरह 'न क व' दूसरा अर्धवृत्त खींचिये। ये दोनों दक्षिण से उत्तर रेखा के कोणों का स्पर्श कर करते हैं। ये दोनों भ्रम युग्म हैं। ये काकपक्ष की आकृति बनाते हैं। परिणाम स्वरूप 'क' बिन्दु के दक्षिण और उत्तर दोनों ओर के दोनों भाग 'क' बिन्दु पर मछली के मुंह की तरह मिले हुए दीख पड़ते हैं। इन्हें मत्स्यसन्धि कहते हैं। 'क' बिन्दु से दक्षिण रेखा के मध्य बिन्दु को मिलाइये। वही बिन्दु वस्तुतः दक्षिण दिग्बिन्दु है।

अङ्केन सर्वशेषत्वेन शिक्षाया वचनम् । तथैवेति अनन्तरोक्तवत् । एवं च मध्यमधिकृत्य दिक्चतुष्टयसिद्धिनिमित्तभूतं सूत्रत्रयं चतुर्हस्तादिरूपतया अभिमतस्य क्षेत्रस्य अर्धमानेन दिक्षु अङ्कयेत् सर्वतः साम्यमुत्पादयितुं तत्र रेखाचतुष्टयं कुर्यादित्यर्थः । ततो दिक्चतुष्टयगतेभ्योऽङ्केभ्यश्च दिग्द्वयोत्थाभ्यां सूत्राभ्यां प्रतिकोणगो मत्स्यः स्यात् यथा पूर्वदक्षिणाभ्यामाग्नेये, पूर्वोत्तराभ्यामैशाने, पश्चिमदक्षिणाभ्यां नैऋते, पश्चिमोत्तराभ्यां वायव्ये चेति । तेषु च प्रतिकोणगेषु चतुर्षु मत्स्येषु वेदाश्चत्वारि सूत्राणि दद्यादिति चतुरस्रसिद्धिः ॥

इसी तरह उत्तर मण्डल रेखा के मध्य बिन्दु को 'क' मध्यबिन्दु को मिलाने से उत्तर की सही दिशा-बिन्दु का बोध होता है। इस तरह दक्षिणोत्तर दिग्द्वय सिद्धि हो जाती है।

पक्षान्तर क्रम—

श्लोक ४ में शास्त्रकार द्वारा प्राक् पराक् तुल्य सूत्र से उत्तर दिक् और दक्षिण की ओर रेखा संपात का निर्देश दिया गया है। साथ ही श्लोक ५ के अपरादङ्कात् निर्देश के अनुसार पूर्व पश्चिम रेखाओं का खींचना आवश्यक माना गया है। इसके अनुसार २५६ लघु चतुर्भुज बनेंगे। इससे युक्त इस मण्डल में आगे की क्रिया सम्पन्न करनी चाहिये। यदि केवल मध्य में ही पूर्व पश्चिम और उत्तर दक्षिण रेखा संपात किया जाय, तो मण्डल चार सम भागों में विभाजित हो जायेगा। दोनों पक्षों में मध्य बिन्दु का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इसके बाद प्रत्येक दिशा में आने वाली रेखायें भी दो भान में बँट जाती हैं। उनके आधे भाग से दो रेखायें ऐसी अङ्कित की जानी चाहिये, जो मध्य बिन्दु का स्पर्श कर मिल जायें। इस तरह चार मत्स्य सन्धियाँ एक बिन्दु पर बनेंगी यह चित्र सं० सात के अनुसार ही मण्डल का आन्तर रूप होगा। इस चित्र में बने मत्स्यों के मध्य से होती हुई चार रेखायें, जो

ननु प्रतिशास्त्रमनेकाधिमण्डलानि सन्ति, इह पुनः केषां सद्भावोऽभिधीयते इत्याशङ्कां गर्भीकृत्य स्वशास्त्राधिकारेण एषामानैक्येऽपि प्रधानभूतप्रतिनियतमण्डलाश्रयेण बहुप्रकारमुक्तानां शूलवर्तनानां कारणभूतं

'प्रधाने हि कृतो यत्नः फलवान् भवति'।

इत्याशयेन श्रीत्रिकसद्भावदर्शितं त्रित्रिशूलं मण्डलं प्रथमं वक्तुं प्रतिजानीते

एकस्मात्प्रभृति प्रोक्तं शतान्तं मण्डलं यतः ॥ ७ ॥
सिद्धातन्त्रे मण्डलानां शतं तत्पीठ उच्यते ।

परस्पर मध्य बिन्दु पर एक दूसरे को क्रास करती हों, खींचने पर चतुरस्र की सिद्धि हो जाती है। वे चारों चारों कोणों का सीधा स्पर्श कर वहीं कोण बिन्दु में ही समाहित हो जातो हैं ॥ १-६ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, मण्डल विधान कोई नया प्रस्तुतिकरण नहीं है। ये प्रतिशास्त्र अनेक प्रकार से वर्णित हैं। इनकी विभिन्न विधियाँ हैं। यहाँ जिस मण्डल का वर्णन किया जा रहा है, यह किस शास्त्र सद्भाव की चर्चा है? इस प्रश्न को मनमें गुन कर ही शास्त्रकार त्रिक दृष्टि से निर्मापयितव्य मण्डल को आश्रित कर बहु प्रकारीय शूलवर्त्तन से सम्बन्धित त्रिक सद्भावभव्य त्रित्रिशूल मण्डल के वर्णन का उपक्रम कर रहे हैं। यह सिद्धान्त भूत सत्य है कि,

"प्रधान के लिये किया हुआ यत्न ही फलवान् होता है।"

अतः प्रधान भूत त्रिक सद्भाव मण्डल के त्रित्रिशूल मण्डल के शुभारम्भ की प्रतिज्ञा यहाँ की गयी है—

सिद्धातन्त्र में एक से लेकर सौ मण्डलों की चर्चा है। सौ मण्डलों का एक पीठ माना जाता है। इस पीठ में सौ मण्डलों के मध्य में तीन मुख्य मण्डलों की गणना है। इनके पृथक् पृथक् नाम दिये गये हैं। १. मध्यशूल मण्डल, २. त्रित्रिशूल मण्डल और ३. नवशूल मण्डल। इन शूलों के निर्माण की अनन्त विधियों का भी वर्णन वहाँ किया गया है।

यत्तन्मध्यगतं मुख्यं मण्डलानां त्रयं स्मृतम् ॥ ८ ॥

मध्यशूलं त्रित्रिशूलं नवशूलमिति स्फुटम् ।
तत्र शूलविधानं यदुक्तं भेदैरनन्तकैः ॥ ९ ॥
तद्योनि मण्डलं ब्रूमः सद्भावक्रमदर्शितम् ।

तत्पीठ इति मण्डलपीठे । तन्मध्येति तच्छब्देन मण्डलशतपरामर्शः । उक्तमिति अर्थात् सिद्धातन्त्रे एव । यदुक्तम्

अधुना मण्डलं पीठं कथ्यमानं शृणु प्रिये ।
मण्डलानां शतं प्रोक्तं सिद्धातन्त्रे वरानने ॥
तेषां नामानि वक्ष्यामि शृणुष्वेकाग्रमानसा ।
मण्डलानां वरारोहे शतं यावदनुक्रमात्' ॥

इति उपक्रम्य

'हाहारावं घनं रुद्धं सामयं चित्रकण्टकम्' ।

मण्डल वर्णन के सन्दर्भ में योनि मण्डलों का महत्त्व सभी स्वीकार करते हैं। ये सद्भाव क्रम में दर्शित मण्डल हैं। यहाँ शास्त्रकार उनके वर्णन की प्रतिज्ञा कर रहे हैं। वस्तुतः मण्डलों के अनन्त भेद होते हैं। उन सैकड़ों मण्डलों के मध्य से इन तीन योनि मण्डलों का वर्णन इनका उद्देश्य है। सिद्धातन्त्र में इस सम्बन्ध जो उल्लिखित है, आचार्य जयरथ उद्धरणों द्वारा इसे उपबृंहित कर रहे हैं—

"भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति! इस समय मैं मण्डल रूप पीठ का कथन करने जा रहा हूँ। इसे ध्यान पूर्वक सुनो। सुमुखि पार्वति! इस महान् सिद्धान्त में सौ मण्डलों का कथन किया जा चुका है। एकाग्रमना हो कर तुम्हें क्रमशः इनके नामों का श्रवण करना चाहिये।"

इतना उपक्रम करने के उपरान्त उन्होंने मण्डलों के क्रमिक नामों का कथन प्रारम्भ कर दिया—

इत्यादि

'मध्यशूलं त्रित्रिशूलं नवशूलं तथैव च।'

इति मध्यम्।

'अश्वमेधसमायुक्तं मण्डलानां शतं मतम्।'

इत्यन्तम्।

तदेव आह

वेदाश्रिते चतुर्हस्ते त्रिभागं सर्वतस्त्यजेत् ॥ १० ॥
भागैः षोडशभिः सर्वं तत्तत्क्षेत्रं विभाजयेत्।

चतुर्हस्ते इति षण्णवत्यङ्गुलात्मनि। त्रिभागमिति द्वात्रिंशदङ्गुलानि। सर्वत इति चतुर्दिक्कम्, तेन प्रतिपादिक्कं षोडश षोडश अङ्गुलानि त्यजेत्

"हाहाराव, घन, रुद्ध, सामय और चित्रकण्टक आदि नाम हैं।"

इतना कहने के वाद मध्य में तीन मण्डलों के भेद की बात की—

"१. मध्यशूल, २. त्रित्रिशूल और ३. नवशूल मण्डल।

इसके बाद अन्त में उन्होंने कहा कि,

" 'अश्वमेध' नाम को जोड़ देने पर मण्डलों के सौ नाम पूरे हो जाते हैं।"

इन उद्धरणों से सिद्धातन्त्रोक्त मण्डलों की सूचना होती है। श्रीतन्त्रालोक में उन्हीं की चर्चा है ॥ ७-९ ॥

वेदाश्रित चतुर्हस्त ज्यामितिक गणित पर आधारित पारिभाषिक शब्द हैं। एक हाथ दो बालिश्त अर्थात् २४ अङ्गुल का होता है। इसके अनुसार चार हाथ में चौगुना करने पर ९६ अंगुल होते हैं। इनका तीन भाग करने पर ९६ ÷ ३ = ३२ अङ्गुल के मान होंगे। चारों ओर को सर्वतः शब्द से व्यक्त किया गया है। ३२ अङ्गुल छोड़ने पर ६४ अङ्गुल शेष रहेगा। सारा विभाजन वेदाश्रित है। इस लिये ६४ का चार भाग करने १६ अङ्गुल होता है। यह चौथाई अङ्गुल का मान १६-१६ अङ्गुल का होता है। चारों

द्वाराद्यर्थमवस्थापयेदित्यर्थः। तत् तस्मात् त्रिभागस्य त्यागात् हेतोस्तदव-शिष्टं वक्ष्यमाणत्रित्रिशूलवर्तनोपयोगि सर्वं क्षेत्रं षोडभिर्भागैर्विभजेत् चतुरङ्गुलानि षट्पञ्चाशदधिकं शतद्वयं कोष्ठकानि कार्याणीत्यर्थः। समस्ते हि क्षेत्रे चतुर्विंशतिधा विभक्ते षट्सप्तत्यधिकं शतपञ्चक कोष्ठकानि भवन्ति यतः प्रतिपादितं द्वाराद्यर्थं भागचतुष्टयस्य त्यागात् विंशत्यधिकं शतत्रयं कोष्ठकानि अवशिष्यन्ते इति तात्पर्यार्थः ॥

तत्र त्रिशूलवर्तनामेव कर्तुमुपक्रमते

ब्रह्मसूत्रद्वयस्याथ मध्यं ब्रह्मपदं स्फुटम् ॥ ११ ॥

कृत्वावधिं ततो लक्ष्यं चतुर्थं सूत्रमादितः।

दिशाओं में १६-१६ अङ्गुल द्वार आदि की व्यवस्था के लिये निर्धारित करते हैं। उनका ही परित्याग करने की बात कही गयी है।

चार हस्त परिमित समचतुर्भुज में इस प्रकार रेखा विभाग पूर्ण करने पर २५६ चक्रात्मक एक चतुर्भुज चित्र निर्मित हो जाता है। सारे क्षेत्र को २४ से विभक्त करने पर ५७६ कोष्ठक अर्थात् २४×२४ अथवा ५७६÷२४ विधि से गणित करने पर पूरा श्लोकार्थ घटित हो जाता है। बिना सिद्धातन्त्र का सहारा लिये इस श्लोक के ही आधार पर चक्र बनाना कठिन होता। इसीलिये आचार्य जयरथ ने इस सूत्रात्मक श्लोक की व्याख्या सिद्धातन्त्र के आधार पर ही की है ॥ १० ॥

दो ब्रह्म सूत्र एक रेखा में दोनों सुमेरुओं को मिला कर सीध में रखे जाँय, तो दोनों सुमेरुओं के मिलन बिन्दु को 'ब्रह्म पद' की संज्ञा प्रदान करते हैं। वह एक अवधि होती है। अवधि सीमान्त रूपा मानी जाती है। दोनों ब्रह्मसूत्रों का वह सीमान्त मिलन स्थल होता है। वही 'ब्रह्म पद' संज्ञा से विभूषित है। उस ब्रह्म बिन्दु से आरम्भ कर सूत्र की चार ऊपरी सूत्रिकायें ऊपर खींचनी चाहिये। शेष बची दो सूत्रिकायें तिर्यक् भाव

ततस्तिर्यग्व्रजेत् सूत्रं चतुर्थं तदनन्तरे ॥ १२ ॥
कोष्ठे चेन्दुद्वयं कुर्याद्बहिर्भागार्धभागतः ।
तयोर्लग्नं ब्रह्मसूत्रात्तृतीये मर्मणि स्थितम् ॥ १३ ॥
कोष्ठकार्धेऽपरं चेति युग्ममन्तर्मुखं भवेत् ।
ब्रह्मसूत्राद्द्वितीयस्मिन् हस्ते मर्मणि निश्चलम् ॥ १४ ॥

तत इति अवधितया कृतात् ब्रह्मपदादारभ्येत्यर्थः । सूत्रमिति नतु कोष्ठकम् । आदित इति ऊर्ध्वक्रमेण । तत इति लक्ष्योकृतात् चतुर्थात् सूत्रात् । तिर्यगिति पार्श्वगत्या । तदनन्तरे इति तत्समीपवर्तिनोत्यर्थ, तेन चतुर्थ-सूत्रात्मनि मर्मस्थाने वामहस्तं निवेश्य ब्रह्मसूत्रापेक्षया चतुर्थस्य तन्मर्मोपरि-वर्तिनः कोष्ठकस्य अर्धादारभ्य तदधस्तनकोष्ठकं यावत् बहिः, नतु अन्तर्भागार्धभागमानमवलम्ब्य इन्दुद्वयं भ्रमगत्या कुर्यात् । ब्रह्मसूत्रात् तृतीये मर्मणि स्थितमिति तदाश्रित्य स्थितमित्यर्थः तेन तृतीये मर्मणि दक्षिणं हस्तं निवेश्य कोष्ठके तदर्धे च वामेन हस्तेन भ्रमणादन्तर्मुखं, नतु बहिर्मुखं, तयोः तमनन्तरवर्तितयोश्चन्द्रयोः संश्लिष्टमन्यच्चा चन्द्रद्वयं कुर्यात् । ब्रह्मसूत्रापेक्षयेव च द्वितीयस्मिन् मर्मणि वामहस्तं दृढं निधाय अर्थादाद्येन्दुद्वयसंलग्नमन्यदपि पूर्णं, नतु अनन्तरवर्तितेन्दुवदर्धमिन्दुयुगलं, वर्तनीयम् ॥ १२-१४ ॥

से अगल-बगल की ओर उठती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि, दो चाँद की आकृतियाँ ऊपर नीचे उभर आती हैं। इन्हें 'इन्दुद्वय' की संज्ञा प्रदान की गयी है। ऊपर का चतुर्थ सूत्र मध्य में पकड़ कर ऊपर खींचने का स्थान यह मध्य बिन्दु चतुर्थ सूत्र का मर्म बिन्दु माना जाता है। वह मर्म बिन्दु ऊपर के जिस कोष्ठ में पड़ता है, उस कोष्ठ के आधे से आरम्भ कर उसके निचले कोष्ठ की सीमा तक चाँद की निचली सीमा भी लगती है। यह एक शब्द चित्र है। इसमें इन्दु, मर्म, ब्रह्मपद आदि पारिभाषिक शब्द हैं। इन्हें ताम्रपत्र आदि फलकों पर उकेर कर जो कोष्ठक बनेंगे, वे प्रत्यक्ष प्रत्यायक हो सकते हैं। चतुर्थ सूत्र का जो मध्य मर्म बिन्दु है, वह तृतीय मर्म बिन्दु

कृत्वा पूर्णेन्दुयुगलं वर्तयेत विचक्षणः ।
ब्रह्मसूत्रगतात् षष्ठात् तिर्यग्भागात्तृतीयके ॥ १५ ॥
कृत्वार्धकोष्ठके सूत्रं पूर्णचन्द्राग्रलम्बितम् ।
भ्रमयेदुन्मुखं खण्डचन्द्रयुग्वह्निभागगम् ॥ १६ ॥

तेन ब्रह्मसूत्रादूर्ध्वगत्या द्वितीय-भागान्तं नयेत् येन अत्र वक्ष्यमाणक्रमेण गण्डिकासंश्लेषः स्यात्। अत एव विचक्षण इति उक्तम्। ब्रह्मसूत्रगतादिति ब्रह्मपदमवधिं कृत्वा स्थितादित्यर्थः। षष्ठात् भागादिति, सूत्रात पुनः सप्तमात्। तृतीयके इति ऊर्ध्वगत्या पूर्णेति पाश्चात्यद्वितीयचन्द्रापेक्षया। यत् वक्ष्यति खण्डेन्दोः पश्चिमादिति, तेन द्वितीयार्धकोष्ठकसूत्रपृष्ठे दक्षिणं हस्तं निवेश्य अन्तःस्थपूर्णचन्द्राग्रादारभ्य उन्मुखमूर्ध्वमुखं वह्न्युप [ल] क्षितत्रित्वविशिष्टभागपर्यन्तं सूत्रं भ्रमयेत्। कथमित्याह खण्डचन्द्रयुमिति खण्डचन्द्रेण युज्यते सोऽत्रास्ति तदाकारमिति यावत् ॥ १५-१६ ॥

तक खींचा जाता है। इसमें जिस तरह सौविध्य हो, उसी तरह बनाना चाहिये। एक सहस्र वर्षों के परिवर्तनशील काल क्रम में इन उच्छिन्न विधियों का पुनः प्रवर्त्तन अप्रासङ्गिक नहीं माना जा सकता। इनमें सारी सृष्टि को मौलिक सृजनशीलता का परामर्श स्वाभाविक रूप से हो जाता है ॥ ११–१३ ॥

तीसरे मर्म बिन्दु पर दाहिना हाथ रखकर डेढ़ कोष्ठकों को बायें हाथ से घुमाने पर अन्तर्मुख चन्द्रयुगल और पहले वाला बहिर्मुख चन्द्रयुग्म कहलाता है। इस तरह चित्र में चार चाँद बन जाते हैं और निर्मिति में चार चाँद लग जाते हैं। ब्रह्मसूत्र की अपेक्षा सूत्र के द्वितीय मर्मबिन्दु पर बायें हाथ से दबाव देकर आद्य (पहले वाले) इन्दुयुगल के साथ संलग्न अन्तर्मुख चन्द्रयुगल भी परिपूर्ण माना जाता है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, साथ में संलग्न अर्थात् अनन्तरवर्ती इन्दु की तरह वे इन्दु युगल

तिर्यग्भागद्वयं त्यक्त्वा खण्डेन्दोः पश्चिमात्ततः ।
कोणं यावत्तथा स्याच्च कुर्यात् खण्डं भ्रमद्वयम् ॥ १७ ॥
सुतीक्ष्णकुटिलाग्रं तदेकं शृङ्गं प्रजायते ।
द्वितीयस्मिन्नपि प्रोक्तः शृङ्ग एष विधिः स्फुटः ॥ १८ ॥
मध्यशृङ्गेऽथ कर्तव्ये तृतीये ऊर्ध्वकोष्ठके ।
चतुर्थार्धे च चन्द्रार्धद्वयमन्तर्मुखं भवेत् ॥ १९ ॥

ततोऽपि तृतीयादर्धकोष्ठकात् तिर्यग्भागद्वयं त्यक्त्वा अर्थात् तद्द्वितीयभागसूत्रार्धपृष्ठे दक्षिणं हस्तं निवेश्य पश्चिमात् पुनः खण्डेन्दोरारभ्य तत्सूत्रसमनन्तरवर्तितखण्डेन्दुप्रान्तकोटिरूपं कोणं यावच्च भ्रमयेत् येन भ्रमणं खण्डचान्द्रयुक् स्यादित्येवं खण्डं, नतु पूर्णं भ्रमद्वयं कुर्यात् येन सुतीक्ष्णकुटिलाग्रं शृङ्गं स्यात् तत इति आद्यादिति च पाठे तु ततः पश्चिमात् खण्डेन्दोरारभ्य आद्यात् प्रथमवर्तितात् खण्डचन्द्रात् ग्रामात्पूर्वमिति कोणं यावदिति व्याख्येयम्, नतु पूर्ववाक्ये चन्द्रयुगति चन्द्रयुगमुत्तरत्र च पश्चिमादाद्याच्च खण्डेन्दोः खण्डं भ्रमद्वयं कुर्यादित्यादिना इन्दुद्वयस्यैव वर्तनीयतया प्रकान्तत्वादाद्यशब्दस्य परामर्शनीयत्वाभावादानर्थक्यात् च । एतदेव शृङ्गान्तरेपि अतिदिशति द्वितीयस्मिन्नित्यादिना, अत्र तु पाणिविनिवेश एक अन्यथेति विशेषः एवं पार्श्वशृङ्गद्वयवर्तनामभिधाय मध्यशृङ्गवर्तनामपि आह मध्येत्यादि । तृतीयेति ब्रह्मसूत्रापेक्षया । ऊर्ध्वेति नतु तिर्यक् । अन्तर्मुखमिति नतु बहिर्मुखम् ॥ १७-१९ ॥

आधे नहीं माने जाते हैं । वे पूर्ण ही होते हैं । इसलिये ब्रह्मसूत्र को ऊर्ध्वगति की दृष्टि से ऊपर ही ले जाना होता है । सूत्रों को ऊपर खींचने से बनने वाले इस चन्द्रचित्र का यह सूत्रात्मक वर्णन चित्र के बिना अधूरा लगता है ।

स्वयं ब्रह्मसूत्र शब्द भी अपरिभाषित है । तांत्रिक दृष्टि से वैदिक कर्मकाण्ड के यज्ञोपवीत अर्थ में प्रयुक्त ब्रह्मसूत्र शब्दों का वही अर्थ गृहीत है ?

तच्च पूर्णेन्दुमेकं प्राग्वर्तितं प्राप्नुयाद्यथा ।
अन्योन्यग्रन्थियोगेन बद्धारत्वं प्रजायते ॥ २० ॥
एवं द्वितोयपार्श्वेऽस्य खण्डेन्दुद्वयवर्तनात् ।
मध्याभ्यां गण्डिका श्लिष्टा पराभ्यामग्रतो नयेत् ॥ २१ ॥
सूत्रं पार्श्वद्वये येन तीक्ष्णं स्यान्मध्यशृङ्गगम् ।
पार्श्वद्वयाधरे पश्चाद्ब्रह्मसूत्रं द्वितीयकम् ॥ २२ ॥
अवधानेन संग्राह्यमाचार्येणोहवेदिना ।
भवेत्पश्चान्मुखो मन्त्री तस्मिंश्च ब्रह्मसूत्रके ॥ २३ ॥
मध्यशृङ्गं वर्जयित्वा सर्वः पूर्वोदितो विधिः ।

तदिति अर्धचन्द्रद्वयम् । एकमिति एकमेकं, तेन पूर्णेन्दुद्वयमपीत्यर्थः । अत्रैव प्रयोजनमाह यथेत्यादि । एतदेव पार्श्वान्तरेऽपि अतिदिशति एवमित्यादिना । अस्येति मध्यशृङ्गस्य । श्लिष्टेति ऊर्ध्वाधरमेलनया । नयेदिति क्षेत्रान्तम् । एव पूर्वक्षेत्रे वर्तनमभिधाय परत्रापि वक्तुमुपक्रमते पार्श्वेत्यादिना । द्वितोयकमिति अपरार्धगतत्वात् ऊहवेदिनेति अतिदेशाद्यर्था वधारणनैपुण्यात् । एवं च अनेन किं कार्यमित्याह भवेदित्यादि । मध्यशृङ्गं वर्जयित्वेति तत्स्थाने दण्डस्य वर्तयिष्यमाणत्वात् ॥ २०-२३ ॥

अथवा तन्त्र गृहीत पञ्चब्रह्म शब्द से इसका कोई सम्बन्ध है, यह स्पष्ट नहीं है। मैंने ब्रह्म सूत्र का अर्थ वैदिक कर्मकाण्ड-गृहोत यज्ञोपवीत अर्थ ही लिया है। इसी के छः सूत्रों को गोलाकार रखने से छः वृत्त और अन्तर के पाँच भाग बनते हैं। इसो तरह दूसरे ब्रह्मसूत्र को उसके पार्श्व में उसी तरह ऐसे रखा जाता है, जिसमें दोनों के ब्रह्मबिन्दु एक साथ मिले हुए हों। इस तरह एक साथ दो त्रित्रिशूलाब्ज मण्डल निर्मित किये जा सकते हैं। इसके ऊहात्मक चित्र बनाने के लिये एक तान्त्रिक परिषद् का गठन होना चाहिये। तभो निर्णयात्मक निर्धारित परिभाषाओं के अनुसार ये चित्र बनाये जा सकते हैं ॥ १४-१५ ॥

इदानीं दक्षिणोत्तरपार्श्वयोः शृङ्गवर्तनामह

ततो यदुन्मुखं खण्डचन्द्रयुग्मं पुरोदितम् ॥ २४ ॥
ततो द्वयेन कर्तव्या गण्डिकान्तःसुसंगता ।
द्वयेनाग्रगसूत्राभ्यां मध्यशृङ्गद्वयं भवेत् ॥ २५ ॥

पुरेति पूर्वशूलवर्तनावसरे । सुसङ्गतेति पार्श्वशृङ्गयोः ॥ २४-२५ ॥

तदनन्तर अर्धकोष्ठक तक सूत्र को ले जाना चाहिये। यह वही सूत्र होता है, जो पूर्णचन्द्र के अग्रभाग पर्यन्त लम्बित है। उसे उन्मुख अवस्था में घुमाकर खण्डचन्द्र से संयुक्त करना चाहिये। यह वह्निभाग अर्थात् तीन भाग तक पहुँचता है। द्वितोयार्ध कोष्ठक के पृष्ठ भाग पर दाहिना हाथ रखकर अन्तःस्थ अन्तर्मुखकोष्ठ से ही समन्वित सूत्र को भ्रमि प्रदान करनी चाहिये। ब्रह्मसूत्र के इस सूत्र को उन्मुख करने पर वह जिस निर्धारित कोष्ठक पर पहुँचता है, उससे तिरछे पड़ने वाले तीसरे अर्धकोष्ठ से दो भागों को छोड़कर अर्थात् उसके द्वितीय भाग के सूत्रार्ध के ऊपर दाहिना हाथ निविष्ट कर उसके पश्चिम भागस्थ खण्डचक्र के प्रान्त के अग्रभाग की तरह निकले कोण को लक्ष्य कर सूत्रभ्रमि करने से एक शूलाग्र का चित्र उभरता है। इस शृङ्ग को सुतीक्ष्ण कुटिलाग्र शूलशृङ्ग कहते हैं। यह त्रित्रिशूलाब्ज का प्रथम शृङ्ग माना जाता है। इस प्रसङ्ग में आचार्य जयरथ ने कई प्रकार की भ्रान्तियों के निवारण का प्रयास किया है। सच्चायी यह है कि, उनके समय में भी मण्डल मिर्माण सम्बन्धी भ्रान्तियों का जन्म हो चुका था। द्वितोय शूलशृङ्ग में भी यही विधि अपनायी जानी चाहिये ॥ १६-१८ ॥

शूलशृङ्ग निर्माण में कोष्ठकों का ही आश्रय लेना पड़ता है। विना कोष्ठक निर्माण किये शूल शृङ्गों के पैमाने में अन्तर पड़ना स्वाभाविक है। मध्य शूल शृङ्ग के निर्माण के अवसर पर तीसरो संख्या का ऊर्ध्व कोष्ठक

देखकर उसके अनुसार निर्माण प्रारम्भ करना चाहिये। यह तीसरा कोष्ठक ब्रह्मसूत्र को स्थिति से ही परिगणनीय है। ऊर्ध्व शब्द के प्रयोग से यह निश्चित हो जाता है कि, तिर्यक् कोष्ठक की ओर नहीं बढ़ना चाहिये। वहाँ तक सूत्र कर्षण से चतुर्थ कोष्ठक के अर्धभाग पर्यन्त दो अन्तर्मुख चन्द्र की आकृति उभर आती है। वे उभय चन्द्र मिलकर एक चन्द्र के समान ही होते हैं।

प्रावर्त्तित चन्द्र की एकरूपता जिस तरह आ सके, इसका ध्यान रखना चाहिये। सूत्र के एक दूसरे पर कर्षण से जहाँ एक दूसरे को काटने वाले बिन्दु बनते हैं, वही ग्रन्थियाँ कहलाती हैं और वहाँ से जो सूत्र आगे बढ़ते हैं, वे 'अर' कहलाते हैं। इसे शास्त्रकार 'बद्धारत्व' कहते हैं।

इसी तरह मध्यशृङ्ग के द्वितीय पार्श्व में खण्डचन्द्र युग्म का निर्माण होता है। इसमें एक दूसरी रेखायें जहाँ स्पर्श करती हैं, उस स्पर्श विन्दु को 'गण्डिका कहते हैं। उस गण्डिका श्लेष को ऊपर भी खींचने से दोनों के मिलन स्थल पर एक शृङ्ग का उदय हो जाता है। यह तीक्ष्ण शृङ्ग होता है। ऊहवेदी अभ्यस्त गुरु ही इसे अच्छी तरह सम्पन्न कर सकता है। ऊह शब्द भी परम्परा के ह्रास की ओर संकेत करता है। यह मध्यशृङ्ग की विधि है। इस प्रकार श्लोक ११ से २३½ तक त्रित्रिशूलशृङ्ग का निर्माण पूरा होता है ॥ १९-२३ ॥

इसके बाद दाहिने-बायें पार्श्व भाग में बनने वाले शृङ्गों के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं—

खण्ड चन्द्रयुग के विषय में पहले चर्चा की जा चुकी है। वही निर्मिति के प्रसङ्ग में जब उन्मुख होते है, तभी गण्डिका स्पर्श विन्दु के भीतर उन्हें सुसंगत करना चाहिये। चतुर्थ और पञ्चम सूत्र जो ऊर्ध्व की ओर उठाये गये हैं, उन्हीं में दो मध्यशृङ्ग भी निर्मित हो जाते हैं। इस निर्मिति में दो अग्रगामी सूत्रों की सहायता ली जाती है ॥ २४-२५ ॥

एवमत्र त्रिशूलत्रयं वर्तयित्वा तदधोवर्ति पद्माद्यपि वर्तयितुमाह

अधोभागविवृद्धयास्य पद्मं वृत्तचतुष्टयम् ।
ततश्चक्रं षोडशारं द्वादशारं द्विधाथ तत् ॥ २६ ॥
मध्ये कुलेश्वरोस्थानं व्योम वा तिलकं च वा ।
पद्मं वाथ षडरं वा वियद्द्वादशकं च वा ॥ २७ ॥
त्रित्रिशूलेऽत्र सप्तारे श्लिष्टमात्रेण मध्यतः ।
पद्मानामथ चक्राणां व्योम्नां वा सप्तकं भवेत् ॥ २८ ॥
मिश्रितं वाथ संकीर्णं समासव्यासभेवतः ।

अधोऽस्येति शूलस्य, दण्डस्य तु उपरिष्टात् । तस्य हि अध एव अवस्थानमुचितम् । अत एव एषां शूलेन अन्तराच्छादनम्, एभिस्तु दण्डस्येति । अत एव उक्तं

'..............पञ्च तद्भागाः पद्मपीठतिरोहिताः ।' इति ।

यहाँ द्वादशार, षोडशार और चतुर्विंशत्यर पद्मों का वर्णन कर रहे हैं—

शूल के अधाभाग और दण्ड के ऊपरी भाग में चार वृत्तों में निर्मित पद्म की आकृति का उदय एक आकर्षण का केन्द्र बनता है। इन पद्मों से उनके दण्ड आच्छादित रहते हैं। अरों के भाग की वृद्धि एक-एक कर होती है। इसे शास्त्रकार भाग विवृद्धि कहते है। निर्माण की वेला में इनका वर्धन आचार्य करता है। इस तथ्य का समर्थन सिद्धातन्त्र के उद्धरण से आचार्य जयरथ ने किया है। उसके अनुसार उसके—"पाँच भाग होते हैं। इनमें पद्मभाग, पीठभाग और तिरोहित भाग परिगणित हैं।"

पद्ममध्य में कुलेश्वरी देवी का अधिष्ठान माना जाता है। वह व्योम रूप रिक्त कोष्ठक से समन्वित अथवा तिलक अर्थात् बिन्दुओं से व्यवस्थित किया जाता है। इसके अनुसार प्रथमतः पद्म, द्वितीयतः व्योम और तृतीय

भागवृद्धयेति एकद्वयादिक्रमेण । द्विधा तदिति चतुर्विंशत्यरम्, तेन आदौ द्वादशारं, ततः षोडशारं चतुर्विंशत्यरं चेति तिलकमिति बिन्दुमात्रकम् । श्लिष्टमात्रेणेति नतु आच्छादकत्वेन । वाशब्दो विकल्पे । साङ्करोऽत्र समस्तत्वे पद्मचक्रव्योम्नां व्यस्तत्वे वा पद्मचक्रयोः पद्मव्योम्नोश्चक्रव्योम्नोर्वा एकस्मिन्नरे । स्थितिमिश्रत्वं तु पृथगरेषु अवस्थानम् । तेन एकस्मादारभ्य षड्यावत् द्विकेषु परत्र तदेककेषु षट् प्रकाराः । एवं त्रिकाणामेककैः सह षडेव । एवं द्विकानामपि त्रिकैः सह षट् । त्रयाणां मिश्रतायामेकस्य पञ्चधा स्थितावेकत्र त्रिकं एकत्र पञ्चसु एककानीति एकः एकत्र एककमेकत्र त्रिकं पञ्चसु द्विकानीति द्वितीयः, एकत्र एककं एकत्रं द्विकं पञ्चसु त्रिकाणीति तृतीय इति त्रयः । चतुर्धा स्थितौ तु एक त्रिकं द्वयोर्दिके चतुर्षु एककानीति एकः, एकत्र द्विकं द्वयोस्त्रिके चतुर्षु एककानीति द्वितीयः एकत्र एककं द्वयोर्द्विके चतुर्षु त्रिकाणीति तृतीयः, एकत्र एककं द्वयोस्त्रिकं चतुर्षु द्विकानीति चतुर्थः, एकत्र त्रिकं द्वयोरेकके चतुर्षु द्विकानीति पञ्चमः, एकत्र द्विकं द्वयोरेकके

क्रम में तिलक का नाम आता है। ये पद्म, षडर-द्वादशार-चतुर्विंशत्यर, चक्र और व्योम के साङ्कर्य से समन्वित त्रिशूल भाग-वृद्धि के क्रम से षडर और सप्तार भी होते हैं। समस्त और व्यस्त दो क्रमों में इनकी भेदवादिता भी यहाँ विमृश्य है।

कभी पद्म और चक्र का, कभी पद्म और व्योम का, कभी चक्र और व्योम का सांकर्य होता रहता है। यह स्थिति एक 'अर' में भी आ सकती है। कभी स्थितिमिश्रता भी हो जाती है। पृथक्-पृथक अरों में भी यह सम्भव है। पद्म-चक्र, पद्म-व्योम एवं चक्र-व्योम के दो अरों को मिलाकर इनकी षट्-प्रकारता यहाँ विचारणीय है। पञ्चधा स्थिति में ३, ३ (४, ५, ६) ३, ३ भेदक्रम आते हैं। इनमें ३३ रूपात्मक आकृतियाँ निर्मित होती हैं। ३३ भेद के अतिरिक्त क्रम व्यत्यय के कारण ३५, २४५, २५० भेद होते हैं। इनकी संमिश्रित अवस्था में अनन्त भेदों की सम्भावना हो जाती है। ये सारी

चतुर्षु त्रिकाणीति षष्ठ इति षट्। त्रिधा स्थितौ तु द्वयोर्द्विके द्वयोस्त्रिके त्रिषु एककानीति एकः द्वयोर्दिके द्वयोरेकके त्रिषु त्रिकाणीति द्वितीयः, द्वयोस्त्रिके द्वयोरेकके त्रिषु द्विकानीति तृतीयः इति त्रयः। द्वयोस्त्रिधा स्थितौ तु एकत्र एककं त्रिषु द्विकानि त्रिषु त्रिकाणीति। एकः एकत्र द्विकं त्रिषु एककानि त्रिषु त्रिकाणीति द्वितीयः, एकत्र त्रिकं त्रिषु द्विकानि त्रिषु एककानीति तृतीयः इति त्रय एवेत्येवं त्रयस्त्रिंशत्। आदौ पद्मं, तदनु चक्रम्, आदौ वा चक्रं तदनु पद्ममित्यादिरूपेण क्रमव्यत्ययादिना संकरादौ द्विकान्येव अरासप्तके मिश्रीक्रियन्ते इति विशेषाभिधानेऽनेकप्रकारप्रसङ्गादेकः प्रकारः। एवं त्रिकाणामपि क्रमव्यत्ययेन संकीर्णतायामेक इति पञ्चत्रिंशत्। एषामेव अरासप्तके स्थितिनैयत्येन सप्तभिर्गुणने पञ्चचत्वारिंशदधिकं शतद्वयं भवति। केवलानि पद्मानि चक्राणि व्योमानि वा सर्वत्रेति त्रयः प्रकाराः, त्रयमपि सर्वत्र चेत्येकः, द्विकान्यपि सर्वत्रेति प्रकारोऽपि विशेषाभिधानेऽनेकप्रकारप्रसङ्गात् द्विकत्व-

---

आकृतियाँ ऊहात्मक हैं। न तो शास्त्रकार की कारिकाओं से और न ही जयरथ के 'विवेक' से इनका स्पष्टीकरण हो रहा है। अतः यह मेरे द्वारा प्रवर्त्तित इस सन्दर्भ का भाष्य भी ऊहात्मक है। इसमें पद्म, चक्र और व्योम की स्थितियों का विद्वद्वर्ग द्वारा आकलन आवश्यक प्रतीत होता है। आचार्य जयरथ ने इसे स्पष्ट करने का पूरा प्रयत्न किया है। सङ्कर भाव को उन्होंने पद्म, चक्र और व्योम के सम्मिश्रण, समस्त और व्यस्त दृष्टियों से व्याख्यायित किया है। एक 'अर' में ही पद्म और चक्र का, पद्म और व्योम का तथा चक्र और व्योम का व्यामिश्रण होता है। पद्मचक्र, पद्मव्योम और चक्रव्योम ये तीन द्विक हैं। पद्म, चक्र और व्याम का एक त्रिक है। द्विक और त्रिक दोनों दृष्टियों से छः प्रकारता ही सिद्ध होती है। आचार्य जयरथ ने द्विकों और त्रिकों की मिश्रता का सुन्दर विवेचन किया है और स्पष्ट कह दिया है कि; कुल मिलाकर त्रयस्त्रिंशत् प्रकार होते हैं। पहले पद्म, इसके बाद चक्र अथवा पहले चक्र उसके बाद पद्म इत्यादि रूप से इसमें क्रमों का व्यत्यय

सामान्यादेक एवेत्यमिश्रभेदा अरासप्तकेऽपि एकरूपत्वात् विशेषाभावात् पञ्चेति सार्धं शतद्वयं। एषु च प्रकारेषु त्रिकादीनां क्रमव्यत्ययादिना सङ्करे त्रिकद्विकैकानां च मिश्रतायामनेकप्रकारोदयादानन्त्यमिति न तत्परिगणनम्। ॥ २६-२८ ॥

इदानीं सर्वतोऽवस्थापितं विभागरूपं क्षेत्रं गृहीतुमाह

ततः क्षेत्रार्धमानेन क्षेत्रं तत्राधिकं क्षिपेत् ॥ २९ ॥

ततस्त्रिशूलपद्मचक्रादिवर्तनानन्तरं तत्र षोडशभागविभक्ते चतुःषष्ट्यङ्गुलात्मनि परिगृहीते क्षेत्रे अधिकं क्षेत्रं क्षिपेत् चिकीर्षितदण्डद्वारादिवर्तनार्थं गृह्णीयादित्यर्थः। ननु अधिकं नाम अत्र किं प्राक् सर्वतस्त्यक्तक्षेत्राभिप्रायेणैव विवक्षितमुत अन्यथापीत्याशङ्क्य आह क्षेत्रार्धमानेनेति त्रिशूलादिवर्तनार्थं परिगृहीतस्य क्षेत्रस्य द्वात्रिंशदङ्गुलात्मकं भागाष्टकरूपं यदर्धं, तन्मानेनेत्यर्थः। तेन प्रतिपादिक्कं षोडशाङ्गुलाश्चत्वारो भागाश्च भवन्तीति भावः ॥ २९ ॥

स्वाभाविक रूप से संभव है। सात अरों में इन्हीं द्विकों का व्यामिश्रण होता है। त्रिकों के क्रम व्यत्यय में ही ३३, ३५, २४५, २५० आदि भेद उल्लिखित हैं। त्रिक, द्विक और एककों के क्रमव्यत्यय में अनन्त भेदों का आकलन विचारणीय है ॥ २६-२८½ ॥

जहाँ तक मण्डल का प्रश्न है, इसके लिये सोलह भागों से विभक्त ६४ अंगुल के परिगृहीत क्षेत्र में और अधिक अंश लिया जा सकता है। अभिलषित दण्ड और द्वार आदि की वर्त्तन की दृष्टि से इस क्षेत्र का प्रयोग शास्त्र द्वारा समर्थित है। ६४ अङ्गुल का अर्धमान ३२ अङ्गुल होता है। इसके आठ भाग पहले से निर्धारित रहते हैं। ६४ अङ्गुल के चार भाग १६-१६ अङ्गुल के भी निर्धारित हैं। मण्डल में हर एक प्रक्रिया

एवमधिके क्षेत्रे क्षिप्ते किं कार्यमित्याह

तत्र दण्डः स्मृतो भागः षडरामलसारकः ।
सुतीक्ष्णाग्रः सुरक्ताभः क्षणादावेशकारकः ॥ ३० ॥

को पूर्ण करने के लिये आचार्य को यह अधिक अंश ग्रहण करना अनिवार्य हो जाता है ॥ २९ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, इस अधिक क्षेत्र को लेकर क्या विशेष कार्य किया जाता है ?

आचार्य जयरथ ने श्लोक २९ के 'विवेक' में यद्यपि यह स्पष्ट कर दिया है कि, 'चिकीर्षित दण्डद्वारादिवर्त्तनार्थं गृह्णीयादिति' अर्थात् अभिलषित दण्डवर्त्तना और द्वार वर्त्तना के उद्देश्य से ही अधिक भूमि का अधिग्रहण करना चाहिये फिर भी शास्त्रकार उससे अधिक स्पष्ट रूप से घोषणा कर रहे हैं कि,

वहाँ दण्ड ही प्रयोज्य हैं। दण्ड के यहाँ कई विशेषण दिये गये हैं। पहला विशेषण 'षडरामलसारक' है। २. सुतीक्ष्णाग्र, ३. सुरक्ताभ और ४. क्षणाद् आवेशकारक हैं। इन चार विशेषणों में विशेषतः प्रथम और चतुर्थ विचारणीय हैं।

१. षडरामलसारक—इस शब्द की विशिष्ट व्याख्या श्रीतन्त्रालोक पञ्चम खण्ड आ० १५।२९९ के नीरक्षीर विवेक में की गयी है। यह षडर के साथ आमलसारक का प्रयोग है। षडर छः अरों वाला दण्ड अर्थ में प्रयुक्त है। बहुत से दण्ड ऐसे बनाये जाते हैं। दण्ड में यदि छः गाँठें छ. छः अंगुल पर अरानुमा बनायी जाँय, तथा शिरो भाग और निम्न भाग को मिलाया जाय, तो यह दण्ड ७ भाग में विभक्त होगा और बीच के छः अरे भी होंगे। यह षडर दण्ड होता है। यहाँ आमलसारक शब्द का प्रयोग अष्टम अधिकार श्लोक ५६ में हुआ है। वहाँ भी दण्ड के सन्दर्भ में ही प्रयुक्त है। आमलसारक भौतिक दृष्टि से गाँठ ही है, जहाँ सारतत्त्व का अधिष्ठान है। निचली गाँठ

या सा कुण्डलिनी देवी तरङ्गाख्या महोर्मिणी ।
सा षडश्रेण कन्दाख्ये स्थिता षड्देवतात्मिका ॥ ३१ ॥
अष्टभागैश्च विस्तीर्णो दीर्घश्चापि तदर्धतः ।
ततो द्वाराणि कार्याणि चित्रवर्तनया क्रमात् ॥ ३२ ॥

भाग इति आयामात् दण्डामलसारयोरित्येव व्याप्तिमाह या सेत्यादिति। षडश्रेणेति उपलक्षिते । षड्देवतात्मिकेति । यदुक्तं

पीपल के पत्र की तरह होती है, जिसका मध्यभाग मोटा और निचला भाग नुकीला होता है, जैसे चलदल का भाग । धरा, सुरोद, पोत और कन्द यही चार चतुरङ्ग शूल के अरे के समान है । यह दण्ड पूरे विश्व को धारण करने की शक्ति से समन्वित होता है । सारक शब्द सारतत्त्व अर्थ में आता है और शैवनैर्मल्य से विभूषित होता है। इसका नाम भी 'अनन्त' रखा जाता है, जो रुद्र रूप है । यह षडर दण्ड भी अनन्त रुद्र का प्रतीक है ।

इस दण्ड का अग्रभाग शङ्कुवत् तीक्ष्ण होता है। आकर्षक और सुरुचिपूर्ण रंग से रँगे होने के कारण आभामय होता है। उसे देखने मात्र में सहृदय भक्तिमान् पुरुष शैव आवेश से सराबोर हो उठता है। ऐसे दण्ड का प्रकल्पन मण्डल में आवश्यक कर्त्तव्य के रूप में स्वीकृत है। श्लोक में 'भाग' शब्द का प्रयोग है, जो दण्ड और उसकी छः गाँठों की व्यक्ति के अंशों का सूचक है। मण्डल का पूरा आयाम, उसमें दण्ड प्रकल्पन और उसकी षडरामलसारकता एक विशेष लक्ष्य की ओर संकेत करते हैं।

वस्तुतः इस स्थूल शरीर में एक सूक्ष्मतम सर्वशक्तिमती महोर्मिमयी कुण्डलिनी शक्ति का अधिष्ठान है। वह षडश्र समन्विता षड् देवतात्मिका महामाया कन्द में अवस्थित रहती हैं। आचार्य जयरथ ने बिना सन्दर्भ का संकेत दिये, उन छः देवियों के नामों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं—

'हाहारावा महारावा घोरघोषा भयंकरी ।
फेङ्कारिणी महाज्वाला कन्दे षड्रसलम्पटाः ॥' इति ।

अष्टभागैरिति भागशब्दोऽङ्गुलवचनः, तेन द्वाभ्यां भागाभ्यामित्यर्थः । विस्तीर्ण इति अर्थादमलसारकः । तदर्धत इति चतुर्भिरङ्गुलैः । तत इति दण्डवर्तनानन्तरम् ॥ ३०-३२ ॥

"हाहारावा, महारावा, घोरघोषा, भयङ्करी, फेङ्कारिणी और महाज्वाला । ये सभी षड्रस-लाम्पट्यमयी हैं देवियाँ मानी जाती हैं । यहाँ लम्पट शब्द लालसा लालित अर्थ में प्रयुक्त है ।''

आठ भागों में यह विस्तीर्ण है । आचार्य जयरथ के अनुसार भाग शब्द अङ्गुलवाचक है । इस तरह आठ अङ्गुल विस्तीर्ण और उसके अर्द्धभाग अर्थात् चार अङ्गुल दीर्घ दण्ड का प्रकल्पन यहाँ किया यया है । यह बात कुछ जँच नहीं रही है । दीर्घ अर्थात् लम्बाई सर्वदा बड़ी होती है । वहीं विस्तार अर्थात् चौड़ाई कम होती है । यहाँ विस्तीर्ण ही अष्टभाग और दीर्घ अष्ट भाग का अर्ध भाग लिखा गया है । यह श्लोक

'अष्टभागैश्चदीर्घः स्यात् विस्तीर्णश्च तदर्धतः' होना चाहिये था । तभी विस्तीर्ण अमलसारक रूप से घटित होगा ।

मेरी दृष्टि से भाग शब्द अङ्गुल वाचक नहीं है । ७५६ लघुचतुर्भुजों में विभाजित खानों में बीच के आठ खाने लम्बाई में और चार खाने चौड़ाई में दण्ड बनाना चाहिये । इस तरह दण्ड प्रकल्पन से कुण्डलिनी योग की तारङ्गिकता घटित हो सकती है । इस विपर्यय दृष्टि के लिये अपने मान्य परम गुरु जयरथ से क्षमा याचना कर रहा हूँ ।

इस तरह के दण्ड प्रकल्पन के अनन्तर द्वार रचना की चर्चा कर रहे हैं । द्वार रचना की चित्रवर्त्तना का एक क्रम होता है । उसी के अनुसार द्वार संरचना का उपक्रम विज्ञान संमत है ।। ३०-३२ ॥

चित्रामेव वर्तनां दर्शयति

वेदाश्रायतरूपाणि यदि वा वृत्तमात्रतः ।

दण्डद्वारवर्तना च अग्रत एव भविष्यतीति न इह विभज्य व्याख्यातम् ॥

इदानीं शृङ्गवर्तनामेव भेदमुखेन निर्दिशति

स्पष्टशृङ्गमथो कुर्याद्यदि वा वैपरीत्यतः ॥ ३३ ॥

द्वार रचना की चित्र वर्त्तना का वर्णन भविष्यत्संदर्भ वश आगे के आह्निक में किया जाना है। यहाँ इतना सूचित कर रहे हैं कि, वेद अर्थात् चार, अश्र अर्थात् कोण और आयत अर्थात् लम्बाई अधिक और चौड़ाई कम वाले चतुष्कोण चतुर्भुज रूप दण्ड और द्वार दोनों निर्मित करने चाहिये। ऐसी सम्भावना न होने पर इसे वृत्ताकार भी बनाया जा सकता है। प्रचलन में आयताकार द्वारों का ही निर्माण है। यों वृत्ताकार (मेहराबदार) द्वार भी शास्त्र द्वारा स्वीकृत हैं।

दण्ड निर्माण में कलात्मकता का समन्वय भी अत्यन्त आवश्यक माना जाता है। दण्ड में शृङ्ग की संरचना से शोभा का आधान हो जाता है। शृङ्ग कैसा हो? इसके कितने प्रकार हो सकते हैं? आदि विचारणीय विषय हैं। यहाँ उसकी चर्चा ग्रन्थकार स्वयं कर रहे हैं—

१. प्रकार—दण्ड में स्पष्ट शृङ्ग होना चाहिये। स्पष्ट शृङ्ग का तात्पर्य है कि, बीच में एक शृङ्ग तो बनता ही है। उसी प्रकार दक्ष-वाम भाग में भी दो शृङ्ग निर्मित किये जाँय। जैसे पूरब के अभिमुख मण्डल में वाम शृङ्ग होगा, उसी तरह दक्ष भाग में दक्षिण शृङ्ग विरचित होना उचित है। इस तरह तीन शृङ्गों के त्रिशूल की संरचना इस प्रक्रिया को आकर्षक बना देती है।

२. वैपरीत्यतः—इसका अर्थ करते समय आचार्य जयरथ ने अस्पष्टता को स्वीकार किया है। इसका तात्पर्य यह है कि, जयरथ के समय तक मण्डल रचना की प्रक्रिया का पूर्ण ह्रास हो चुका था। जयरथ त्रिक परम्परा के

उन्मुखं चन्द्रयुग्मं वा भङ्क्त्वा कुर्याच्चतुष्टयम् ।
कुटिलो मध्यतः स्पष्टोऽधोमुखः पार्श्वगस्थितः ॥ ३४ ॥
उत्तानोऽर्धोऽसमः पूर्णः श्लिष्टो ग्रन्थिगतस्तथा ।
चन्द्रस्येत्थं द्वादशधा वर्तना भ्रमभेदिनी ॥ ३५ ॥
अन्तर्बहिर्मुखत्वेन सा पुनर्द्विविधा मता ।

स्पष्टश्रृङ्गमिति मध्मश्रृङ्गवत् पूर्वदिगाभिमुख्येन भागत्रयेण वर्तितम् । वैपरीत्यत इति प्रागिव अस्पष्टम् । उन्मुखं चन्द्रयुग्ममिति चतुर्थमर्मसंलग्नतया वर्तितम् । भङ्क्त्वेति द्विधा विधाय । चातुष्टयमिति अर्थात् चन्द्राणाम् । मध्यतः कुटिल इति अन्तरपि अर्धचन्द्राकारः । मध्यतः स्पष्ट इति प्राग्वर्तिताकार एव । मध्यत इति काकाक्षिवत् । अधोमुख इति बहिः कथंचिल्लम्बमानार्धचन्द्राग्र इत्यर्थः । पार्श्वग इति स्पष्टश्रृङ्गवत् दक्षिणोत्तराभिमुख्येन वर्तितः ।

परिवृढ़ पुरुष थे । उनको तात्कालिक वर्तमान में कोई ऐसा आगमिक प्रामाण्य का प्रतीक पुरुष नहीं मिला, जिससे वे इस विषय का वस्तु परक विश्लेषण कर वास्तविक अर्थ लिख पाते । 'अस्पष्टम्' शब्द उनके वैवश्य का ही उद्घाटन कर रहा है । मेरी दृष्टि में मण्डल रचना में जब आचार्य पूर्वाभिमुख बैठकर रचना करेगा या करायेगा, तो यह अनुकूल रचना होगी । जब उत्तराभिमुख निर्माण सम्पन्न होगा, तो यह दक्षवाम भाग पूरब पश्चिम श्रृङ्गवान् होगा । यही वैपरीत्यतः का तात्पर्य है ।

३. उन्मुखचन्द्र युग्म—
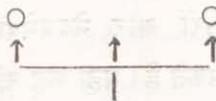
इस चित्र में श्रृङ्गों के दोनों भाग में दो चन्द्र दीख रहे हैं । इन्हें दो भागों में बाँटने पर ये चार अष्टमी के चन्द्र हो जायेंगे । वह आकृति इस प्रकार बनेगी ।

उत्तान इति ऊर्ध्वमुखः। अर्धोऽसम इति अर्धेन असम एकचन्द्रात्मा रेखाप्रायः। पूर्ण इति वैलक्षण्यात्। श्लिष्ट इति मूलात्प्रभृति अन्योन्यासङ्गेन वर्तितः। ग्रन्थिगत इति अर्धचन्द्रप्रान्तकोटिसंश्लेषेणैव वर्तितः। सेति द्वादशधा वर्तना ॥ ३३-३५ ॥

एषामपि भेदानां यदि भेदः क्रियते, तत् मण्डलानामनन्तो भेदोदय इत्याह

तद्भेदान्मण्डलानां स्यादसङ्ख्यो भेदविस्तरः ॥ ३६ ॥

पीठ-वीथी-बहिर्भूमि-कण्ठ-कर्ण-कपालतः ।

शोभोपशोभासंभेदाद् गुणरेखाविकल्पतः ॥ ३७ ॥
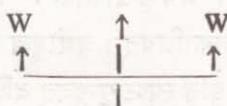
इसके भी कुटिल, स्पष्ट मध्य, अधोमुख, और पार्श्वग रचनाओं से आकृतियों में स्वाभाविक भेद होता जायेगा। दण्ड से निष्पन्न दोनों ओर त्रिशूल रचना निकाली जाने वाली कुटिल रेखा की तरह रची जायेगी। ये सारी आकृतियाँ आचार्य की कर्म-काण्डदक्षता और मण्डल निर्माण नैपुण्य पर निर्भर करती हैं। इसी तरह उत्तान, अर्धसम, अर्धअसम, पूर्ण, श्लिष्ट, ग्रन्थियुक्तकार मुक्त ये चन्द्र की १२ वर्त्तनायें बनती हैं। इन बारह प्रकारीय वर्त्तनाओं को यदि अन्तर्मुखत्व और बहिर्मुखत्व के भेद से व्यवहार का विषय बनाया जाय, तो ये २४ प्रकार का हो जाता हैं ॥ ३३-३५ ॥

पुनः भेदों में भेदान्तरों और भेदप्रभेदों की कलना करने पर इसमें अनन्त भेदोदय हो सकते हैं। यही कह रहे हैं—

पहले व्याख्यात मण्डलों में पहले छः प्रकार के भेद परिगणित थे। इन छः भेदों में भी सरूप एक-एक भेदों के मिश्रण से, पद्मों और चक्रों के एक अरों से दूसरे पद्मों और चक्रों के अरों से और व्योम रचना की

स्वस्तिकद्वितयाद्यष्टतया पर्यन्तभेदतः ।
भावाभावविकल्पेन मण्डलानामनन्तता ॥ ३८ ॥
ततो रजांसि देयानि यथाशोभानुसारतः ।
सिन्दूरं राजवर्तं च खटिका च सितोत्तमा ॥ ३९ ॥

तथाहि प्राग्व्याकृते प्रथमप्रकारषट्के एव सरूपामेव द्विकानां सरूपैरेव एककैर्मिश्रणो पद्मचक्रयोरेकस्मादरादारभ्य षट् यावत् परत्र पद्मेन चक्रेण व्योम्ना वा सहस्थितावष्टादश । एवं पद्मव्योम्नोरष्टादश, चक्रव्योम्नोश्च अष्टादशेति चतुष्पञ्चाशत् प्रकाराः । एषामरासप्तकनैयत्येन सप्तभिर्गुणने अष्ट-सप्तत्यधिकं शतत्रयं जायते । तेषामपि द्वारभेदात् द्वाभ्यां गुणने षट्पञ्चाश-दधिकानि सप्त शतानि जायन्ते । तेषामपि चन्द्रभेदात् चतुर्विंशत्या गुणने चतुश्चत्वारिंशदधिकशतोपेतानि अष्टादश सहस्राणि । तेषामपि पीठभावा-भावाभ्यामष्टाशीत्यधिकशतद्वयोपेतानि षट्त्रिंशत् सहस्राणि । तेषामपि वीथीभावाभावाभ्यां षट्सप्तत्यधिकशतपञ्चकोपेतानि द्वासप्ततिः सहस्राणि,— इत्येवं विकल्पान्तरैस्तिस्रः कोटय एकसप्ततिर्लक्षाणि अष्टपञ्चाशत् सहस्राणि

दृष्टि से १८ भेद, चक्रों और व्योमों के त्रिगुण होने से ५४, इनके सात अराओं के गुणन फल से ३७८ भेद, द्वारभेद के गुणन से ७५६ भेद, इनके भी चन्द भेद २४ से गुणा करने पर १८१४४ भेद, इसमें पीठ के भाव और अभाव इन दो भेदों से गुणा करने पर ३६२८८ भेद, इनके भी वीथी के भाव और अभाव इन दो भेदों से गुणा करने पर ७२५७६ भेद और इसी तरह के नाना विकल्पों के आधार पर संरचना करने पर तीन करोड़ एकहत्तर लाख अट्ठावन हजार ९१२ भेद हो जाते हैं। इस दशा में भी एक साथ पद्म और चक्र, एक साथ पद्म और व्योम, एक जगह पद्म और व्योम एक स्थान पर केवल पद्म, एकत्र व्योम रूप समस्त व्यस्त रूप व्यामिश्रण पूर्ण संरचना से जितने भेद हो सकते हैं, उनके भी अराओं की नियम गणना

उत्तमानि रजांसीह देवतात्रययोगतः ।
परा चन्द्रसमप्रख्या रक्ता देवी परापरा ॥ ४० ॥
अपरा सा परा काली भीषणा चण्डयोगिनी ।

द्वादशाधिकानि नव शतानि च जायन्ते । अत्रैव च एकत्र पद्मचक्रे, एकत्र पद्मव्योमनी, एकत्र चक्रव्योमनी, एकत्र पद्मम्, एकत्र चक्रम्, परत्र व्योमेत्यादिना समस्तव्यस्तविरूपद्विकैकमिश्रणेन उत्पन्नभेदानामरानेयत्यादिना समनन्तरोक्तवत् सप्तादिभिर्गुणने अनेकप्रकारोदयः, प्रभेदान्तराणां तु तथा गुणने कियती संख्येति कष्टश्रीधर एव प्रष्टव्यः । तत इति द्वारवर्तनानन्तरम् । कालीति कृष्णापि ॥ ४० ॥

के आधार पर ७ से गुणन करने से अनेक अनन्तानन्त भेदों का प्रकल्पन सम्भव है । इसे 'कष्ट श्रीधर' नामक गणितज्ञ ही बता सकता है । कष्ट श्रीधर गणना के आनन्त्य में मुहाविरे के प्रयोग में काम आने वाला तात्कालिक नाम है । इन्हीं प्रकल्पित भेदों के आधार पर शास्त्रकार ने असङ्ख्य भेद के विस्तार की चर्चा की है ।

मण्डलों की अनन्तता का यह प्रकल्पन उस समय की मण्डल रचना के प्रकारों की सूचना दे रहा है । पीठ, वीथी, बहिर्भूमि, कण्ठ, कर्ण, कपोल, शोभोपशोभनात्मकता, स्वस्तिक भेद, भावाभाव भेद, ही इस आनन्त्य के हेतु हैं । आचार्य जयरथ की व्याख्या से इसका स्पष्टीकरण हो जाता है !

सौन्दर्य आकर्षण और शोभा की दृष्टि से इनमें रंग भरने की प्रथा भी अपनायी जाती है । वैदिक कर्मकाण्ड में भी सर्वतोभद्र, लिङ्गतोभद्र आदि मण्डलों को रंग रंजित करने की प्रथा आज भी प्रचलित है । उसे देखकर दर्शक तुरत भावमुग्ध होते और पूजा के आवेश से आविष्ट होते हैं । इन रंगों में, सिन्दूर, राजवर्त्त और खारिका इन तीनों का देवतत्रय योग के आधार पर प्रयोग किया जाना चाहिये । देवतत्रय में सर्वप्रथम परा देवी का क्रम आता है । वह चन्द्रसमप्रख्य अर्थात् सितोत्तमा खटिका रंग से रंजनीय है ।

अत एव अस्य इयत् माहात्म्यमित्याह

दृष्ट्वैतन्मण्डलं देव्यः सर्वा नृत्यन्ति सर्वदा ॥ ४१ ॥

अनर्चितेऽप्यदीक्षेण दृष्टे दीक्ष्येत मातृभिः ।

एवं मण्डलानन्ततामुपपाद्य प्रसङ्गात् रजोदानादि निरूप्य अनन्त-भेदत्वेऽपि त्रिशूलस्यैव प्राधान्यात् तदाश्रयेण मुख्यान् भेदान् संक्षेपतः परिगणयति

किंवातिबहुनोक्तेन　　त्रित्रिशूलारसप्तकाः ॥ ४२ ॥

शूलयागाः षट् सहस्राण्येवं सार्धशतद्वयम् ।

परापरा देवी का रंग रक्तवर्ण का माना जाता है। इसका सिन्दूरी रंग बड़ा आकर्षक होता है। जहाँ तक अपरा देवी का प्रश्न है, यह चण्डयोगिनी देवी मानी जाती है। यह पराकाली की संज्ञा से भी विभूषित है। इनमें कृष्ण रंग प्रयोज्य है। राजवर्त्त का प्रयोग भी इसमें करते हैं॥ ३६-४० ॥

इन भेद प्रभेदमयी रचनाओं, आकर्षक रंगों, तीनों देवियों और एक नये आयाम में विशिष्ट पूजन के आधार पर इनका, सांस्कृतिक सामाजिक और आध्यात्मिक दृष्टियों से बड़ा महत्त्व हो जाता है। शास्त्रकार कहते हैं कि, इन मण्डलों को देखकर अदृश्य देवियों का नर्त्तन प्रारम्भ हो जाता है, जो अनुभूति का विषय है। यदि मानववृत्तियों को भी देवीरूप स्वीकार कर लिया जाय, तो यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि वृत्ति देवियाँ भी नाच उठती हैं। इसे ही मन मयूर का नर्त्तन भी कहते हैं। अदीक्षित व्यक्ति दीक्षा से वंचित रह जाता है। शास्त्रकार कहते हैं कि, अदीक्षित यह दिव्य दर्शन कर केवल कृतार्थ ही नहीं होता वरन् मातृ शक्तियों द्वारा दर्शन मात्र से ही दीक्षा हो प्राप्त कर लेता है। मातृदीक्षा का यह सौभाग्य उसके अस्तित्व को धन्य बना देता है॥ ४१ ॥

यद्वा किमनेन मण्डलानन्त्यप्रतिपादनेन

'त्रित्रिशूलेऽत्र सप्तारे ···· ····· ···· ····। (३१।२८)

इत्यादि उपक्षिप्तं प्रकाराणां सार्धं शतद्वयमेवमुक्तदिशा अर्धसप्तकावलम्बनेन चन्द्रभेदात् चतुर्विंशत्या संगुण्य षट् सहस्राणि शूलयागा इति वाक्यार्थः।

'शूलानि स्युः षट् सहस्राण्यूनं सार्धशतद्वयात्।' इति।

ऊनमिति ऊना इति वा अपपाठ एव अनन्वितत्वात् तृतीयास्थाने पञ्चम्यनुपपत्तेः। किञ्च सार्धं शतद्वयं गुण्यम्, अरासप्तकावलम्बनलब्धाश्चान्द्रभेदाश्चतुर्विंशतिर्गुणकाः गुणितराशिश्च षट् सहस्राणि। तदेतदूनपदपाठे गुण्याकथनात् निर्मूलतामियात्। नहि अत्र गुण्यं किञ्चित् प्रागपि उक्तमस्तीति आस्तामेतत्।

इस प्रकार अब तक मण्डल रचना प्रकार, उनके चन्द्र, व्योम, चक्र, और मत्स्य सन्धि आदि दृष्टिओं से मण्डलों के आनन्त्य का उपपादन कर, रंग भरने की प्रक्रिया और उनके मर्म का उद्घाटन कर एक नये आयाम की सृष्टि शास्त्रकार ने की है। यह ध्रुवसत्य है कि, मण्डल संरचना में त्रिशूल की ही अप्रतिम महत्ता है। वही इस प्रक्रिया में प्रधान माना जाता है। इसलिये त्रिशूल के मुख्य भेदों का वर्णन भी आवश्यक हो गया था। शास्त्रकार उसी सन्दर्भ का उपक्रम कर रहे हैं—

शूल याग भी अनन्त भेदों प्रभेदों से समन्वित है। इस आनन्त्य में मुख्यरूप से ६ हजार २ सौ पचास भेद माने जाते हैं। इस प्रकल्पना के मूल उत्स त्रित्रिशूल और अरासप्तक ही हैं। इसी आह्निक के श्लोक २८ में त्रित्रिशूल और सप्तार संरचना की चर्चा है। वह सार्धशतद्वय भेदवती होती है। इनमें चन्द्रों के २४ भेदों से गुण करने पर ६००० भेद हो जाते हैं। इसमें २५० मिलाने पर सं० ६२५० मानी जाती है।

इत्यतः पूर्वं न्याय्यो येन सर्वं सङ्गतं स्यात् ॥ ४१-४२ ॥

ननु एवं माहात्म्यमस्य कुतस्त्यमित्याशङ्क्य आह

या सा देवी परा शक्तिः प्राणवाहा व्यवस्थिता ॥ ४३ ॥

विश्वान्तः कुण्डलाकारा सा साक्षादत्र वर्तिता ।

तत्त्वानि तत्त्वदेव्यश्च विश्वमस्मिन्प्रतिष्ठितम् ॥ ४४ ॥

एतदेव अंशतो दर्शयति

अत्रोर्ध्वे तन्तुमात्रेण तिस्रः शूलारगाः स्थिताः ।

"शूल छः हजार दो सो पचास भेदभिन्न होते हैं।"

इस उद्धरण में ऊनं शब्द का प्रयोग आचार्य जयरथ की दृष्टि से अर्थावबोध में भ्रामक है। इसीलिये उन्होंने इस पाठ को अपपाठ की— संज्ञा दी है और उसका कारण मी बताया है। मेरी दृष्टि से यह पाठ 'षट्सहस्राण्यूनं सार्धशतद्वयम्' होना चाहिये। इस तरह अन्यून का अर्थ सहित हो जाता है और सारा विवाद समाप्त हो जायेगा। आचार्य के अनुसार इस पंक्ति को श्लोक ३९ के ऊपर होना चाहिये। इससे सबकी सङ्गति यथार्थ रूप से बैठ जाती है ॥ ४२ ॥

शूलमाहात्म्य के मूल कारण का अनुसन्धान करते हुए शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

सर्वशक्तिमती परमेश्वरी परा शक्ति प्राणप्रवाह में प्रतिष्ठित है। वह विश्व-आन्तरिकता के मध्यमर्म में कुण्डलाकार रूप में शाश्वत उल्लसित है। वही शक्ति परा शक्ति है। वही पराशक्ति शूल-सार केन्द्र में अपनी विश्वान्तः कारिता की मार्मिक रहस्यात्मकता के साथ विद्यमान है। यह अनुभूत सत्य है कि, पराशक्ति में सारा विश्व ब्रह्माण्ड, सारे तत्त्व और सारी तत्त्व-देवियां सूक्ष्म रूप से प्रतिष्ठित हैं। इसे इस तरह अंश-अंश रूप में भी समझना चाहिये—

आसनत्वेन चेच्छाद्या भोगमोक्षप्रसाधिकाः ॥ ४५ ॥
तास्तु मोक्षैककामस्य शूलाराविद्धमध्यकाः ।
तस्मादेनं [1] महायागं महाविभवविस्तरैः ॥ ४६ ॥
पूजयेद्भूतिकामो वा मोक्षकामोऽपि वा बुधः ।
अस्य दर्शनमात्रेण भूतवेतालगुह्यकाः ॥ ४७ ॥

---

१. शूल में ऊर्ध्व भाग की ओर तन्तुमात्र की सूक्ष्मता के साथ साथ तीन 'अरे' शूलाकार के रूप में सुव्यवस्थित हैं। उन्हें आसन मानकर उनमें इच्छा, क्रिया और ज्ञानशक्तियाँ भी विद्यमान हैं। ये तीनों शक्तियाँ उपासनानुसार बुभुक्षु को भोग और मुमुक्षु साधकों को मोक्ष-साध्य को सिद्धि प्रदान करती हैं।

ये तीनों मुमुक्षु साधक की प्रविशिष्ट उपास्या देवियाँ हैं। मुमुक्षु औन्मनस अवस्था में विचरण करता है और इन देवियों का आन्तर तादात्म्य वहीं प्राप्त हो सकता है। एक तरह से यह कहा जा सकता है कि, त्रिशूलाब्ज रूप में यही तीनों प्रतिष्ठित हैं। वे पद्म यही हैं। आ० १५।३४१ द्वारा इस प्रसङ्ग की सूचना इस तरह दी गयी है—

"यही शक्ति भेद प्रसार के विगलित हो जाने पर क्रमशः विकासशील होती हुई, अन्योन्य सांकर्य से विरत होकर अरात्रय रूप में औन्मनस आसन पर विराजमान होती जाती हैं। वे औन्मनस पद्म इनके आसन मात्र हैं।"

इस सन्दर्भ को आत्मसात् करना आगमिक मर्म की आन्तर उपलब्धि करने के समान है। यह बुभुक्षु और मुमुक्षु दोनों के द्वारा सम्पादित करने योग्य महायाग है। इसे महाविभव का विस्तार पूर्वक उपयोग करते हुए महोत्सव के रूप में मनाना चाहिये। बुद्धिमान् बुभुक्षु और मुमुक्षु दोनों को इसे विशाल हृदयता पूर्वक और वित्तशाठ्य विवर्जित भाव से अवश्य मनाना चाहिये।

पलायन्ते दश दिशः शिवः साक्षात्प्रसीदति ।
मन्दशक्तिबलाविद्धोऽप्येतन्मण्डलपूजनात् ॥ ४८ ॥

सततं मासषट्केन त्रिकज्ञानं समश्नुते ।
यत्प्राप्य हेयोपादेयं स्वयमेव विचार्य सः ॥ ४९ ॥

देहान्ते स्याद्भैरवात्मा सिद्धिकामोऽथ सिद्ध्यति ।

तन्तुमात्रेणेति विकस्वरेण रूपेणेत्यर्थः । तुरवधारणे, तेन ता एव इच्छाद्या इत्यर्थः शूलाराविद्धमध्यका इति औन्मनसपद्मत्रयरूपा इति यावत् । तदुक्तं प्राक् ।

'एता एव तु गलिते भेदप्रसरे क्रमशो विकासमायान्त्यः ।
अन्योन्यासंकीर्णास्त्वरात्रयं गलितभेदविकास्तु ततः ॥

पद्मत्रय्यौन्मनसी तदिदं स्यादासनत्वेन ।' (१५।३४१) इति ।

तस्मादिति परशक्त्यधिष्ठानादेर्हेतोः ॥ ४८-४९ ॥

इसके दर्शन मात्र से भूत, वेताल गुह्यक भाग खड़े होते हैं। दशों दिशायें प्रसन्नता से नाच उठती हैं। परमशिव प्रसन्न हो उठते हैं और साधना धन्य हो जाती हैं। मन्द मध्य शक्तिपात से पूर्णतः शैव साक्षात्कार से वञ्चित रह जाने वाले साधक भी इस मण्डल पूजन के विशिष्ट विधान से और इसमें सतत संलग्न रहने से छः मास के आन्तर अवकाश में ही समस्त त्रिकदर्शन की रहस्यात्मक अनुभूतियों से भर उठते हैं। इस सन्दर्भ में वे श्वाँस लेते, उठते बैठते इसे जी रहे होते हैं। वे स्वतः हेयोपादेय विज्ञान से विभूषित हो जाते हैं। इस विज्ञान का विचार कर देहान्त के उपरान्त वे वैभवात्मा शिव के रूप में सुशोभित हो जाते हैं। यदि कोई सिद्धि का अभिलाषी होता है, तो उसे तत्काल सिद्धि हो जाती है ॥ ४३-४९ ॥

न केवलमस्य एवं माहात्म्यं, यावदेतदभिज्ञस्यापीत्याह

मण्डलस्यास्य यो व्याप्तिं देवतान्यासमेव च ॥ ५० ॥
वर्तना च विजानाति स गुरुस्त्रिकशासने ।
तस्य पादरजो मूर्ध्नि धार्यं शिवसमीहिना ॥ ५१ ॥
अत्र सृष्टिस्थितिध्वंसान् क्रमात् त्रीनपि पूजयेत् ।
तुर्यं तु मध्यतो यद्वा सर्वेषु परिपूरकम् ॥ ५२ ॥

अत्रेति त्रिशूलत्रये । मध्यत इति कुलेश्वरीस्थाने । सर्वेष्विति त्रिष्वपि क्रमेषु ॥ ५२ ॥

एतदतिदेशद्वारकमेव यागान्तरमाह

चतुस्त्रिशूलं वा गुप्तदण्डं यागं समाचरेत् ।
तत्र तत् पूजयेत्सम्यक् स्फुटं क्रमचतुष्टयम् ॥ ५३ ॥

मण्डल संरचना, पूजा और उपासना विधान, स्वयं कर दिखाने का विज्ञान और एतद्विषयक साधना नैपुण्य का पारङ्गत विद्वान् समाज का एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति माना जाता है । यही कह रहे हैं—

शास्त्रकार कहते हैं कि, इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण मण्डल की रचना, उसकी व्याप्ति, उसमें होने वाले देवताओं के न्यास, वर्तना और विधान से जो परिचित होता है, सम्पादन में समर्थ होता है और विशेष विज्ञता से विभूषित होता है, त्रिक शासन में उसे गुरुवत्पूज्य माना जाता है । उसके महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि, शैव महाभाव में समावेश के अभिलाषी पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि, उसके चरणरज को वह अपने शिर पर लगाकर महापुण्य का अर्जन करें । त्रिशूल मण्डल में सर्वप्रथम सृष्टि, स्थिति और संहार का क्रमशः पूजन करे । तुर्य अर्थात् अनाख्य दशा का मध्य में पूजन सम्पन्न करे । यह सर्वपरिपूरक पूजन माना जाता है ॥ ५०-५२ ॥

गुप्तदण्डमिति तत्स्थाने हि अस्य मध्यशृङ्गं भवेदिति भावः। अस्य च इयानेव पूर्वस्मात् विशेषः ॥ ५३ ॥

एतच्च अस्मत्कथितमागमान्तरेष्वपि उक्तमित्याह

इत्येतत्कथितं गुप्ते षडर्धहृदये परे।
षट्के प्रोक्तं सूचितं श्रीसिद्धयोगीश्वरीमते ॥ ५४ ॥

जिस विधि से त्रित्रिशूलक और सदण्ड मण्डल की पूजा का विधान है, इसी तरह की पूजा चार त्रिशूल वाले गुप्तदण्ड मण्डल की भी सम्पन्न की जाती है। गुप्त दण्ड का तात्पर्य यह लेना चाहिये कि, दण्ड भले ही वहाँ अस्तित्वगत रूप से प्रकल्पित हो किन्तु उसकी संरचना न की गयी हो। यद्यपि दण्ड वहाँ गुप्त रहता है। उसमें रंग भी नहीं भरे जाते फिर भी दण्ड की गुप्ति की देशना मात्र से यह अर्थ स्पष्ट ही निकल आता है कि, दण्ड के शृङ्ग का निषेध यहाँ नहीं किया गया है। इसी लिये जहाँ दण्ड निर्मिति की अवस्थिति होती है, ठीक उसके ऊपर शृङ्ग की रचना की जानी चाहिये। अर्थात् मध्य में शृङ्ग की रचना आवश्यक रूप से करनी चाहिये। उस शृङ्ग पर क्रमशः परा, अपरा और परापरा के अतिरिक्त सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्य देवियों की पूजा वहाँ अवश्य होनी चाहिये। इस पूजा में किसी प्रकार की कृपणता नहीं होनी चाहिये ॥ ५३ ॥

शास्त्रकार यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि, मैंने यहाँ जिन बातों का उल्लेख किया है, उनका उल्लेख अन्य शास्त्रों में भी है। वही कह रहे हैं—

यहाँ ऊपर जो कुछ उल्लेख किया है, उसका उल्लेख गुप्त रहस्य शास्त्रों में है। इनके अतिरिक्त परत्रिक शास्त्र में भी ये तथ्य वर्णित हैं। षट्क भी इसका समर्थन करता है। सिद्ध योगीश्वरी मत में भी इसकी सूचना मिलती है अर्थात् साक्षात् इसका उल्लेख उसमें नहीं है किन्तु प्रसङ्ग-वश यह प्रतीत हो जाता है ॥ ५४ ॥

अग्रतः सूत्रयित्वा तु मण्डलं सर्वकामदम् ।
महाशूलसमोपेतं पद्मचक्रादिभूषितम् ॥ ५५ ॥
द्वारे द्वारे लिखेच्छूलं वर्जयित्वा तु पश्चिमम् ।
कोणेष्वपि च वा कार्यं महाशूलं द्रुमान्वितम् ॥ ५६ ॥
अमृताम्भोभवारीणां शूलाग्रे तु त्रिकं त्रिकम् ।
शूलं इत्थं प्रकर्तव्यमष्टधा तत् त्रिधापि वा ॥ ५७ ॥
एव संसूचितं दिव्यं खेचरीणां पुरं त्विति ।

गुप्ते रहस्यरूपे शास्त्रे। षडर्धहृदये त्रिकहृदये। सूचितमिति ननु साक्षादुक्तम्। तत्रत्यमेव ग्रन्थमाह अग्रत इत्यादि। पश्चिमं वर्जयित्वेति पूजाधिकरणतया यदस्ति

'पश्चिमं विवृतं कार्यम् ....।' इति।

अमृताम्भोभवारीणामिति अमृताम्भोभवश्चन्द्रः, तस्य अरीणां पद्मानामित्यर्थः। अष्टधेति त्रिधेति चतुरेकशूलाभिप्रायेण ॥ ५४-५७ ॥

घरों के द्वार, द्वार में मण्डल रचना का आसूत्रण करना चाहिये। द्वार से पश्चिम मात्र में मण्डल रचना नहीं करनी चाहिये। उधर का भाग खाली छोड़ देना चाहिये। यह मण्डल निर्माण समस्त इच्छाओं की पूर्ति करने वाला कल्पवृक्ष माना जाता है। इसे अवश्य बनाना चाहिये। इन मण्डलों में महाशूल बनाये, पद्म और चक्रों की रचना करे और सुन्दर संरचना से उसे सजाये। द्वार-द्वार पर इस प्रकार भी संरचना अवश्य करें—यह शास्त्रकार का मत है। पश्चिम दिशा को छोड़कर इसे कोण-कोण में बनाकर शूल के साथ कल्पवृक्ष की छाया का भी चित्राङ्कन करने से शोभा की अभिवृद्धि हो जाती है। पश्चिम दिशा को छोड़ने का उल्लेख सिद्ध योगीश्वरी तन्त्र में है। वहाँ लिखा गया है कि,

"पश्चिम दिशा को खुला रखना चाहिये"।

न केवलमेतदत्रैव उक्तं, यावदन्यत्रापीत्याह

स्थानान्तरेऽपि कथितं श्रीसिद्धातन्त्रशासने ॥ ५८ ॥

एतदेव आह

कजं मध्ये तदर्धेन शूलशृङ्गाणि तानि तु।
शूलाङ्कं मण्डलं कल्प्यं कमलाङ्कं च पूरणे ॥ ५९ ॥

शूलों के ऊपर 'अमृताम्भ' अर्थात् समुद्र, 'भव' अर्थात् समुद्र से उत्पन्न चन्द्र 'अरि' अर्थात् 'चन्द्रशत्रु' कमल, इस तरह अमृताम्भोभवारि अर्थात् कमल अर्थात् सभी शूलकमलों की तीन-तीन की संरचना, जिसमें दण्ड रचना की गयी हो या गुप्त रखी गयी हो। दोनों तरह की मान्य होती है। शूल रचना आठ या तीन के गणित के अनुसार होनी चाहिये। इस रचना से खेचरी शक्तियों के दिव्य पुरों की सूचना भी होती है। प्रत्येक दशा में मण्डल रचना हमारी सांस्कृतिक सामाजिक संरचना का एक अंग माना जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, तात्कालिक समाज में मण्डल संरचना का महत्त्वपूर्ण स्थान था ॥ ५५-५७ ॥

यही विषय केवल यहीं नहीं, वरन् अन्यत्र शास्त्रों में भी उपवर्णित है। यह कह रहे हैं—

श्रीसिद्धातन्त्र शासन में अन्यत्र भी यह विषय वर्णित है। इस उक्ति की दृष्टि से वह स्थान स्थानान्तर शासन ही कहा जा सकता है। यद्यपि सिद्धातन्त्र भी त्रिकशासन के परिवेश का ही समर्थक शास्त्र है फिर भी स्थानान्तर शब्द से उसके पृथक् अस्तित्व और दृष्टिकोण की महत्ता स्वीकृत की गयी है। वहाँ कहा गया है कि,

मध्य में 'कज' (कञ्ज, कमल) मध्य और अन्त दोनों के अर्धभागावस्थित बिन्दु पर वे शूलशृङ्ग अवश्य निर्मित होने चाहिये। मण्डल को समग्र दृष्टियों से परिपूर्ण बनाने के उद्देश्य की सिद्धि के लिये

एवं श्रीत्रिकसद्भावोक्तं शूलाब्जविन्यासमभिधाय शास्त्रान्तरनिरूपित-मपि अभिधातुमुपक्रमते

अथ शूलाब्जविन्यासः श्रीपूर्वे त्रिशिरोमते ।
सिद्धातन्त्रे त्रिककुले देव्यायामलमालयोः ॥ ६० ॥
यथोक्तः सारशास्त्रे च तन्त्रसद्भावगुह्ययोः ।
तथा प्रदर्श्यते स्पष्टं यद्यप्युक्तक्रमाद्गतः ॥ ६१ ॥

यद्यपि उक्तगत्यैव गतार्थः शूलविन्यासः, तथापि सांप्रतं श्रीपूर्वशास्त्रादौ यथा किञ्चिद्विशेषकप्रयोजकीकारेण उक्तः, तथा तेनैव प्रकारेण स्पष्टं प्रदर्श्यते हृदयङ्गमतया अभिधीयते इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

ऐसी निर्मिति होनी चाहिये, जो शूलाङ्क हो अथवा कमलाङ्क हो। विना शूल और कमल के मण्डल रचना की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसलिये अब भी मण्डल रचना करनी हो, तो किसी ज्ञानी आचार्य से शूल, कमल, चन्द्र, पीठ आदि से समन्वित मण्डल बनवाना चाहिये ॥ ५८-५९ ॥

शास्त्रान्तरों का यहाँ उल्लेख कर शास्त्रकार मण्डल रचना की परम्परा के विस्तार पर प्रकाश डाल रहे हैं—

श्रीपूर्वशास्त्र (श्रीमालिनीविजयोत्तर) तन्त्र, श्रीत्रिशिरो भैरव मत, सिद्धातन्त्र, त्रिक दर्शन, श्री कुलदर्शन श्री देव्यायामल, श्री यामलमाल शास्त्र, सारशास्त्र, श्री तन्त्रसद्भावशास्त्र, गुह्यरहस्य शास्त्र आदि सभी शास्त्रों में इस विषयक विशेष उपबृंहण किया गया है। यद्यपि हमने मण्डल रचना का जिस तरह प्रतिपादन किया है, वैसा ही और आत्यन्तिक रूप से मिलता जुलता ही वर्णन वहाँ भी अर्थात् इन शास्त्रों में भी है फिर भी शास्त्रकार कह रहे हैं कि, हम अपना यह कर्त्तव्य समझ रहे हैं कि, उन शास्त्रों में प्रदर्शित जो विशिष्ट तथ्य हैं, उन्हें इस दर्शन के स्वाध्याय-शील अध्येता भी ज्यों का त्यों उसी तरह देखें और समझें। इसलिये

तत्र प्राधान्यात् प्रथमं श्रीपूर्वशास्त्रोक्तमेव दर्शयति

वेदाश्रिते त्रिहस्ते प्राक् पूर्वमर्धं विभाजयेत् ।
हस्तार्धं सर्वतस्त्यक्त्वा पूर्वोदग्याम्यदिग्गतम् ॥ ६२ ॥
त्र्यङ्गुलैः कोष्ठकैरूर्ध्वैस्तिर्यक् चाष्टद्विधात्मकैः ।
द्वौ द्वौ भागौ परित्यज्य पुनर्दक्षिणसौम्यगौ ॥ ६३ ॥

प्राक् त्रिहस्ते इति अनन्तरं हि द्वारार्थं हस्तस्य प्रक्षेपात् चतुर्हस्ता भविष्यतीति अभिप्रायः, तेन एतत् त्र्यङ्गुलैः कोष्ठकैरिति वक्ष्यमाणत्वात् द्वात्रिंशद्धा विभजेदिति सिद्धम् । एवमतोपि पूर्वादिक्त्रयात् द्वादश द्वादश

हृदयङ्गम पद्धति के अनुसार वे तथ्य उद्घाटित किये जाँय। अतः हमारे द्वारा वे तथ्य अभिहित किये जा रहे हैं ॥ ६०-६१ ॥

श्री पूर्वशास्त्र इस दर्शन का उपजीव्य ग्रन्थ है। उसमें मण्डल निर्माण का स्पष्ट उल्लेख है। उपजीव्य होने के कारण उसका प्रधान स्थान है। इसलिये अन्यान्य शास्त्रों की अपेक्षा पहले श्री पूर्वशास्त्र के एतद्विषक अधिकरण ९।६-२४ तक के श्लोकों का अपने ग्रन्थांश के रूप में वर्णन कर रहे हैं—

मण्डल रचना को पहली रेखा चार हाथ की होती है। इसे पूर्व दिशा की रेखा मानने पर इसो माप की उत्तर, पश्चिम और दक्षिण की रेखाओं के मेलापक से सम चतुर्भुज बनता है। इस रेखाओं में द्वार का भाग सम्मिलित है। द्वार के लिए १ हाथ निकाल देने पर इनकी लम्बाई में अन्तर नहीं पड़ता। मध्य में द्वार का एक हाथ छोड़ने पर पूर्वरेखा में वाम भाग में १½ हाथ और द्वार के दक्ष भाग में भी १½ की रेखा दोख पड़ती है। चार हाथ से ९६ अंगुल, द्वार भाग में २४ अंगुल, वाम और दक्ष में, ३६, ३६ अंगुल का भाग आता है। इस आकलन से श्लोक में प्रयुक्त वेदाश्रित त्रिहस्त, का अर्थ घटित हो जाता है।

अङ्गुलानि त्यक्त्वा पूर्वमर्धमूर्ध्वगत्या अष्टभिस्त्र्यङ्गुलैः कोष्ठकैः पार्श्वगत्या च षोडशभिर्विभजेत् । एवं विभक्तात् पूर्वस्मादर्धात् पुनरपि दक्षिणोत्तरपार्श्वयोः पङ्क्तिक्रमेण अन्तगतौ द्वौ द्वौ भागौ त्यजेत् येन पार्श्वगत्या द्वादश कोष्ठकानि अवशिष्यन्ते यदेतावतैव शूलं सिद्ध्येत् ॥ ६३ ॥

प्रथमतः पार्श्ववर्तनामाह

ब्रह्मणः पार्श्वयोर्जीवाच्चतुर्थात् पूर्वतस्तथा ।
भागार्धभागमानं तु खण्डचन्द्रद्वयं द्वयम् ॥ ६४ ॥

चार हाथ के मण्डल में एक बालिश्त अर्थात् १२ अङ्गुल चारों चतुर्भुज मण्डल की सम रेखाओं के समानान्तर छोड़ना भी आवश्यक है। इसमें एक शिवोक्त देशना ध्यान देने योग्य है । वह है 'पूर्वमर्धं विभाजयेत्' । इसका तात्पर्य यह है कि, मण्डल को दो भागों उत्तरार्ध और दक्षिणार्ध में पहले ही बाँट लेना चाहिये। उत्तरार्ध के सम्बन्ध में यह स्पष्ट उल्लेख है कि, अर्धरेखा से ऊपर भाग अर्थात् उत्तरार्धं में ऊर्ध्व अर्थात् खड़ी इतनी रेखायें खींचे ताकि ३२ कोष्ठक बन जाँय। इन्हें १६ तिर्यक् रेखाओं से काटने पर ५१२ कोष्ठक बन जाते हैं। इसे स्वयं बनाकर देखना चाहिये। इन कोष्ठकों के दक्ष और उत्तर के दो दो अन्त भाग छेड़ना होता है। परिणामस्वरूप १६ में से चार निकल जाने पर १२ कोष्ठक ही बचते हैं। ये दक्ष सौम्य भाग २-२ भाग दो शूल दण्ड का काम करते हैं। उन्हीं के ऊपर शूल रचना की जाती है ॥ ६२-६३ ॥

सर्वप्रथम पार्श्व वर्त्तना के सम्बन्ध में यहाँ निर्देश कर रहे हैं—

यहाँ जिन सूत्रों का उपयोग किया जाता है, उन्हें ब्रह्मसूत्र नहीं कहते वरन् जीव सूत्र कहते हैं। ब्रह्मसूत्र और जीव सूत्र पृथक्-पृथक् सूत्र हैं। ब्रह्मसूत्र के पार्श्व भाग में जीवसूत्र द्वारा रेखा निर्माण होता है। ऊपर उत्तरार्ध मण्डल में सोलह में से पार्श्व के दो दो भाग छोड़कर १२ रेखाओं के मध्य में दो चन्द्र बनाये जाते हैं। एक का मुँह ऊपर और

इह ब्रह्मसूत्रवर्जं जीवशब्दावाच्यानि सूत्राणीत्युभयोरपि पार्श्वयोर्ब्रह्म-सूत्रादारभ्य यत् चतुर्थं जोवसूत्रं, ततः पूर्वतः पूर्वस्यां दिशि तथा यत् चतुर्थमेव जीवसूत्रं, ततो भागमानेन भागार्धमानेन च सूत्रेण अर्धचन्द्रद्वयं स्यात्। पार्श्वद्वयाभिप्रायेण तु द्वयं द्वयमिति वीप्सया निर्देशः ॥ ६४ ॥

कथमित्याह

तयोरन्तस्तृतीये तु दक्षिणोत्तरपार्श्वयोः ।
जीवे खण्डेन्दुयुगलं कुर्यादन्तर्भ्रमाद्बुधः ॥ ६५ ॥

यतः पार्श्वगत्या चतुर्थात् जीवादारभ्यते, यत्र च भागमानत्वात् द्वितीये जीवे विश्राम्यति, तयोर्जीवयोरन्तर्मध्ये यस्तृतीयो जोवोऽर्थात् पूर्वतश्चतुर्थ एव, तत्र औचित्यात् वामं दक्षिणं वा हस्तं निवेश्य उभयोरपि पार्श्वयोरन्तः, नतु बहिर्भ्रमात्, बुधस्तद्वर्तनाभिज्ञः खण्डचक्रद्वयं कुर्यात् ॥ ६५ ॥

दूसरा नीचे की ओर होता है। दूसरी विधि के अनुसार तिर्यक् रेखा के भागमान और भागार्धमान के अनुसार उत्तर दक्षिण की ओर दो चन्द्र बनाये जाते हैं। ये चन्द्र अर्धचन्द्र या अष्टमी के चन्द्र के समान होते हैं। ब्रह्मसूत्र और जीव सूत्र को कोई स्पष्ट परिभाषा शास्त्र में नहों है, जो उपलब्ध होनी चाहिये ॥ ६४ ॥

चतुर्थ जीव का चर्चा श्लोक ६४ में है। इसी से पार्श्वगति से आरम्भ कर द्वितीय जीव तक विश्रान्त हो जाता है। द्वितीय और चतुर्थ जीव के मध्य में तीसरा जीव स्वभावतः रहता हो है। अतः वहीं बायें हाथ से दबाव देकर दोनों और चतुर्थ और द्वितीय के अन्तराल में हो दो खण्डचन्द्र निर्मित किये जाते हैं। यह कार्य वर्त्तनाभिज्ञ कोई 'बुध' अर्थात् प्रक्रिया-सक्रिय पुरुष ही सम्पन्न कर सकता है। जो इसे स्वयं नहीं करता, वह पुस्तक पढ़कर इसे बना नहीं सकता ॥ ६५ ॥

तयोरपरमर्मस्थं खण्डेन्दुद्वयकोटिगम् ।
बहिर्मुखं भ्रमं कुर्यात् खण्डचन्द्रद्वयं द्वयम् ॥ ६६ ॥
तद्वद्ब्रह्मणि कुर्वीत भागभागार्धसंमितम् ।

किन्तु अर्धमानस्य खण्डचन्द्रस्य वक्ष्यमाणदृष्ट्या अयं विशेषः—यत् चतुर्थ-भागादारभ्य वर्तनेति। तयोरुभयोरपि पार्श्वयोरपरस्मिन्नतः प्रवेशगत्या चतुर्था-पेक्षया तृतीये मर्मणि एकं करं निवेश्य समनन्तरवर्तितखण्डेन्दुद्वयाग्रकोटि-संलग्नत्वेन बहिर्मुखं, नतु अन्तर्मुखं, भ्रममर्थात् द्विः कुर्यात् येन उभयत्र खण्ड-चन्द्रयोर्द्वयं द्वयं वर्तितं स्यात्। तद्वदिति उभयोरपि पार्श्वयोरपरस्मिन्नेव तृतीयापेक्षया द्वितोये मर्मणि एकं करं निवेश्य खण्डेन्दुद्वयकोटिगं दक्षिणोत्त-रायतसूत्रसंलग्नतया अत एव अन्तर्मुखं भ्रमद्वयं कुर्यात् येन भागमानभागर्ध-मानं च खण्डचन्द्रयोर्द्वयं द्वयं स्यात् ॥ ६६ ॥

एवं पार्श्ववर्तनानन्तरं शृङ्गवर्तनायां कर्तव्यायां प्राधान्यात् मध्यशृङ्ग-वर्तनामाह

इन चौथे और द्वितीय रेखाओं में बने उभय चन्द्रों की कोटियों से संलग्न और उन्हीं के दूसरे केन्द्र (मर्म) बिन्दु से बाहर एक भ्रम अर्थात् वृत्त की संरचना करनो चाहिये। यह वृत्त भो दो दो चन्द्रों के बहिर्मुख भाव से सम्पन्न होते हैं। यह पूरी संरचना जोव रेखाओं से सम्बन्धित हैं। इसी तरह को संरचना ब्रह्म रेखाओं में भी होनी चाहिये। इसका माप भाग और भागार्ध के माप के समान ही होना चाहिये। इसके परिणामस्वरूप एक एक खण्ड चन्द्र द्वय अब दो दो खण्ड चन्द्रयुक्त हो जायेंगे ॥ ६६ ॥

पार्श्व वर्त्तना के अनन्तर शृङ्गवर्त्तना करनो चाहिये। तोन शृङ्गों में मध्य शृङ्ग की प्रधानता के कारण पहले मध्यशृङ्ग का ही निर्माण करना उचित है। अतः यहाँ उसी का प्रवर्त्तन कर रहे हैं—

ततो द्वितीयभागान्ते ब्रह्मणः पार्श्वयोर्द्वयोः ॥ ६७ ॥

द्वे रेखे पूर्वगे नेये भागत्र्यंशशमे बुधैः ।

एकार्धेन्दूर्ध्वकोटिस्थं ब्रह्मसूत्राग्रसङ्गतम् ॥ ६८ ॥

सूत्रद्वयं प्रकुर्वीत मध्यशृङ्गप्रसिद्धये ।

ततोऽपि ब्रह्मसूत्रस्य द्वयोः पार्श्वयोरूर्ध्वक्रमेण यौ द्वितीयौ भागौ पूर्वगे इत्युक्ते तन्मूलात् तदन्तं यावत् बुधत्वादेव भागमानचन्द्रार्धकोटिसंश्लेषेण द्वे रेखे नेतव्ये तथा विस्तारात् भागत्र्यंशेन शाम्यतः। तेन अङ्गुलेन विस्तीर्णा अङ्गुलत्रयेण च दीर्घा गण्डिका स्यात्। अन्यस्य गण्डिकया संश्लिष्टत्वादेकस्य अर्धभागमानस्य इन्दोरूर्ध्वकोटि आरभ्य ब्रह्मसूत्रस्य अग्रे लग्नं सूत्रद्वयं विदधीत येन मध्यशृङ्गं सिद्ध्येत् ॥ ६७-६८ ॥

इदानीं पार्श्वशृङ्गवर्तनामभिधत्ते

तदग्रपार्श्वयोर्जीवात् सूत्रमेकान्तरे धृतम् ॥ ६९ ॥

आदिद्वितीयखण्डेन्दुकोणात् कोणान्तमानयेत् ।

तयोरेवापराञ्जीवात् प्रथमार्धेन्दुकोणतः ॥ ७० ॥

तद्वदेव नयेत्सूत्रं शृङ्गद्वितयसिद्धये ।

इस संरचना में ब्रह्म रेखा की स्थितियों का ध्यान रखना चाहिये। एक खण्ड चन्द्रों से होकर ब्रह्मसूत्र के अग्रभाग तक जाती है। ऐसी ही दो रेखायें एक गण्डिका निर्मित करती हैं। गण्डिका का स्वरूप क्रास आकृति का होना चाहिये। इसे ही शृङ्ग का रूप दिया जाता है। कर्मकाण्ड में सूत्र को रंगीन बनाकर रेखायें उभारी जाती हैं। यह कार्य काष्ठ मापिका से भी किया जा सकता है ॥ ६७-६८ ॥

मध्य शृङ्गों के बाद दोनों पार्श्वों में शृङ्ग निर्माण पर ध्यान देना चाहिये।

तस्य मध्यशृङ्गस्य ये अग्रभूते मण्डलगते पार्श्वे तयोरर्थात् यश्चतुर्थो जीवस्तमवलम्ब्य आदौ कृत आन्तरापेक्ष्या द्वितीयो बाह्यो भागमानो यः खण्डेन्दुस्तस्य अग्रकोटेरारभ्य आग्नेयस्य ऐशस्य च कोणस्य षष्ठभागात्मकान्तं सूत्रं नयेत् यतस्तदेकेन भागेन अन्तरिते देशे धृतं

'………वह्निभागगम् ।' (१६ श्लो०) इति ।

दृशा भागत्रयसंमिते स्थाने स्थितमित्यर्थः । तयोरेव अग्रपार्श्वयोपरात् चतुर्थापेक्षया तृतीयात् जीवात् प्रोक्तगत्या पूर्वतश्चतुर्थभागार्धात् तु प्रथमस्य आन्तरतया वर्तितस्य अर्धभागमानस्य इन्दोः कोणतस्तद्वदेव पूर्वोक्तगत्या षष्ठभागान्तमेव सूत्रं नयेत् येन पार्श्वशृङ्गसिद्धिः ॥ ६९-७० ॥

एवं पूर्वस्मिन् क्षेत्रार्धे त्रिशूलं वर्तयित्वा, अपरस्मिन्नपि दण्डादि वर्तयितुमाह

क्षेत्रार्धे चापरे दण्डो द्विकरश्छन्नपञ्चकः ॥ ७१ ॥

षड्विस्तृतं चतुर्दीर्घं तदधोऽमलसारकम् ।
वेदाङ्गुलं च तदधो मूलं तीक्ष्णाग्रमिष्यते ॥ ७२ ॥

मध्य शृङ्ग के निर्माण के अनन्तर उसी के उभय पार्श्वों में दो शृङ्ग और बनाये जाते हैं। जहाँ दण्ड दोनों पार्श्व में हैं, भले ही वे गुप्त हों या प्रकट, उन्हीं के ऊपर ये पार्श्वशृङ्ग बनाये जाते हैं। श्लोक १६-१८ के भाष्य में इसकी विधि का उल्लेख किया गया है। मण्डल के करोड़ों भेदों में श्लोक ६९-७० की विधि भी मान्य है॥ ६९-७० ॥

पहले सद्भावक्रम दर्शित सन्दर्भ में पूर्वभाग के क्षेत्रार्ध की संरचना का पूरा विवरण यहाँ तक दिया गया है। अपर भाग में भी संरचना का प्रकार यहाँ प्रदर्शित है। यहाँ द्विकर शब्द चार हाथ के मण्डल के शेष दो हाथों के शेष भाग को दिग्दर्शित करता है। छन्न पञ्चक भी दण्ड की पाँच गाँठों के पाँच छिपे भागों का अर्थ दे रहा है। षड् विस्तृत शब्द छ गाँठोंसे समन्वित लम्बाई का द्योतक है। चतुर्दीर्घ शब्द भी दण्ड का ही

आदिक्षेत्रस्य कुर्वीत दिक्षु द्वारचतुष्टयम् ।
हस्तायामं तदर्धं वा विस्तारादपि तत्समम् ॥ ७३ ॥
द्विगुणं बाह्यतः कुर्यात्ततः पद्मं यथा शृणु ।
एकैकभागमानानि कुर्याद्वृत्तानि वेदवत् ॥ ७४ ॥

वेदाङ्गुलमिति अङ्गुलोक्तौ षडङ्गुलानि विस्तृतं चत्वारि अङ्गुलानि आयत-मामलसारकम् । तीक्ष्णाग्रमिति एकाराकृति । आदिक्षेत्रस्येति त्रिहृतस्य । हस्तायाममिति मध्यसूत्राणां प्रतिपार्श्वं भागचतुष्टयग्रहेण तदर्धं हस्तार्धं द्वारस्य भागचतुष्टयेनैव विस्तृतत्वात् । बाह्यतो द्विगुणमिति प्रतिपार्श्वमधिकस्य भागचतुष्टयस्य प्रक्षेपात् तत्सममिति कण्ठवत् कपोलस्यापि भागद्वयेनैव विस्तृतत्वात् । इदानीं दण्डक्षेत्रगतभागचतुष्टयस्थितस्य पद्मस्य वर्तनामाह तत इत्यादि । वेदवत् चत्वारि ।

दिक्ष्वष्टौ पुनरप्यष्टौ जीवसूत्राणि षोडश ।
द्वयोर्द्वयोः पुनर्मध्ये तत्संख्यातानि पातयेत् ॥ ७५ ॥
एषां तृतीयवृत्तस्थं पार्श्वजीवसमं भ्रमम् ।
एतदन्तं प्रकुर्वीत ततो जीवाग्रमानयेत् ॥ ७६ ॥

विशेषण है । दीर्घ लम्बाई का द्योतक है । चार हाथ के मण्डल में दण्ड भी उतना ही ऊँचा होना चाहिये । निचली गाँठ अमल सारक अर्थात् पीपल के पत्ते की तरह बीच में मोटी और नीचे नुकीली होगी । इसका माप चार अङ्गुल होता है । उसी के नीचे भाग को तीक्ष्णाग्र शब्द से व्यक्त किया गया है । आदि क्षेत्र में चारों दिशाओं में चार द्वार अपेक्षित हैं । ये हस्तायाम हों या तदर्ध हों आचार्य इसकी व्यवस्था करें ॥ ७१-७३ ॥

देहात में आज भी दीवालों पर पद्म संरचना विशिष्ट प्रकार से की जाती है । इसमें परकाल का प्रयोग करते हैं । इस तरह वृत्त रचना होती जाती है और पद्म पत्र बनते जाते हैं । यही विधि मण्डल में भी वृत्त रचना

यत्रैव कुत्रचित्सङ्गस्तत्संबन्धे स्थिरीकृते ।
तत्र कृत्वा नयेन्मन्त्री पत्राग्राणां प्रसिद्धये ॥ ७७ ॥
एकैकस्मिन्दले कुर्यात्केसराणां त्रयं त्रयम् ।
द्विगुणाष्टाङ्गुलं कार्यं तद्वच्छृङ्गकजत्रयम् ॥ ७८ ॥

द्विकर इति वक्ष्यमाणद्वारक्षेत्रेण सह । छन्नपञ्चक इति अस्य हि भाग-चतुष्टयं छन्नपीठेन च एक इति । यदुक्तं

'द्विकरं पञ्च तद्भागाः पञ्चपीठतिरोहिताः ।
शेषमन्यद्भवेद्दृश्यं पृथुत्वाद्भागसंमितम् ॥' इति ।

मध्य इति समोभयपार्श्वं । तत्सख्यातानोति षोडश । एषामिति पुनर्दत्तानां षोडशानाम् । तृतीये अर्थात् तृतोयवृत्तस्थपुनर्दत्तषोडश-सूत्रान्यतममध्ये हस्तं निवेश्य तद्बहिः पार्श्वस्थजीवसूत्रसाम्येन तृतीयभागाग्रस्थात् तत एष आरभ्य एतस्य पुनर्दत्तषोडषसूत्रान्यतमस्यैव अन्तं यावत् भ्रमं कृत्वा तदन्तः पार्श्वस्थजीवसूत्रसन्निकर्षं नयेदिति षोडश दलार्धानि उत्पादयेत् । यत्रैव कुत्रचित् पद्मे इत्यनेन अनवक्लृप्तिपरेण इदमावेदितं—यथा दलार्धसिद्ध्यर्थं तृतोयवृत्तस्थपुनर्दत्तषोडशसूत्रान्यतममध्ये हस्तं कृत्वा भ्रमं कुर्यादित्युक्तम्, तथैव अत्रापि किन्तु व्यत्ययेनेति । स्थिरीकृते

के लिये अपनायी जाती है। पहले एक-एक भाग मान के चार वृत्त बनाये जाते हैं। दिशाओं की दृष्टि से आठ वृत्त और उसमें आठ जोव सूत्र वृत्तों को मिलाकर ये सोलह हो जाते हैं। परकाल विधि के प्रयोग से सुन्दर बनते हैं। सूत्र को दबा-दबाकर बनाने से अच्छे पद्म नहीं बनते। इसमें पार्श्व जीव सूत्र को जीव सूत्र के अग्रभाग में ले आना प्राचीन प्रथा का हो द्योतक है ॥ ७४-७६ ॥

उस अग्रभाग वाले जीव सूत्र का जहाँ सङ्ग प्रस्थापित होता है, ऊर्ध्व कोष्ठक से उसके सम्बन्ध को स्थिर अर्थात् स्थायी रूप से संलग्न कर

इति मनसा। तत्रेति सङ्गस्थाने। कृत्वेति अर्थात् करम्। नयेदिति अर्थात् भ्रमम्। त्रयं त्रयमिति तत्रस्थसूत्रत्रयाश्रयणेन। तद्वदिति यथोक्तवर्तनया, किन्तु द्विगुणाष्टाङ्गुलम्। तत् हि चतुर्विशत्यङ्गुलम्। एवं पूर्वत्रापि भाग-चतुष्टयेनैव पद्मचक्रव्योमानि कार्याणीति ज्ञेयम् ॥ ७८ ॥

अत्रैव रजोनियमाह

कर्णिका पीतवर्णेन मूलमध्याग्रभेदतः।
सितं रक्तं तथा पीतं कार्यं केसरजालकम् ॥ ७९ ॥

देने पर वहीं से दण्ड के ठीक ऊपर चलदलाग्र भाग का जो पत्राग्र है, उसे लगावे। एक-एक पत्र में तीन-तीन केसर का अरा बनावे। इसका मान १६ अङ्गुल का होना चाहिये। यह शृङ्ग कमलों का रूप होता है। उन्हीं अराओं पर तीनों देवियों का भी प्रकल्पन होता है ॥ ७७-७८ ॥

इस मण्डल को आकर्षक बनाने की दृष्टि से उसमें रंग भरने की प्रथा आज भी है। कहीं अक्षत को ही लाल पीले रंगों में या अपेक्षित रंगों में सराबोर कर सुखा लेते हैं। उसी से कोष्ठक भरते हैं। कहीं केवल धान्य का प्रयोग करते हैं। काले रंग के लिये काली उड़द, पीले रंग के लिये चने की दाल, लाल रंग के लिये मसूर आदि का प्रयोग होता है। रंग भरने की प्रथा उस समय भी प्रचलित थी। यहाँ वही कह रहे हैं—

कर्णिका को पीतवर्ण से रंगना चाहिये। उसमे मूल, मध्य और अग्र-भाग के भेदों का ध्यान रखना चाहिये। कर्णिका पद्मकोश के बीज कोश रूप अङ्ग में प्रयुक्त होता है। वहीं केसर भी होते हैं। वे किंजल्क रूप होते हैं। उन्हें सित, रक्त, पीत और मिश्रित रंगों का समन्वय भी आकर्षक बनाता है। जहाँ तक दलों का प्रश्न है, वे शुक्ल (श्वेत चमकदार रंग के होते हैं। यहाँ प्रतिवारणा का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। चित्र में कमल बनाने पर उनको पत्तों से सुशोभित करना भी अनिवार्य होता है। पत्तों को

दलानि शुक्लवर्णानि प्रतिवारणया सह ।
पीठं तद्वच्चतुष्कोणं कणिकार्धसमं बहिः ॥ ८० ॥
सितरक्तपीतकृष्णैस्तत्पादान् वह्नितः क्रमात् ।
चतुर्भिरपि शृङ्गाणि त्रिभिर्मण्डलमिष्यते ॥ ८१ ॥
दण्डः स्यान्नीलरक्तेन पीतमामलसारकम् ।
रक्तं शूलं प्रकुर्वीत यत्तत्पूर्वं प्रकल्पितम् ॥ ८२ ॥

एक रंग का होने के कारण उनका पृथक् प्रदर्शन करना भी आवश्यक होता है । प्रत्येक दल को एक पतली रेखा से पृथक् करते हैं । वही रेखा प्रतिवारणा कहलाती है । प्रतिवारणा रेखा के प्रयोग से सभी श्वेत कमल दल पृथक्-पृथक् आभासित होने लगते हैं । इस कमल के आधारभूत पीठ को कणिका के आधे मान के बराबर बाहर अर्थात् कमल से बाहर अर्थात् नीचे बनाना चाहिये ॥ ७९-८० ॥

कमल के गोल अधोभाग में हरित ऐसे चार पत्र बनते हैं, जो फूल के ऊपरी पत्रों के नीचे चारों कोनों में लटके रहते हैं । वे पुष्पपाद को तरह होते हैं । उन्हें सित, रक्त, पोत और कृष्ण वर्णों से रंगना चाहिये । यह क्रम अग्नि कोण से प्रारम्भ कर नैऋत्य, वायव्य और ईशान, वायव्य और नैऋत्य क्रम से रंगना चाहिये । इसो बात को 'वह्नितः क्रमात्' शब्द के माध्यम से व्यक्त किया गया है । ये चार हो बनाये जाते हैं । रंगोन शृङ्गों से समन्वित यह त्रिरंगो मण्डल पूर्वरूप से आकर्षक हो जाता है ॥ ८१ ॥

पूरा दण्ड नील रक्ताभ रंग से बनाने का निर्देश है । दण्ड का अमलसारक रूप नीचे की गाँठ का भाग पोत रंग से रंगना चाहिये । शूलशृङ्गों का रंग लाल होना आवश्यक है । जहाँ तक द्वार रचना का प्रश्न है, यह नितान्त आकर्षक रूप से सजाना चाहिये । द्वार चाहे चतुष्कोण हो या गोल मेहराबदार हो, दोनों ही ग्राह्य हैं । सम्भव है, यह संकीर्ण पद्धति से

पश्चाद्द्वारस्य पूर्वेण त्यक्त्वाङ्गुलचतुष्टयम् ।
द्वारं वेदाश्रि वृत्तं वा संकीर्णं वा विचित्रितम् ॥ ८३ ॥
एकद्वित्रिपुरं तुल्यं सामुद्रमथवोभयम् ।
कपोलकण्ठशोभोपशोभादिबहुचित्रितम् ॥ ८४ ॥
विचित्राकारसंस्थानं बल्लीसूक्ष्मगृहान्वितम् ।

प्रतिवारणा दलाग्रवर्तिनी वृत्तरेखा । तद्वदिति शुक्लम् । कर्णिकार्धमेको भागः । तत्पदानिति पीठपादकान् । त्रिभिरिति रक्तरजोवर्जितैः । त्यक्त्वाङ्गुलचतुष्टयमिति द्विकरत्वस्य अपवादः । द्वारस्यापि एतच्छेषभूतं शास्त्रान्तरोक्त वैचित्र्यं दर्शयति द्वारमित्यादिना ॥ ७९-८४ ॥

निर्मित हों अर्थात् चौकोर और गोल दोनों पद्धतियाँ अपनायी गयी हों । देहातों में या नगरों के ऐसे लोग जो सांस्कृतिक निष्ठा से पूर्ण हैं, वे नापित पत्नियों से चौक अर्थात् 'लघुपूजा मण्डल' तण्डुल चूर्ण द्वारा या गोधूमचूर्ण द्वारा पूरने की व्यवस्था करते हैं । उसी तरह मण्डल द्वार एक रेखा में पूरा गया हो, दो रेखाओं से पूरा गया हो या तीन रेखाओं से पूर कर उन्हें रंगों से भर दिया गया हो, सुन्दर बनाने के लिये इस प्रकार पूरने की पद्धति अपनायी जाती है । इसे सित रक्त, पीत अथवा सामुद्र अर्थात् नील रङ्ग से आकर्षक बनाना चाहिये । यहाँ 'सामद्ग' पाठ के संस्करण मेरी दृष्टि से अशुद्ध हैं । रङ्ग की दृष्टि से सामुद्र शब्द ही प्रसङ्गानुकूल है । द्वार के कपोल कण्ठ का उल्लेख कर यहाँ मानवीकरण की प्रक्रिया अपनायी गयी है । इन भागांशों की शोभा, उपभोगादि की दृष्टि से इसे विचित्र आकार प्रदान किया जा सकता है । मण्डल ऐसा होना चाहिये, जिस पर बल्लरियों अथवा बल्लियों से घेरकर पदार्थों के या विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के उद्देश्य से सूक्ष्म गृह-सा वहाँ बना लिया गया हो ॥ ८२-८४ ॥

यद्यपि उद्दिष्टानां सर्वेषां शास्त्राणां शूलाब्जविन्यास उक्तस्तथापि य एव कश्चन विशेषोऽस्ति, स एव इह प्रदर्श्यत इति क्रमव्यतिक्रमेणापि श्रीदेव्यायामलोक्तं तद्विन्यासमुपन्यस्यति

श्रीदेव्यायामले तूक्तं क्षेत्रे वेदाश्रिते सति ॥ ८५ ॥
अर्धं द्वादशधा कृत्वा तिर्यगूर्ध्वं च तिर्यजम् ।
भागमेकं स्वपार्श्वोर्ध्वं गुरु समवतारयेत् ॥ ८६ ॥

अर्धं द्वादशधा कृत्वेत्युक्त्वा समस्तं क्षेत्रे चतुर्विंशतिधा विधेयमिति सिद्धम् । तिर्यगूर्ध्वमिति सर्वत इति तेन चतुर्दिक्कं षट् षट् भागान् त्यक्त्वा मध्ये द्वादशभागमानं क्षेत्रं ग्राह्यम् । तत्र क्षेत्रापेक्षया मध्यस्थं ब्रह्मपद-संनिकृष्टम्, अत एव तदेकपार्श्ववर्तितया तिर्यग्गमेकं भागं गुरुः स्वेन तद्भाग-सम्बन्धिनैव पार्श्वेन ऊर्ध्वादिक्रमेण ऊर्ध्वं समवतारयेत् तथा भ्रमयितुमनु-संदध्यादित्यर्थः । तेन ब्रह्मपदापेक्षया द्वितीये मर्मणि एकं हस्तं निवेश्य तं समस्तं भागमर्थात् तदीयमेव त्रिभागं न तु प्राग्वत् तदर्धमिति । एतदुभयं तस्य ब्रह्मसूत्रस्य अन्ते तत्संनिकर्षादारभ्य भ्रमभेत् येन खण्डचन्द्रद्वयं सिद्ध्येत् ।

जितने उद्दिष्ट शास्त्र हैं, सब में शूलाब्ज निर्माण और तत्सम्बन्धी विन्यास की बातों का उल्लेख है । यह भी निश्चित है कि, सब में संरचना सम्बन्धी विशेष विशेष अन्तर भी हैं । श्रीदेव्यायामल ग्रन्थ में क्या वैशिष्ट्य है या मण्डल संरचना सम्बन्धी क्या अन्तर निर्दिष्ट है, सर्वप्रथम उसी का उल्लेख कर रहे हैं—

श्रीदेव्यामल गुरु को यह विशेष निर्देश देता है कि, वेदाश्रित क्षेत्र में आधा भाग को मात्र १२ भागों में ही बाँटना चाहिये । इसमें ऊर्ध्व और तिर्यक् रेखायें पहले की तरह ही कोष्ठक निर्माण करेंगी । तिर्यक् भागों में से गुरु अपने पार्श्व के ऊर्ध्व भाग में पड़े ऐसी व्यवस्था करे । मध्यस्थ नील भागों के अन्त में इस कर्मकाण्ड को पूरा करने वाला आचार्य दो अर्ध वृत्तों

मध्यस्थं तं त्रिभागं च तदन्ते भ्रमयेदुभौ ।
भागमेकं परित्यज्य तन्मध्ये भ्रमयेत्पुनः ॥ ८७ ॥
तृतीयांशोर्ध्वतो भ्राम्यमूर्ध्वांशं यावदन्ततः ।
चतुर्थांशात्तदूर्ध्वं तु ऊर्ध्वाधो योजयेत्पुनः ॥ ८८ ॥
तन्मानादूर्ध्वमाभ्राम्य चतुर्थेन नियोजयेत् ।

पुनश्च पार्श्वगत्या द्वितीयभागस्य उपरि स्थितमेकं भागं परित्यज्य अर्थात् तृतीये मर्मणि एकं हस्तं कृत्वा तस्य त्यक्तस्यैव भागस्य अन्तः पूर्ववदेव भ्रमयेत् येन खण्डचन्द्रद्वयं सिद्धयेत् । तत् समनन्तरवर्तितं खण्डचन्द्रद्वयं चतुर्थांशादारभ्य अर्थात् तिर्यक् क्रमेण ऊर्ध्वं क्षेत्रकोणं यावत् ऊर्ध्वाधोगत्या योजयेदिति श्रृङ्गसिद्धिः । एतदेव पार्श्वान्तरेऽपि अतिदिशति पुनरित्या-

---

का निर्माण करें, जो दो खण्ड चन्द्रों की समानता करें। यह खण्डचन्द्रद्वय ब्रह्मसूत्र की सहायता से बड़े परकाल की तरह घुमाने से बनते हैं। इस प्रकार मण्डल संरचना में भेद का यह देव्यामल शास्त्र का दृष्टिकोण स्पष्ट होता है ॥ ८५-८६ ॥

इसी मण्डल में श्रृङ्ग सिद्धि की चर्चा भी की गयी है। उसका प्रकार यह है कि, जहाँ खण्डचन्द्रद्वय हैं, वहाँ जा त्रिभाग बना था, उसके नीचे चतुर्थांश का एक भाग बचा था। वहाँ से तिर्यक् रेखाओं को ऊपर-ऊपर पार करते हुए ऊर्ध्व रेखा पर्यन्त कोष्ठक भागों के क्षेत्र कोण के पास ऊर्ध्व और रेखा द्वारा श्रृङ्ग बनाया जाना चाहिये। एक पार्श्व रचना का स्वरूप है। इसी तरह दूसरे पार्श्व में भी संरचना करें। तृतीयांश मण्डल भाग की तिर्यक् रेखा से ऊपर की ओर एक-एक अर्धवृत्त बनावें। इसके बाद वहाँ वही ऊर्ध्वाधर क्रम अपनायें। रेखाओं को योजित कर पुनः श्रृङ्ग साधना करें।

इस मण्डल को स्वतः बनाकर इसे स्वयं ऊर्ध्व अधर तिर्यक् रेखायें खींचकर श्लोकार्थ के साथ मिला-मिलाकर अभ्यास करना चाहिये। इस

दिना। पुनश्च तदेव अनन्तरोक्तं मानमवलम्ब्य यथायथमूर्ध्वं खण्डचन्द्रयुग्मत्रयमा समन्तात् परस्परसंश्लेषेण भ्रमयित्वा तद्द्वारेण वर्तयित्वा चतुर्थेन शृङ्गारम्भकेणापि खण्डचन्द्रयुग्मेन नियोजयेत् तद्युक्तं कुर्यादित्यर्थः ॥८५-८८॥

एवं पार्श्वारावर्तनाभिधाय, मध्यारामपि वर्तयितुमाह

ऊर्ध्वाद्योजयते सूत्रे ब्रह्मसूत्रावधि क्रमात् ॥ ८९ ॥

क्रमाद्वैपुल्यतः कृत्वा अंशं वै ह्रासयेत् पुनः ।

परम्परा के लोप का यह प्रधान कारण है कि, विद्वत्ता प्रदर्शन के साथ और पद्य रचना एवं व्याख्या के अतिरिक्त इन चित्रों का भी इन ग्रन्थों में उल्लेख नही है। विवेक व्याख्या ओर भी भ्रम उत्पन्न करतो है। पारिभाषिक शब्दों का परिभाषा के स्थान पर अनावश्यक गद्य का विस्तार करने से सत्य और तथ्य अस्पष्ट हो गये हैं। यह पूरा आह्निक विना चित्र के अस्पष्टता का प्रतोक बन गया है। हाँ, शास्त्रकार ने अन्यान्य शास्त्रगत वैशिष्ट्य को अपने शब्दों में व्यक्त कर परम्परा को आगे बढ़ाने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित किया है ॥ ८७-८८ ॥

अरों का मण्डल में महत्त्वपूर्ण स्थान है। पार्श्व अरों से मध्य को संरचना का स्वरूप व्यक्त होता है। मध्य अरों से जीवसूत्रों और ब्रह्मसूत्रों द्वारा का गया संरचना सम्बद्ध हैं। यहाँ वहो कर रहे हैं—

ऊर्ध्व माण्डलिक रेखा से जावसूत्र को ब्रह्मसूत्र पर्यन्त ले जाना चाहिये। इसमें वेपुल्य ओर ह्रास को दो विधियाँ अपनायो जातो हैं। ह्रास का क्रम अंश अंश करके सम्पन्न होता है। अंश अंश का क्रम तिर्यक् रेखाओं से सम्बन्धित है। इससे एक स्थान पर वैपुल्य और क्रमशः ऊपर ले जाते समय ह्रास होते-हाते ऊपर की ओर एकदम तोक्ष्णाग्र भाग स्पष्ट हा जाता है। इस तरह मध्यशृङ्ग का सिद्धि हो जातो है।

मध्यशृङ्ग को संरचना के अनन्तर दानों पार्श्वभागों को दृष्टि से दण्ड की संरचना के सम्बन्ध में विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि,

अर्धभागप्रमाणस्तु दण्डो द्विगुण इष्यते ॥ ९० ॥

पुनरपि प्रथमवर्तितत्रिभागवर्तमानखण्डचन्द्रोर्ध्वादारभ्य ब्रह्मसूत्रावधि सूत्रं कृत्वा कमेण क्रमेण वैपुल्यादंशमंशमेव ह्रासयित्वा योजयते तत्रैव संबद्धं कुर्यात् येन अस्य तीक्ष्णाग्रत्वं स्यादिति मध्यशृङ्गसिद्धिः। एवं च अत्र मध्यशृङ्गे पार्श्वद्वयादून भवेदित्यपि पूर्वस्मात् विशेषः। अर्धेति भागद्वय-संबन्धिभ्यामधर्भ्यां भागप्रमाणश्चतुरङ्गुलः इत्यर्थः। द्विगुण इति गृहीत-क्षेत्रार्धशिष्टभागषट्कोपरि क्षेत्रार्धस्य प्रक्षेपात् द्वादशभागप्रमाणो द्विहस्त इति यावत् ॥ ९० ॥

अत्रैव आमलकसारक वर्तयति

भागं भागं गृहीत्वा तु उभयोरथ गोचरात् ।
भ्राम्यं पिप्पलवत् पत्रं वर्तनैषा त्वधो भवेत् ॥ ९१ ॥
षोडशांशे लिखेत्पद्मं द्वादशाङ्गुललोपनात् ।

भागशब्दोत्र अङ्गुलवचनः, तेन उभयाः पार्श्वयोर्विषयादङ्गुलमङ्गुलं गृहीत्वा अश्वत्थपत्राकारतया भ्रमोदय इति। एषा दण्डस्य अधोवर्तना येन

अर्धभाग प्रमाण दण्ड द्विगुण हा जाता है। द्विगुण दण्ड विन्यास की रूपरेखा क्षेत्रार्ध भाग के रिक्त भाग को ऊर्ध्वार्ध से मिलाने पर यह स्पष्ट होता है। उसका प्रमाण दो हाथ का हा जाता है ॥ ८८-८९ ॥

दण्ड के निर्माण के बाद आमलक सार भाग का वर्णन करते हुये कह रहे हैं कि, उभय पार्श्व के अङ्गुल अङ्गुल मान को ध्यान में रखकर नोचे की गाँठ की रचना होनो चाहिये। दण्ड के नोचे चार अङ्गुल ऊपर से पीपल के पत्र की गोलाई के समान वृत्त रचना होने और पिप्पल पत्र के समान ही नुकीला भाग नोचे निकालने स गाँठ अपना आकार ग्रहण कर लेतो है। मण्डल १६ सूत्र रेखाओं में विभक्त है। इसमें १२ अङ्गुल छोड़ने से ४ भाग शेष रह जाता है। चार हाथ के मण्डल में १½, १½ हाथ पार्श्व में छूट जाने पर हास्तिक पद्मपत्र का आकार बन जाता है ॥ ९० ॥

षडङ्गुलविस्तृतस्य अमलसारकस्य अधश्चतुरङ्गुलं तीक्ष्णाग्रं मूलं स्यात् । षोडशांश इति षोडशभिः सूत्रैर्विभक्ते क्षेत्रे । द्वादशाङ्गुललोपनादिति प्रतिदिक्कं येन हास्तिकं पद्मं स्यात् ।

तच्च कुत्र लिखेदित्याह

तदूर्ध्वं मध्यभागे तु वारिजन्म समालिखेत् ॥ ९२ ॥
मध्यशृङ्गावसाने तु तृतीयं विलिखेत्ततः ।

तदूर्ध्वं दण्डोपरि । मध्यभागे इति मण्डलापेक्षया । न केवलमत्रैव पद्मं लिखेत्, यावदरोपर्यपीत्याह मध्येत्यादि । तृतीयशब्दार्थमेव घटयति मध्येत्यादिना ॥ ९२ ॥

सव्यासव्ये तथैवेह कटिस्थाब्जे समालिखेत् ॥ ९३ ॥
कर्णिका पीतला रक्तपीतशुक्लं च केसरम् ।
दलानि पद्मबाह्यस्था शुक्ला च प्रतिवारणी ॥ ९४ ॥
शूलं कृष्णेन रजसा ब्रह्मरेखा सिता पुनः ।
शूलाग्रं ज्वालया युक्तं शूलदण्डस्तु पीतलः ॥ ९५ ॥
शूलमध्ये च यत्पद्मं तत्रेशं पूजयेत्सदा ।
अस्योर्ध्वे तु परां दक्षेऽन्यां वामे चापरां बुधः ॥ ९६ ॥

श्लोक ९२ के अनुसार दण्ड के ऊपर मध्य और अन्त में पद्म रचना की चर्चा है। कटिस्थ अब्ज की ऊपर कहीं चर्चा नहीं है। शूलाब्ज का उल्लेख है। इससे यह प्रतीत होता है कि, लाखों मण्डल भेदों में एक मण्डल ऐसा भी बनता था, जिसके दण्ड के कटि भाग में सव्य अपसव्य पार्श्वों में कमल बनाये जाते थे। उन कमलों की कर्णिकायें पीतवर्णी होती थीं। केशर रक्त, पीत और शुक्ल वर्ण से रंगे जाते थे। पद्मबाह्यस्थ दल शुक्ल प्रतिवारणी रेखाओं से भिन्न प्रतीत होते थे। शूल काले रंग से रंगा जाता था। उसमें बनने वाली बाह्य रेखा सित अर्थात् श्वेतवर्णी होती थी। शूल के

तथैवेति द्वादशाङ्गुललोपनेनैवेत्यर्थः । दलानीति अर्थात् शुक्लानि। ब्रह्मरेखेति अरामध्यभागः। ज्वालया युक्तमिति रक्तरजः पातात्। ईशमिति प्रेतरूपं सदाशिवम्। ऊर्ध्वं इति मध्यशृङ्गस्य। अन्यामिति परापरम् ॥ ९६ ॥

ननु इह पराया अपि परा मातृसद्भावादिशब्दव्यपदेश्या कालसङ्कर्षिणी भगवती उक्ता, सा कुत्र पूज्येत्याशङ्क्य आह

या सा कालान्तका देवी परातीता व्यवस्थिता ।
ग्रसते शूलचक्रं सा त्विच्छामात्रेण सर्वदा ॥ ९७ ॥

यदुक्तं तत्रैव

'तन्मध्ये तु परा देवी दक्षिणे च परापरा ।
अपरा वामशृङ्गे तु मध्यशृङ्गोर्ध्वतः शृणु ॥
या सा सङ्कर्षिणी देवी परातीता व्यवस्थिता ।' इति ।

ग्रसते इति स्वात्मसात्करोतीत्यर्थः, तेन तन्मयमेव इदं सर्वमिति अभिप्रायः ॥ ९७ ॥

अग्रभाग पर काला के साथ ज्वालाग्र रंग लगाया जाता था। शूल दण्ड पीले रंग का तथा शूल के मध्य में जा पद्म निर्मित होता था, उसमें ईशानदेव की स्थापना कर उन्हीं की पूजा होती थो। इसके ऊर्ध्व भाग में परादेवी प्रतिष्ठित और पूजित होतो थी। दक्ष में परापरा और वाम भाग में अपरा देवो की प्रतिष्ठा करते थे ॥ ९२-९६ ॥

इस विषय की चर्चा देव्यायामलशास्त्र में इस प्रकार को गयी है—

"उस पद्म के मध्य में परादेवी की प्रतिष्ठा की जानी चाहिये। दक्षिण भाग परापरा देवी की पूजा परा की तरह पूरी करनी चाहिये। अपरा की पूजा वामशृङ्ग में करनो चाहिये। मध्यशृङ्ग के ऊर्ध्व भाग में मातृसद्भाव-व्यपदेश्या संकर्षिणो देवी का अधिष्ठान है। यह देवी परातीता मानी जाती है।"

आसामेव प्रपञ्चतो व्याप्तिमाह

शान्तिरूपा कला ह्येषा विद्यारूपा परा भवेत् ।
अपरा तु प्रतिष्ठा स्यान्निवृत्तिस्तु परापरा ॥ ९८ ॥

ननु सदाशिवस्य शान्त्याद्याः कलाः शक्तित्वेन उक्ताः । कथमासामियती व्याप्तिरित्याशङ्क्य आह

भैरवं दण्ड ऊर्ध्वस्थं रूपं सादाशिवात्मकम् ।
चतस्रः शक्तयस्त्वस्य स्थूलाः सूक्ष्मास्त्वनेकधा ॥ ९९ ॥

यत् नाम हि दण्डोपलक्षितस्य शूलस्य उपरि स्थितं भैरवं पूर्णं तदेव सादाशिवात्मकमिति यस्यैव स्थूलतायां शान्त्याद्या बह्व्यः शक्तयोऽन्यथा तु एता इति तात्पर्यार्थः ॥ ९९ ॥

इसे श्लोक ९७ में कालान्तका देवी कहते हैं। यह काल को भी काल है। परा को भी अतिक्रान्त कर प्रतिष्ठित है। यह समस्त शूल चक्र को आत्मसात् करती है। वही सर्वव्याप्त परातीत तत्त्व है। यह सारा प्रसर उसी की महामरीचि का विबोध-प्रसरमात्र है ॥ ९७ ॥

कलाओं की दृष्टि से इनके स्वरूप का परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं—

१. परापरा निवृत्ति कला रूपा है।

२. अपरा प्रतिष्ठा कला रूपा है।

३. परा विद्या कला रूपा है।

४. कालसंकर्षिणी देवी को शान्ता कला के रूप में माना जा सकता है।

यहाँ एक शङ्का प्रस्तुत कर रहे हैं—शास्त्र में शान्ता आदि ये कलायें सदाशिव देव की शक्तियों के रूप वर्णित की गयी हैं। यहाँ देवियों के रूप में इन्हें प्रदर्शित किया है। इनकी इस व्यक्ति के रहस्य का स्वरूप क्या है? इसका उत्तर दे रहे हैं—

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेव उपसंहरति

एष यागः समाख्यातो डामराख्यस्त्रिशक्तिकः ।

इदानीं त्रिशिरोभैरवीयमपि शूलाब्जविन्यासं वक्तुमुपक्रमते

अथ त्रैशिरसे शूलाब्जविधिर्दृष्टोऽभिलिख्यते ॥ १०० ॥

तमेव आह

वामामृतादिभिर्मुख्यैः पवित्रैः सुमनोरमैः ।
भूमिं रजांसि करणी खटिकां मूलतोऽर्चयेत् ॥ १०१ ॥

चतुरश्रे चतुर्हस्ते मध्ये शूलं करत्रयम् ।
दण्डो द्विहस्त ऊर्ध्वाधः पीठयुग्विपुलस्त्वसौ ॥ १०२ ॥

दण्ड का मण्डल में जा स्वरूप निर्मित होता है, वह केवल शक्तिमन्त दृढ़ आधार का प्रतीक है। उसके ऊपर शूल को भैरवदेव का पूर्ण प्रतीक रूप समझना चाहिये। वही सदाशिव का स्वरूप है। इसीलिये उसे सदाशिवात्मक कहा गया है। ये शान्ता आदि स्थूल रूप से क्रमशः प्रसरित कलायें हैं। इनके अर्थात् सदाशिव के व्यापक प्रसार में सूक्ष्म कलाओं का आनन्त्य अनुभूति का विषय है॥ ९८-९९॥

उक्त भैरव सदाशिव, और इनकी स्थूलता में शान्ता आदि शक्तियों के सामञ्जस्य में, अथवा भैरव, चार स्थूल शक्तियों और सूक्ष्म अनन्त शक्तियों की दृष्टि में यह त्रिशक्तिक डामर नामक याग सम्पन्न होता है। इस याग को डामर याग कहते हैं।

प्रसङ्गवश मण्डल और शूल आदि के सन्दर्भों के उल्लेख के बाद यहाँ त्रिशिरोभैरव ग्रन्थ में उक्त शूलाब्जविन्यास को चर्चा कर रहे हैं। शास्त्रकार ने इस शूलाब्जविधि को स्वयं देखा था। यह दृष्ट शब्द से अभिज्ञात होता है। उसी का उल्लेख कर रहे हैं—

वामामृत कौल शासन का रूढ शब्द है। इससे, पवित्र अर्थात् पवित्रक और सुमनोरम पुष्पों आदि से सर्वप्रथम भूमि की पूजा होनी

वस्वङ्गुलः प्रकर्तव्यः सूत्रत्रयसमन्वितः ।
द्वादशाङ्गुलमानेन दण्डमूले तु पीठिका ॥ १०३ ॥
दैर्घ्यात्तूच्छ्रायाच्चोर्ध्वे च चतुराङ्गुलमानतः ।
ऊर्ध्वेऽप्युच्छ्रायता वेदाङ्गुला दैर्घ्याद्दशाङ्गुला ॥ १०४ ॥
शूलमूलगतं पीठीमध्यं खाब्धिसमाङ्गुलम् ।

मूल इति मूलमन्त्रेण । चतुर्हस्ते इति वक्ष्यमाणगत्या चतुर्विंशतिधा विभक्तेऽपि । करत्रयस्यैव विभागो दण्डो द्विहस्त इति । वस्वङ्गुलो विपुल इति वैपुल्यादष्टाङ्गुलः । यदुक्तं तत्र

'अष्टाङ्गुलं तु वैपुल्यम् .... ।' इति ।

चाहिये । इसके बाद वहाँ रखी सारी सामग्रियाँ जैसे रँगने के रंगों, करणा, खटिका आदि में भी देवत्व-व्याप्ति की दृष्टि से उनकी पूजा मूल मन्त्र से करनी चाहिये । चार हाथ के चतुरस्र चतुष्कोणीय समचतुर्भुज भूमि में यह शूलाब्जमण्डल विमण्डित किया जाता है । इसके बीच में तीन हाथ लम्बे (दण्ड पर) शूल की संरचना होती है । दण्ड भी दो हाथ का होता है । चार हाथ की लम्बाई में दो हाथ का दण्ड, एक हाथ की शूल मिलाकर करत्रय की कल्पना की गयी है । दण्ड के नीचे एक हाथ की भूमि अमलसारक गाँठ की संरचना से चार हाथ की पूर्ति हो जाती है ।

ऊपर और नीचे पीठों के मध्य में इसका निर्माण होता है । चतुर्भुज को २४ भाग में बाँटते हैं । इसमें दण्ड की चौड़ाई ८ अङ्गुल की मानी जाती है । आठ अङ्गुल में तीन सूत्रों का विभाग आता है । १२ अङ्गुल की पीठिका दण्ड के नीचे बननी चाहिये । पीठिका रूपी वेदी की ऊँचाई चार अङ्गुल, चौड़ाई दश अङ्गुलमान की होनी चाहिये । इसी वेदी रूपी पीठिका के मध्य में अष्टाङ्गुल चौड़े दण्ड की निचली गाँठ आधृत होती है । चार हाथ की चौड़ाई में से शूल-मूल गत पीठिका भाग खाब्धि अर्थात् ४ अङ्गुल होना चाहिये ।

विमल इति अनागमिकत्वादपपाठः । एवमन्यत्रापि अनागमिकत्वादेव अपपाठा निरस्ताः, निरसिष्यन्ते चेति न अन्यथा मन्तव्यम् । खाब्धीति चत्वारिंशत् । यत्र विद्यापद्मेन अष्टाङ्गुलमाच्छादनं व्योमरेखया च अङ्गुल-मिति एकत्रिंशदङ्गुलानि अस्य दृश्यत्वम् ॥ १००-१०४ ॥

एतदुपसंहरन् त्रिशूलवर्तनामुपक्रममाणस्तदुपयोगि क्षेत्रं तावदाह

कृत्वा दण्डं त्रिशूलं तु त्रिभिर्भागैः समन्ततः ॥ १०५ ॥

अष्टाङ्गुलप्रमाणैः स्याद्धस्तमात्रं समन्ततः ।

त्रिभिर्भागैरिति ऊर्ध्वोर्ध्वम् । हस्तमात्रं समन्तत इति समचतुरस्रम् ॥

एतदेव भागत्रयं शूलावयवाश्रयतया विभजति

शूलाग्रं शूलमध्यं तच्छूलमूल तु तद्भवेत् ॥ १०६ ॥

वेदी मध्ये प्रकर्तव्या उभयोश्च षडङ्गुलम् ।

द्वादशाङ्गुलदीर्घा तु उभयोः पार्श्वयोस्तथा ॥ १०७ ॥

त्रिशिरो भैरव में एक पाठ "अष्टाङ्गुल वैपुल्य' विषयक है। आचार्य जयरथ के समय इसमें पाठभेद की जानकारी उनके द्वारा वैपुल्य के स्थान पर वैमल्य पाठ के खण्डन से मिलती है। वैमल्य विमल शब्द से निष्पन्न है। विमल पाठ को वे अपपाठ मानते थे। उसका खण्डन यहाँ उन्होंने किया है। साथ ही यह भी कहा है कि, प्रसङ्गवश जहाँ भी अपपाठ होंगे, मैं उनका निराकरण करना कर्त्तव्य मानता हूँ ॥ १००-१०४ ॥

इस प्रकार मण्डल दो पार्श्वभागों और मध्य के दण्ड और शूल भाग को मिलाकर तीन भाग में विभक्त हो जाता है। इसके साथ ही दण्डशूल भी तीन भाग ये विभक्त होते हैं। इसे इस गणित से कल्पित करना चाहिये। ९६ अङ्गुल चौड़े मण्डल में दण्ड के ८८ अङ्गुल के त्रिसूत्रों से समन्वित दण्ड २४ अङ्गुल का और दोनों ओर के पार्श्व भाग ३६, ३६ अङ्गुल के होते हैं। यह मात्र ऊह पर आधारित प्रकल्पन है।

वेदीत्यादि । अत्र अङ्गुलमध्यभागे ब्रह्मसूत्रापेक्षया उभयोः पार्श्वयो-रुभयोरपि अन्तयोः षडङ्गुलसंमतं क्षेत्रमर्थात् संश्रित्य तथा षडङ्गुलप्रकारेण दैर्घ्यात् द्वादशाङ्गुला वेदी वेद्याकारस्तत्र मध्यः संनिवेशः कार्यः पार्श्वद्वयेऽपि अन्तर्मुखं खण्डेन्दुयं वर्तनीयमित्यर्थः । एवं मूलेऽपि अर्थात् वक्ष्यमाण-गण्डिकोपयोगिब्रह्मसंनिकर्षात् भागार्धं त्यक्त्वा पार्श्वगत्या सार्धभागे द्वयोः पार्श्वयोरुच्छ्रायात् चतुरङ्गुलामुत्तानार्धचन्द्राकृतिं वेदीं कुर्यात् । ततोऽपि

चतुरङ्गुलमुच्छ्रायान्मूले वेदीं प्रकल्पयेत् ।
उभयोः पार्श्वयोश्चैवमर्धचन्द्राकृतिं तथा ॥ १०८ ॥
भ्रामयेत् खटिकासूत्रं कटिं कुर्याद्विरङ्गुलाम् ।
वैपुल्याद्दैर्ध्यतो देवि चतुरङ्गुलमानतः ॥ १०९ ॥
यादृशं दक्षिणे भागे वामे तद्वत्प्रकल्पयेत् ।
मध्ये शूलाग्रवैपुल्यादङ्गुलश्च अधोर्ध्वतः ॥ ११० ॥

वेदी के मध्य में शूल मूल, ऊपर शूलमध्य और शिखर भाग पर शूलाग्र ये दण्डशूल के तीन भाग बनते हैं। दोनों पार्श्व के कुल १२ अङ्गुल अर्थात् एक बालिश्त की चौड़ाई ६-६ अङ्गुल को मिलाकर होती है। वेदी को ऊँचाई मात्र चार अङ्गुल की होनी चाहिये। वेदी के दोनों भाग अर्ध चन्द्र से सुशोभित होते हैं। इन्हें खण्डचन्द्रद्वय कहते हैं ॥ १०५-१०८ ॥

यह सारी रचना कोष्ठों में विभाजित मण्डल की रेखाओं पर निर्भर होती थी। उन्हीं रेखाओं के आधार पर चन्द्रों की आकृतियाँ आदि बनायी जाती थीं। किसी रेखा के केन्द्र बिन्दु से ब्रह्मसूत्र को घुमाकर आकृतियों का निर्माण होता था। इसके बीच बीच में हाथ रखकर अर्थात् हाथ से ब्रह्मसूत्र को लक्ष्य करती हुई गोलाकार आकृतियाँ बनती थीं। कभी ब्रह्मसूत्र और जाव सूत्र तथा कभी खटिका सूत्र को भ्रमि युक्त कर कटि की आकृति निर्मित करते थे। इसी को आचार्य जयरथ 'ब्रह्मसूत्रनिकटकोटि' कहते हैं। इसके

चतुरङ्गुलमानेन वैपुल्यात्तु षडङ्गुला ।
उच्छ्रायात्तु ततः कार्या गण्डिका तु स्वरूपतः ॥ १११ ॥

अर्थात् ब्रह्मसूत्रनिकटकोटौ हस्तं निवेश्य द्वितीयकोटेरारभ्य मध्यभागवर्तित-खण्डेन्दुकोटिं यावत् सूत्रं भ्रामयेत् येन दैर्घ्यात् चतुरङ्गुलमानः कट्याकारः संनिवेशः पार्श्वद्वयेऽपि सिद्धयेत् । तत्र च द्वयङ्गुलं वैपुल्यम् । द्वयङ्गुलत्वमेव मध्यभागेऽपि अतिदिशति मध्ये शलाग्रवैपुल्यादिति । न च अविशेषेणैव सर्वत्र द्वयङ्गुलं वैपुल्यमित्याह अङ्गुलश्चाध इति । तेन कट्यन्तादर्धचन्द्रस्य यथायथमङ्गुलान्ते ह्रासः कार्य इति । इदानीं शूलाग्रं वर्तयति ऊर्ध्वत इत्यादिना । तदनन्तरं पुनरूर्ध्वभागे वैपुल्यात् चतुरङ्गुला वक्ष्यमाण-द्वादशाङ्गुलपद्मत्रयस्थितेः सर्वतो हस्तमात्रक्षेत्रग्रहणस्य च अन्यथा अनुपपत्त्या शूलक्षेत्रपार्श्वान्तं यावदुच्छ्रायात् षडङ्गुलसार्धभागप्रमाणा अर्थात् वेदि

अग्रभाग में हाथ रखकर दूसरो ब्रह्मसूत्रकोटि से मध्यभागवर्त्ती खण्डचन्द्र तक सूत्र को गोलाकार घुमाकर दण्ड के उभय पार्श्व में कटि और पार्श्व के आकार की सिद्धि होतो है । इसे शास्त्रकार ने द्वादशाङ्गुल दीर्घा (१०७) लिखा है । चार अङ्गुल उच्छ्राय अर्थात् ऊँचाई इसमें अपेक्षित होती है । जैसे दक्षिण पार्श्व में आकृति सिद्ध होती है, उसी तरह वाम भाग में भी आकृति का उभार निश्चित है ।

इसमें यह ध्यान रखना चाहिये कि, शूल के अग्रभाग के वैपुल्य के कमर तक आते आते दो अङ्गुल का ह्रास हो जाना चाहिये । इस तरह वेदी पर्यन्त अर्थात् ऊपर से लेकर नीचे तक दोनों पार्श्वों के उभार के कारण बनने वालो वह आकृति कटि, मध्य और शूल तक एक अभिनव आकर्षण का विषय बन जाती है । इसके बाद गण्डिका के स्वरूप का निर्धारण हो जाता है ॥ १०९-१११ ॥

पीठोर्ध्वे तु प्रकर्तव्यं शूलमूलं तु सुव्रते।
शूलाग्रमङ्गुलं कार्यं सुतीक्ष्णं तु षडङ्गुलम् ॥ ११२ ॥
अरामध्यं प्रकर्तव्यमराधस्तु षडङ्गुलम् ।

कटिररा वा पार्श्वद्वयेऽपि कार्येत्यर्थः। एवं पार्श्वशृङ्गद्वयवर्तनामभिधाय मध्यशृङ्गमपि वर्तयति गण्डीत्यादिना। प्रथमम राश्रयग्रथकं पीठोर्ध्व-भाग-द्वयसंमितोत्सेधगण्डिकात्मकं शूलमूलं कार्यम्, अनन्तरमग्रे वैपुल्यादङ्गुलम्, अत एव सुतीक्ष्णं तृतीयभागोर्ध्वाङ्गुलद्वयत्यागात् षडङ्गुलं मध्येऽधश्च तावन्मानम्,—इत्येवमर्धेन्दुद्वयकोटी यावत् दर्ध्यादष्टाङ्गुलं मध्यशृङ्गं स्यात् ॥ १०९-११२ ॥

अत्रैव वैपुल्यमाह

चतुरङ्गुलनिम्नं तु मध्यं तु परिकल्पयेत् ॥ ११३ ॥
पूर्वापरं तदेवेह मध्ये शूलं तु तद्बहिः ।

पोठ के ऊर्ध्व देश में शूलमूल की संरचना दिये हुए निर्देश के अनुसार करनी चाहिये। व्रतनिष्ठ पार्वती का विशेषण शब्द सम्बोधन में सुव्रते! के रूप में प्रयुक्त है। भगवान् शङ्कर पार्वतो से कह रहे हैं कि, शूल का अग्रभाग तोक्ष्ण होना चाहिये। यह तीक्ष्णता तीन अङ्गुल के तीन कोष्ठकों के दो भाग दोनों ओर के इस विधि से छोड़े जाँय, जिससे ऊपर चलते चलते एक दम मध्य कोष्ठ में नुकोले रूप से शूलाग्र निकल सके। इसमें यह ध्यान रखना आवश्यक है कि, अरा मध्य अराधस्तात् उभय भाग ६-६ अङ्गुल मापके हों ॥ ११२ ॥

चार अङ्गुलों की निम्नता से युक्त मध्य का परिकल्पन शूल निर्माण की प्रक्रिया में आवश्यक होता है। यहाँ निम्नता का तात्पर्य ह्रास क्रम का ही परिणाम होता है। निचली रेखा यदि दो बालिश्त की अर्थात् २४ अङ्गुल क ग रेखा बनायी गयी हो, तो ऊपर एक विन्दु 'अ' पर

कारयेत त्रिभिः सूत्रैरेकैकं वर्तयेत च ॥ ११४ ॥
कजत्रयं तु शूलाग्रं वेदांशैर्द्वादशाङ्गुलम् ।
क्रमाद्दक्षान्यमध्येषु त्र्यष्टद्वादशपत्रकम् ॥ ११५ ॥
चक्रत्रयं वातपुरं पद्ममष्टाङ्गुलारकम् ।
विद्याभिख्यं शूलमूले रजः पश्चात्प्रपातयेत् ॥ ११६ ॥

बीच में ख बिन्दु पर लम्ब बना कर अक और अग रेखाओं को मिलाने से अकग त्रिकोण रूप त्रिशूल बनता है। इसमें संहार क्रम का ह्रास परिलक्षित होता है। सृष्टिक्रम में अ बिन्दु से क तक जाने वाली रेखा विस्तार प्राप्त करती हुई नीचे जाती है। उसी तरह अग रेखा भी चौड़ाई को बढ़ाती हुई आधार विन्दु पर पहुँचती है।

यह ध्यान देने की बात है कि, अर्धचन्द्र द्वय कोटि से ऊपर गण्डिका रेखा पर्यन्त ह्रास का माप चार अङ्गुलों का और पूर्व ह्रास होकर शिखाग्र तक त्रिशूल की संरचना पूरी हो जाती है। इन त्रिशूलों में 'अरों' के माप का प्रकल्पन आवश्यक रूप से किया जाता था। अरों के माप से ही त्रिशूलाब्जों की रचना की जाती थी। पद्म बनाने की उस समय भी भ्रमि प्रक्रिया अपनायी जाती थी। आज भी ज्यामिति यन्त्र (Compass) द्वारा कमल बनाये जाते हैं। इनकी संरचना १२ अङ्गुलों की चौड़ाई में चार-चार अङ्गुलों के अवान्तर क्रम की दृष्टि से भी जाती हैं। इससे दायें, बायें और मध्य की भ्रमि पूर्ण होती है। इस तरह ३८ और १२ का अद्भुत आनुपातिक सम्बन्ध यहाँ स्थापित होता दीख पड़ता है। फुलाये हुए गुब्बारे की तरह कमल का मध्य भाग गोल होना चाहिये। इन कमलों को विद्या शूल कहते हैं ॥ ११३-११६ ॥

त्रिशूलं दण्डपर्यन्तं राजवर्तेन पूरयेत् ।
सूत्रत्रयस्य पृष्ठं तु शुक्लं चारात्रयं भवेत् ॥ ११७ ॥
शुक्लेन रजसा शूलमूले विद्याम्बुजं भवेत् ।
रक्तं रक्तासितं शुक्लं क्रमादूर्ध्वाम्बुजत्रयम् ॥ ११८ ॥
शुक्लेन व्योमरेखा स्यात् सा स्थौल्यादङ्गुलं बहिः ।
तां त्यक्त्वा वेदिका कार्या हस्तमात्रं प्रमाणतः ॥ ११९ ॥
वैपुल्यत्रिगुणं दैर्घ्यात् प्राकारं चतुरश्रकम् ।
समन्ततोऽथ दिक्षु स्युर्द्वाराणि करमात्रतः ॥ १२० ॥

इस प्रकार विद्याभिख्य त्रिशूलाब्ज संरचना के अनन्तर उसे अनुरंजित करने का उपक्रम ११६वें श्लोक से ही कर रहे हैं—

शास्त्रकार का निर्देश है कि, शूलाब्ज निर्माण के बाद ही रजः प्रवर्त्तन करना चाहिये। त्रिशूल को दण्ड पर्यन्त राजवर्त्त से रँगना चाहिये। तीन जीवसूत्रात्मक रेखाओं के पृष्ठ भाग में अरात्रय अर्थात् तीन अङ्गुल का क्षेत्र शुक्लवर्ण का होना चाहिये। इसी तरह शूलमूल भी शुक्लवर्णी रहना उत्तम माना जाता है। विद्या कमल का यही स्वरूप शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट है। 'विद्या' नामक यह कमल वेदी के ऊपर निर्मित होता है ॥ ११६½-११७½ ॥

ऊपर के तीनों कमल क्रमशः रक्त, रक्तसित (कृष्णपिङ्गल) और शुक्ल वर्ण के निर्धारित हैं। व्योमरेखा भी शुक्ल रंग की होनी चाहिये। व्योमरेखा वाले पत्र एक-एक अंगुल बाह्य की ओर होते हैं। व्योमरेखा सर्वदा विद्यापद सम्बन्धिनी मानी जाती है। इसमें स्थूलत्व का आकलन स्वाभाविक रूप से होता है। यह अंगुल मात्र बहिर्भाग में निर्मित होती है। वेदी उसे उतना ऊपर छोड़कर नीचे निर्मित की जाती है। प्रथा के अनुसार पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर की ओर बनाते हैं। उसी पर त्रिशूलाब्ज का प्रकल्पन करते हैं। वेदियों का मान हाथ भर का होना चाहिये । चतुरस्र प्राकार

त्रिधा विभज्य क्रमशो द्वादशाङ्गुलमानतः ।
कण्ठं कपोलं शोभां तु उपशोभां तदन्ततः ॥ १२१ ॥
प्राकारं चतुरश्रं तु सभूरेखासमन्वितम् ।
सितरक्तपीतकृष्णै रजोभिः कारयेत्ततः ॥ १२२ ॥
रक्तै रजोभिर्मध्यं तु यथाशोभं तु पूरयेत ।
अस्या व्याप्तौ पुरा चोक्तं तत्रैवानुसरेच्च तत् ॥ १२३ ॥

तदेवं मध्यशूलमधिकृत्य चतुर्भ्योऽङ्गुलेभ्यो यथायथं निम्नं मध्यभागं पूर्वापरं परिकल्पयेदिति संबन्धः। अयमत्र अर्थः—अर्धेन्दुद्वयकोट्युपरि यावत् गण्डिकाक्रोडीकारस्तावत् चतुरङ्गुलवैपुल्यं, मध्यभागारम्भात्प्रभृति चतुर्णामङ्गुलानां यथायथमङ्गुलावशेषो ह्रास इति । अरोपरि पद्मत्रय-वर्तनामाह तद्बहिरित्यादि । तद्बहिरित्यधिकक्षेत्रसंग्रहेणापि शूलाग्रेषु त्रिभिर्भ्रमैः पद्मत्रयं कुर्यात्, एकैकं च द्वादशाङ्गुलं चतुर्भिश्चतुर्भिर्वर्तयेदिति वाक्यार्थः। अष्टाङ्गुलारकमिति अष्टाङ्गुलं अष्टदलं च अरात्रेयमिति दण्ड-

---

(काष्ठ प्राचीर) दैर्घ्य का त्रिगुण वैपुल्य हाना उचित है। चारों दिशाओं में द्वार की परिकल्पना भी आवश्यक है। प्रतिभाग का त्रिधा विभाग करना चाहिये। यह १२-१२ अंगुल का होना अनिवार्य है ॥ ११८-१२१ ॥

इस मण्डल के मानवोकरण रूप से इसमें कण्ठ, कपोल आदि का प्रकल्पन भी करते हैं। शोभा और उपशोभा के उपकरणों का प्रयोग करना चाहिये।

प्राकार काष्ठ के घेरे को कहते हैं। मण्डल के चतुर्दिक या वेदो के चतुर्दिक भो चतुरस्र रूप से इसकी संरचना होनो चाहिये। भूरेखा के सहित प्राकार का समन्वय आवश्यक माना जाता है। इसके बाद भू रेखाओं में श्वेत रक्त पीत और कृष्ण रंगों से इसे चतुरस्र चारुता प्रदान करनो चाहिये। रक्तवर्णी राजवर्त से मध्य भाग समन्वित करना शास्त्र सम्मत है। इससे

संबन्धि। रक्तासितमिति कृष्णपिङ्गलम्। क्रमादिति प्रागुक्तेषु दक्षवाम-मध्येषु। व्योमरेखेति विद्यापद्मसंबन्धिनो। क्रमशस्त्रिधा बिभज्येति प्रतिभागम्। पुरेति त्रिशूलाभिधानावसरे। तदनुसृतिमेव किञ्चिदभ्यनक्तिः॥ १२३॥

तदेव आह

अरात्रयविभागस्तु प्रवेशो निर्गमो भ्रमः।
अनाहतपदव्याप्तिः कुण्डल्या उदयः परः॥ १२४॥

शोभा में चार चाँद लग जाते हैं। त्रिशूल वर्णन सन्दर्भ में जिस प्रकार के रंग प्रयोग अपेक्षित बताये गये हैं, वैसे ही यहाँ भी रंगों का प्रयोग होना चाहिये। वहीं की परिपाटी का यहाँ भी अनुसरण करना चाहिये, यह शास्त्र का आदेश है॥ १२२-१२३॥

प्रवेश, निर्गम और भ्रम अर्थात् वर्त्तुल प्रयोग, इस त्रिक के अनुसार तीन अरों को विभक्त किया जाता है। इस प्रकार भी मण्डल संरचना में साधनात्मकता का सुस्पष्ट संकेत यहाँ शास्त्रकार दे रहें हैं। शरीर संरचना की दृष्टि से साधना की आधार शिला अधःद्वादशान्त माना जाता है। इसे अरा सन्निवेश कहते हैं। यह तोन प्रकार का सन्निवेश स्वाध्यायशील अध्येता के लिये ध्यान देने का विषय है। प्रथम अवस्था प्रवेश होतो है। कुण्डलिनी जागरण के सन्दर्भ में साधना का श्री गणेश 'प्रवेश' प्रक्रिया से ही होता है। 'प्रवेश' पूर्ण हो जाने पर 'निर्गम' यत्नसाध्य होते हुए भी अयत्नसाध्य हो जाता है। वह ऊपर उठते हुए 'अनाहतव्याप्ति' को प्राप्त कर लेता है। यहाँ आकर कुण्डलिनी का 'उदय' पूरा होता है। 'उदय' को एक प्रकार का 'प्रबोध' ही कहते हैं। उषः काल में सूर्य की अरुणिमा का ही प्रसर होता है। हालाँकि उसी समय मुकुलों में सुगबुगाहट होने लगती है। किन्तु सूर्योदय हो जाने पर ही 'पद्म' प्रबोध होता है। उसी समय सरोबर को सुषमा का साक्षात्कार होता है। वही अवस्था अनाहतव्याप्ति मानो जाती है।

हृदि स्थाने गता देव्यस्त्रिशूलस्य सुमध्यमे ।

नाभिस्थः शूलदण्डस्तु शूलमूलं हृदि स्थितम् ॥ १२५ ।

शक्तिस्थानगतं प्रान्तं प्रान्ते चक्रत्रयं स्मरेत् ।

अनाहतेति प्रवेशनिर्गमभ्रमात्मनोऽरासंनिवेशस्य एतदाकारत्वात् । ईदृगेव कुण्डलिनीरूपायाः शक्तेः प्रबोधः इति उक्तं कुण्डल्या उदयः पर इति । हृदि स्थाने गता इति इच्छादीनामरारूपतया उल्लासात् । नाभिस्थ इति तत एव प्राणशक्तेर्दण्डाकारतया उदयात् । हृदाति

'हृदयं शक्तिसूत्रं तु ....।'

इत्याद्युक्त्या शक्त्युदयस्थाने जन्माधारे अत एव आह शक्तिस्थानगतं प्रान्तमिति । प्रान्ते इति द्वादशान्ते ॥ १२४-१२५ ॥

अनाहत व्याप्ति में 'हृदय' के अवस्थान पर ध्यान देना चाहिये 'हृदय' केन्द्र माना जाता है। यह आद्यस्पन्द और सार रूप होता है। मेरु दण्ड में मध्य केन्द्र में जब प्राण कुण्डलिनी सुषुम्ना के माध्यम से पहुँचती है, उस समय इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों का एक समरस झिलमिल चमत्कार वहाँ लहरा उठता है। भगवान् शङ्कर भगवती संविद्रूपा पार्वती को सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं कि, त्रिशूल दण्ड का यह अंश साधकों के लिये नित्य ध्यातव्य है।

दण्ड का आदि उद्गम तो शक्तिस्थान अर्थात् जन्मस्थान अर्थात् मूलाधार स्थान अर्थात् योनिस्थान से होता है। यह स्थान अधःद्वादशान्त होता है। वहीं चक्रत्रय के स्मरण करने की प्रक्रिया विधिलिङ् की क्रिया के माध्यम से व्यक्त की गयी है। यह त्रिशूलदण्ड का प्रान्त भाग होता है। कुण्डलिनी की 'लपेट' यही रहती है, जिसे यहीं से जागृत करते हैं। शूलदण्ड का उदय नाभि में दण्डाकार रूप ग्रहण करता है। नाभि से यहाँ मणिपूर चक्र अर्थ लेना चाहिये, जो मूलतः मेरु दण्ड में होता है और उसको

जन्माधारात् द्वादशान्तं यावदुदये युक्तिमाह

उत्क्षिप्योत्क्षिप्य कलया देहमध्यस्वरूपतः ॥ १२६ ॥
शूलदण्डान्तमध्यस्थशूलमध्यान्तगोचरम् ।
प्रविशेन्मूलमध्यान्तं प्रान्तान्ते शक्तिवेश्मनि ॥ १२७ ॥

अनुभूति नाभि में होती है। वस्तुतः नाभि मणिपूर चक्र का प्रतिबिम्बांग है। मणिपूर के ऊपर अनाहत का चक्राङ्क अवस्थित है। इस तरह हृदय, नाभि और जन्म स्थान रूप शक्तिसूत्र से जुड़े तीन चक्र हैं। मण्डल की संरचना में त्रिशूल दण्ड की इस परिकल्पना पर विशेष ध्यान देना चाहिये ॥ १२४–१२५ ॥

जन्माधार से द्वादशान्त पर्यन्त प्राणशक्ति के उदय के सम्बन्ध में अभिनव युक्ति का अभिधान कर रहे हैं—

कला कला क्रम से उपर्युपरि प्राणशक्ति का प्रक्षेप साधना का विषय है। यह उस यत्नज व्यापार की सांकेतिक शब्दावली है। देह मध्य की सुषुम्ना और मेरुदण्ड की संरचना को जानकार साधक जानते हैं। उसी के आश्रय से स्वात्मरूपोपकल्पन को बल मिलता है। साधक उत्कर्ष की ओर आगे बढ़ता है। साधना में प्राणदण्ड के स्वरूप का विन्यास सिद्ध होता है और मण्डल में शूलदण्ड का विन्यास रूप ग्रहण करता है।

इसी क्रम से शूलदण्ड की संरचना पूरी होती है। जहाँ तक शूल दण्डान्त का प्रश्न है, यह बताने की वस्तु नहीं है किन्तु इसका अत्यन्त गोपन भी श्रेयस्कर नहीं माना जाता। अतः यह संकेत पर्याप्त है कि,

प्राणशूलदण्ड का अन्त ब्रह्मबिल में हो जाता है। वहाँ से अर्थात् प्राण नदन क्रम में नादान्त तक शूलमध्यान्त हो जाता है। उसमें चिदुद्बोध की प्रक्रिया से प्रवेश मिलता है। मूलाधार से चलकर मध्यान्त की यह यात्रा शक्तिवेश्म में पूरी होती है। यह प्राण का प्रान्तान्त होता है। मण्डल में भी दण्ड का क्रम निर्मित किया जाता है ॥ १२६-१२७ ॥

एतदपि कथमित्याशङ्क्य आह

अस्पन्दकरणं कृत्वा एकदा स्पन्दवर्तनम् ।
मूलमानन्दमापीड्य शक्तित्रयपदं विशेत् ॥ १२८ ॥
तत्र पूज्यं प्रयत्नेन जायन्ते सर्वसिद्धयः ।

मूलाधार में अश्विनी मुद्रा के द्वारा साधक जिस प्राणस्पन्द का प्रवर्त्तन करता है, वह क्रमशः चक्रों को पार करते हुए एक वार ब्रह्मबिल में अस्पन्दवत् अवस्थित होता है। पुनः नाद क्षेत्र में ले जाने के लिये नाद स्पन्द पुनः शक्तिस्पन्द से स्पन्दवर्त्तन चलता है। यहाँ 'एकदा' शब्द केवल एक बार अर्थ में नहीं है। एक बार ब्रह्मबिल से, एकवार नादान्त से, एकवार शक्ति से फिर व्यापिनी से और समना तक यह एक बार का प्रयोग होता है। इन सभी पड़ावों पर एक बार स्पन्दवर्त्तन करना पड़ता है। यह अनुभूत सत्य है।

समना का पड़ाव भी अन्तिम पड़ाव नहीं होता। वहाँ से मातृका मालिनी के सहस्रावर्त्तन के उपरान्त मूलाधार स्थित आनन्दधाम का आपीडन अश्विनी मुद्रा के माध्यम से करना पड़ता है। परिणामतः शक्तित्रय पद में प्रवेश प्राप्त होता है। यह परा, परापरा अपरा का पावन उन्मना परिवेश है। यह साधना का शिवाण्ड परिवेश है। इसमें अनुप्रवेश अशेष आनन्दों का उत्स माना जाता है। शास्त्रकार भगवान् अभिनव उसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इसीलिये विशेष प्रयत्न के द्वारा उस पद को पूजा योग्य मानकर पूजने की क्रियाशीलता के लिये निर्देश दे रहे हैं— 'तत्र पूज्यं प्रयत्नेन'। अर्थात् वहाँ पूज्य की पूजा प्रयत्न पूर्वक करें। यही पूजा निर्विकल्प व्योम में आदरपूर्वक लय होने वाली पूजा मानी जाती है।

इस निर्विकल्प पूजा को प्रयत्नपूर्वक सम्पन्न करना चाहिये। इसके परिणामस्वरूप समस्त सिद्धियाँ स्वतः कृपा कर समुपलब्ध हो जाती हैं। इस पूजनयोग में सभी अध्वावर्ग का समायोजन स्वाभाविक रूप से हो

समस्ताध्वसमायोगात् षोढाध्वव्याप्तिभावतः ॥ १२९ ॥
समस्तमन्त्रचक्राद्यैरेवमादिप्रयत्नतः ।
षट्त्रिंशत्तत्त्वरचितं त्रिशूलं परिभावयेत् ॥ १३० ॥
विषुवत्स्थेन विन्यासो मन्त्राणां मण्डलोत्तमे ।
कार्योऽस्मिन् पूजिते यत्र सर्वेश्वरपदं भजेत् ॥ १३१ ॥

मूलमिति मत्तगन्धात्मकम् । विषुवत्स्थेनेति प्राणसाम्येनेत्यर्थः ॥१३१॥

जाता है। कला तत्त्व भुवन अध्वावर्ग के साथ वर्ण, पद और मन्त्राध्वा की व्याप्ति का भाव अपनी भव्यता के साथ उद्भावित हो जाता है। परिणामतः समग्र मन्त्रचक्र चिति-चमत्कार की चैतन्यपूर्ण अर्चियों से मानव चेतना को बिभास्वर कर देते हैं।

ये सारी बातें प्रयत्न साध्य हैं। शाश्वत सत्य का साक्षात्कार अनायास नहीं होता। उसके परिवेश में प्रवेश के लिये प्रयत्न करना पड़ता है। केवल बातों से और शब्दजाल के जंजाल से षोढाध्व व्याप्ति को विभा का व्याकरण ज्ञात नहीं हो सकता। प्रयत्न करना, विधि में उतरना और छतीसतत्त्वात्मक विश्व को आन्तर उपलब्धि के लिये साधना को आराधना की तरह आत्मसात् करना अनिवार्यतः आवश्यक है।

इस प्रकार की स्तरीयता प्राप्त कर सर्वतत्त्वात्मक त्रिशूल का परिभावन करना योगी का कर्त्तव्य है। परिभावयेत् लिङ् लकार को एकवचनान्ता क्रिया है। प्रत्येक साधक व्यक्तिगत रूप से स्वात्मपरिष्कार में प्रवृत्त हो और ऐसा भावन करे, शास्त्रकार की यह दिव्य देशना है ॥ १२८-१३० ॥

व्यक्ति व्यक्ति की साधन सम्पन्नता से विश्वात्मकता का श्रृङ्गार होता है। इसका निर्देश मण्डल में त्रिशूलदण्ड की संरचना के सन्दर्भ में शास्त्रकार ने दिया। इतनी सांकेतिक स्वात्मपरिष्कृति के निर्देश के

एवं शूलाब्जभेदमभिधाय व्योमेशस्वस्तिकं निरूपयति

स्वस्तिकेनाथ कर्तव्यं युक्तं तस्योच्यते विधिः ।

कर्तव्यमिति

'अथ मण्डलसद्भावः संक्षेपेणाभिधीयते ।' (१)

अनन्तर वे पुनः प्रकृत विषय की ही चर्चा करते हुए कह रहे हैं कि,

मण्डलोत्तम की संरचना में इसी प्रकार मन्त्रों का विन्यास भी अवश्यकरणीय कार्य है। इसकी विधि का निर्देश भी वे कर रहे हैं। उनके अनुसार यह क्रिया विषुवत् में स्थित होकर करनी चाहिये। विषुवत् ज्योतिष शास्त्र का शब्द है । तन्त्र में प्राणसाम्य की साधना में विषुवत् सिद्ध होता है । प्राणदण्डात्मक हो जाता है। लम्ब जैसे सीधी रेखा पर पड़े और दो समकोणों की रचना कर दें । उसी तरह तुला और मेष की संक्रान्तियों को भी विषुव योग मानते हैं। प्राणदण्ड की इस सिद्धि में ही मण्डल में विषुवसिद्धि सम्पन्न होती है। उसकी पूजा से सर्वेश्वर की पूजा भी पूरी हो जाती है। इस दृष्टि से मण्डल संरचना का यह उद्देश्य भी है कि, इससे सर्वेश्वर पद की उपलब्धि हो सके ॥ १३१ ॥

यहाँ शूलाब्ज भेद और मण्डल संरचना के सन्दर्भ में शूलदण्ड आदि में मन्त्रविन्यास आदि की चर्चा की गयी। इसके बाद व्योमेश स्वस्तिक विधि का निरूपण करने जा रहे हैं—

यहाँ व्योमेश स्वस्तिक संरचना के सम्बन्ध में तत्कालीन प्रचलित परम्परा पर दृष्टि निक्षेप कर रहे हैं।

स्वस्तिक से भी मण्डल संरचना पूरी करनी चाहिये। यहाँ स्वस्तिक मण्डल की विधि का निर्देश शास्त्रकार कर रहे हैं। श्लोक में 'कर्त्तव्यं' क्रिया के साथ कर्म का कथन नहीं है। आचार्य जयरथ के अनुसार इस आह्निक के अवतरण के उद्देश्य से रचित प्रथम प्रतिज्ञात्मक अर्धाली में यह कहा गया है कि,

इत्युक्तिसामर्थ्यात् मण्डलम्। स्वस्तिकेन युक्तमिति स्वस्तिकयोगात् तत्संज्ञमित्यर्थः। यदुक्तं

> भगवन् मातृचक्रेश उन्मनाश्रयदायक।
> शान्तिपुष्टिकरं धन्यं स्वस्तिकं सर्वकामदम्॥
> सूचितं सर्वतन्त्रेषु न चोक्तं परमेश्वर।
> तस्य सूत्राणि लोपाच्च भ्रमपङ्कजकल्पनाम्॥
> वद विघ्नौघशमनमाप्यायनकरं महत्।' इति।

व्योमेशस्वस्तिकतायां तु

"यहाँ से मण्डल सद्भाव संक्षिप्त रूप से कहा जा रहा है। 'मण्डल' की उक्ति के सामर्थ्य से यहाँ भी कर्त्तव्यम् क्रिया के साथ 'मण्डलम् कर्त्तव्यम्' यह अर्थ ग्रहण करना चाहिये।

स्वास्तिक से युक्त मण्डल मङ्गलमय होता है। इससे युक्त रहने के कारण इस मण्डल का नाम भी स्वस्तिक मण्डल ही व्यवहार में लाया जाना चाहिये। इस सम्बन्ध में त्रैशिरसोक्त आगमिक प्रामाण्य प्रस्तुत कर रहे हैं—

"भगवन्! मातृकाचक्र के माध्यम से आप उन्मना का आश्रय प्रदान करते हैं। यह शास्त्रों की मान्यता है कि, स्वस्तिक शान्ति प्रद और पुष्टिकारक होते हैं। स्वस्तिक धन्यता का प्रतीक है। इससे समस्त कामनाओं की पूर्ति होतो है। इसीलिये इसे सर्वकामद मानते हैं। सभी तन्त्रों से यह सूचित होता है किन्तु भगवन् आपके द्वारा इस सम्बन्ध में हमें कुछ भी बतलाने की कृपा नहीं की गयी है। कृपाकर हे परमेश्वर! आप हमें स्वस्तिक मण्डल की निर्मिति के सूत्रों की, सूत्रों के लोप, भ्रम अर्थात् आवर्त्त से बनने वाले कमलों की कल्पना की जानकारो देने की कृपा करें। स्वस्तिक-मण्डल विघ्नों की राशि को ध्वस्त करता है और परम आप्यायक भो माना जाता है।" इन श्लोकों में आये हुए लोप, भ्रम और पङ्कज कल्पना के अन्य अर्थ भी लगाये जा सकते हैं।

'महाव्योमेशलिङ्गस्य देहधूपं समर्पयेत्।'

इत्याद्युक्त्या अन्वर्थव्योमेशशब्दव्यपदेश्येन नवात्मभट्टारकेण अधिष्ठेयत्वं निरूपयितुं तद्विधिमेव आह

नाडिकाः स्थापयेत्पूर्वं मुहूर्तं परिमाणतः ॥ १३२ ॥
शक्रवारुणदिक्स्थाश्च याम्यसौम्यगतास्तथा ।

व्योमेशस्वस्तिकता के सन्दर्भ में एक अन्य उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

"महाव्योमेश लिङ्ग के लिये देह धूप समर्पित करना चाहिये।"

देहधूप का समर्पण एक प्रकार का तप है। देह ही धूप बन गया है। देहाध्यास के विकार कोलित किये जा चुके हैं। समर्पण से बढ़कर मुक्ति का कोई दूसरा उपाय भी नहीं माना जाता। महाव्योमेश लिङ्ग के लिये देह से बढ़ कर कोई दूसरा धूप हो भी नहीं सकता।

इस आगमोक्ति द्वारा दो वस्त्वर्थों पर बल दिया गया है। १. महाव्योमेश अन्वर्थ व्यपदेशात्मक संज्ञा है। २. इससे नवात्मकभट्टारक का अधिष्ठेयत्व निरूपित हो रहा है। इसकी विधि का निर्देश यहाँ कर रहे हैं—

पहले मण्डलसद्भाव शब्द का प्रयोग किया गया है। मण्डल सद्भाव स्वस्तिक से युक्त होना चाहिये। इस शास्त्रकार को सद्भाव शब्द बड़ा प्रिय है। मातृ सद्भाव, भैरव-सद्भाव सृष्टि-सद्भाव शब्दों के सद्भाव शब्द विशिष्ट अर्थ गाम्भीर्य को आत्मसात् कर प्रयुक्त किये गये हैं। स्वस्तिक हो और उसी में मण्डल सद्भाव की भव्यता हो, तो समझिये, कलनामयी कल्पित-कलेवरा कला देवी का श्रृङ्गार हो जाता है। इसी की विधि का निर्देश कर रहे हैं—

सर्व प्रथम नाडिका की संरचना करनी चाहिये। नाडिका का अपभ्रंश शब्द 'नाडा' आज भी प्रचलित है। यह लालपीले रंगों से रंगे धागों का

नाडिकाः सूत्राणि । मुहूर्तेति त्रिंशत् । शक्रेति पूर्वापरायताः । याम्येति दक्षिणोत्तरायताः ॥ १३२ ॥

एवञ्च किं स्यादित्याह

एकोनत्रिंशद्वंशाः स्युर्ऋजुतिर्यग्गतास्तथा ॥ १३३ ॥

वंशा भागाः । ऋज्विति पूर्वापरगताः, तिर्यगिति दक्षिणोत्तरगताः ॥ १३३ ॥

संग्रह होता है। एक प्रकार का पूजा द्रव्य है। इसे रक्षा की जगह बाँधते भी हैं। इसी प्रकार के सूत्र को नाडिका कहते हैं। इसे रंगों में डुबो कर गीला कर लेते हैं। दोनों छोरों को दो व्यक्ति हाथ में दबा कर किसी पटल पर रखते हैं। इसी के उच्छलित दबाव से पतली रंगीन रेखा उभर आती है। कर्मकाण्डी लोग सर्वतोभद्र मण्डल संरचना के अवसर यह क्रिया अवश्य करते हैं। इसी नाडिका अर्थात् 'नाडा' रूप सूत्र को पटल पर अवस्थित करना चाहिये। इससे रेखायें बन जायेंगी। ये रेखायें मात्रा में ३० होनी चाहिये। इन्हें पूर्व पश्चिम और उत्तर दक्षिण क्रम से एक दूसरे पर रखकर दबाने से मण्डल का एक चित्र बनने लगता है ॥ १३२ ॥

यह चित्र कैसे बनता है, इसका वर्णन कर रहे हैं—

जब रेखायें तीस बनेंगी, तो उसके एकोनत्रिंश अर्थात् २९ विभाग होंगे। इन विभागों को तिर्यक् रेखाओं से क्रास करते हुए ३० और रेखायें खीचेंगे, तो उनमें २९ × २९ = ८४१ आठ सौ एकतालिस लघु चतुर्भुज के कक्ष दीख पड़ने लगेंगे। आचार्य जयरथ ने अर्थ को सरल करने की दृष्टि से ऋजु शब्द का अर्थ एक एककर प्रस्तुत किया है। सबसे पहले 'वंश' शब्द का विभाग है।

वस्तुतः वंश शब्द कुल और बाँस इन दो अर्थों में ही व्यवहृत होता है। यह इसका तीसरा अर्थ है। ऋजु रेखा सरल रेखा होती है। इसे और स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि, पूर्व से पश्चिम भाग तक जाने वाली रेखायें

एतदेव हृदयङ्गमीकरणाय संकलयति

अष्टौ मर्मशतान्येकचत्वारिंशच्च जायते ।

मर्मेति भागाः । एवं हि एकोनत्रिंशतेरेकोनत्रिंशत्येव गुणने भवेत् ॥

एतदेव विभजति

वंशैर्विषयसंख्यैश्च पद्मं युग्मेन्दुमण्डलम् ॥ १३४ ॥
रससंख्यैर्भवेत्पीठं स्वस्तिकं सर्वकामदम् ।
वसुसंख्यैर्द्वारवीथावेवं भागपरिक्रमः ॥ १३५ ॥

होती हैं । इसी तरह तिर्यक् रेखायें उत्तर दक्षिण को ओर खींचकर या नाडिका के दबाव से बनती हैं ॥ १३३ ॥

इसे और भी हृदयङ्गम करने के लिये आगे की कारिका का अवतरण कर रहे हैं—

इस तरह पूर्व-पश्चिम और उनके ऊपर उत्तर-दक्षिण रेखाओं की संरचना से इस मण्डल में ८४१ भाग उभर आते हैं। यह प्रक्रिया प्रायः सभी मण्डलों में रेखा-विभाग से अपनायी जाती है। यहाँ पर २९ को २९ से ही गुणित करने पर ही ८४१ भाग बन पाते हैं। इन भागों को इस तरह से ही विभाजित करते हैं।

यह विभाजन पद्म, इन्दु मण्डल, पीठ, वीथी और द्वार रूप से होता है। चतुर्दिक् २९ में से ५ कक्षों का सर्वप्रथम विभाजन करते हैं। विषय पाँच होते हैं। क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर। इन बिषयों के लिये इस मण्डल में चारों ओर २½ के भाग छोड़ने से ५ भागों की पूर्ति हो जाती है। पूर्व २½+पश्चिम २½=५। इसी उत्तर २½ और दक्षिण २½ भाग कुल ५ भाग होते हैं। इन्हे स्वस्तिक पद्म कहते हैं।

इसके बाद के दो भाग (लघु चतुर्भुज भाग) इन दो भागों को युग्म इन्दु मण्डल कहते हैं। इसके बाद ६ भाग पीठ रूप से विभाजित करते हैं।

विषयेति पञ्च। एतच्च सर्वतः, येन प्रतिपार्श्वं सार्धं भागद्वयं स्यात्। एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम्। पद्मस्यैव विशेषणं युग्मेन्दुमण्डलमिति स्वस्तिकमिति। तद्योगादत्रैव प्राधान्यमभिव्यक्तुं सर्वकामदमिति उक्तम्। तेन पञ्चभिर्भागैः पद्मं, द्वाभ्यामिन्दुमण्डलं, षड्भिः पीठं, अष्टभिर्वीथी, अष्टभिश्च द्वारमिति एकोनत्रिंशत् भागा इति उक्तमेवं भागपरिक्रम इति ॥ १३५ ॥

तत्र द्वारं तावत् वर्तयति

रन्ध्रविप्रशराग्नींश्च लुप्येद्बाह्यान्तरं क्रमात् ।
मर्माणि च चतुर्दिक्षु मध्याद्द्वारेषु सुन्दरि ॥ १३६ ॥

वह्निभूतमुनिव्योमबाह्यगर्भे पुरीषु च ।
लोपयेच्चैव मर्माणि

रन्ध्राणि नव, विप्रा ऋषयः सप्तः, शराः पञ्च, अग्नयस्त्रयः। अत्र

इसमें ६ चतुर्भुज अश आते हैं। पुनः ८ चतुर्भुजांशों को मिलाकर वीथी होती है और शेष आठ भागों वाले मण्डलांश को द्वार संज्ञा प्रदान करते हैं। इसी को 'रस' अर्थात् ६ भाग से पीठ, वसु अर्थात् आठ आठ से वीथी और द्वार होते हैं। यही भाग का पूरा क्रम है। ५+२+६+८+८=२९ भागों का यह विभाजन स्वस्तिक मण्डल की विशेषता है। यह मण्डल समस्त कामनाओं को प्रदान करने वाला है ॥ १३४-१३५ ॥

पहले द्वार प्रवर्त्तन का स्पष्टीकरण आवश्यक है। यहाँ वही उल्लिखित कर रहे हैं—

रन्ध्र ९ विप्र अर्थात् ऋषि ७, शर अर्थात् काम के बाण ५ अग्नि अर्थात् ३, इन भागों को चारों ओर के द्वारांशों से मिटा देना चाहिये। इन अंशों के लुप्त करने से बाहर से लेकर भीतर तक मिटाने का परिणाम यह होता है कि, मेरु नामक प्रसाद के तल भाग की रचना की आकृति का सन्निवेश सामने आ जाता है।

मध्यमधिकृत्य चतुर्षु अपि द्वारेषु बाह्यादारभ्य अन्तर्यावत् क्रमेण रन्ध्रादि-संख्याका भागा लोप्याः, येन अत्र मेर्वाख्यप्रासादविशेषतलच्छन्दाकारसंनिवेशः स्यात्। भूतानि पञ्च, व्योमेति शून्याकारतया रन्ध्राणि लक्षयति, तेन उभयोरपि द्वारपार्श्वयोर्बाह्यादारभ्य अभ्यन्तरं यावत् वह्न्यादिभागजातं लोपयेत्, येन द्वारप्राय एव अन्तर्मुखः पुर्याकारः संनिवेशः स्यात् ॥ १३६ ॥

एवं दिक्चतुष्टये वर्तनामभिधाय कोणेषु अपि आह

अन्तर्नाडिविवर्जितान् ॥ १३७ ॥

द्वारप्राकारकोणेषु　　नेत्रानलशरानृतून् ।

नेत्रे द्वे, ऋतवः षट्। एवं द्वारकोणेषु एकैकभागपरिहारेण द्वित्रिपञ्च-संख्याकान् भागानन्तराभ्य लोपयेत्, ऋतुसंख्याकांस्तु पृथगुपादानादेव निरव-शेषान् यदुभयदिगुद्भूतशोभाद्वयसंभेदात् कोणेषु गोमूत्रिकाबन्धप्रायः संनिवेश उदियादिति द्वारसन्धिः ॥ १३७ ॥

द्वार के पार्श्व में वर्त्तमान पूर्वोत्तर दोनों भागांशों में क्रमशः ३, ५, ७ और ९ भागों को बाहर से भीतर तक मिटा देना चाहिये। इन अंशों का लोप कर देने से एक ऐसी आकृति सी उभरती है कि, उस प्रासाद के अन्तर्भागीय द्वारदेश के आकलन होने लगते हैं। यह अन्तर्मुख पुरी के आकार का सन्निवेश इस मण्डल संरचना से प्रत्यक्ष हो जाता है ॥ १३६ ॥

इस मण्डल के चारों विभागों में पद्म आदि भागों से लेकर द्वार तक जिस तरह का कर्मकाण्ड कल्पित और चरितार्थ करना चाहिये, इन बातों का उल्लेख यहाँ तक किया गया। द्वारकोणों में कैसा वर्त्तना होनी चाहिये, इसका उल्लेख यहाँ कर रहे हैं —

द्वारकोणों में आठ अंश होते हैं। इनमें अन्तःसूत्र रेखा को छोड़कर भीतर से ही २, ३, और पाँच भागों को विलुप्त कर देना चाहिये। नेत्र २, अनल ३, और शर ५ इनका पृथक् उल्लेख शास्त्रकार ने किया है। इसके बाद ऋतु का उल्लेख है। ऋतुएँ ६ होती हैं। इस तरह इसी क्रम से पूर्व

इदानीं वीथीं वर्तयितुमाह

नाड्यो ब्रह्मवंशस्य लोप्या नेत्राद्रसस्थिताः ॥ १३८ ॥

वह्नेर्नेत्रानलौ लोप्यौ वेदान्नेत्रयुगं रसात् ।
नेत्रं सौम्यगतं लोप्यं पूर्वाद्वेदानलौ रसात् ॥ १३९ ॥

तत्र द्वारे लग्नस्य ब्रह्मवंशस्य दक्षिणपार्श्वे यत् नेत्रं द्वितोयो भागः, तत आरभ्य रसस्थिताः षड्भागा लोप्याः, तदुपरि वह्नेस्तृतोयादारभ्य नेत्रानलौ पञ्च भागा इत्यर्थः, तदुपर्यपि वेदात् चतुर्थादारभ्य नेत्रं च युगं च नेत्रयोर्युगं वेति चत्वारः, तदुपर्यपि रसात् षष्ठादारभ्य नेत्रं भागद्वय लोप्य-मित्यर्थः एतदेव वामपार्श्वेऽपि अतिदिशति सौम्येत्यादिना । एवं सौम्यगतमपि पूर्वात् प्रथमं निर्दिष्टात् नेत्रात् द्वितीयभागात् 'पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्' इति नीत्या अनलात् तृतीयात् वेदात् चतुर्थात् रसात् षष्ठात् च आरभ्य भागजातं लोप्यमित्यर्थः । वक्ष्यमाणसकलवीथीक्षेत्रसंमार्जनानुसरणात् तदन्तरपि लोपसिद्धिः ॥ १३८-१३९ ॥

पश्चिम उत्तर दक्षिण दिग्भागों में कोणों में एक ऐसी आकृति का उभार होता है, मानो गोमूत्रिकाबन्ध ही हो । इससे प्राचीन काल में भी भारतीय प्रासाद संरचना के सन्दर्भों का आकलन होने लगता है ॥ १३७ ॥

जहाँ तक वीथी का प्रश्न है, इसमें भी आठ भाग ही गृहीत होते हैं । वीथी का पूरा क्षेत्र २७२ भागों में विभक्त माना जाता है । द्वार पर लगने वाले वंश अर्थात् भाग को ब्रह्मवंश कहते हैं । उसके दायें भाग में अवस्थित दूसरे भाग से लेकर छः भाग लोप कर देने पर वीथी का पहला क्रम पूरा होता है । दूसरे क्रम में तीसरे भाग से लेकर नेत्रानल (२+३=) पाँच भाग ही लोप्य माने जाते हैं । उसके ऊपर चौथे भाग से लेकर नेत्र युग (२+२)=४ भाग ही लोप्य होते हैं । पुनः चौथे क्रम में इस अर्थात् षष्ठ भाग से प्रारम्भ कर केवल २ भाग ही लोप्य होता है । इसी तरह सौम्य गत लोप का क्रम भी सम्पन्न होता है । अर्थतः यह निष्कर्ष निकलता

एवं पुरीसंनिवेशं वर्तयित्वा स्वस्तिकवर्तनामपि आह

लोकस्था नाडिका हित्वा नेत्राद्वेदाग्नयः क्रमात् ।
शरैर्वह्निगतं चैव युगं नेत्राग्नयो रसात् ॥ १४० ॥
नेत्रात् पूर्वंगताच्चैव

ब्रह्मवंशादारभ्य लोकस्थान् सप्त भागान् परित्यज्य यत् नेत्रं नवमो भागस्तमाश्रित्य वेदाश्च तत्संनिकृष्टं त्रयं चेति चत्वारो भागा वक्ष्यमाणलोप-दृष्ट्या स्वस्तिकैकाङ्कतया शोभाकारा लोप्याः। तदनन्तरं नेत्रशब्दव्यपदिष्टात् नवमात् भागादारभ्य शरैरित्युक्तेन प्रत्यावृत्त्या द्वितीयपङ्क्तिगतेन पञ्चमेन भागेन सह अग्नयस्त्रयो भागा लोप्याः।

'सैष दाशरथी राम ··· ····· ····· ····।'

है कि, दूसरे, तीसरे, चौथे और छठें से प्रारम्भ कर उक्त निर्धारित भागों का लोप करना चाहिये ॥ १३८–१३९ ॥

इस मण्डल को स्वस्तिक मण्डल की संज्ञा प्रदान की गयी है। स्वस्तिक की सिद्धि कैसे होती है, इसका ऊहन शास्त्रकार ने इस प्रकार किया है—

लोक सात होते हैं। अतः लोक ७ अंक का वाचक शब्द माना जाता जाता है। ब्रह्मवंश रूप जो पहली नाड़ी है, उससे आरम्भ कर सात भागों को छोड़कर अर्थात् एक ब्रह्म को छोड़कर और दूसरे लोक भाग के सात अर्थात् इन दोनों के अतिरिक्त जो भाग होगा, वह नवाँ भाग ही होगा। ये दो और उसके आश्रित वेद अर्थात् चार और अग्नि अर्थात् तीन भाग कुलचार भाग हाते हैं। ये चार भाग लोप्य माने जाते हैं। इससे स्वस्तिक संरचना की भूमिका पूरी होतो है।

वेद और अग्नि की सन्धि का उदाहरण 'सैष दाशरथी रामः' की पङ्क्ति से दिया गया है। नेत्र शब्द का यहाँ द्व्यर्थक प्रयोग स्वस्तिक सिद्धि में सहायक है। नेत्र नवम भाग परक है। प्रत्यावृत्ति क्रम में द्वितीय

इतिवत् वेदाग्नय इत्यत्र सन्धिः। शरशब्दव्यपदिष्टादपि यत् युग्मं द्वितीयो भागस्तं वह्नियुतं भागत्रयेण सह लोपयेदित्यर्थः। क्रमात् ततोऽपि पूर्वात् युगशब्दव्यपदिष्टात् नेत्रादवशिष्टात् नेत्रं द्वितीयो भागाऽग्नयस्त्रयो भागाश्च लोप्या इति स्वस्तिकसिद्धिः। एवं दिगन्तरेष्वपि ज्ञेयम्। अत्र पीठे च पूर्वतः स्वस्तिकद्वयं वर्तयित्वा पश्चिमतो वर्तनीयं येन सर्वतः संनिवेशस्य सादृश्यं स्यात् ॥ १४० ॥

एतच्च उभयमपि संनिवेशं प्रदर्शयन्नुपसंहरति

सुमेरुद्वारसंज्ञितः ।
स्वस्तिका च पुरी रम्या चतुर्दिक्षु स्थितावुभौ ॥ १४१ ॥

उभाविति स्वस्तिकापुरीसुमेरू ॥ १४१ ॥

पङ्क्तिगत पञ्चम भाग के साथ तीनों भागों का लोप करना चाहिये। श्लोक की तीन पङ्क्तियों में ही चारों भागों के स्वस्तिकों के निर्माण की विधि का निर्देश है। जितना द्रविड प्राणायाम आचार्य जयरथ ने किया है, उससे अच्छा होता कि, चित्र के साथ यह सब स्पष्ट किया जाता। बिना इन निर्देशों के कभी स्वस्तिक रचना नहीं की जा सकती है। मण्डल के भीतर पद्म, वीथी, पीठ और द्वार का ऊहन कठिनाई से किया जा सकता है।

तत्कालीन तान्त्रिक कर्मकाण्ड की यह कलना कला, उपासना और सामाजिक एकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थी। सन्निवेश के सादृश्य की कल्पना प्राकृतिक समन्वयवादिता के सिद्धान्त के अनुकूल थी। आज शास्त्र के माध्यम से उस युग की इस लोकात्तर सभ्यता का पता चलता है किन्तु सयय चक्र ने इसे काल के अखण्ड सद्भाव में समाहित कर लिया है ॥ १४० ॥

इस विषय का उपसंहार करते हुए कह रहे हैं कि,

सुमेरु द्वार देश की संज्ञा निर्धारित थी। इस पीठ और वीथी की संरचना से जिस पुरी की प्रकल्पना पूरी होती थी, उसे स्वस्तिका कहते थे ॥ १४१ ॥

ननु कियति भागजाते वीथीलोपना भवेदित्याशङ्क्य आह

मर्मणां च शते द्वे च ऋषिभिर्गुणिता दिशः ।
नेत्रादिकांश्च संमार्ज्य मार्गमध्यात् सुशोभने ॥ १४२ ॥

दिश इति दश ऋषिभिः सप्तभिर्गुणिताः सप्ततिर्जायन्ते । नेत्रे द्वे । तेन द्वासप्तत्यधिकशतद्वयात्मनि वीथीक्षेत्रे लोपनां कृत्वा गुरुः स्वस्तिकापुर्याख्यां वीथीं वर्तयेदिति शेषः ॥ १४२ ॥

इदानीं पद्मं वर्तयति

ऋषित्रयकृते मध्ये

ऋषित्रयकृते इति एकविंशतिधा विभक्ते इत्यर्थः ।

एतदेव विभजति

विषयैः कर्णिका भवेत् ।
नेत्रीकृतान्वसून् पत्रं नेत्रं सकृद्विभाजितम् ॥ १४३ ॥

विना लोप की प्रक्रिया अपनाये कोई रचना नहीं बनायी जा सकती। चाहे वह पद्म हो, पीठ हो, वीथी हो या द्वार ही क्यों न हो। सारी प्रक्रिया ८४१ वंशों पर निर्भर है। इसमें अभ्यास की महती अपेक्षा होती होगी। मर्म अर्थात् वंश अर्थात् भाग जो २९ × २९ के गुणनफल से रेखाओं के मेलापक से बने हैं, उन्हीं को मिटाने और रखने का एक प्रकार का यह खेल है। खेल-खेल में स्वस्तिक मण्डल सम्पन्न होता है।

वीथी की बनावट में दिक् अर्थात् १० से ऋषि अर्थात् सात से गुणा करने से सत्तर संख्या आती है। इसमें २०२ का योग करने पर २७२ होता है। इतने ही मर्म वीथी में विलुप्त होते हैं। इनकी लोपना से स्वस्तिकापुरी की वीथी बन जाती है ॥ १४२ ॥

इसी तरह पद्म के निर्माण में भी मर्मों के लोप की प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। उसी प्रवर्त्तन की विधि का निर्देश कर रहे हैं—

वह्निं वसुगतं कृत्वा शशाङ्कस्थांश्च लोपयेत् ।

नेत्रीकृतानिति द्विगुणीकृतान्। सर्वतो हि कर्णिकार्थं परिकल्पितात् भागपञ्चकादवशिष्टाः षोडशैव भागाः पत्रवर्तनार्थं भवन्तीति भावः। प्रतिदिक्कं हि सप्तभागान्तं दलाग्रस्य वर्तयिष्यमाणत्वात् सव्योमरेखमष्टभिरेव भागैः पत्रं स्यात्। कथमित्याह नेत्रमित्यादि। नेत्रमिति द्वितीयं भागम्। सकृद्विभाजितमिति एकेनैव सूत्रेण द्विधाकृतमित्यर्थः। एवं वह्निं तृतीयं भागम्। तदेतद्भागद्वयं वसुगतं सकलक्षेत्रपर्यन्तं द्विधा विधाय शशाङ्कस्थान् लोपयेत् केसरदलसन्धिदलाग्रसंपत्तये शशाङ्काकारं भ्रमत्रयं दद्यादित्यर्थः ॥ १४३ ॥

ऋषि अर्थात् ७ का त्रय अर्थात् ३ से गुणा करने पर अर्थात् २१ प्रकार से विभक्त करने पर विषय अर्थात् ५ को कर्णिका होती है। शेष सोलह भाग अवशिष्ट रहते हैं। १६ संख्या वायु अर्थात् ८ को नेत्रीकृत अर्थात् द्विगुणित करने से भी आती है। ये भाग पद्म के पत्र के लिये प्रयोग में लाये जाते हैं। १६ भागों में से एक नेत्र अर्थात् दो भागों में एक को भी सकृत् अर्थात् एक सूत्र से द्विधा विभाजित करने पर तीन भाग बन जायेंगे। इस स्थिति में वह्निभाग अर्थात् तीसरे भाग की शिरोरेखा का लोप करने के क्रम में सकल क्षेत्र पर्यन्त शशाङ्कार तीन भ्रमि में नयी आकृति बनायी जा सकेगी। इस प्रकार की आकृति में पद्म का आकार उभर आयेगा। यह ध्यान देने की बात है कि, पद्म के कोणाग्र के बीच की सीधी रेखा का लोप हो गया है। इसी तरह के लोप चारों दिशाओं में करने पड़ेंगे। तभी पद्म की पूरी आकृति बनती है। केशर दलों और सन्धि दलों के अग्रभाग की सिद्धि के लिये ऊपरी रेखाओं का लोप करना आवश्यक हो जाता है। यह सब अभ्यास का विषय है। ग्रन्थ में सर्वत्र चित्र का अभाव है ॥ १४३ ॥

कथमित्याह

वह्नीषुऋषिमध्याच्च लोप्यं पीठेन्दुकावधि ॥ १४४ ॥

त्रिभिः पञ्चभिः सप्तभिर्भागैरवच्छिन्नात् मध्यात् कर्णिकादेशादारभ्य पीठसंलग्नचन्द्रमण्डलपर्यन्तं यावदेतत् लोपनीयमित्यर्थः। इदमत्र तात्पर्यम्—तृतीयवृत्ते द्वितीयभागान्तःपातितसूत्रादारभ्य ब्रह्मवंशमध्यं यावत् भ्रमं दद्यादिति षोडश दलार्धानि उत्पादयेत्, एवमेव दलाग्राण्यपि, किन्तु प्रागुक्तवत् व्यत्ययेनेति ॥ १४४ ॥

एवं पद्मस्य वर्तनामभिधाय पीठस्यापि आह

ब्रह्मणो नेत्रविषयान्नेत्राद्वेदानलौ हरेत्।
सागरे नेत्रकं लोप्यं नाडयः पूर्वदिग्गताः ॥ १४५ ॥

शशाङ्काकार तीन भ्रमि देने की विधि के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं—

तीन, पाँच और सात भागों से अवच्छिन्न मध्यकर्णिका के क्षेत्र से प्रारम्भ कर पीठ प्रदेश में संलग्न चन्द्र मण्डल पर्यन्त भाग का लोप करना चाहिये।

इसका तात्पर्य यह है कि, तीसरे वृत्त में दूसरे भाग में यदि सूत्र स्थापित किया जाय और उसे ब्रह्मवंश के मध्य भाग तक भ्रमि दो जाय, तो १६ दलार्ध उत्पादित होते दीख पड़ेंगे। इसी तरह दलों के अग्रभाग भी निर्मित होंगे किन्तु इस प्रक्रिया में प्रथम निर्दिष्ट विधि के व्यत्यय पर भी ध्यान देना चाहिये ॥ १४४ ॥

अब पीठाभिधान प्रक्रिया पर विचार व्यक्त कर रहे हैं—

ब्रह्मपद से नेत्र अर्थात् द्वितीय भाग पर ध्यान दीजिये। वह मूल बिन्दु माना जाता है। वहाँ से विषय अर्थात् पाँचवें भाग को देखिये। अर्थात् ब्रह्मपद से छठवें भाग के अन्तर्गत पड़ने वाले इन भागों में से दो को

ब्रह्मणो ब्रह्मपदात् यत् नेत्रं द्वितीयो भागस्तत आरभ्य विषयाः पञ्च ब्रह्मण आरभ्य षष्ठो भागस्तद्गतान् वक्ष्यमाणरेखानुगुण्यात् पङ्क्तिस्थान् वर्तयिष्यमाणस्वस्तिकदेशातिरिक्तदेशे अन्यलोपनानुक्तेश्च पञ्च भागान् नेत्रात् पार्श्वद्वयात् लोपयेत् । एवं ब्रह्मणो वेदानलौ सप्तभागस्थानपि उदयतः पञ्चैव हरेत् । तत एव सागरे चतुर्थे भागे नेत्रकं द्वितीयो भागो ब्रह्मणः पञ्चमस्तद्गतानपि उभयतः पञ्चैव लोपयेत् येन पूर्वदिशि

'पीठं रवात्रयोपेतं सितलोहितपीतलम् ।' (१४८)

इतिवक्ष्यमाणदृशा तिस्रः पट्टिकारूपा नाडिका भवन्तीत्यर्थः । पूर्वस्या उपलक्षणत्वादन्यदिक्षु अपि अयमेव विधिः ॥ १४५ ॥

एवं दिक्षु वर्तनामभिधाय कोणेष्वपि आह

भूतनेत्रगतान्मूर्ध्ना नेत्राद्द्विवह्निद्वित्रकात् ।
सौम्यगात् पीठकोणेषु लोपयेत चतुर्ष्वपि ॥ १४६ ॥

छोड़कर तीन भागों का लोप करना चाहिये । पुनः सागर अर्थात् चतुर्थ भाग के नेत्र अर्थात् द्वितीय भाग जो ब्रह्मपद से पाँचवाँ पड़ता है, उनमें भी उभयतः पाँच भागों को लुप्त करना चाहिये । श्लोक १४८ के अनुसार तीन पट्टी की नाडियाँ अर्थात् सूत्र हो जाते हैं । पूर्वदिशा का यद्यपि उल्लेख है फिर भी सभी दिशाओं के लिये यही नियम है ॥ १४५ ॥

स्वस्तिक सिद्धि के उद्देश्य से की गयी आवश्यक दिग्वर्त्तना का उल्लेख करने के बाद कोण वर्त्तना का उल्लेख कर रहे हैं—

ब्रह्मकोण की गणना से या पार्श्वकोणों की गणना की दृष्टि से भूत अर्थात् पाँचों (महाभूत पाँच ही होते हैं) भाग के मूर्धाभाग से द्वितीयस्थ जो तीन भाग अवस्थित हैं, उनका लोप करना चाहिये । यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, पार्श्वगति से तीन भागों का लोप नहीं होना चाहिये ।

ब्रह्मकोणगत्या पार्श्वगत्या वा भूतं पञ्चमो भागस्तस्य मूर्ध्ना उपरितनेन देशेन नतु पार्श्वादिना द्वितीयस्था ये त्रयो भागास्तान् लोपयेत्। नेत्राद्द्विवह्नीति द्विशब्दमहिम्ना भूतपदकथितादपि यो द्वितीयो भागोऽर्थात् तेन सह तत्संलग्नं भागत्रयं लोपयित्वा तद्द्वितीयमपि भागत्रयेण सह लोपयेत्, एवं दृक्त्रिकमित्यनेन ततोऽपि द्वितीयस्त्रिकोणेन सह लोप्य इति स्वस्तिकसिद्धिः। एवं सौम्यगात् स्वात्तरदिक्स्थत्वेन आग्नेयकोणगात् स्वस्तिकादारभ्य चतुर्षु अपि पोठकोणेषु गुरुर्लोपयेदित्यर्थः ॥ १४६ ॥

अत्रैव रजः पातं निरूपयति

दलानि कार्याणि सितैः केसरं रक्तपीतलैः।
कर्णिका कनकप्रख्या पल्लवान्ताश्च लोहिताः ॥ १४७ ॥

जहाँ तक नेत्र अर्थात् ब्रह्मकोण से तीसरे भाग का प्रश्न है, वहाँ से दूसरे और तीसरे भाग का लोप करना चाहिये। इसो तरह दृक् त्रिकात् में पञ्चम्यन्त के बल से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि, त्रिकोण के द्विताय का भी लोप करना चाहिये। जहाँ तक सौम्यगत अर्थात् उत्तर दिक् स्थित भाग से पीठ कोण का प्रश्न है, यह अग्नि कोणस्थ स्वस्तिक कोण से आरम्भ करने का अर्थ दे रहा है। वहाँ से आरम्भ कर चारों पीठ कोण में लोप्य भागों का लोप गुरु को करना चाहिये ॥ १४६ ॥

रंग भरने की प्रक्रिया का उल्लेख कर रहे हैं। स्वस्तिक को आकर्षक बनाने के उद्देश्य से रंग भरने की कला का उत्कर्ष उस समय भी था, इन श्लोकों से सिद्ध होता है—

पद्म संरचना में दलों पर श्वेत रंग भरना चाहिये। केशर रक्त और पीत इन दोनों के मिश्रण से बने रंग से रँगना चाहिये। कणिका स्वर्णवर्णी होनो चाहिये। पल्लवान्त भाग में लौहित्य वर्ण ही अच्छा लगता है। जहाँ तक व्योम रेखा का प्रश्न है, वह चमकीले श्वेतवर्ण की होनो चाहिये। पद्म

व्योमरेखा तु सुसिता वर्तुलाब्जान्तनीलभाः ।
पोठं रेखात्रयोपेतं सितलोपितपोतलम् ॥ १४८ ॥
स्वस्तिकाच्च चतुर्वर्णा अग्नेरीशानगोचराः ।
वीथो विद्रुमसंकाशा स्वदिक्षवस्त्राणि बाह्यतः ॥ १४९ ॥
इन्द्रनीलनिभं वज्रं शक्तिं पद्मणिप्रभाम् ।
दण्डं हाटकसंकाशं वक्त्रं तस्यातिलोहितम् ॥ १५० ॥
नीलद्युतिसमं खड्गं पाशं वत्सकसप्रभम् ।
ध्वजं पुष्पफलोपेतं पञ्चरङ्गैश्च शोभितम् ॥ १५१ ॥
गदा हेमनिभात्युग्रा नानारत्नविभूषिता ।
शूलं नीलाम्बुजसमं ज्वलद्वह्न्युग्रशेखरम् ॥ १५२ ॥
तस्योपरि सितं पद्मीषत्पीतारुणप्रभम् ।
चक्रं हेमनिभं दोप्तमरा वैदूर्यसंनिभाः ॥ १५३ ॥

का जो वर्तुल भाग दृष्टिगत होता है, उसका अन्त्य भाग नोलवर्णी होना चाहिये ॥ १४७ ॥

पोठ संरचना का वर्णन आ चुका है। उसकी तोन रेखाओं को श्वेत-रक्त और पीत रंग से रंगना चाहिये। चार वर्ण के अग्नि-ईशान कोणीय स्वस्तिक होने चाहिये। वोथी विद्रुम रंग की होनी चाहिये। जिन दिशाओं में द्वार के बाह्यभाग भी यदि अस्त्र रचना की गयी हो, तो यह ध्यान देना चाहिये कि, वज्र इन्द्रनील मणि वर्ण का हो। शक्ति पद्म मणि के समान होना चाहिये। दण्ड का रंग हाटक अर्थात् स्वर्ण के समान रहता है। वक्त्र लोहितवर्णी, खड्ग नोलमणि के समान, पाश वत्सक रङ्ग का, ध्वज पुष्प फल से समन्वित हो, जिसमें रङ्ग-विरङ्गे पुष्प हों तथा फल लगे हुए हों, गदा सोने के रंग की हो, जिसमें अनेक रत्न जटित हों, शूल नीलकमल के समान

अरामध्यं सुपीतं च ग्राह्यं ज्वालारुणं भवेत् ।
मन्दिरं देवदेवस्य सर्वकामफलप्रदम् ॥ १५४ ॥

स्वस्तिका इति पीठगता वीथीगताश्च । विद्रमसंकाशेति स्वस्तिक-वर्जम् । बाह्यादिति द्वारादपि ॥ १५४ ॥

एवं श्रीत्रिशिरोभैरवोक्तिप्रसङ्गात् व्योमेशस्वस्तिकमभिधाय श्रीसिद्धा-तन्त्रोक्तमपि शूलाब्जमभिधत्ते

श्रीसिद्धायां शूलविधिः

शूलविधिरिति अर्थादुक्तः ।

तमेव विधिमाह

प्राक् क्षेत्रे चतुरश्रिते ।
हस्तमात्रं त्रिधा सूर्यान्निवखण्डं यथा भवेत् ॥ १५५ ॥
मध्ये शूलं च तत्रेत्थं

हो एवं लगता हो कि, आग की लपटों की शिखा का अग्रभाग आगे ऊपर की ओर उठा हुआ हो, उसके ऊपर ऐसा कमल बनाया गया हो, जो पीलापन लिये हुए लालिमा से समन्वित हो । चक्र रचना चमकीले चामीकर की अचियों की चारुता से चित्रित हो और वैदूर्य की अराओं का मध्यभाग सुन्दर पीतप्रभा से भासुर हो, उसका बाह्य भाग ज्वालावली की लालिमा से लुभावना लग रहा हो । इस प्रकार का भगवान् का मन्दिर जिस मण्डल में रहता है, वह समस्त कामनाओं की पूर्त्ति करने में समर्थ होता है । यह सारा वर्णन श्रीत्रिशिरोभैरव ग्रन्थ के अनुसार व्योमेश स्वस्तिक संरचना के सन्दर्भ में किया गया है ॥ १४८-१५४ ॥

इसके बाद श्री सिद्धातन्त्र में वर्णित शूलाब्ज निर्माण की विधि के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं—

सर्वप्रथम एक चतुष्कोण क्षेत्र का चयन करना चाहिये । इसमें एक रेखा का मान साढे तीन हाथ मात्र का होना चाहिये । एक बालिश्त में

चतुरश्रिते क्षेत्रे सर्वतः सूर्यादिति अङ्गुलद्वादशकं वर्जयित्वा त्रिधा हस्तपरिमाणं त्रिहस्तं क्षेत्रं गृह्णीयात् तथा एतत् त्रिविभजनादेव हास्तिकनवभागात्मकं स्यात्। तत्र च इत्थं वक्ष्यमाणगत्या मध्ये त्रिशूलं कुर्यादिति शेषः ॥ १५५ ॥

मध्यमेव विभजति

मध्यभागं त्रिधा भजेत्।
नवभिः कोष्ठकैर्युक्तं ततोऽयं विधिरुच्यते ॥ १५६ ॥
मध्यभागत्रयं त्यक्त्वा मध्ये भागद्वयस्य तु।
अधस्ताद्भ्रामयेत्सूत्रं शशाङ्कशकलाकृति ॥ १५७ ॥

तमेकहस्तपरिमाणमध्यभागं नवभिः कोष्ठकैर्युक्तं त्रिधा विभक्त सन्तं द्विधा भजेत् सर्वतः षोढा विभजेत् चतुरङ्गुलैः षट्त्रिंशता कोष्ठकैर्युक्तं कुर्यादित्यर्थः। अयमिति वक्ष्यमाणः। तमेव आह मध्येत्यादि। तत्र मध्यादधस्तन भागत्रयं त्यक्त्वा ब्रह्मपदमवलम्ब्य उभयोरपि पार्श्वयोर्भागद्वयस्य मध्ये तु द्वितीये वर्मणि हस्तं निवेश्य अधस्तादर्धचन्द्राकारं सूत्रमर्थात् प्रागुक्तवत् द्विर्भ्रामयेत् ॥ १५६-१५७ ॥

---

१२ अङ्गुल होते हैं। सूर्य भी १२ होते हैं। अतःसूर्य अर्थात् १२ अङ्गुल अर्थात् अर्धहस्त जोड़कर तीन हाथ लम्बी रेखा लेनी चाहिये। इस तीन हाथ में तीन विभाजन करने पर नौ खण्ड में यह चतुरस्र विभक्त हो जायेगा। इसके बीच में ही शूल का निर्माण विधिपूर्वक करना चाहिये ॥ १५५ ॥

चतुरस्र मण्डल में एक बालिश्त छोड़ देने पर एक एक हाथ के तीन भाग स्वाभाविक रूप से वहाँ अपने आप हो गये हैं। इनमें से मध्य एक हस्तीय भाग में ९ भाग × ४ भाग = ३६ कोष्ठकों के भाग भी निर्मित हो जाते हैं। इन छत्तिस भागों के ३ छोड़ने पर ३३ भाग बचते हैं। ३३ के मध्य रेखा से १६-१६ के दो भाग होते हैं। इन भागों के मध्य में पड़े कोष्ठक से नीचे भ्रमि देने पर अर्धचन्द्राकार आकृति बनती है ॥ १५६-१५७ ॥

उभयतो भ्रामयेत्तत्र यथाग्रे ह्याकृतिर्भवेत् ।
कोटयां तत्र कृतं सूत्रं नयेद्रेखां तु पूर्विकाम् ॥ १५८ ॥

तत्रापि अग्रे मध्यसूत्रात् पूर्वतस्तृतीये मर्मणि हस्तं निवेश्य शशाङ्कशाकलाकृति अन्तर्मुखमूर्ध्वगत्या भागद्वयस्य मध्ये भ्रामयेत् यथा द्विकुब्जाकारः संनिवेशः स्यात् । तत्र च पार्श्वद्वयवर्तिन्यां ह्याकृतौ कोट्यामाद्यन्तरूपासु कोटिषु कृतेभ्यः संश्लेषितेभ्यः सूत्रेभ्यः पार्श्वद्वयसूत्रे पूर्विकां प्राङ्नवखण्डीकरणकालकल्पितां रेखां मध्यशृङ्गसूत्रे तु पश्चिमद्वाराभिमुख्येन वक्ष्यमाणदृशा उपरितननवभागस्य अर्धहस्तं यावत् नयेत् ॥ १५८ ॥

अपरद्वारपूर्वेण त्यक्त्वाङ्गुलचतुष्टयम् ।
रेखां विनाशयेत्प्राज्ञो यथा शूलाकृतिर्भवेत् ॥ १५९ ॥
शूलाग्रे त्वर्धहस्तेन त्यक्त्वा पद्मानि कारयेत् ।
अधः शृङ्गत्रयं हस्तमध्ये पद्मं सकर्णिकम् ॥ १६० ॥

कथमित्याह त्यक्त्वेत्यादि । अन्तर्वर्तितशशाङ्कशकलाग्रकोटिसमुत्थां रेखां मूलादङ्गुलचतुष्टयं त्यक्त्वा विनाशयेत् यथायथं स्वप्रज्ञाबलेन ह्रासयेत्

इसी प्रकार मध्य सूत्र से पूर्व भाग की तृतीय रेखा से हाथ देने पर पुनः भ्रमि देने और अर्धचन्द्राकार आकृति के दोनों ओर भ्रमि देने पर हकार के समान दो आकृतियाँ बनती हैं । इस हाकृति में भी जो दोनों पार्श्वों में बनकर पहले ही तैयार हैं, इसके अग्रभागों में आद्यन्तकोटि को संश्लेषित करते हैं । इन सूत्रों के उभय पार्श्व भाग स्थित दोनों सूत्रों से पूर्विका रेखा को ऊपर के मध्य शृङ्ग सूत्र से मिलाते हैं । इसी तथ्य को आचार्य जयरथ अर्धहस्तं यावत् नयेत् इस वाक्य द्वारा संकेतित कर रहे हैं ॥ १५८ ॥

यह पश्चिम द्वाराभिमुख बनी आकृति है । इसमें अन्तर्वत्तित अर्धचन्द्राकार आकृति के अग्रभाग की समुत्थित रेखा के मूल भाग के चार चार अंगुल वाले एक कोष्ठक को अपनी प्रज्ञा के बल पर ह्रास प्रक्रिया द्वारा

येन शृङ्गाणां तीक्ष्णाग्रता जायेतेति शृङ्गत्रयसिद्धिः। ततश्च अर्धहस्तेन वर्तिते शूलाग्रे अर्थादुपरितनमर्धहस्तमेव त्यक्त्वा अर्थात् प्राग्वत् द्वादशाङ्गुलं पद्मत्रयं कुर्यात् शृङ्गत्रयस्य अधः पुनर्हास्तिकं पद्मं भवेत् ॥ १६० ॥

एवं त्रिशूलस्य वर्तनामभिधाय दण्डस्य अपि आह

मुखाग्रे धारयेत्सूत्रं त्रिभिर्हस्तैस्तु पातयेत् ।

मध्यशृङ्गमुखाग्रे सूत्रं परिस्थाप्य त्रिभिर्हस्तैः पातयेत् परिवर्जितबाह्य-द्वादशाङ्गुलान्तं यावत् मध्यतो नयेत् ॥

एवं दैर्घ्यमभिधाय वैपुल्यमाह

मध्ये चोर्ध्वं ततः कुर्यादधस्तादङ्गुलद्वयम् ॥ १६१ ॥
रेखाद्वयं पातयेत यथा शूलं भवत्यपि ।
अधोभागादिभिश्चोर्ध्वं तत्र रेखा प्रपद्यते ॥ १६२ ॥
समीकृत्य ततः सूत्रे ऊर्ध्वे द्वे एवमेव तु ।

समाप्त करे। इससे शृङ्गत्रय निर्माण सम्पन्न हो जाता है। इसके बाद अर्धहस्तीय शूलाग्र में द्वादशाङ्गुल पद्मत्रय की संरचना करे। इस शृङ्गत्रय के नीचे एक हास्तिक पद्म को संरचना इसी क्रम से पूरी हो जाती है ॥ १५९-१६० ॥

त्रिशूल संरचना की इस प्रक्रिया के साथ दण्ड निर्माण प्रक्रिया के सम्बन्ध में शास्त्रीय दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहे हैं—

शूलमुख के अग्रभाग पर सूत्र रखकर तीन हाथ नीचे तक ले जाना चाहिये। यह रेखा वहाँ तक जाती है, जहाँ १२ अङ्गुल का भाग छोड़ कर पहले से ही अन्तिम रेखा का निर्धारण किया जा चुका है।

जहाँ तक इस दण्ड की लम्बाई का प्रश्न है, वह तीन हाथ की हो सकती है। क्योंकि नीचे का १२ अङ्गुल का भाग पहले से ही छोड़ने का आदेश शास्त्रकार ने दिया है। यहाँ उसकी विपुलता अर्थात् चौड़ाई का विचार भी आवश्यक है। इसके सम्बन्ध में शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

एवं स्थानत्रये अङ्गुलद्वयान्तरालं द्वयोः पार्श्वयोः रेखाद्वयं कुर्यात् येन सर्वतः साम्येन अधोमध्यभागाभ्यां सह ऊर्ध्वं समीकृत्य रेखा प्रपद्यते, ततस्तथैव द्वे ऊर्ध्वसूत्रे पातयेत यथा सदण्ड शूलं संपद्यते ॥

नच एवं मध्यपद्मस्य दण्डेन आच्छादनं कार्यमित्याह

मध्यां पद्मं प्रतिष्ठाप्यं शूलाधस्ताद्यशस्विनि ॥ १६३ ॥

अत्र च चतुर्विंशतिधा विभक्ते क्षेत्रे प्रागुक्तवत् सर्वं द्वारादि वर्तनीयम्, भगवता पुनरर्धचन्द्रोपयोगिनि एव मध्यहस्ते प्राधान्यात् भागपरिकल्पना कृतेत्यास्ताम् ॥ १६३ ॥

आह्निकार्थमर्धेन उपसंहरति

इत्येष मण्डलविधिः

कथितः संक्षेपयोगतो महागुरुभिः ।

सर्वप्रथम ऊर्ध्व मध्य और अधस्तन भाग के तीन अंश का प्रकल्पन करना चाहिये। मध्य रेखा से दोनों ओर दो अङ्गुल अन्तराल वाली उभय पार्श्वीय रेखायें देनी चाहिय। इस तरह एक शूल दण्ड की आकृति बन जाती है। तीनों भागों में समता स्थापित करने वाली इस निर्धारित आकृति को रंगीन बनाने का आदेश पहले ही शास्त्र में प्रदत्त है ॥ १६१-१६२ ॥

मध्यपद्म की प्रतिष्ठा भी अनिवार्यतः आवश्यक मानी जाती है। इस पूरे क्षेत्र को २४ भागों में विभक्त कर द्वारादि का वर्त्तन गुरु के उत्तरदायित्व पर निर्भर करता है। सारी भाग परिकल्पनायें आकृति, सौविध्य और सौन्दर्य की दृष्टि से की जाती हैं। शूल के अधो भाग में पूर्ववत् सारी संरचनायें करनी चाहिये—भगवान् भूतभावन यशस्विनी माँ शक्ति को सम्बोधित करते हुए इस शास्त्र के सम्बन्ध में सारी बातें स्पष्ट कर रहे हैं। यह पूरा आह्निक मण्डल कर्मकाण्डीय वर्त्तनाओं का ही काण्ड है ॥ १६३ ॥

इति शिवम् ॥

स्वस्तिकशूलाब्जनयवुर्गमशिवशास्त्रनिर्वचनचञ्चुः ।
आह्निकमेकत्रिंशं व्यवृणोदेतज्जयरथाख्यः ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तविरचिते
श्रीजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेते
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलिते
श्रीतन्त्रालोके मण्डलप्रकाशनं नाम
एकत्रिंशमाह्निकम् समाप्तम् ॥ ३१ ॥

॥ शुभं भूयात् ॥

●

आह्निकार्थ का उपसंहार कर रहे हैं—

शास्त्रकार कह रहे हैं कि, पूरे आह्निक में विस्तारपूर्वक बतलायी गयो यह मण्डलविधि है। 'एष' इस प्रत्यक्ष निर्देश वाचक सर्वनाम से मण्डल रचना का प्राधान्य ही प्रख्यापित किया गया है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर रहे हैं कि, इस शास्त्र के महान् प्रवर्त्तकों, विचारकों और तपस्वी गुरुजनों ने ही इन विधियों का विस्तारपूर्वक ख्यापन किया है। मैंने तो इसका संक्षेपरूप से हो कथन किया है ॥ १६४ ॥ इति शिवम् ॥

स्वस्तिक विधि शूलाब्ज अथ मण्डलविविधविधान ।
ज्ञाता जयरथ से हुआ आह्निकार्थ-आख्यान ॥
एकत्रिंश आह्निक सकल मण्डलनिर्मित लक्ष्य ।
सिद्धि हेतु उल्लिखित यह निश्चप्रच संरक्ष्य ॥

\+ + +

आह्निकेकोत्तरेत्रिंशे तन्त्रालोकस्य विश्रुते।
सर्वथाऽनधिकारेऽपि कृतं दुश्चेष्टितं मया॥

हंसेन गणितज्ञेन ज्यामितिज्ञेन चापि वा।
पारिभाषिक-शब्दानामप्रथात्वात् विलोपनात्॥

विधीनां चानुभूतं वै काठिन्यं भाष्यलेखने।
आह्निकार्थप्रबोधाय यतितव्यं प्रयत्नतः॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तविरचित
जयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक
हिन्दीभाषाभाष्य संवलित
श्रीतन्त्रालोक का
मण्डलप्रकाशन नामक एकत्रिंशत्तम आह्निक
परिपूर्ण॥ ३१॥
शुभं भूयात्

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते

श्रीजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलिते

द्वात्रिंशमाह्निकम्

शुद्धाशुद्धाध्वभिदा द्विगह्वरं मुद्रयत्यशेषजगत् ।
संविद्रूपतया यः कलयतु स किल्विषं सतां कालः ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित

श्रीराजानकजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक

हिन्दी भाष्य संवलित

श्री तन्त्रालोक

का

बत्तीसवाँ आह्निक

शुद्ध-अशुद्धाध्वावरी-युग-जग-मुद्रक काल ।
संविद्रूपतया प्रसे सज्जन-किल्बिष-जाल ॥

इदानीं मुद्राविधिमभिधातुमुपक्रमते

अथ कथये मुद्राणां गुर्वागमगीतमत्र विधिम् ।

तमेव आह

मुद्रा च प्रतिबिम्बात्मा श्रीमद्देव्याख्ययामले ।
उक्ता बिम्बोदयश्रुत्या वाच्यद्वयविवेचनात् ॥ १ ॥

तत्र श्रीदेव्यायामले

'प्रतिबिम्बोदयो मुद्रा.... .... ।'

आचार्य जयरथ इस आह्निक के आरम्भ में ही अशेष विश्व पर एक व्यापक दृष्टि निक्षेप कर रहे हैं। जगत् पर दृष्टि जाते हो उनके मस्तिष्क में यह विचार विद्युत् की तरह कौंध गया कि,

शुद्ध और अशुद्ध नामक द्विगह्वर इस विश्व को संविद्रूप से कोई तत्त्व मुद्रित कर रहा है। उस तत्त्व पर तुरत मनीषा दौड़ गयी। यह स्पष्ट हो गया कि, वह तत्त्व महाकाल ही है। उसी काल तत्त्व से यह प्रार्थना भी कर रहे हैं कि, इस विभेदमय किल्बिष भाव को वह सज्जनों के हृदय से दूर करे।

आह्निक के आरम्भ में शास्त्रकार मुद्राओं की विधि के वर्णन की प्रतिज्ञा करते हुए कह रहे हैं कि,

प्रस्तुत आह्निक में गुरु परम्परा से प्राप्त आगमों में वर्णित मुद्रा विधि का वर्णन करने जा रहा हूँ। अपनी इसी प्रतिज्ञा की पूर्त्ति के उद्देश्य की सिद्धि के लिये प्रथम कारिका का अवतरण कर रहे हैं—

मुद्रा प्रतिबिम्बात्मक होती है। यह बात श्रीदेव्या-यामल शास्त्र में कही गयी है। वहाँ की उक्ति का उदाहरण आचार्य जयरथ ने दिया है। उनके अनुसार—

'प्रतिबिम्ब का उदय ही मुद्रा है।'

इत्येवंरूपाया बिम्बोदयश्रुतेः पञ्चमीषष्ठ्यर्थबहुव्रीहिद्वारस्य वाच्यद्वयस्य विवेकमाश्रित्य परसंविदाकृतिरूपत्वात् प्रतिबिम्बात्मा मुद्रा उक्तेति वाक्यार्थः। इदं च अत्र वाच्यद्वयम्—प्रतिराभिमुख्ये, तेन बिम्बसंनिधिं निमित्तीकृत्य बिम्बैकनियत उदयो यस्येति बिम्बस्य प्रतिबिम्बोत्पत्तिनिमित्तत्वमुक्तम्, बिम्बस्य अभिव्यक्तिलक्षण उदयः प्रतिगतः प्राप्तो यस्मादिति प्रतिबिम्बस्य ज्ञप्त्युपायत्वमिति। यद्वा

'मुद्रा बिम्बोदयो नाम्ना ....।'

इतिबिम्बोदयश्रुतेः प्रतिशब्दार्थमपहायैव व्याख्येयम् ॥ १ ॥

यह स्पष्ट उल्लेख है। इसे 'बिम्बोदयः श्रुति' कहकर आचार्य ने इसके महत्त्व का ख्यापन किया है। इस श्रुति में पञ्चमी कारकार्थ और षष्ठी विभक्त्यर्थ बहुव्रीहि-द्वारक वाच्यद्वयार्थ विज्ञान का उपयोग करने पर अर्थानुभूति को नयी दिशा मिलती है। बिम्ब से उदय और बिम्ब का उदय इन दोनों प्रयोगों में प्रथम प्रयोग पञ्चमी विभक्ति का अर्थ दे रहा है। दूसरे प्रयोग में षष्ठी विभक्ति का विलास एक अभिनव अर्थ में उल्लसित कर रहा है।

'प्रतिबिम्बोदय' शब्द में प्रतिउपसर्ग आभिमुख्य का द्योतक है। अर्थात् बिम्ब नितान्त संनिध्य में है, एकदम पास में ही मानो। उसी का एकमात्र नियत भाव से उसी का ही उदय हो रहा है और उसी से हो रहा है, यह स्पष्ट विवेक हो रहा है। एक तरह से प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति का वही निमित्त है। प्रतिबिम्ब की अभिव्यक्ति हो रही है। यह अभिव्यक्ति ही उसका उदय है। यह किससे उदित अथवा अभिव्यक्त हो रहा है, इस प्रश्न का स्वयम् बिम्ब ही उत्तर है।

वही प्रतिबिम्ब की ज्ञप्ति का उपाय है। इसी भाव को अभिव्यक्त करने वाली एक दूसरी उक्ति भी देव्यायामल शास्त्र में है—

"बिम्ब का उदय ही नामतः मुद्रा मानी जाती है।"

तदेव तात्पर्यद्वारेण आह

बिम्बात्समुदयो यस्या इत्युक्ता प्रतिबिम्बता।
बिम्बस्य यस्या उदय इत्युक्ता तदुपायता ॥ २ ॥

समुदय इति उत्पत्तिः। यस्या इति प्रतिबिम्बरूपाया मुद्राया इति षष्ठ्यर्थः, यस्याश्च सकाशादिति पञ्चम्यर्थः। उदय इति ज्ञप्तिस्तदुपायतेति ज्ञप्तिद्वारिका बिम्बोपायतेत्यर्थः ॥ २ ॥

इस उक्ति में प्रति उपसर्ग का प्रयोग नहीं है। केवल 'बिम्बोदय' शब्द ही प्रयुक्त है। यह ध्यान देने की बात है कि, इस प्रयोग में भी वाच्यद्वय का विवेक सरलता से हो रहा है। इसलिये यह कथन समर्थित हो जाता है कि, बिम्बोदय श्रुति से वाच्यद्वय विवेक सरलता पूर्वक हो रहा है।

पञ्चम्यन्तार्थबहुव्रीहि का विग्रह वाक्य 'उदयः यस्मात्' अर्थात् 'बिम्ब की अभिव्यक्ति प्रतिगत है जिससे, वही प्रतिबिम्ब की ज्ञप्ति का उपाय है' इस प्रकार पूरा होता है।

षष्ठ्यर्थ बहुव्रीहि में बिम्ब से नियत उदय हो रहा है जिसका, वही प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति का निमित्त है, यह विग्रह वाक्य अर्थ को स्पष्ट करता है ॥ १ ॥

इसी का तात्पर्य स्पष्ट कर रहे हैं—

बिम्ब से समुदय अर्थात् उत्पत्ति होती है जिसकी, वही बिम्ब की प्रतिबिम्ब रूपा मुद्रा मानी जाती है। यहाँ समुदय ही उत्पत्ति है। पञ्चम्यर्थ में उदय ज्ञप्ति है। ज्ञप्ति द्वारिका बिम्बोपायता है। यह स्पष्ट हो जाता है। यहाँ प्रतिबिम्बता और तदुपायता शब्द बिषय के वास्तविक अर्थ की ओर संकेत कर रहे हैं। प्रतिबिम्बता बिम्ब की होती है और उपायता बिम्ब की ज्ञप्ति से सिद्ध होती है। मुद्रा के महत्त्व को प्रतिष्ठित करने के लिये भगवान् शास्त्रकार ने इतनी गहराई से वाच्यद्वय का विवेचन किया है।

एवं मुद्राशब्दस्य रूढिमुपदर्श्य योगमपि दर्शयति

मुदं स्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मनाम् ।
रात्यर्पयति तत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता ॥ ३ ॥

यद्यपिच अत्र

'इत्याशयेन मुद्रा मोचयते पाशजालतोऽशेषात् ।
कार्यीयान्पुर्यष्टकसंस्कारान्द्रावयेत्तथा मन्त्रम् ॥
योगं क्रियां च चर्यां मुद्रयति तदेकरूपतया ।'

इत्यादिदृष्ट्या बहुधा यागः सम्भवति, तथापि परानन्दनिर्भरस्वरूपताधायितया अयमेव मुख्य इति एतावदेव उक्तम् ॥ ३ ॥

इसी तथ्य का आचार्य जयरथ ने भी पूर्ण विवेचन किया है। यस्याः पञ्चमी और षष्ठी दोनों विभक्तियों का एकवचनान्त रूप है। प्रथम 'यस्या' प्रतिबिम्बरूपा मुद्रा की उत्पत्ति का बोधक है और दूसरा जिससे उदय अर्थात् ज्ञप्ति होती है, इसका बोधक है ॥ २ ॥

इस प्रकार मुद्रा शब्द की रूढि का ख्यापन हो रहा है। मुद्रा शब्द का यौगिक अर्थ भी शास्त्रों में प्रचलित है। उसी का प्रदर्शन कर रहे हैं—

'मुद' शब्द प्रसन्नता के अर्थ में व्यवहृत होता है। संसार की सर्वातिशायिनी प्रसन्नता स्वात्मस्वरूप की अधिगति रूप उपलब्धि ही मानी जाती है। प्राणिमात्र को स्वरूपताख्याति रूप मुद् अर्थात् प्रसन्नता को जो शरीर के माध्यम से ही अर्पित करती है, वही मुद्रा है, यह शास्त्रों में वर्णित है।

इसे इस तरह भी कहा जा सकता है कि, स्वरूपलाभाख्य मुद्, देह द्वारा ही जो आत्माओं को राति अर्थात् अर्पित करती है, वही मुद्रा है।

आसामेव गुणप्रधानभावं तावत् दर्शयति

तत्र प्रधानभूता श्रीखेचरी देवतात्मिका ।
निष्कलत्वेन विख्याता साकल्येन त्रिशूलिनी ॥ ४ ॥
करङ्किणी क्रोधना च भैरवी लेलिहानिका ।
महाप्रेता योगमुद्रा ज्वालिनी क्षोभिणी ध्रुवा ॥ ५ ॥
इत्येवंबहुभेदेयं श्रीखेचर्येव गीयते ।

यद्यपि यहाँ अर्थात् शास्त्रों में,

'मुद्रा अशेष अर्थात् सम्पूर्ण पाशराशि से मुक्त करती है और काया के माध्यम से मिले सारे मलात्मक पुर्यष्टक संस्कार-कदम्बक को द्रावित करती है, तथा अपने इस मुद्रात्मक रूप से मन्त्र, योग, क्रिया और चर्या को मुद्रित करती है, वही मुद्रा है' ।

इस प्रकार की व्याख्या भी मिलती है, और ऐसी ही अन्य अनेक यौगिक अर्थ भी किये जा सकते हैं। फिर भी श्लोक ३ में व्यक्त यौगिक अर्थ रूप व्याख्या स्वरूपख्याति रूप परानन्द-निर्भर-भाव का आधान करती है। अतः यही यौगिक व्याख्या सर्वोत्तम और सर्व प्रमुख रूप से स्वीकार्य है ॥ ३ ॥

मुद्राओं के गौण और प्रधान भावों की ओर अध्येता का ध्यान शास्त्रकार आकर्षित कर रहे हैं—

समस्त मुद्राओं में देवतात्मिका और प्रधानभूता मुद्रा श्रीखेचरी ही मानी जाती है। यह निष्कल मुद्रा है, इस रूप में यह प्रसिद्ध है। साकल्य दृष्टि से इस पर विचार करने से इसके अनेक रूप और भेद अनुभूत होते हैं। उन्हें शास्त्र त्रिशूलिनी, करङ्किणी, क्रोधना, भैरवी, लेलिहानिका, महाप्रेता, योगमुद्रा, ज्वालिनी, क्षोभिणी और ध्रुवा आदि संज्ञाओं से विभूषित करते हैं। इन भेदों प्रभेदों और एक प्रकार के विशेषणों के विस्तार के रहते हुये भी

ध्रुवेति खेचरीविशेषणं, तस्या हि त्रिशूलिन्यादिसकलरूपोपग्रहेऽपि न निष्कलाद्रूपात्प्रच्याव इति अभिप्रायः। उक्तं हि

'इयं सा खेचरी मुद्रा निष्कला परिकीर्तिता।
सकलं रूपमेतस्या भेदैस्तैस्तैरवस्थितम् ॥' इति।

ननु त्रिशूलिन्यादिवदन्या अपि एतदङ्गभूता मुद्राः सम्भवन्तीति कथमिह ता अपि न उक्ता इत्याशङ्क्य आह

अन्यास्तदङ्गभूतास्तु पद्माद्या मालिनीमते ॥ ६ ॥
तासां बहुत्वामुख्यत्वयोगाभ्यां नेह वर्णनम् ।

अर्थात् सकल रूपों से आकलित किये जाने पर भी श्रीखेचरी अपने निष्कल रूप का परित्याग नहीं करती अर्थात् निष्कलता का प्रच्याव इससे नहीं होता। कहा गया है कि,

'यह वह खेचरी मुद्रा है, जिसे निष्कला मुद्रा कहते हैं। इसके अनेकानेक सकल रूप भी होते हैं। उन-उन रूपों में यही देवतात्मिका मुद्रा स्वात्म भाव से उल्लसित रहती है।'

शास्त्रकार ने इसका सर्वोपरि महत्व स्वीकार किया है और इसे शास्त्र में सर्वप्रथम स्थान दिया है ॥ ४-५ ॥

प्रश्नकर्त्ता पूछता है कि, गुरुदेव ! त्रिशूलिनी आदि की तरह अन्य अनेक अङ्गभूत मुद्रायें भी होती हैं। यहाँ खेचरी मुद्रा की ही अङ्गभूत वे मुद्रायें क्यों नहीं कही गयीं हैं ? गुरुदेव ने कहा—वत्स ! शास्त्रकार ऐसी आशङ्काओं से अवगत थे। उन्होंने स्वयं कहा है कि,

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र के अनुसार 'पद्मा' आदि कई भेद स्वीकृत हैं। वास्तविकता यह है कि, प्रथम तो ऐसे अनेकानेक भेद हो सकते हैं और दूसरे यह कि, वे मुख्य नहीं होते। अतएव महत्त्वहीन होते हैं। इसलिये उनका वर्णन यहाँ नहीं किया गया है ॥ ६ ॥

ननु श्रीमालिनीमते पद्ममुद्रादिसाहचर्येणैव श्रीखेचरी अपि निर्दिष्टा, तत् सैव प्रधानेति तु कुतस्त्यमित्याशङ्क्य आह

श्रीखेचरीसमाविष्टो यद्यत्स्थानं समाश्रयेत् ॥ ७ ॥

देवीसंनिधये तत्स्यादलं किं डम्बरैर्वृथा ।

अलमिति पर्याप्तम् ॥ ७ ॥

ननु आसामपि

'याभिः संरक्षितो मन्त्री मन्त्रसिद्धिमवाप्नुयात् ।'

इत्याद्युक्त्या साधकविषयं मुख्यत्वमस्तीति कथमेवमुक्तमित्याशङ्क्य आह

काम्ये कर्मणि ताश्च स्युर्मुख्याः कस्यापि जातुचित् ॥ ८ ॥

मालिनी मत में पद्मादि मुद्रा के साहचर्य में ही श्रीखेचरी मुद्रा निर्दिष्ट है। ऐसी अवस्था में वही प्रधान है, ऐसा क्यों माना जाता है? इस प्रश्न का उत्तर शास्त्रकार दे रहे हैं—

शास्त्रकार की मान्यता है कि, श्रीखेचरी मुद्रा ही प्रधान मुद्रा है। इस मुद्रा में समाविष्ट होकर साधक धन्य हो जाता है। खेचरी समावेश-सिद्ध साधक जिन-जिन स्थानों का आश्रय ग्रहण करता है, वे स्थान देवी के सान्निध्य के लिये अलम् अर्थात् देवी के साक्षात्कार कराने में पूर्ण समर्थ होते हैं। ऐसी अवस्था में व्यर्थ के आडम्बर से क्या लाभ? अर्थात् अप्रधान मुद्राओं के वर्णन का कोई विशेष अर्थ या तात्पर्य नहीं है ॥ ७ ॥

एक आगमिक उक्ति है कि,

"इन खेचरी की अङ्गभूत मुद्राओं से संरक्षित मन्त्र जप में निरत साधक मन्त्रों की सिद्धि प्राप्त कर लेता है।"

इससे यह सिद्ध होता है कि, साधक को सिद्धि प्रदान करने की सामर्थ्य के कारण इनमें भी मुख्यता माननी चाहिये। ऐसी स्थिति में भी उनमें

कस्यापीति साधकस्यैव, नतु पुत्रकादेः। जातुचिदिति नतु नित्यवत् सर्वकालम् ॥ ८ ॥

इह पुनर्मोक्षाख्यमुख्यार्थप्रतिपादनपरत्वादस्य ग्रन्थस्य काम्यमेव कर्म न उक्तमिति तदुपयोगिना अपि मुद्रावर्णनेन कोऽर्थ इत्याह—

तच्च नास्माभिरुदितं तत्किं तदुपयोगिना ।

गौणत्व का आरोप लगाकर उनकी उपेक्षा क्यों की गयो है ? इस आशङ्का का समाधान कर रहे हैं—

काम्यकर्मों में कभी-कभी यह देखा जाता है कि, ये अङ्गभूत मुद्रायें भी मुख्यरूप से किसो किसी को कार्यसाधिका हो जाती हैं और अपनी मुख्यता सिद्ध कर देती हैं। प्रस्तुत कारिका में 'कस्यापि' और 'जातुचित्' दो प्रयोग ध्यान आकर्षित करते हैं। किसी-किसो साधक को ही ये कार्य साधिकायें होती हैं। पुत्रक सदृश साधकों की सिद्धि इनसे नहीं होतो। जातुचित् का तात्पर्य यह है कि, ये कभी-कभी कदाचित् कार्य तो सिद्ध कर देती हैं किन्तु ये नित्य ऐसा नहीं कर पातीं अर्थात् सार्वकालिक नित्य कार्य साधिका नहीं हैं ॥ ८ ॥

एक विशेष तथ्य की ओर अध्येता का ध्यान आकर्षित कर रहे है। श्री तन्त्रालोक नामक यह महाग्रन्थ मुख्यतया मोक्ष का प्रतिपादक शास्त्र है। मोक्ष नामक परम पुरुषार्थ के प्रतिपादन के उद्देश्य से हो यह अवतरित है। इसमें काम्य कर्म पर विशेष प्रकाश नहीं निक्षिप्त किया गया है। फिर भो काम्यकर्म के उपयोग में आने वाली मुद्रायें यहाँ निर्दिष्ट की गयो हैं। इसका क्या उद्देश्य हो सकता है? इस आशङ्का की दृष्टि-समाधायक कारिका प्रस्तुत कर रहे हैं—

शास्त्रकार कह रहे हैं कि, सत्य है। मैंने तो उनका कथन किया हो नहीं। उनकी उपयोगिता आदि के सम्बन्ध में चर्चा की आवश्यकता ही नहीं आकलित की जा सकी। इन मुद्राओं को एक अन्य दृष्टि से भेद-

आसां च भेदनिर्देशद्वारेण स्वरूपमभिधातुमाह—

मुद्रा चतुर्विधा कायकरवाक्चित्तभेदतः ॥ ९ ॥

तत्र पूर्णेन रूपेण खेचरीमेव वर्णये ।

वागिति मन्त्रविलापनरूपा । यदुक्तं

'करकार्यविलापान्तःकरणानुप्रवेशतः ।
मुद्रा चतुर्विधा ज्ञेया ....॥'

इत्युपक्रम्य

'अङ्गुलीन्यासभेदेन करजा बहुमार्गगा ।
सर्वावस्थास्वेकरूपा वृत्तिमुद्रा च कायिकी ॥

वादिता के सम्बन्ध में शास्त्रकारों का मत है कि, मुद्रायें चार प्रकार की होती हैं—१. कायिक मुद्रायें, २. कर प्रयोगवती मुद्रायें, ३. वाचिक सिद्धिप्रदा मुद्रायें और ४. चित्तभेदिनी मुद्रायें। यह जानकारी देने के बाद यहाँ अब मैं पूर्णरूप से खेचरी मुद्रा का ही अर्थात् चतुर्भेद सिद्ध खेचरी का ही वर्णन करने जा रहा हूँ।

जहाँ तक वाचिक मुद्रा का प्रश्न है, यह मात्र वागात्मिका होती है। मन्त्र उस अवस्था में वाक् में विलापन कर जाता है। इस विषय में आगमिक उक्ति है कि,

'कर, काय, विलाप और अन्तःकरणानुप्रवेश भेद से मुद्रायें चार प्रकार की होती हैं।'

इस उक्ति से प्रारम्भ कर आगे के वर्णन क्रम में कहा गया है कि,

'अङ्गुलियों के न्यास-भेद से कर अर्थात् हाथों से बनायी जाने वाली मुद्रायें अनेक प्रकार और पद्धतियों से निर्मित होती हैं। ये सभी अवस्थाओं में एक रूप ही होती हैं। कायिकी मुद्रा काया से सम्बद्ध मानी जाती हैं। यह वृत्तियों पर निर्भर करती हैं। क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर की

पञ्चमुद्राधरं चैतद्व्रतं सिद्धनिषेवितम् ।
मन्त्रतन्मयता मुद्रा विलापाख्या प्रकीर्तिता ॥
ध्येयतन्मयता मुद्रा मानसी परिकीर्तिता ।' इति ।

पूर्णेनेति चतुर्विधेनापीत्यर्थः ॥ ९ ॥

तत्रापि प्राधान्येन श्रीपूर्वशास्त्रोक्तमेव तावदस्या रूपमाह

बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं क्षिपेत् ॥ १० ॥
दण्डाकारं तु तं तावन्नयेद्यावत्कखत्रयम् ।

पञ्चात्मकता से भावित वृत्तियों के प्रभाव से इनका अस्तित्व उल्लसित होता है। ये सिद्धों द्वारा निषेवित व्रत के रूप में प्रचलित हैं।

विलापाख्या मुद्रा मन्त्रतन्मयता रूपा होती है। मन्त्र वाग्रूपता में विलुप्त हो जाते हैं। वाक् से मन्त्र उच्चरित होते हैं किन्तु जब मन्त्र वाङ्मयता को प्राप्त हो कर वाक् में ही स्पन्दित हो रहे होते हैं, वहाँ वाचिकी मुद्रा का उल्लास माना जाता है। इसे ही विलापाख्या मुद्रा कहते हैं।

चौथी मुद्रा मानसी कहलाती है। इसमें ध्येय तादात्म्य सिद्ध हो जाता है। आगम इसे ध्येयतन्मया मुद्रा कहता है।

ये चार प्रकार की खेचरी मुद्रायें तन्त्रों में प्रसिद्ध हैं। इनके पूर्वोक्त भेद-प्रभेदों के साथ विशिष्ट खेचरी मुद्राओं को शास्त्रकार को प्रतिज्ञा के अनुसार इस पूरे आह्निक में वर्णन का विषय बनाया गया है ॥ ९ ॥

यहाँ प्रधानतः श्रीपूर्वशास्त्रोक्त इसके स्वरूप का ख्यापन किया जा रहा है—

सर्व प्रथम योगयुक्त साधक पद्मासन सिद्ध होकर विराजमान हो जाये। पद्मासन सिद्ध हो जाने पर सुखासन हो जाता है। पद्मासन का नामतः उल्लेख इस प्रक्रिया में इसके महत्त्व का ही निर्देश करता है। इस आसनबन्ध में बैठ कर अक्षेश्वर अर्थात् इन्द्रियाधीश्वर मन को नाभिकेन्द्र में अवस्थित

निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत् खत्रयेण तु ॥ ११ ॥
एतां बद्ध्वा खे गतिः स्यादिति श्रीपूर्वशासने ।

स्थिरसुखासनस्थो हि योगी जन्माधारादुदेत्य नाभिदेशे मनो निवेश्य तत्रैव बहुशः परिभ्राम्य मध्यप्राणशक्त्यैकीकारेण दण्डाकारतया मूर्धन्यं

करना चाहिये। क्षिपेत् क्रिया नियन्त्रण कर केन्द्रावस्थित करने का संकेत कर रही है। अश्विनी मुद्रा द्वारा प्राणापानवाह को परिचालित करने के क्रम में पूरक करते हुए कुम्भक में अवस्थित हो जाय। कुम्भक दशा में प्राण दण्ड के आकार का सीधा ऊर्ध्वोत्थान प्राप्त कर लेता है। साधक इस प्राण दण्ड को क-ख त्रयपर्यन्त ले जाय। इसकी विशिष्ट विधि है। चक्र साधना का यह विषय है। कुण्डलिनी जागृत करने की यही प्रक्रिया है।

प्राण तालुरन्ध्र से ऊपर आज्ञा चक्र में प्रवेश करता है। आज्ञा के केन्द्र में बिन्दु का स्थान अ, उ और म् के ऊपर माना जाता है। बिन्दु के ऊपर अर्धचन्द्र और निरोधिनी को पार कर नाद तक पहुँचते हैं। ब्रह्मरन्ध्र में प्राणदण्ड समाप्त होकर नाद में स्पन्द रूप से आगे बढ़ता है। इस प्रकार नादतक विन्दु का क्षेत्र माना जाता है। इसी में ब्रह्मरन्ध्र भी आ जाता है। इस प्रकार विन्दु ब्रह्मरन्ध्र और नाद ये तीन कखत्रय प्रसिद्ध योगसिद्धि के मुख आधार विन्दु सिद्ध हो जाते हैं।

यहाँ कुम्भक वृत्ति में ही अवस्थिति रहती है। इसी वृत्ति में नादान्त को पारकर पुनः खत्रय रूप शक्ति, व्यापिनी और समना चक्रों को यात्रा में योगी युक्त हो जाता है। इसे खत्रय यात्रा में प्राण को प्रेरित करने की प्रक्रिया के रूप से जाना जाता है। विन्दु से लेकर समना तक भी इस प्राण प्रक्रिया में क्षेप, आक्रान्ति, चिदुद्बोध; स्थापन, दीपन और तत्संवित्ति नामक छः स्पन्दोल्लास होते हैं। यह खत्रय-खत्रय की यात्रा के छः स्पन्द माने जाते हैं। इस स्पन्दोल्लास को 'उद्घात' प्रक्रिया भी कहते हैं।

बिन्दुनादब्रह्मरन्ध्रलक्षणं खत्रयं यावत् नीत्वा तत्रैव कुम्भकानुवृत्त्या निरुध्य शक्तिव्यापिनीसमनात्मना खत्रयेण तूर्णमुद्घातगत्या प्रेरयेदुन्मनापदाक्रमणेन परमशिवाभिमुख्यं नयेत् येन अस्य एतदवष्टम्भेन परबोधगगनचारित्वं स्यात् ।

अस्या एव अवान्तरभेदसहितायाः श्रीयोगसञ्चारोक्तं रूपं निर्दिशति

ध्वनिज्योतिर्मरुद्युक्तं चित्तं विश्रम्य चोपरि ॥ १२ ॥
अनेनाभ्यासयोगेन शिवं भित्त्वा परं व्रजेत् ।

समना ही सहस्रार चक्र का प्रतिष्ठान है। इस चक्र तक शक्ति, व्यापिनी और समना की संयुक्त शक्तिमत्ता काम करती है। यह द्वितीय खत्रय है। यहाँ से ऊर्ध्व की ओर शाक्त गतिशीलता के लिये एक अभिनव प्रयत्न की आवश्यकता होती है। 'उद्घात' प्रक्रिया से प्राण को प्रेरित कर अधोमुख कमल के मध्यनालछिद्र से तीन अराओं के सहारे साधक उन्मना पद में प्रतिष्ठित हो जाता है। उन्मना पर बन्धन अर्थात् नियन्त्रण हो जाने पर आकाशचारिता की गति निश्चित रूप से प्राप्त हो जाती है, यह श्रीपूर्वशास्त्र कहता है। श्रीपूर्वशास्त्र मालिनी विजयोत्तरतन्त्र को ही कहते हैं। यह खेचरीशक्ति पर विजय की साधना यात्रा का स्वरूप है। यहाँ जो सबसे बड़ी उपलब्धि होती है—वह पर-शिवाभिमुखता है। पर शिवरूप गगन में अनुप्रवेश से साधक का अस्तित्व धन्य हो जाता है। उसको शैवतादात्म्य-सिद्धि हो जाती है। वह परशिव भाव में शाश्वतविहार करता है। यही परबोध गगनचारित्व है। यहाँ अवष्टम्भ हो जाने पर पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का शरीर की पार्थिवता पर प्रभाव समाप्त हो जाता है और अणिमा की सिद्धि हो जायी है। शरीर हल्का हो जाता है। वह सचमुच आकाशचारी हो जाता है ॥ १०-११ ॥

इसी मुद्रा की अवान्तर-भेदरूपता की चर्चा कर रहे हैं। यह क्रम श्री योगसञ्चर शास्त्र के अनुसार कहा जा रहा है—

ध्वनिर्नादः, ज्योतिर्बिन्दुः, मरुत् शक्तिः, तेन तद्द्वादशान्तं ब्रह्मरन्ध्रम्। एवं जन्माधारात्प्रभृति एतद्व्योमत्रययोगि चित्तं विधाय तत्रैव निविडध्यानेनैव क्रमेण उपरितनं शक्त्यात्मकमपि खत्रयं भित्त्वा योगी परं शिवं व्रजेदिति वाक्यार्थः।

एतदनुवेधेन त्रिशूलिन्यापि अपि रूपमाह

जत्र्वधस्तात्करौ कृत्वा वामपादं च दक्षिणे ॥ १३ ॥
विदार्यास्यं कनिष्ठाभ्यां मध्यमाभ्यां तु नासिकाम्।

ध्वनि (नाद) ज्योति (विन्दु) मरुत् (शक्ति) इन तीनों व्योमत्रय से चित्त को युक्त करने की प्रक्रिया अपनानी चाहिये। इस विधि का संकेत आचार्य जयरथ ने 'जन्माधारात् प्रभृति एतद्व्योमत्रययोगि' प्रयोग द्वारा किया है। जन्माधार से अश्विनी मुद्रा के प्रयोग से प्राणापानवाह चक्रों को पार करता हुआ विन्दु, नाद और नादान्त रूप खत्रय तक पहुँचता है। यहाँ 'मरुद्' प्राण के लिये ही प्रयुक्त है। जब इन तीनों से एक योगात्मकता सिद्ध हो जाती है, तो योगी निविड ध्यान योग से उपरितन शक्ति, व्यापिनी और समना रूप खत्रय का भेदन करते हैं। इससे योगी पर-शिव भाव को प्राप्त कर लेता है। आचार्य को विवेक व्याख्या में शक्ति, के बाद 'तेन द्वादशान्तं ब्रह्मरन्ध्रम्' इतना लेख प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। आचार्य सदृश परमगुरु यह अपार्थक प्रयोग नहीं कर सकता ॥ १२ ॥

इसी अनुवेध के माध्यम से त्रिशूलिनी के रूप का निरूपण कर रहे हैं—

त्रिशूलिनी शब्द से ही अन्वर्थ रूप से यह आकलित होता है कि, इसमें त्रिशूल की आकृति की प्रतिच्छाया-सी उपलक्षित होती है। यह सच्चाई भी है। इसमें त्रिशूल का प्रयोग किया भी जाता है। त्रिशूल विधि को अपनाने के कारण ही इसे त्रिशूलिनी कहते हैं। सर्वप्रथम दोनों हाथों को गले के नीचे की दो गोलाकार हड्डियों के नीचे ले जाना चाहिये। देशज प्रयोग में इन्हें

अनामे कुञ्चयेत्प्राज्ञो भ्रूभङ्गं तर्जनीद्वयम् ॥ १४ ॥
जिह्वां च चालयेन्मन्त्री हाहाकारं च कारयेत् ।
त्रिशूलेन प्रयोगेण ब्रह्मरन्ध्रमुपस्थितः ॥ १५ ॥
पदं सन्त्यज्य तन्मात्रं सद्यस्त्यजति मेदिनीम् ।

जत्रुशब्देन अत्र कण्ठो लक्ष्यते तेन तदध इत्यर्थः । नासिकामिति तद्रन्ध्रद्वयम्, चालयेदिति भ्रूभङ्गादौ त्रयेऽपि योज्यम् । तन्मात्रमिति स्थितम् । मेदिनीं त्यजतीति देहाद्यहन्तापहस्तनेन परबोधाकाशचारी भवेदित्यर्थः ॥ १३-१५ ॥

'हँसुली' कहते हैं । संस्कृत में उन्हें ही जत्रु कहते हैं । उन्हीं के नीचे हाथ ले जाना है । बैठने की मुद्रा में पलत्थी नहीं लगानी है, वरन् बाँये पाँव को दाहिने पर रखना चाहिये । फिर हाथों को मुँह तक ऊपर उठा दोनों कनिष्ठिकाओं से मुख को फैलाना चाहिये । साथ ही दोनों बिचली अङ्गुलियों का नाक के छिद्रों में डालकर उभयतः फैलाना चाहिये ।

बुद्धिमान् साधक अनामिकाओं का आकुञ्चन करके ही उपर्युक्त प्रक्रिया अपनाये । इसके बाद दोनों भौंहों, दोनों तर्जनियों, और जीभ इन तीनों अवयवों को चालित करें । इसके साथ ही फैले हुए मुँह की दशा में गले से 'हा' 'हा' 'हा' की ध्वनि भी करता रहे । इधर प्राणापान के नियन्त्रण पूर्वक त्रिशूल विधि अपनाये । इस विधि के फलस्वरूप ब्रह्मरन्ध्र में अव-स्थिति हो जाती है । यही नहीं, इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है कि, इस अवस्था में तन्मात्राओं के प्रभाव का प्रत्यावर्त्तन हो जाता है और मेदिनी अर्थात् शरीर की पार्थिव सत्ता की अनुभूति का अर्थात् देहाध्यास और देह सम्बन्धिनी अशुद्ध अहन्ता का अपहस्तन हो जाता है । साधक इस अवस्था में स्थित होकर परबोध रूप शून्य गगन में विहार की शक्ति से समन्वित हो जाता है । यह एक प्रकार की आकाशचारी होने की ही दशा मानी जा सकती है ॥ १३-१५ ॥

त्रिशूलप्रयोगमेव शिक्षयति

शून्याशून्यलये कृत्वा एकदण्डेऽनिलानलौ ॥ १६ ॥

शक्तित्रितयसम्बद्धे अधिष्ठातृत्रिदैवते ।

त्रिशूलं तद्विजानीयाद्येन व्योमोत्पतेद्बुधः ॥ १७ ॥

एवंविधोऽयमनिलानलौ प्राणापानावर्थात् मध्यप्राणे समरसितौ कृत्वा अत एव एकस्मिन्मूलाधारात्प्रभृति ऊर्ध्वं प्रसरणात् दण्डाकारे च तस्मिन् जाते सति तदेवं प्रयुज्यमानं त्रिशूलं विजानीयात् येन अस्य व्योमोत्पतनं स्यात् । एकदण्डाकारं मध्यप्राणमेव विशिनष्टि अधिष्ठातृत्रिदैवते इति भ्रूमध्याद्यवस्थितेश्वरसदाशिवानाश्रिताख्यकारणत्रयाधिष्ठिते इत्यर्थः । तथा

त्रिशूल प्रयोग को विधा का निर्देश कर रहे हैं—

इस प्रकार परबोधाकाशचारी साधक अनिल रूप अपान और अनल रूप प्राण इन दोनों को समरस दशा में अवस्थित कर देता है । यह समरसता मध्यप्राण रूपी एक दण्डात्मक अवस्था में आतो है । मूलाधार से अश्विनी मुद्रा की सिद्धि के उपरान्त ऊर्ध्वप्रसरण का क्रमिक अनुसन्धान साधक को होता रहता है । श्वासजित् होने पर प्राण की दण्डाकारता का साक्षात्कार हो जाता है । उस एक दण्ड के वैशिष्टय पर ध्यान देने पर तीन बातें विशेष रूप से सामने आती हैं—१. इस दण्ड में अनाहत बिन्दु पर ईश्वर अधिष्ठित हैं । २. विशुद्ध बिन्दु पर सदाशिव अधिष्ठित हैं और ३. भ्रूमध्य में अनाश्रित शिव का अधिष्ठान है । इसो दृष्टि से शास्त्रकार ने अधिष्ठातृत्रिदैवत का महत्त्वपूर्ण विशेषण प्रयुक्त किया है ।

इसको दूसरी विशेषता को 'शक्तित्रितय सम्बद्ध' शब्द व्यक्त कर रहा है । बिन्दु से क्षेप और आक्रान्ति रूप स्पन्दनों द्वारा यह नाद और नादान्त अवस्थानों को पार कर चिदुद्बोध से शक्ति में, स्थापन से व्यापिनी में और दीपन से समना में संश्लिष्ट होता है । यही शक्तित्रितय की सम्बद्धता है ।

शक्तिव्यापिनीसमनासम्बद्धे तत्संयोगमाप्ते, अत एव परपदप्राप्त्या शून्याशून्य-लये विगलितसदसदादिशब्दव्यवहारे इत्यर्थः ॥ १६-१७ ॥

नच एतावतैव अयं व्योम उत्पतेदित्याह

आकाशभावं सन्त्यज्य सत्तामात्रमुपस्थितः ।
शूलं समरसं कृत्वा रसे रस इव स्थितः ॥ १८ ॥

तीसरा और अप्रतिम महत्त्व का इसका विशेषण है—शून्याशून्यलयत्व। शून्य यहाँ पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त है। विन्दु नाद और नादान्त के साथ ही शक्ति, व्यापिनी और समना रूप दो शून्य त्रिकों का वर्णन श्लोक ११ में अभी-अभी किया गया है। इनमें रहने पर यह एकदण्डात्मकता शून्य में उल्लसित रहती है। जब इस शून्य दशा को पार करती है, तो अशून्य रूपता में अभिमुख हो जाती है। उन्मना की परावस्था में परमशिवता की तादात्म्यमयी अशून्यता का भी लय हो जाता है। शक्ति आदि कई दृष्टियों से इसे त्रिशूल की संज्ञा दी गयी है। इसका बोध हो जाने पर सुबुद्ध साधक त्रिशूलिनी द्वारा खेचरत्व प्राप्त कर लेता है ॥ १६-१७ ॥

प्राणापान साधना की यह एक उत्कृष्ट स्थिति है। इसमें परबोधरूपी गगन में विहार की अलौकिक अनुभूतियाँ अनायास प्राप्त हो जाती हैं। यह ध्यान देने की बात है कि, इस दशा में भी आकाश में उत्पतन की क्षमता नहीं होती। उसके लिये विशेष प्रयास आवश्यक होता है। यद्यपि आकाश उत्पतन आत्मोकर्ष की दृष्टि से उपादेय नहीं माना जा सकता, फिर भी चमत्कार की दृष्टि से साधक इस विद्या में भी सिद्ध हो जाता है। मत्स्येन्द्रनाथ और गुरुवर्य गोरखनाथ सदृश सिद्ध खेचरण करने में समर्थ थे, ऐसा सुना जाता है। यहाँ शास्त्रकार यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि, आकाश विहार कैसे सिद्ध हो जाता है। इसी उद्देश्य से इन कारिकाओं का अवतरण कर रहे हैं—

एकदण्डं सा विज्ञाय त्रिशूलं खचरं प्रिये ।
बद्ध्वा तु खेचरीं मुद्रां ध्यात्वात्मानं च भैरवम् ॥ १९ ॥
खेचरीचक्रसंजुष्टं सद्यस्त्यजति मेदिनीम् ।

एवं खचरमेकदण्डं त्रिशूलं विज्ञाय तत्तदवच्छेदाधायि सत्तामात्रमपि परित्यज्य खेचरीमुद्राबन्धमाविश्य स बुधः पराकाशरूपतामुपस्थितः सन् स्थितस्तत्रैव रसे इव रसं शूलमपि समरसीकृत्य खेचरीचक्रसंजुष्टमात्मानं भैरवं ध्यात्वा च सद्य एव मेदिनीं त्यजतीति सम्बन्धः ॥ १८-१९ ॥

साधक सत्ता-भाव का परित्याग कर दे। असत्ता मात्र में अवस्थित हो जाय। यह असाधारण अवस्था है। सत्ता मात्र में स्थित साधक काल में नहीं रहता है। वह शाश्वत में वर्त्तमान हो जाता है। काल को अतिक्रान्त करना असत्तामात्र में अवस्थान माना जाता है। मानव जीवन की यह शिखर स्थिति होती है। उस समय शूल समरस हो जाता है। रस रूप परामृत में रसानन्द रूप आत्मतत्त्व के सम्मिलन से तादात्म्यमयी रसानुभूति सिद्ध हो जाती है, उसी तरह शूल को समरस करने से श्वासजित् अवस्था सिद्ध होती है। उस समय साधक को यह स्फुरित हो जाता है कि, इस समय प्राणापानकी एकदण्डात्मकता ऊर्ध्वत्रिशूल के ऐकात्म्य से समन्वित है और खत्रय से भी एक रस हो चुकी है। यह जानकारी निरन्तर हो रही होती है। साधकस्वात्म भैरव भाव से खेचरीचक्र से बँधा हुआ है। इस दशा में वह ध्यान में प्रतिष्ठित हो जाता है। उस ध्यान को गहराई में साधक के विराट व्यक्तित्व के समस्त संकोच अपास्त हो जाते हैं। अब वह एक अभौतिक अस्तित्व का प्रतीक बन जाता है। उस पर मेदिनी की आकर्षण शक्ति का प्रभाव नहीं रह जाता और साधक का शरीर धरातल से ऊपर यथेच्छ आकाश की सूक्ष्मता की तरह विहार करने में समर्थ हो जाता है। यही मेदिनी का परित्याग कहलाता है ॥ १८-१९ ॥

ननु एवमस्य किं स्यादित्याशङ्क्य आह

त्यक्तांशको निराचारो निःशङ्को लोकवर्जितः ॥ २० ॥

अवधूतो निराचारो नाहमस्मीति भावयन् ।

मन्त्रैकनिष्ठः संपश्यन् देहस्थाः सर्वदेवताः ॥ २१ ॥

ह्लादोद्वेगास्मिताक्रुष्टनिद्रामैथुनमत्सरे ।

रूपादौ वा कर्तृकर्मकरणेषु च सर्वशः ॥ २२ ॥

नाहमस्मीति मन्वान एकीभूतं विचिन्तयन् ।

प्रश्न करते हैं कि, ऐसा होने से साधक में क्या होता है ? क्या कोई बदलाव आता है ? कोई चमत्कार होता है ? आदि ? इन्हीं आशङ्काओं का समाधान कर रहे हैं—

१. सर्वप्रथम उसमें जो अस्तित्वगत चमत्कार होता है, वह है, उसके विराट् स्वरूप का उल्लास । अंश रूप संकोच से ग्रस्त अणुता का निराकरण हो जाता है । अंश भाव छूट जाता है । अब वह निरंशता को प्राप्त या उपलब्ध हो जाता है ।

२. उसका दूसरा स्तर और भी दिव्य हो जाता है। अबतक वह बँटी हुई जिन्दगी जी रहा था। उसके आचार में भी पार्थक्य प्रथा का प्रथन हो रहा था। यह करो, यह न करो आदि के खंडित दृष्टिकोण थे। अब ऐसा नहीं रह जाता। वह सभी आचारों को अतिक्रान्त कर जाता है।

३. निःशङ्कता का वह प्रतिमान हो जाता है ।

४. लोकाचार की खण्डित जीवनचर्या से उसे मुक्ति मिल जाता है ।

५. अवधूत अवस्था का प्रतीक परमहंस बन जाता है ।

६. देहाध्यास में देह में ही अहं भाव का उल्लास रहता है । इस अवस्था में 'मैं यह नहीं हूँ' इस दृढ भाव से भावित हो जाता है ।

७. मन्त्र में निश्चयात्मक आस्था आ जाती है ।

कर्णाक्षिमुखनासादिचक्रस्थं देवतागणम् ॥ २३ ॥

ग्रहीतारं सदा पश्यन् खेचर्या सिद्धयति स्फुटम् ।

त्यक्तांशक इति निरंशतामापन्न इत्यर्थः। निराचार इति निष्क्रान्ता आचारा यस्मादाचारेभ्यश्च निष्क्रान्त इति योज्यम् । देहस्थाः सर्वदेवताः संपश्यन्निति सर्वदेवतामयमात्मानं जानान इत्यर्थः । ह्लादेत्यादिना चित्त-वृत्तिविशेषा आसूत्रिताः । रूपादाविति विषयपञ्चके। ग्रहीतारमिति पर-प्रमात्रेकरूपमित्यर्थः ॥ २०-२३ ॥

एतदेव व्यतिरेकद्वारेण द्रढयति

विद्याशङ्की मलाशङ्की शास्त्रशङ्की न सिद्धयति ॥ २४ ॥

विद्येति शुभकरी वेदविद्या ॥ २४ ॥

---

८. देह में दिव्यत्व का प्रकल्पन, शक्ति-पुञ्जता की दृष्टि और अङ्गप्रत्यङ्ग में कवचरूप से अवस्थित शक्ति प्रतीकों का भान होने लगता है।

९. आह्लाद, उद्वेग, अस्मिता, आक्राश, नींद, मैथुन, मत्सर रूपगर्व आदि चित्तवृत्तियों से ऊपर उठकर मैं कर्त्ता हूँ, मेरे द्वारा ये कार्य सम्पन्न हो रहे हैं आदि कर्त्ता, कर्म और करण आदि कारक वृत्तियों को अतिक्रान्त कर लेता है। अहन्ता के व्यापक परिवेश में विचरण करता है।

१०. बिश्वात्मकता में शैवमहाभावैक्य का दर्शन करता है।

११. कर्णादि इन्द्रियों द्वारा करणेश्वर देववृन्द ही सारा अर्थ-ग्रहण कर रहा है, यह उसकी अन्यतम मान्यता हो जाती है। ये सारी स्थितियाँ और वृत्तियाँ खेचरी मुद्रा सिद्धि के माहात्म्य से स्वतः सिद्ध हो जाती हैं ॥ २०-२३ ॥

इस लोकोत्तर चर्यात्मक जीवन्तता का व्यतिरेक दृष्टि से दृढ़तापूर्वक समर्थन करने का उपक्रम कर रहे हैं—

विद्या रूप शैवज्ञानप्रदा आत्मविद्या के प्रति आशङ्का कर अनिश्चय स्थिति में जीने वाला, षट्कञ्चुकों की मान्यता और प्रभावशालिता के प्रति

ननु एवमयं कस्मात् न सिद्धयेदित्याशङ्कय आह

शिवो रविः शिवो वह्निः पक्तृत्वात्स पुरोहितः ।
तत्रस्था देवताः सर्वा द्योतयन्त्योऽखिलं जगत् ॥ २५ ॥

रविः प्रमाणं, वह्निः प्रमाता, अत एव पुरोहितो यष्टा इत्यर्थः । पक्तृत्वादिति सर्वस्य स्वात्मसात्काररूपात्वात् द्योतयन्त्यः स्थिता इति शेषः । एवं हि शिव एव सर्वमिति किमाशङ्कास्पदमित्याशयः ॥ २५ ॥

शङ्कालु और शास्त्रों के आदेशों एवं निर्देशों के प्रति सन्दिग्ध वृत्ति वाला साधक कभी और किसी अवस्था में सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता । अवस्था-शैथिल्य उत्कर्ष की प्रकल्पना को ही कीलित कर देता है ॥ २४ ॥

व्यतिरेक दृष्टि की सदोषता का अनुसन्धान कर रहे हैं—

वास्तविकता यह है कि, शिव ही सर्वरूप में उल्लसित हैं । शिव उपास्य हैं । उपास्य में शङ्का के लिये अवकाश नहीं होता । त्रिकशास्त्र की यह मान्यता है कि, विश्व, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति की चतुष्कता में परिचालित है । सूर्य को प्रमाण माना जाता है । अग्नि ही प्रमाता है । ये सूर्य और सर्वाभासक अग्नि दोनों शिव ही हैं । शिव ही सूर्य रूप से प्रकाशमान हैं । शिव ही अग्नि रूप से प्रकाश को परिभाषित कर रहा है । पक्तृत्व अर्थात् रवि और अग्नि में भी उद्दीप्ति भरने वाला शिव ही पुरोहित है अर्थात् प्रकाशरूप यज्ञ का याजक भी शिव ही है । यह सर्वस्व को स्वात्म में शाश्वत रूप से समाहित कर रहा है । शिवत्व के परिवेश में सर्व का समर्पण एक अभिराम महोत्सव है । इस प्रकार खेचरी सिद्ध शरीर में सारी दिव्य शक्ति रूपी देवताः समस्त विश्व को आलोकित करती हैं अथवा शिव के इस विराट्-परिवेश में वर्तमान देवी शक्तियाँ ही शिवत्वाधिष्ठान के कारण विश्व को विद्योतित कर रही हैं ॥ २५ ॥

एवं त्रिशूलिन्याः स्वरूपमभिधाय करङ्किण्या अपि आह

कनिष्ठया विदार्यास्यं तर्जनीभ्यां भ्रुवौ तथा ।
अनामे मध्यमे वक्त्रे जिह्वया तालुकं स्पृशेत् ॥ २६ ॥
एषा करङ्किणी देवी ज्वालिनीं शृणु सांप्रतम् ।
हनुर्ललाटगौ हस्तौ प्रसार्याङ्गुलितः स्फुटौ ॥ २७ ॥
चालयेद्वायुवेगेन कृत्वान्तर्भ्रुकुटीं बुधः ।
विदार्यास्यं सजिह्वं च हाहाकारं तु कारयेत् ॥ २८ ॥
एषा ज्वालिन्यग्निचक्रे तथा चाष्टोत्तरं शतम् ।
जपेद्यदि ततः सिद्ध्येत्त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २९ ॥

कनिष्ठयेति उभयकरसम्बन्धिन्या । वक्त्रे इति अर्थात् कृत्वा । प्राकरणिकश्च अत्र खेचरीमुद्राबन्धानुवेधोऽनुसन्धातव्य एवेति गुरवः हनुरिति ऐशः पाठः तेन हनुतः प्रभृति ललाटान्तं स्थितौ कार्यावित्यर्थः । प्रसार्याङ्गुलित इति प्रसृताङ्गुलीकावित्यर्थः । अन्तरिति हस्तयोः । अग्निचक्रे इति ऊर्ध्वमुखे त्र्यश्रे अन्तरात्मानं भावयित्वा ॥ २९ ॥

यहाँ त्रिशूलिनी का चित्रण करने के उपरान्त करङ्किणी खेचरी की चर्चा कर रहे हैं—

दोनों हाथों की कनिष्ठिकाओं को मुख के भीतर डाल कर दोनों ओर खींचना इसकी पहली विधि है। दोनों तर्जनी उँगलियों द्वारा दोनों भौहों के ऊपर अपनी ओर खिचाव देना दूसरी अवस्थिति है। पुनः अनामा और मध्यमा अंगुलियों को मुख में डाले रहे और जीभ से तालु का स्पर्श करते हुए श्वास साधन करे। यह करङ्किणी मुद्रा का चित्र है ॥ २६ ॥

ज्वालिनी मुद्रा भी इसी की एक भेद है। हनु से लेकर ललाट पर्यन्त हाथ की फैली हुई अङ्गुलियों से मुख पर एक सामान्य दवाव देना चाहिये। ज्वालिनी को यह पहली क्रिया है। दूसरी क्रिया जिह्वा निकाले हुए मुँह

सिद्धिमेव दर्शयति

परदेहेषु चात्मानं परं चात्मशरीरतः ।
पश्येच्चरन्तं हानादाद्गमागमपदस्थितम् ॥ ३० ॥
नवच्छिद्रगतं चैकं तदन्तं व्यापकं ध्रुवम् ।
अनया हि खचारी श्रीयोगसञ्चार उच्यते ॥ ३१ ॥

हानादेति हाकारस्य नादेन उच्चारेणेत्यर्थः । गमागमेति स्वदेहात् परदेहे, परदेहाद्वा स्वदेहे । खचारीत्यनेनापि खेचरीमुद्राबन्धानुवेधो दर्शितः ॥ ३१ ॥

को फैलाना चाहिये । गले से हा हा कार का उच्चारण होता हो । सुबुद्ध साधक आज्ञाचक्र के त्रिकोण में अपनी अन्तरात्मा का अनुसन्धान करता रहे । साथ ही वायुवेग से हनुसहित मुंह को चालित करना चाहिये । इस स्थिति में ही ज्वालिनी मन्त्र का भी एक माला जप उसी दशा में सम्पन्न करता रहे । यह ज्वालिनी मुद्रा थोड़ी कठिन है और कठिनाई से सिद्ध होती है । इसके सिद्ध हो जाने पर सचराचर त्रैलोक्यसिद्ध हो जाता है ॥ २७-२९ ॥

सिद्धि के प्रकार का दिगदर्शन और उसके महत्त्व का प्रकाशन कर रहे हैं—

दूसरे के शरीरों में स्वात्म का अनुप्रवेश और दूसरे को स्वात्म शरीर द्वारा स्वात्म में ही आचरण समन्वित करने की शक्ति इससे आ जाती है । इसमें 'हा' सदृश नाद का अप्रतिम महत्त्व है । यहाँ एक बात गुप्त रखी गयी है । हा नाद के साथ 'स्वा' का आन्तर उच्चार भी चाहिये । इससे आत्मानुप्रवेश के समय, पर के प्राणामृतप्रवाह का अपनी ओर आनयन तथा दूसरे शरीर में स्वात्म का प्रलयन दोनों सम्भव हो जाते हैं ।

योगसञ्चर शास्त्र में इसका महत्त्व प्रतिपादित है । मनुष्य का शरीर ऐसे ढङ्ग से निर्मित है, जिसमें नौ छिद्र हैं । इन सबकी पृथक्-पृथक् उपयोगिता निर्धारित है । इन सबमें खेचरी साधक की समान शक्तिमत्ता काम करती

इदानीं श्रीवीरावल्युक्तमपि अस्या विधिमाह

कुलकुण्डलिकां बध्वा अणोरन्तरवेदिनीम् ।
वामो योऽयं जगत्यस्मिंस्तस्य संहरणोद्यताम् ॥ ३२ ॥
स्वस्थाने निर्वृतिं लब्ध्वा ज्ञानामृतरसात्मकम् ।
व्रजेत्कन्दपदं मध्ये रावं कृत्वा ह्यरावकम् ॥ ३३ ॥

इह अणोरन्तरवेदिनीमन्तश्चरन्तीं तन्मयतामाप्तां कुलकुण्डलिकां मध्यप्राणशक्तिमाक्रम्य अज्ञानसंहर्त्रीं स्वस्थाने शाक्ताधारे तदैक्यापत्तिरूपां निर्वृतिं प्राप्य

है। इनमें ध्रुव भाव से सतत नदनशील एक व्यापक तत्त्व का दर्शन किसी सामान्य व्यक्ति को नहीं हो सकता। वही साधक महत्त्वपूर्ण है, जो इनमें एकतात्त्विकता के सौहित्य का अनुसन्धान करने में समर्थ हो जाता है। इस साधना में नैपुण्य प्राप्त अधिकारी ही वस्तुतः खचारी कहलाने का भी अधिकारी होता है ॥ ३०-३१ ॥

श्रीवीरावली शास्त्र में इसकी विधि का निर्देश प्राप्त है। उसे भी यहाँ प्रदर्शित कर रहे हैं—

कुल कुण्डलिनी को नियन्त्रित कर साधक स्वस्थान अर्थात् शाक्ताधार में ऐक्यात्म्य की सिद्धि करने में समर्थ हो जाता है। यहाँ कुल कुण्डलिनी शब्द के कई विशेषण दिये गये हैं, जो उसकी विशेशता का ख्यापन करते हैं। १. वह अणु पुरुष को अन्तर्वेदिनी है। अन्तर्वेदन अन्तः संचार से ही सिद्ध होता है। इस तरह वह अणु की आन्तरिकता की साक्षिणी सिद्ध होती है।

२—वह जागतिक वामता के संहरण में उद्यत रहती है। अर्थात् मध्य प्राणशक्ति पर आरूढ रह कर वाम रूप अज्ञान का संहार करती है।

३—स्वस्थान को मलाधार मानते हैं। आगम कहता है कि,

यावज्जीवं चतुष्कोणं पिण्डाधारं च कामिकम् ।
तत्र तां बोधयित्वा तु गतिं बुद्ध्वा क्रमागताम् ॥ ३४ ॥
चक्रोभयनिबद्धां तु शाखाप्रान्तावलम्बिनीम् ।
मूलस्थानाद्यथा देवि तमोग्रन्थिं विदारयेत् ॥ ३५ ॥

'मूले तु शाक्तः कथितो बोधनादप्रवर्तकः ।'

इत्युक्त्या तस्य बोधनादप्रवर्तकत्वात् मध्यविषाधारादावरावक प्रशान्तरूपं रावं नादं कृत्वा

'..... ... . कन्दे षड्रसलम्पटाः ।' इति ।

इतिभङ्ग्या ज्ञानामृतरसात्मकं कन्दपदं कामिकं सर्वकामाभिधं जीवं सञ्जीवन्यमृताभिधं चतुष्पथवर्तित्वात् चतुष्कोणं चिन्तामण्यभिधानं च यावत्

मूल में शाक्त उल्लास होता है। उल्लास के क्रम में बोधरूप नाद का प्रवर्त्तन होता है। इसकी शक्ति यों तो स्वयं शिव में ही होती है किन्तु सिद्ध साधक भी बोधनाद का प्रवर्त्तक बन जाता है। साक्षी तो वह है ही। उसी शाक्ताधार में ऐकात्म्य वृत्ति से निर्वृति की प्राप्ति साधक कर लेता है। निर्वृति परमसंतृप्ति का पर्याय है। कुण्डलिनी साधना में मूलाधार से द्वादशान्त पर्यन्त तादात्म्य का परमानन्द साधक अश्विनी मुद्रा के एक स्पन्द में ही प्राप्त कर लेता है। जो शाश्वत ऐक्य से सम्पन्न है, उसके उस चरम परम सुख का कहना ही क्या ? आगम की एक उक्ति है—

'कन्द में षड्रसलम्पट योगी (अमृत पान करता है)'।

इस उक्ति के अनुसार वह ज्ञान विज्ञान की शैवानुभूतियों का रसामृत पान करता है। इसी क्रम में कन्दपदवी का भी आश्रयण कर आनन्दित होता है।

४—यह ध्यान देने की बात है कि, नाद तो अव्यक्त शब्दमय होता है किन्तु बोधनाद में शब्दता का नितान्त अभाव रहता है। यही स्थिति

वज्राख्यां ज्ञानजेनैव तथा शाखोभयान्ततः ।
कोणमध्यविनिष्क्रान्तं लिङ्गमूलं विभेदयेत् ॥ ३६ ॥

पैण्डं शरीरमाधारं व्रजेत् । तत्र आधारेषु च क्रमागतां तां कुलकुण्डलिकां बोधयित्वा मूलस्थानादारभ्य प्राणापानात्मचक्रद्वयाम्भितां द्वादशान्तं यावत् गच्छन्तीं ज्ञात्वा यथा अयं योगी ज्ञानजेनैव माहात्म्येन अज्ञानग्रन्थिं दुर्भेद्यत्वात् वज्राख्यां मध्यनाडीं च विदारयेत्, तथा प्राणापानात्मशाखाद्वयस्य अन्तमवलम्ब्य जन्माधाररूपत्रिकोणमध्यादपि विनिष्क्रान्तमत एव मेढ्राधावर्तित्वात् लिङ्गमूलं तदाख्यमकुलाधारमपि विभेदयेत् ॥ ३२-३६ ॥

अरावक राव को होती है। मध्यप्राण कुण्डलिनो में यह अरावक राव बोधनाद रूप ही माना जा सकता है। अथवा प्रशान्त स्पन्द की संज्ञा उसे दी जा सकतो है।

५—यह कन्द पद 'कामिक' होता है। यह 'जीव' को संजीवनी शक्ति प्रदान करता है। कन्द पद से चतुष्कोणात्मक चिन्तामणि मन्दिर को यात्रा का सामर्थ्य कुलकुण्डलिनी ही देती है।

६—इसीलिये साधक उस चिन्तामणि नामक पिण्डाधार को साधना-यात्रा में सदा संलग्न रहता है।

७—पिण्डाधार शरीर के विभिन्न चक्र भी माने जाते हैं। इनमें 'क्रमागता' कुलकुण्डलिनी ही है। उसका उद्बुद्ध करना और उसकी गति का आकलन करना साधक को अनुभूति और साधना का विषय है।

८—कुलकुण्डलिनी चक्रोभय निबद्ध होती है। मूलाधार से लेकर द्वादशान्त में निबद्ध होना या प्राण और अपानवाह के आवागमन में निबद्ध होना उसकी विवशता होती है। यह प्राणापान रूप दो शाखाओं के अन्त का अवलम्बन करती है।

इस प्रकार की सारी स्थितियों का ज्ञाता योगी होता है। अपने इसी ज्ञानज विज्ञान के बल पर पिण्डस्थ तमोग्रन्थिका और वज्रा नामक

तत्र सङ्घट्टितं चक्रयुग्ममैक्येन भासते ।
वैपरीत्यात्तु निक्षिप्य द्विधाभावं व्रजत्यतः ॥ ३७ ॥
ऊर्वाद्यङ्गुष्ठकालाग्निपर्यन्ते सा विनिक्षिपेत् ।
गमागमनसञ्चारे चरेत्सा लिङ्गलिङ्गिनी ॥ ३८ ॥

तत्र हि प्राणापानरूपं चक्रयुग्मं स्वस्वरूप-त्रोटनेन सङ्घट्टितं तदैक्येन भासते मध्यप्राणशक्तेरेव ततः समुदय इत्यर्थः । अता लिङ्गमूलाख्यादकुल-पदात्पुनः सा वैपरीत्यादधोगत्या निक्षेपं विधाय द्विधाभावं व्रजति यदिय-मूर्वाद्यङ्गुष्ठपर्यन्तत्वनिमित्तमात्मानं विनिक्षिपेत् तद्रूपतां गृह्णीयादित्यर्थः । सा

मध्यनाडी का भी वह विदारण करे, शास्त्रकार का यह मुख्य निर्देश है । दूसरा निर्देश इससे भी महत्त्वपूर्ण और शरीर विज्ञान से सम्बद्ध है । जन्माधार को त्रिकोण भी कहते हैं । उसी त्रिकोण के मध्य से शाक्त उल्लास स्पन्दित होता है । वहाँ से ऊपर उठकर स्वाधिष्ठानात्मक लिङ्ग मूलावस्थित अकुलाधार का भी भेदन करे, यही लिङ्गमूल का विभेद कहलाता है । वीरावलि नामक इस ग्रन्थ के अनुसार खेचरी साधक की कुण्डलिनी सिद्ध होनी चाहिये, यह सिद्ध हो जाता है ॥ ३३-३६ ॥

जन्माधार और द्वादशान्त के मध्य का महत्त्व पूर्ण सन्धान-महोत्सव पिण्ड शरीर में शाश्वत चलता है । साधक अभ्यास के बल पर इसे परखता है और इसका साक्षात्कार कर लेता है । श्वास और प्रश्वास अर्थात् प्राणापानवाह का यह चक्र-युग्म साधक के प्रयत्न से सङ्घट्टित हो जाता है और श्वास जिस अवस्था में ऐक्य भाव से भासित होने लगता है, उसी दशा में अन्वर्थ 'प्राणवान्' शब्द चरितार्थ हो जाता है ।

यह एकीभूत प्राण शक्ति ऊर्ध्वाधर विद्युत् तत्त्व का निक्षेप करती है । प्राणजित् साधक द्वादशान्त क्षेत्र में परमशिव के अखण्ड सद्भाव को भव्यता में रमा रहता है । वहीं मध्यबिन्दु से अधर दशा में गतिशील होकर कटि प्रदेश, ऊरु, जानु, गुल्फ, प्रपद, पादमूल और अङ्गुलि श्रेष्ठ अङ्गुष्ठ

तत्र तत्पदसंयोगादुन्मीलनविधायिनी ।
यो जानाति स सिद्धयेत्तु रसादानविसर्गयोः ॥ ३९ ॥

कुलकुण्डलिका हि ऊर्ध्वाधः सञ्चारमनादृत्य प्राणापानलक्षणाभ्यां लिङ्गाभ्यां लिङ्गिनी तत्क्रोडीकारेण ज्ञप्ति प्राप्ता सती चरेत् तत्तदाधारादिभेदेना मध्यधाम आक्रामेत् । सा हि तत्र मध्यधाम्नि प्राणापानपदद्वयसंयोगात्संविद्विकासमादध्यात् । यश्च एवंविधमिदं सर्वभावानुस्यूतमूर्मिण्युन्मीलनं परसंविद्विकासाधायि परं स्थानं जानाति, स संविद्रसादानविसर्गयोः सिद्धयेत् सृष्टिसंहारकारित्वेस्य सामर्थ्यमुत्पद्यते इत्यर्थः ॥ ३७-३९ ॥

के अग्रभाग तक उल्लसित होती है। यह अकारण गति निक्षेप ही जीवन का मन्त्र है। गतिशीलता के इस द्विधाभाव का दर्शन और प्रतिक्षण अनुभव स्वभावतः होता रहता है। कुल कुण्डलिनी शक्ति का अधः प्रवाह नहीं होता। वह प्राणापान लिङ्ग से समन्वित होकर लिङ्गलिङ्गनी संज्ञा से विभूषित हो जाती है। उस समय प्राणापान उसके आक्रोश में शिशु की तरह विश्राम करते हैं।

वह स्थान जहाँ यह अलौकिक आलोक-लीला अपने लालित्य के साथ प्रतिफलित और उल्लसित होती है, उसे शास्त्र की भाषा से मध्यधाम कहते हैं। संवित्ति का सूरज वहीं विकसित होता है। इस विकास के मूल में प्राण और अपान नामक दो तत्त्वों का ऐक्य ही है। इस गमागम संचार में विहार करने वाली, उनके उभयैक्य में उल्लसित और आमूलाङ्गुष्ठात् आद्वादशान्त सञ्चरण शील कुल कुण्डलिनी शक्ति का जो साक्षात्कार कर लेता है, वह आदान रूप सर्जन प्रक्रिया और विसर्ग रूप संहार प्रक्रिया का तो साक्षी होता ही है, स्वयं सृजन संहार की सिद्धि से समन्वित हो जाता है। वह उल्लास के शैव महाभावात्मक आनन्द का रसास्वाद स्वयं तो करता ही है, उल्लास की संरचना में भी सक्षम हो जाता है ॥ ३७-३९ ॥

ससङ्गममिदं स्थानमूर्मिण्युन्मीलनं परम् ।
एष क्रमस्ततोऽन्योऽपि व्युत्क्रमः खेचरी परा ॥ ४० ॥
योन्याधारेति विख्याता शूलमूलेति शब्द्यते ।
वर्णास्तत्र लयं यान्ति ह्यवर्णे वर्णरूपिणि ॥ ४१ ॥

अस्याश्च एष यथोक्तस्तत्तदाधारादिसञ्चारात्मा क्रमः स्वारसिक एव वाह इत्यर्थः। ततोऽन्यो व्युत्क्रमोऽपि अस्याः सम्भवति यदियं परा खेचरी योन्याधारेति विख्याता। तत उदिता सती शूलमूलेति शब्द्यते झटित्येव शक्ति-व्यापिनीसमनात्मकारात्रययोगित्वात् द्वादशान्तपदं प्राप्तेत्यर्थः। यतस्तत्र सर्वोच्छेदरूपे क्रोडीकृतबाह्यामर्शेऽपि स्वामर्शमात्रात्मनि अवर्णे वर्णा बाह्यामर्शा लयं यान्ति तद्विश्रान्ता एव भवन्तीत्यर्थः ॥ ४०-४१ ॥

मध्यधाम का वैशिष्ट्य आदानविसर्ग के साक्षात्कार से स्पष्ट तथा ज्ञात हो जाता है। उसे शास्त्रकार ससङ्गम स्थान के रूप में निरूपित कर रहे हैं। ऊर्मि रूप परसंवित् के शान्त परिवेश में यह उन्मीलन अर्थात् उल्लास का प्रतीक माना जाता है। इस स्थान से ऊर्ध्व संचरण को चर्चा की गयी है। यही उसका क्रम है। इसका भो व्युत्क्रमण योगी करता है। वही परा खेचरी अवस्था मानो जाता है। उसे योनि का आधार कहते हैं। योनि विश्व की उत्पत्ति का कारण होती है और उसकी भी आधार यह व्युत्क्रान्ता खेचरो मुद्रा है। वहाँ इसे शूलमूला कहते हैं। वहाँ वर्ण विलीन हो जाते हैं। वर्ण मात्र समना तक ही रहते हैं। समना के बाद उस परा संविद् का अवर्णा कहते हैं। वहाँ पहुँच कर वर्णरूपिणो यही शक्ति अवर्णा हो जाती है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, वर्णात्मकता की समाप्ति पर, संवित् परविमर्शमयो हो जाती है। शूलमूलावस्था में शक्ति, व्यापिनी और समना की तीनों अरायें उन्मना के मूल तक पहुँचती हैं। समना को पार करना ही व्युत्क्रम कहलाता है। वही द्वादशान्त अवस्था मानो जाती

ननु भवतु एवं, योगी पुनरस्याः कथं प्रबोधमादद्यादित्याशङ्क्य आह

नादिफान्तं समुच्चार्य कौलेशं देहसंनिभम् ।
आक्रम्य प्रथमं चक्रं खे यन्त्रे पादपीडितम् ॥ ४२ ॥

चित् शुद्धात्मा कौलेशं रहस्यज्ञानप्रधानभूतमत एव गर्भीकृतमध्यशक्ति नादिफान्तरूपं सर्वमन्त्रारणिस्वभावं नादं स्वदेहाभेदेन समुच्चार्य तमेव च एवं सगर्भमुच्चार्यमाणं नादमधिकृत्य खे जन्माकाशरूपे मर्मणि कौलिन्याः कुलकुण्डलिन्याः पदं

है। वहाँ सर्वोच्छेद हो जाता है। बाह्य आमर्श अब उसके अन्तर्गर्भ में विलीन रहते हैं। अब केवल स्वात्म का अहमात्मक आमर्श होता रहता है। यह अवर्णात्मक माना जाता है। अवर्ण में वर्णरूपता की बात कहकर शास्त्रकार उस लोकोत्तर स्पन्द दशा की ओर अध्येता का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। इस लोकोत्तरता का साक्षात्कार आगमिक उपलब्धियों की सर्वातिशायिनी अवस्था का चमत्कार ही माना जाता है॥ ४०-४१ ॥

कर्त्ता एकमात्र चित्तत्व है। वह रुद्रशक्ति को प्रबुद्ध करता है। यह तान्त्रिक योग प्रक्रिया है, हठयोग नहीं। इसीलिये विधिलिङ् का प्रयोग कर प्रबोध की विधि की ओर संकेत किया गया है। इस विधि के कई खण्ड हैं। एक-एक क्रिया पूरी करनी है। उसके बाद दूसरी क्रिया विधि में उतरना है। इसी को प्रदर्शित करने के लिये पूर्वकालिक क्रियाओं का प्रयोग किया गया है। इस पर क्रमशः विचार करना चाहिये—

१—शुद्धात्मा चित् सर्वप्रथम नादिफान्त रूप कौलेश का देहसन्निभ समुच्चारण करे। 'न' से लेकर 'फ' पर्यन्त मालिनी विद्या का उच्चारण कैसे हो ? मालिनी नादमयी या शब्दरूपिणी मानी जाती है। यह सारे मन्त्रों की 'अरणि' मानी जाती है। इसके उच्चारण में नादविधि का प्रयोग करना होता है। नाद में मध्य शक्ति का विकास निहित रहता है। इस नाद को

नादं वै शक्तिसद्गर्भं सद्गर्भात्कौलिनीपदम् ।
बीजपञ्चकचारेण शूलभेदक्रमेण तु ॥ ४३ ॥

'जन्माख्ये नाडिचक्रं तु ....।'

इत्युक्तं नाड्यात्म प्रथमं चक्रं पादेन अंशेन पीडितं विधाय तत्र कथञ्चित् प्राणशक्तिं निरुध्य अवशिष्टानि पञ्चापि चक्राणि आक्रम्य ब्रह्मादिकारण-

---

उच्चारित करते समय देह ही नादमय हो जाता है। देह का समग्र अस्तित्व, इसके अणु-अणु कण-कण, अङ्ग प्रत्यङ्ग सभी नाद का नदन कर रहे होते हैं। यह देहाभेदमय नादानुसन्धान होता है। शुद्धात्मा चित् इसका साक्षी रहता है। इस पर उसका पूरा अधिकार होता है।

२—इतनी प्रक्रिया पूरी कर लेने पर जन्माकाश रूपी ख पर आक्रमण करना पड़ता है। यह आक्रमण युद्ध का आक्रमण नहीं होता। यह शनैः-शनैः उस देश पर अधिकार करने जैसा आक्रम मात्र होता है। साधक 'ख' यन्त्र को पाद से पोड़ित करे। यहाँ पाद शब्द का श्लिष्ट अर्थ है। सिद्धासन द्वारा पादपीडित करना अर्थात् कन्द पर दबाव देना और पाद अर्थात् अंशतः दबाव देना भो अर्थ सम्भव है। इस तरह वहाँ से उच्चरित नाद पर भी दबाव पड़ता है।

इस अवस्था में ऊर्ध्वगति होने की आज्ञा गुरुदेव द्वारा दी जातो है। यह गति क्रमिक रूप से अपनायी जातो है। इसमें चक्रभेदन की क्रिया करनी पड़ती है। सर्वप्रथम शक्तिसद्गर्भ नाद का भेदन, पुनः प्राण शक्ति को थोड़ा निरुद्धकर उससे ऊपर उठ कौलिको रूपिणी कुलकुण्डलिनी को आक्रान्त करते हैं। इसके बाद पाँच बीजों के केन्द्र स्वरूप मूलाधार स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्ध इन पाँचों चक्रों का क्रमिक उल्लङ्घन करते हैं। इस क्रम में हृत्-शूल और द्वादश ग्रन्थियों का भेदन भी सम्मिलित रहता है। हृदय मुख्य रूप से नाडित्रय का अवस्थान माना जाता है। इडा, पिंगला और सुषुम्ना ही वे तीन नाड़ियाँ हैं।

पञ्चकोल्लङ्घनक्रमेण हृत्स्थस्य नाडित्रयात्मनः शूलस्य ग्रन्थिद्वादशकस्य ब्रह्मरन्ध्रोपरिवर्तिनः शक्त्याद्यात्मनः शूलस्य च भेदनक्रमेण रुद्रशक्ति प्रबोधयेत् ॥ ४२-४३ ॥

हृच्छूलग्रन्थिभेदैश्चिद्रुद्रशक्तिं प्रबोधयेत् ।
वायुचक्रान्तनिलयं विन्द्वाख्यं नाभिमण्डलम् ॥ ४४ ॥
आगच्छेल्लम्बिकास्थानं सूत्रद्वादशनिर्गतम् ।
चन्द्रचक्रविलोमेन प्रविशेद्भूतपञ्जरे ॥ ४५ ॥

येन अयं जन्मपदादारभ्य पवनाधारात्मनो वायुचक्रस्य अन्ते संनिकर्षे वर्तमानं नाभिमण्डलं तत्सङ्घट्टाधारं लम्बिकास्थान तदूर्ध्वस्थितं सुधाधारं बिन्द्वाख्यं भ्रूमध्यवर्तिनं विद्याकमलसंज्ञितमाधारं नाडीनां तात्स्थ्यात्

इसके उपरान्त द्वादश ग्रन्थियों का भेदन किया जाता है। ये १२ ग्रन्थियाँ अ, उ, म्, बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना हैं। यह साधना यात्रा आज्ञा से समना पर्यन्त को यात्रा है। इस प्रक्रिया में सिद्ध होने पर रुद्र शक्ति के प्रबोध की क्षमता साधक में पूर्ण रूप से विकसित हो जाती है ॥ ४२-४३ ॥

साधना यात्रा यहीं पूरी नहीं होती। उसे वायुचक्र, नाभिचक्र, विन्दुमण्डल, लम्बिका की विलोम यात्रा भी करनी पड़ती है। जन्माधार से लेकर पवन के आधार रूप प्राणाश्रित चक्रों की यात्रा पूरी करने पर उसे परमविश्रान्ति का अनुभव होता है। इस तरह साधक धन्य हो जाता है।

नाभिकेन्द्र, उसके संघट्ट के आधार के रूप में प्रथमतः सिद्ध अन्य चक्र, सबको नियन्त्रित कर साधक आगे बढ़ता है। वहाँ से लम्बिका की दूरी तै करने में साधक को कितने अनुसन्धान करने पड़ते हैं। उसके ऊपर सुधा के आधार रूप में बिन्दु का परिवेश प्राप्त होता है। भ्रूमध्य

भूयस्तु कुरुते लीलां मायापञ्जरवर्तिनीम् ।
पुनः सृष्टिः संहृतिश्च खेचर्या क्रियते बुधैः ॥ ४६ ॥

श्रीमद्वीरावलोयोग एव स्यात्खेचरोविधिः ।

ग्रन्थीनां द्वादशकात् निर्गतं सर्वसंबन्धोत्तोर्णं द्वादशान्तपदं च यावत् आ समन्तादृजुना क्रमेण गच्छेत् तत्र विश्रान्ति कुर्यादित्यर्थः । भूयस्तु तत्र चन्द्र-चक्रादपानस्थात् प्रत्यावृत्यात्मना विलोमक्रमेण स्वशरोरमेव प्रविशेत्, येन अयं व्युत्थानदशोचितं व्यवहरेत् । अतश्च खेचरीमुद्रावेशभाजां ज्ञानिनामन्त-

---

के अन्तराल में आग्नेय प्रकाश में विकसमान और विद्योतित विद्यापद्म के मकरन्द रसास्वाद का अवसर आता है। द्वादशग्रन्थियों को पार करता हुआ द्वादशान्त का चिरअभोसित सन्निधान मिलता है। यह सब गुरुकृपा और पारमेश्वर शक्तिपात से अनायास सिद्ध हो गया है। यह साधना का सर्वोच्च शिखर है, जिस पर वह सोपान क्रमारोह पूर्वक आरूढ हो गया है। प्राण के संप्रीणन से यह पराकाष्ठा प्राप्त होती है।

यह सदा अनुसन्धातव्य तथ्य है कि, प्राण का सूर्य अपान सोम के रथ पर सवार हो कर ही ऊर्ध्व की ओर अग्रसर होता है। मध्य द्वादशान्त के चितिकेन्द्र में तो सूर्य और सोम साथ रहते हैं। ऊर्ध्वद्वादशान्त में केवल सूर्य प्राण का ही प्रकाश काम करता है। अपानचक्र में चन्द्र का प्रभाव शरीर को सोमसुधा की संझोवनी से ओतप्रात करता है निःश्वास में चन्द्रचक्र विलोम गतिशोलता के लिये प्राण को प्रेरित करता है। यह पौर्णमास केन्द्र की यात्रा का प्रारम्भ माना जाता है। इसी क्रम में प्राणापानवाह भौतिक पिण्ड में पुनः अपना रस भरता है। श्वास शरीर में पेट और नाभि तक पहुँचता है। इसे शाक्त उल्लास भी कहते हैं। प्रतिपदा से चलकर पूर्णिमा तक की चाँदनी का अमृत उल्लासित हाता है। यही चन्द्रचक्र है। इसमें विलोम गति होती है।

बहिरुन्मेषनिमेषाभ्यामाजवञ्जवीभावेन सृष्टिसंहारकारित्वं स्यादिति संक्षेपार्थः योगे इति तद्वचनावसरे इति यावत् ॥ ४४-४६ ॥

श्रीकामिकोक्तमपि अस्या रूपमाह

चुम्बाकारेण वक्त्रेण यत्तत्त्वं श्रूयते परम् ॥ ४७ ॥
ग्रसमानमिदं विश्वं चन्द्रार्कपुटसंपुटे ।
तेनैव स्यात्खगामीति श्रीमत्कामिक उच्यते ॥ ४८ ॥

चुम्बाकारेण काकचञ्चुपुटाकृत्यनच्ककलात्मना मध्यप्राणशक्त्यवलम्बि-नापि स्वरूपेण वक्त्रेण यदिदं प्रमाणप्रमेयात्मकं विश्वं स्वात्मसात्कुर्वाण-

---

इसी क्रम में लालसामयी भूतपञ्जर लीला का लास्य शाश्वत रूप से चलता है। प्राणापानवाह का पीयूष इसे प्रेयान् रूप प्रदान करता है। श्वास निःश्वास से जीवन जीवन्त होता है। श्वास की सृष्टि का और निःश्वास की संहृति का साक्षात्कार इसी खेचरी सिद्धि से संभव हो पाता है। उन्मेष निमेषमय यही आजवञ्जवी भाव है। यही जीवन का रस है। श्रीवीरावली समुदीरित खेचरी की विधि का यही विधान है ॥ ४४-४६ ॥

श्रीकामिक शास्त्र में भी खेचरी के सम्बन्ध में पर्याप्त चर्चा की गयी है। वही कह रहे हैं—

श्रीकामिक शास्त्र प्राणापानवाह को वक्त्रविधि से ग्रस्त बनाने की बात करता है। 'चुम्बाकार' एक पारिभाषिक शब्द है। आचार्य जयरथ ने उसे बहुत अच्छी तरह परिभाषित किया है। मुख द्वारा

१. सर्वप्रथम काक चञ्चु पट के समान ओठों को गोल बनाकर एक पतला छिद्र बनाने की मुद्रा बनायी जाये।

२. उसी छिद्र से मध्यप्राणशक्त्यवलम्बी प्राणक्रिया की जाये।

३. इस प्राणप्रक्रिया को चन्द्रार्कपुट कह सकते हैं। इस चन्द्रार्कपुट संपुट में प्रमाण प्रमेयात्म विश्व को ग्रसमान करने के अभ्यास द्वारा ग्रास

मत एव परं प्रमात्रेकरूपं तत्त्वं चन्द्रार्कपुटस्य प्राणापानयुग्मस्य संपुटे मध्यधाम्नि श्रूयते साक्षात्क्रियते, तत एव अस्य खचारित्वं स्यादिति वाक्यार्थः ॥ ४८ ॥

इदानीं श्रीकुलगह्वरोक्तं सविशेषमस्या रूपं वक्तुमाह

भवान्मुक्त्वा द्रावयन्ति पाशान्मुद्रा हि शक्तयः ।
मुख्यासां खेचरी सा च त्रिधोच्चारेण वाचिकी ॥ ४९ ॥
त्रिशिरोमुद्‌गरो देवि कायिकी परिपठ्यते ।

अतो हि पारमेश्वर्यः शक्तय एव मुद्रा उक्ता यदासां पशूनां संसारात् मोचयित्वा पाशान् द्रावयन्तीति निर्वचनम् । यदुक्तं

करने की क्षमता प्राप्त कर ली जाये । यह ग्रास करना ही विश्व को स्वात्मसात् करना माना जाता है । यह भी ध्यान देना चाहिये कि, अर्क (सूर्य) प्रमाण और चन्द्र प्रमेय माने जाते हैं । इस एकान्तश्वास प्रक्रिया में संलग्न साधक खेचरी सिद्ध हो जाता है । जहाँ तक परतत्त्व की श्रवण प्रक्रिया का प्रश्न है, यह तो प्रमाण प्रमेयात्मक विश्व की ग्रसमानता का मध्यधाम में ही साक्षात्कार मात्र है । इसका अनुभव उस समय होता रहता है । यही इस खेचरी मुद्रा का वैशिष्ट्य है ॥ ४७-४८ ॥

इसके बाद कुल गह्वर शास्त्र में उक्त खेचरी मुद्रा के स्वरूप पर प्रकाश का प्रक्षेप कर रहे हैं—

वहाँ मुद्रा के सम्बन्ध में यह स्पष्ट किया गया कि, अणु को भव अर्थात् संसार से मुक्त कर पाशराशि को द्रावित करने की प्रक्रिया का नाम ही मुद्रा है । मुक्ति से 'मु' और द्रावयति से द्रा लेकर 'मुद्रा' शब्द की व्युत्पत्ति नैरुक्त प्रक्रिया के अनुसार की गयी है । इसलिये पारमेश्वरी शक्तियाँ ही मुद्रायें हैं, यह सिद्ध हो जाता है । इन शक्तियों में मुख्य शक्ति ही खेचरी मुद्रा कहलाती है । कुलगह्वर शास्त्र की ही उक्ति है कि,

'मोचयन्ति महाघोरात्संसारमकराकरात् ।
द्रावयन्ति पशोः पाशांस्तेन मुद्रा हि शक्तयः ॥' इति ।

उच्चारेणेति मन्त्रादेः । त्रिशिरोमुद्गर इति कायिकीति

'इच्छाज्ञानक्रियापूर्वा···· ···· ···· ···· ···· ।' इति

"ऐसी शक्तियाँ जो महाघोर संसार रूपिणी घडियालिनी के जबड़ों में पड़े प्राणियों को उसकी दंष्ट्रा के दबाव से छुड़ा लेती हैं। तथा पशुओं की पाशराशि को द्रावित कर पशुपति स्तर की ओर अग्रसर कर देती हैं, वही मुद्रायें कहलाती हैं।',

इस प्रकार की अलौकिक विशेषताओं से विशिष्ट खेचरी मुद्रा वाचिकी, कायिकी और मानसी भेद से तीन प्रकार की होती है। प्राणापानवाह क्रम के अनुसार मन्त्रों का उच्चारण करते हुए जप भी सम्पन्न करने की अवस्था में यह वाचिकी खेचरी मुद्रा कहलाती है।

इसका दूसरा प्रकार 'कायिकी' कहलाता है। यह मुद्रा विशेषण शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पाठ में इसे 'त्रिशिरोमुदगरो' लिखा है। व्याकरण शास्त्र का यह अलौकिक उदाहरण है। इस प्रयोग में 'ओ' की मात्रा नहीं है। यह अनूठा प्रयाग सामरस्य की सौहित्यमयी सत्ता का स्वारस्य यहाँ स्वयम् उल्लासित करता है। आ के साथ ए का यह सुगुप्त पर प्रकट सान्निध्य है। आ आनन्द का और ए त्रिकोण रूपिणी मातृ सत्ता का प्रतीक है। एक साथ रहने पर यह ओके छद्म रूप में नील नभ की तरह परिदृश्यमान है।

यहाँ भगवान् शङ्कर माँ पार्वती को देवि ! कहकर सम्बोधित कर रहे हैं। सम्बोधन में ही देवी का विशेषण भी प्रयुक्त है। वह विशेषण है— त्रिशिरोमुद्गरे। इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप तीन शीर्ष माध्यमों से मुद् अर्थात् परानन्द का स्वात्म में ही परामर्श करने वाली ऐसी परासंविद्वपुष्के !

एवमेव हि परा संवित् कायत्वेन उल्लसितेत्याह

नासां नेत्रद्वयं चापि हृत्स्तनद्वयमेव च ॥ ५० ॥
वृषणद्वयलिङ्गं च प्राप्य कायं गता त्वियम् ।

इत्यादिनीत्या शक्तित्रयमयत्वात् त्रिशिरोमुद्गरो मदं परानन्दं गृणाति स्वात्मनि आमृशतीति परसंविदित्यर्थः । हृदिति हृत्पद्मनालरूपम् । एतत्सत्त्वं च तत्र तत्र शास्त्रे निरूपितमिति अतिरहस्यत्वादिह न प्रपञ्चितम् । तत् गुरुमुखादेव बोद्धव्यम् ।

भवस्थानाभवस्थानमुच्चारेणावधारयेत् ॥ ५१ ॥
मानसोयमितस्त्वन्याः पद्माद्या अष्ट मुद्रिकाः ।

यह अर्थ होता है । खेचरी भेद भिन्ना कायिकी मुद्रा भी स्त्रीलिङ्ग के कारण त्रिशिरोमुद्गरा कहलाती है । इसमें टाप् प्रत्यय का आनन्दवादी प्रयोग है । इस पक्ष में भी कायिकी मुद्रा इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप परामर्शों के माध्यम से स्त्री पुरुष की षडर मुद्रा में काया में उल्लसित होती है । उस समय के नासिका, नेत्रद्वय और दोनों स्तन मेलापक मुद्रा में रहते हैं । कायिकी हृदय पद्मनाल के द्वारा काया में प्रवेश करती है । पुरुष के दोनों वृषण और लिङ्ग षडर मुद्रा में समाहित रहते हैं । चर्या का यह रहस्यार्थ है । साधना की दशा में ध्यान द्वारा भी काया में मुद्रा का सन्धान आगमिक करते हैं । यह सब ज्ञानवान् गुरु से जाना जा सकता है ।

इस तरह त्रिशिरोमुद्गरा काया का विशेषण बनकर और त्रिशिरोमुद्गरे ! देवि ! शब्द का सम्बुद्धि रूप विशेषण बनकर एक साथ ही एक शाब्दिक काया में दो शब्द उल्लसित हैं । शास्त्रकार का यह सारस्वत प्रयोग आगमिक वाङ्मय के वैलक्षण्य को व्यक्त करता है ॥ ४९-५० ॥

इसका तीसरा प्रकार 'मानसी' मुद्रा के नाम से जाना जाता है । 'मानसी' संज्ञा का कारण मानस द्वारा विभिन्न ऊर्ध्व अवयवों में शक्ति

मातृव्यूहकुले ताः स्युरस्यास्तु परिवारगा ॥ ५२ ॥
शरीरं तु समस्तं यत्कूटाक्षरसमाकृति ।
एषा मुद्रा महामुद्रा भैरवस्येति गह्वरे ॥ ५३ ॥

भवस्थानं शरीरमभवस्थानमुच्चारेणेति

'पद्मं हृत्पद्ममेवात्र शूलं नाडित्रयं प्रिये ।
नाभि चक्रं विजानीयाच्छक्ति नादान्तरूपिणीम् ॥
बिन्दुदेशोद्भवं दण्डं वज्रं चित्तमभेदकम् ।
दंष्ट्रां जिह्वां महाभागे कपालं व्योममण्डलम् ॥
एषु स्थानेषु सञ्चारान्मानसी परिपठ्यते ।'

का संचार है। इसे शास्त्रकार ने एक वाक्य में ही व्यक्त कर दिया है। वे कहते हैं कि, भव अर्थात् संसार का स्थान यह शरीर है। शरीर ही संसार का स्थान है। इसे अभव स्थान में परिणत करना है। यह मनन करना है कि, यह शाक्त उल्लास पारमेश्वर प्रसूत है। इस रूप में मनन करने से भव-स्थान अभवस्थान में परिणत होता प्रतीत होता है। अस्तित्वगत अवधारणा में एक क्रान्ति आ जाती है। इन तीनों के अतिरिक्त आठ मुद्राओं का विवेचन कुल गह्वर में और मालिनी मत में इस प्रकार किया गया है—

'पद्म' हृदयपद्म को ही संकेतित करता है। 'शूल' शब्द इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना इन नाडियों को अभिव्यक्त करता है। नाभि ही 'चक्र' है। नादान्तरूपिणी 'शक्ति' और बिन्दु से अर्धचन्द्र और रेखिनी को पार कर नाद तक 'दण्ड' मुद्रा होती है। अभेद स्थिति में दृढ़तापूर्वक विद्यमान चित्त ही 'वज्र' है। जिह्वा ही दंष्ट्रा के मध्य में रहती हुई पर्याय का काम कर रही है। कपाल ही व्योममण्डल है। इन स्थानों में मानस प्रयोग द्वारा शक्ति संचार होता है। इन आठों को आत्मसात् करने वाली मुद्रा मानसी मुद्रा ही कही जा सकती है"।

इत्यादिनयेन ऊर्ध्वं चारेण गमनेत्यर्थः । अष्टेति यदुक्तं

खेचर्या परिवारस्तु अष्टौ मुद्राः प्रकीर्तिताः ।
शूलाष्टके च देवेशि मातृव्यूहे च ताः स्मृताः ॥
पद्मं शूलं तथा चक्रं शक्तिर्दण्डं सवज्रकम् ।
दंष्ट्रा कपालमित्येवं तदशेषं व्यवस्थितम् ॥' इति ।

कूटाक्षरं क्षकारः । एतत्सतत्त्वं च प्राक् बहुशः प्रतिपादितम् । अनेन प्रागुद्दिष्टाया भैरवमुद्राया अपि लक्षणमुक्तम् ॥ ५१-५३ ॥

अस्या एव सर्वत्र अविगीतता दर्शयितुं शास्त्रान्तरतोऽपि सप्रभेदं रूपमाह

यह सब भवस्थान में उच्चारण के समान है। यहाँ उच्चारण शब्द का ऊर्ध्वगमन अर्थ है। इस शक्ति संसार में गतिक्रिया का प्राधान्य होता है। हृदय से लेकर व्योम मण्डल पर्यन्त यह ऊर्ध्वगमन ही उच्चारण है। इसी उच्चारण से मानस-मुद्रा का अवधारण होता है।

यह खेचरी का परिवार है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि,

"खेचरी मुद्रा के परिवार में आठ मुद्रायें परिगणित हैं। ये सभी शूलाष्टक रूप मातृव्यूह में रहती हैं। इस अष्टक का नाम इस प्रकार अभिहित किया गया है।

१. पद्म, २. शूल, ३. चक्र, ४. शक्ति, ५. दण्ड, ६. वज्र, ७. द्रंष्ट्रा और ८. कपाल। ऊपर भी इनका विश्लेषण किया जा चुका है।"

यह ध्यान देने की बात है कि, यह शरोर चक्रेश्वर वर्ण 'क्षकार' रूप कूटाक्षर के आकार का ही निर्मित है। जैसे 'क्षकार' में सारे व्यजन वर्ण संहृत हैं, उसी तरह खेचरो मानव शरीररूपी क्षकार में व्याप्त है। गह्वर शास्त्र में तो इन आठों स्थानों में समानरूप से व्याप्त मुद्रा को भैरवी मुद्रा के नाम से भी अभिहित किया गया है। भैरवी मुद्रा का नाम श्लोक ५ में आया हुआ है ॥ ५१-५३ ॥

सूपविष्टः पद्मके तु हस्ताग्राङ्गुलिरश्मिभिः।
पराङ्मुखैर्झटित्युद्यद्रश्मिभिः पृष्ठसंस्थितैः॥ ५४॥
अन्तःस्थितिः खेचरीयं संकोचाख्या शशाङ्किनो।
तस्मादेव समुत्तम्ब्य बाहू चैवावकुञ्चितौ॥ ५५॥

इह पद्माद्यासनस्थो योगी यदा पृष्ठसंस्थितत्वादेव पराङ्मुखैरुद्यद्रश्मिभिर्बहिर्निर्गच्छच्छशाङ्करश्मिभिर्हस्ताग्राङ्गुलय एव रश्मयो रज्जवः, तैरुपलक्षितः सन् झटित्येव बाह्योपसंहारादन्तःस्थितिः स्वात्मनि एव विश्रान्तः स्यात्; तदा एवंभावितशशाङ्कत्वात् शशाङ्किनो, बाह्यस्य च सङ्कुचितत्वात् सङ्कोचाख्या इयमेका खेचरी मुद्रा। तथा तं हस्ताङ्गुल्यादिसंनिवेशमाश्रित्य बाहू सम्यगवकुञ्चितौ समुत्तम्ब्य स्वस्तिकाकारतया अवष्टभ्य

'खमनन्तं तु मायाख्यं ··· ··· ····· ··· ।'

खेचरी मुद्रा की सर्वत्र प्रतिष्ठा होती है। इस अप्रतिम प्रभावमयी शक्ति को सभी शास्त्र प्रशंसा करते हैं। अन्यान्य आगमिक ग्रन्थों में इसके विविध भेद प्रभेदों की चर्चा करते हैं। भगवान् अभिनव इसके अभिनव भेदों की नव्यतम उद्भावनाओं पर प्रकाश डाल रहे हैं—

१. पद्मासन सदृश उत्कृष्ट कोटि के आसनों पर समुपविष्ट साधक पृष्ठभाग में स्थित अपनी अङ्गुलियों के अग्रभाग में अवस्थित वैद्युतिक केन्द्रों से निकलने वाली रश्मियों की आकुञ्चन विधि के साथ अपान शशाङ्क की बाहर गयी सासों को भी अन्तःस्थितः कर कुम्भक मुद्रा में आ जाता है, उस समय पौर्णमास केन्द्र में अवस्थिति हो जाती है। बाह्यविस्तार के विपरीत सङ्कोच की स्थिति होती है। अतः इस मुद्रा को शशाङ्किनी मुद्रा कहते हैं। खेचरी की यह एक विधा है॥ ५४॥

२. हाथ की अङ्गुलियों का वह संन्निवेश उसी तरह रखकर बाहु को इस प्रकार से आकुञ्चित किया जाय कि, स्वस्तिक की आकृति-सी बन जाये।

सम्यग्व्योमसु संस्थानाद्व्योमाख्या खेचरी मता ।
मुष्टिद्वितयसङ्घट्टाद्धृदि सा हृदयाह्वया ॥ ५६ ॥

इत्याद्युक्तेषु पञ्चसु व्योमसु सम्यगुक्तेन क्रमेण स्थानात् गाढावष्टम्भात् व्योमाख्या द्वितीया । तथा अन्तःकृताधोवर्तिदक्षिणमुष्ट्यङ्गुष्ठोपरिगतोच्छ्रिताङ्गुष्ठवाममुष्टिलक्षणस्य मुष्टिद्वयस्य हृदिसङ्घट्टात् सा खेचरी हृदयाख्या तृतीया ॥ ५४-५६ ॥

शान्ताख्या सा हस्तयुग्ममूर्ध्वाधःस्थितमुद्गतम् ।
समदृष्ट्यावलोक्यं च बहिर्योजितपाणिकम् ॥ ५७ ॥
एषैव शक्तिमुद्रा चेदधोधावितपाणिका ।
दशानामङ्गुलीनां तु मुष्टिबन्धादनन्तरम् ॥ ५८ ॥

तथा हस्तशब्देन बाहूपलक्षणात् बाहुयुग्ममधः स्थितवाममूर्ध्वस्थितदक्षिणमन्तः संमुखापाणिकत्वेऽपि उद्गतमूर्ध्वस्थितहस्तं दृष्टिसाम्येन अवलोक-

---

नीचे वामबाहु और दक्षिण बाहु ऊर्ध्व हो, मुद्रा का स्वरूप बनाने के लिये पाँचों व्योम अंशों पर गाढ अवष्टम्भ करे । इन व्योमांशों पर अवष्टम्भ करने के कारण ही इस मुद्रा को व्योम खेचरी कहते हैं । यह दूसरा भेद है ।

३. इसी तरह तीसरा भेद भी होता है । उसे 'हृदया' नामक खेचरी मुद्रा कहते हैं । इसमें ऊर्ध्व स्थित मुष्टिबद्ध हाथ हृदय का स्पर्श करते हैं ॥ ५५-५६ ॥

४. चौथी खेचरी मुद्रा शक्ति का नाम शान्ता है । इसमें दोनों हाथों को दाहिनी ओर ऊपर या ठीक सामने उठाते हैं । नीचे बायाँ उसके ऊपर दायाँ हाथ रखते हैं । केवल दृष्टि साम्य से उसे निहारते हैं । यह अत्यन्त सरल होने पर भी अनन्तफलप्रदा मानी जाती है ।

५. शक्ति मुद्रात्मिका खेचरी—इस मुद्रा की सारी प्रक्रिया शान्ता के समान है । अन्तर इतना ही है कि, यह अधोधावितपाणिका होती है । चतुर्थी

द्राक्क्षेपात्खेचरी देवी पञ्चकुण्डलिनी मता।
संहारमुद्रा चैषैव यद्यूर्ध्वं क्षिप्यते किल ॥ ५९ ॥

नीयं यदा स्यात्, तदा सा शान्ताख्या चतुर्थी। तथा एषैव शान्ताख्या एवं-संनिवेशोऽपि अधोधावितपाणिका चेत् भवेत्, तदा शक्तिमुद्राख्या पञ्चमी। तथा द्वयोरपि करयोः मुष्टिबन्धादनन्तरं दशानामपि अङ्गुलीनां झटित्येव तिर्यक्प्रतिक्षेपात् प्रतिकरं पञ्चकुण्डलिनीरूपत्वात् पञ्चकुण्डलिन्याख्या षष्ठी। तथा यद्येवं दशानामपि अङ्गुलीनामूर्ध्वं प्रक्षेपः, तदेव एषैव पञ्च-कुण्डलिनी संहारमुद्राख्या सप्तमी। संहारमुद्रात्वमेव च अस्या उत्क्रामणी-त्यादिना प्रदर्शितम् ॥ ५७-५९ ॥

उत्क्रामणी झगित्येव पशूनां पाशकर्तरी।
श्वभ्रे सुदूरे झटिति स्वात्मानं पातयन्निव ॥ ६० ॥

मुद्रा में पाणि ऊपर होते हैं और इसमें नीचे। इसमें दृष्टि समान भाव से पाणि पर ही रहती है ॥ ५७-५८ ॥

६. छठीं मुद्रा का नाम पञ्चकुण्डलिनी शास्त्रों में प्रसिद्ध है। इसमें दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बँधी हुई होती और त्वरित भाव से अङ्गुलियों को फैलाकर तिर्यक् प्रतिक्षिप्त करते हैं। पाँचों अङ्गुलियों के तिर्यक् प्रतिक्षिप्त करने के कारण ही इसे 'पञ्चकुण्डलिनी' कहते हैं। स्वयं कुण्डली भो तिर्यक् लिपटी ही रहती है। यहाँ अङ्गुलियाँ भी बँधी अवस्था में रहकर ही ऊर्ध्वगति में खुलती हैं। उसी की समानता यहाँ भी है।

७. इसी मुद्रा में दशों अङ्गुलियों का तिर्यक् प्रक्षेप न कर ऊर्ध्वप्रक्षेप करने से भी समदृष्टि अपेक्षित होती है। पशु-पाशकर्त्तरी संहार मुद्रा का पर्याय उत्क्रामणी मुद्रा है ॥ ५९-६० ॥

८. वीर भैरवी नाम की आठवीं मुद्रा बोध का अविलम्ब संवर्धन करती है। इसे साधने में संलग्न साधक उस समय जैसे ऊँची कूद में उत्क्रमण को

साहसानुप्रवेशेन कुञ्चितं हस्तयुग्मकम् ।
अधोवीक्षणशीलं च सम्यग्दृष्टिसमन्वितम् ॥ ६१ ॥

वीरभैरवसंज्ञेयं खेचरो बोधवर्धिनो ।
अष्टधेत्थं वर्णिता श्रीभर्गाष्टकशिखाकुले ॥ ६२ ॥

तथा अधोवीक्षणशीलत्वेन सम्यगन्तर्लक्ष्यतया दृट्या समन्वितं कुञ्चितं हस्तयुग्मं विधाय सुदूरे श्वभ्रे साहसमुद्रानुप्रवेशेन झटिति स्वात्मानं पातयन्निव यदा यागो वर्धितबोधो भवेत्, तदैव इयं वीरभैरवसंज्ञा अष्टमो,—इति श्रीभर्गशिखाकुलम् ॥ १६-६२ ॥

एतदुपसंहरन् वीर्यवन्दनमवतारयति

एवं नानाविधान्भेदानाश्रित्यैकैव या स्थिता ।
श्रीखेचरी तयाविष्टः परं बीजं प्रपद्यते ॥ ६३ ॥

तैयारी में कूदने वाला धावक रहता है, उसी प्रकार ऊर्ध्वाकाशरन्ध्र में स्वात्म को प्रक्षिप्त करने की मुद्रा में आ जाता है। हाथ सङ्कुचित हो जाते हैं। दृष्टि अधोमुखी रहती है और अन्तर्लक्ष्य की प्रमुखता बनी रहती है। अपनी सत्ता का उपग्रह की तरह अनन्त में प्रक्षेपण असाधारण उपक्रम माना जाता है। शास्त्रकार यह स्पष्ट करते हैं कि, श्रीभर्गाष्टक शिखा-कुल नामक ग्रन्थ में ये आठ प्रकार की खेचरी मुद्रायें वर्णित हैं ॥ ६१-६२ ॥

खेचरी मुद्रा वर्णन के उपसंहार करने के अवसर पर उसके माहात्म्य के सम्बन्ध में अपने हृदय का उद्गार अभिव्यक्त कर रहे हैं—

शास्त्रकार कह रहे हैं कि, इस प्रकार अनेक शास्त्रों में अनेक प्रकार से वर्णित और त्रिशूलिनी इत्यादि अनेक नामों से आख्यात यह एक मात्र खेचरी मुद्रा ही है। अनन्त भेदों का आश्रय लेकर यह अभिव्यक्त होती है। यह अनन्तभेदमयी उक्ति अनवक्लृति से भरी हुई है अर्थात् उनका पृथक्-पृथक् सभेद वर्णन असंभाव्य ही है।

नानाविधानिति त्रिशूलिन्यादीन्। आसां च त्रिशूलिन्यादीनामनवक्लृप्ति परतया सर्वासामेव स्वरूपं न उक्तम्। परं बीजमिति सृष्टिमयं पराबीजम्। वस्तुतो हि अनयोरभेद इति भावः। यदागमः

'एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
द्वावेकं यो विजानाति स वै पूज्यः कुलागमे॥' इति॥ ६३॥

अत एव आह

एकं सृष्टिमयं बीजं यद्वीर्यं सर्वमन्त्रगम्।
एका मुद्रा खेचरी च मुद्रौघः प्राणितो यया॥ ६४॥

अतश्च तदावेश एव सर्वमुद्राणां तत्त्वमित्याह

तदेवं खेचरीचक्ररूढौ यद्रूपमुल्लसेत्।
तदेव मुद्रा मन्तव्या शेषः स्याद्देहविक्रिया॥ ६५॥

शेष इति तदावेशशून्यः॥ ६५॥

खेचरी सिद्ध साधक सर्वदा खेचरी के आवेश से आविष्ट रहता है। उस अवस्था में वह पराबीज की परावस्था को प्राप्त कर लेता है। वास्तविकता यह है कि, इनमें अभेद सम्बन्ध ही प्रधान होता है। आगम कहता है कि,

"संसार में सृष्टि बीज एक ही है। यह खेचरी मुद्रा ही एक मुद्रा है। कुलागम में वह परम पूज्य माना जाता है, जो परासृष्टि बीज और खेचरी मुद्रा के अभेद अद्वय भाव का साक्षात्कार कर लेता है" ॥ ६३॥

इसी आगमिक तथ्य का प्रतिपादन शास्त्रकार भी कर रहे हैं। उनका कहना है कि,

एक ही बीज सर्वतोभावेन सर्वातिशायी प्रभाव सम्पन्न है। उसे सृष्टिबीज कहते हैं। उसी का मन्त्रवीर्य सभी मन्त्रों में वीर्यवत्ता प्रदान करता है। इसी तरह एक ही सर्वप्रधान मुद्रा है, जिसे खेचरी मुद्रा कहते हैं। मुद्राओं की सारी माण्डलिकता इसी मुद्रा से मण्डित होती है। मुद्रौघ अर्थात् मुद्रा समूह इसी के प्राण से सतत अनुप्राणित है॥ ६४॥

आसामेव च बन्धाय कालभेदं निरूपयितुमाह

यागादौ तन्मध्ये तदवसितौ ज्ञानयोगपरिमर्शे।
विघ्नप्रशमे पाशच्छेदे मुद्राविधेः समयः ॥ ६६ ॥

इसलिये यह कह सकते हैं कि, खेचरी चक्र की रूढ़ि में जो साधक आरूढ़ हो जाता है और उस अवस्था में उसके स्वात्मस्वरूप का जिस प्रकार का उल्लास होता है, वही मुद्रा का वास्तविक स्वरूप है। शेष सारे रूप आङ्गिक विक्रिया मात्र हैं। अर्थात् खेचरी आवेश शून्य सारी मुद्रायें आवयविक विक्रिया मात्र मानी जाती हैं ॥ ६५ ॥

साधक को यह सुनिश्चित कर लेना चाहिये कि, वह इन मुद्राओं का कब कैसे और किस उद्देश्य से आश्रय ले। वही यहाँ निरूपित कर रहे हैं—

१. इसे याग के आदि में अवश्य करना चाहिये। इससे वातावरण तैयार होता है और अस्तित्व में दिव्यता का आधान हो जाता है।

२. याग जब अपने पूर्ण उल्लास में पहुँचने वाला हो, तो मध्य में पुनः शक्ति संचार के लिये इसे कर लेना चाहिये।

३. याग की अवसिति अर्थात् अन्त में इसका प्रयोग करना भी अनिवार्यतः आवश्यक माना जाता है। इससे पूर्णता में चार चाँद लग जाते हैं।

४. साधकों को सक्रियता के उद्देश्य से प्रज्ञापरिषद् आहूत की गयी है। परामर्श परिमर्श प्रारम्भ ही होने वाला है। उस समय ज्ञान योग परिमर्श के ठीक अवसर पर इसके आवेश से आविष्ट होना ही चाहिये।

५. समस्त विघ्नों के प्रकाशन में यह मुद्रा गणपतित्व का उत्तरदायित्व स्वयं निर्वहन करती है। अर्थात् इसके करने से विघ्नों के जाल का उज्जासन हो जाता है।

ननु एवं समये मुद्राबन्धेन किं स्यादित्याशङ्क्य आह

बोधावेशः सन्निधिरैक्येन विसर्जनं स्वरूपगतिः ।

शङ्कादलनं चक्रोदयदीप्तिरिति क्रमात्कृत्यम् ॥ ६७ ॥

चक्रोदयदीप्तिरिति सप्तमाह्निकनिरूपितस्थित्या उदितानां मन्त्राणां दीप्तिर्दीपनमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

---

६. गुरु की कृपा से, पारमेश्वर शक्तिपात के प्रभाव से जब यह अनुभूत हो जाये कि, मेरे समस्त जागतिक बन्धन्न छिन्न-भिन्न हो गये हैं । मैं बुद्धत्व को प्राप्त हो गया हूँ । उस समय इसी आवेश में समाहित हो जाना चाहिये ।

इसी प्रकार के महत्त्वपूर्ण अवसरों का चयन साधक को स्वयं करना चाहिये । ये उक्त छः विन्दु तो उपलक्षण मात्र हैं ॥ ६६ ॥

प्रश्न करने वाला यह जानना चाहता है कि, ऐसे अवसरों पर इस मुद्रा के प्रयोग से क्या होता है । उसी प्रश्न का समाधान शास्त्रकार अपने शब्दों में कर रहे है—

१. बोध के आवेश से साधक प्रबोध सिद्ध हो जाता है ।

२. शैवमहाभावभावित साधक शिवैक्य से शैवसान्निध्य का आनन्द-रसास्वाद कर परमतृप्त हो जाता है ।

३. विश्वात्मकता के व्यामोह का विसर्जन हो जाता है ।

४. स्वात्मसंविद् समुल्लास के कारण स्वात्म का साक्षात्कार हो जाता है । यहाँ गति का अर्थ स्वरूप की उपलब्धि माना जाता है ।

५. समस्त शङ्काओं के आतङ्करूपी कलङ्कपङ्क का प्रक्षालन हो जाता है ।

६. सबसे बड़ी सिद्धि कुण्डलिनी शक्ति के जागरण रूप में साधक को प्राप्त हो जाती है । समस्त चक्रों से ज्ञान के सूरज का दीप्तिमन्त प्रकाश

एतदेव अर्धेन उपसंहरति

इति मुद्राविधिः प्रोक्तः सुगूढो यः फलप्रदः ।

इति शिवम् ॥

श्रीखेचरीसतत्त्वप्रविमर्शसमुन्मिषच्चिदावेशः ।
द्वात्रिंशं निरणैषीदाह्निकमेतज्जयरथाख्यः ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यं श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित
श्रीजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेकहिन्दीभाषाभाष्यसंवलिते
श्रीतन्त्रालोके मुद्राप्रकाशनं नाम
द्वात्रिंशमाह्निकम् समाप्तम् ॥ ३२ ॥

पुञ्ज परितः संव्याप्त हो जाता है। इन सभी प्रकार को क्रियाशीलताओं का साक्षात्कार कर साधक धन्य हो जाता है। मन्त्रदीप्त हो जाते हैं और साधक मन्त्रमय हो जाता है ॥ ६७ ॥

आह्निक अब अपने उपसंहार को प्रतीक्षा कर रहा है। उसे भगवान् शास्त्रकार अर्धाली का सहारा देकर विसृष्टि लोक की ओर प्रस्थित कर रहे हैं—

इस प्रकार मुद्राविधि का वर्णन सम्पन्न हुआ। यह अत्यन्त सुगूढ़ है। जीवन का वास्तविक फल इस आह्निक के स्वाध्याय से उपलब्ध हो जाता है ॥ इति शिवम् ॥

खचरविमर्शोन्मेषकृत जयरथ हार्दिक हर्ष ।
द्वात्रिंशाह्निक-विवृति से प्रकटित चित्युत्कर्ष ॥

+ + +

यस्याः पादारविन्दे मधुमयमहितेऽजस्रमास्ते मदीया,
श्रद्धा संवित्तिभव्या सुरतिरनुपमा ह्लादहृद्या वरेण्या।
तस्याः शक्त्यैव मुद्राप्रकरणरुचिरं ह्याह्निकं संविवृत्य,
मातुःवामे प्रकोष्ठे कुलकुसुमनिभं ह्यर्पयत्यद्य 'हंसः ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित
राजानकजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक
हिन्दीभाषाभाष्य संवलित
श्रीतन्त्रालोक का
बत्तीसवाँ आह्निक सम्पूर्ण ॥ ३२ ॥
॥ इति शिवम् ॥

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते
श्रीजयरथकृतविवेकाख्यटीकोपेते

त्रयस्त्रिंशमाह्निकम्

परमानन्दसुधानिधिरुल्लसदपि बहिरशेषमिदम् ।
विश्रमयन्परमात्मनि विश्वेशो जयति विश्वेशः ॥

ननु इह एकैव विश्वामर्शनसारा संविदस्तीति उपास्योपासकभाव एव तावत् न न्याय्यः, तत्रापि उपास्यानां को भेदः तत् किमिदमनेकचक्रात्मकत्व-मुपदिष्टमित्याशङ्कां गर्भीकृत्य द्वितोयार्धेन तदेकीकारमेव प्रणिगदितुमाह

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित
राजानकजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक
हिन्दी भाष्य संवलित

श्रीतन्त्रालोक

का

तैंतीसवाँ आह्निक

निज में नित विश्रान्तकर, करते व्यक्त विकास ।
विश्वात्मक उल्लास जय, जय विश्वेश-विलास ॥

इस आह्निक के अवतरण के सन्दर्भ में यह विचार स्वाभाविक रूप से उन्मिषित हो रहा होगा कि, इस विश्वात्मक उल्लास के मूल में

अथावसरसंप्राप्त एकोकारो निगद्यते ।

तमेव आह

यदुक्तं चक्रभेदेन सार्धं पूज्यमिति त्रिकम् ।
तत्रैष चक्रभेदानामेकीकारो दिशानया ॥ १ ॥

उक्तमिति प्रथमाह्निकादौ । तथाच तत्र

'एकवीरो यामलोऽथ त्रिशक्तिश्चचतुरात्मकः ।'

इत्यादि

विश्वात्मकता का विमर्श करने वाली एकमात्र संवित् शक्ति ही है। इस स्थिति में उपास्य-उपासक भाव की क्या उपयोगिता ? उपासकों के भेद की चर्चा आ० १।१०८ में की गयी है। वहाँ यद्यपि परमशिव में परिनिष्ठा की बात कही गयी है, फिर भी उपास्यों के भेद का वर्णन १।११०-१११ में स्पष्ट रूप से किया गया है। जब वही एकमात्र संविद् शक्ति शास्त्रों द्वारा भी मान्य है, तो उपास्यों के भेदवाद की प्रासङ्गिकता भी औचित्य की सीमा में नहीं आती प्रतीत होती। इस वैचारिक परिवेश में यह भी पूछा जा सकता है कि, इसी शास्त्र में अनेक चक्रात्मकता की चर्चा भी की गयी है ? इसका क्या उद्देश्य है ? इन सारे विचारों की बिजलियाँ शास्त्रकार के मस्तिष्क-आकाश में कौंध गयीं होंगी। इन सब पर विचार करते हुए शास्त्रकार ने इस द्वितीय अर्धाली की रचना की। इससे इसी वैचारिक एकीकार की सुधा धारा प्रवाहित करने का उपक्रम शास्त्रकार कर रहे हैं—

भगवान् अभिनव कहते हैं कि, विमर्श की इस प्रस्रविणी में यह एकोकार का द्वीप उभर आया है। यही अवसर है, जब इस पर पूरी चर्चा होनी चाहिये। यहाँ मैं इस अवसर का सदुपयोग कर रहा हूँ। मेरे माध्यम से 'एकीकार' ही वाणी का विषय बनाया जा रहा है।

तद्विषयक कारिका का अवतरण इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये कर रहे हैं—

'एवं यावत्सहस्रारे निःसंख्यारेऽपि वा प्रभुः ।
विश्वचक्रे महेशानो विश्वशक्तिर्विजृम्भते ॥' (१।११२)

वस्तुतः यह सारा प्रपञ्चोल्लास विश्वचक्र माना जाता है । इस विश्व चक्र में अनेकानेक सम्प्रदाय सिद्ध मतवादों में उपास्य-उपासकों के भेदवाद की परम्परा का अस्तित्व विद्यमान है । सिद्धान्त मतवाद के अनुसार पाँच चक्र मान्य हैं । वामदक्षात्मक शास्त्र के अनुसार चक्र चतुष्क ही उपास्य है, ऐसा माना जाता है । भैरव तन्त्र में केवल उपास्य चक्रों में तीन ही मान्य हैं । इस दृष्टि से विश्वचक्र में चक्रभेद के साथ पूज्यता का यह क्रम भैरव तन्त्र के अनुसार त्रिक तक ही सीमित कर दिया गया है ।

ऐसी अवस्था में क्या माना जाय ? यह प्रश्न स्वभावतः उठ खड़ा होता है । शास्त्रकार कहते हैं कि, चक्रभेद का शास्त्रों में जितना विस्तार प्राप्त है, उनका एकीकार होना चाहिये । एकीकारता की दिशा का निर्धारण शास्त्रकार स्वयं करेंगे । जहाँ तक चक्रभेद का प्रकरण है, उसका निरूपण प्रथम आह्निक में किया गया है । वहाँ स्पष्ट रूप से वर्णित है कि,

"वह एक है । शिवशक्तिसंघट्ट रूप से यामल सद्भाव-भरित है । परा, अपरा और परापरा इन तीन शक्तियों के कारण त्रिक सद्भाव सम्पन्न है, जाग्रत् आदि शक्तियों व्यक्त होने के कारण चार है । सद्योजात, ईशान तत्पुरुष, वामदेव और अघोर रूपों में पञ्चमूर्त्ति है । वही ६, ७, ८, ९, १०, ११ और द्वादशार महाचक्रनायक भी है" ।

इसके अतिरिक्त प्रथम आह्निक श्लोक ११२ के द्वारा शास्त्रकार ने स्पष्ट लिखा है कि,

"इस प्रकार सहस्र अरों वाले सहस्रार चक्र में अथवा अगणित अरों से विभूषित निःसंख्यारात्मक विश्वचक्रों में अर्थात् अनन्त-अनन्त भुवनात्मक चक्रप्रसार में वही महेशान प्रभु इस विश्वोल्लास से अव्यतिरिक्त भाव से विद्यमान विश्वशक्तिमान् परमेश्वर ही विजृम्भमाण है ।"

इत्यन्तं बहु। अनयेति वक्ष्यमाणया ॥ १ ॥

तत्र चक्रभेदमेव तावत् दर्शयति

विश्वा तदीशा हारौद्री वीरनेत्र्यम्बिका तथा।
गुर्वीति षडरे देव्यः श्रीसिद्धावीरदर्शिताः ॥ २ ॥

माहेशी ब्राह्मणी स्कान्दी वैष्णव्यैन्द्री यमात्मिका।
चामुण्डा चैव योगीशीत्यष्टाघोर्यादयोऽथवा ॥ ३ ॥

इस बहु विस्तारपूर्ण शास्त्र चर्चा से सिद्ध हो जाता है कि, विश्व-चक्रात्मकता में भी एकीकारता की दृष्टि का ही महत्त्व है ॥ १ ॥

एकीकारता की अभेद दृष्टि को आत्मसात् करने के पहले चक्रभेदों का अवगम आवश्यक होता है। इस उद्देश्य से सर्वप्रथम चक्रभेद की ही अवतारणा कर रहे हैं—

परमेश्वर प्रभु को षडात्मा कहते हैं। श्रीसिद्धातन्त्र और वीरावली के अनुसार देवीचक्र के छः अरे हैं और प्रत्येक की देवियाँ भी पृथक्-पृथक् हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार है—१. विश्वा, २. विश्वेशी, ३. [हा]रौद्री, ४. वीरनायिका, ५. अम्बिका और ६. गुर्वी। मा० वि० २०।६० में भी इन देवियों का वर्णन है।

प्रभु अष्टक भूषित है। इन अष्टक अरों में आठ देवी शक्तियाँ उल्लसित हैं, वे क्रमशः इस प्रकार हैं—१. माहेशी, २. ब्राह्मी, ३. स्कान्दी (कौमारी), ४. वैष्णवी, ५. ऐन्द्री, ६. यमात्मिका (याम्या), ७. चामुण्डा और ८. योगीशी। अघोरा आदि आठ देवियों की गणना भी इस अष्टक में की जाती है। "त्रिशिरो भैरवशास्त्र में इन आठों देवियों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं—१. अघोरा, २. परमघोरा, ३. घोररूपा, ४. घोरवक्त्रा, ५. भीमा, ६. भीषणा, ७. वमनी और ८. पिबनी। इस अष्टक में एकमात्र वही अघोरेश्वर परिव्याप्त हैं" ॥ २-३ ॥

अग्निनिर्ऋतिवाय्वीशमातृभिर्द्वादशान्विताः ।
नन्दा भद्रा जया कालो करालो विकृतानना ॥ ४ ॥
क्रोष्टुकी भीममुद्रा च वायुवेगा हयानना ।
गम्भीरा घोषणी चेति चतुर्विंशत्यरे विधिः ॥ ५ ॥

'अघोराद्यास्तथाष्टारे अघोर्याद्याश्च देवताः ।
माहेश्याद्यास्तथा देवि ....।'
(मा० वि० २०।५३) इति ।

यदि दिशाओं के अनुसार इनका आकलन किया जाय तो ये १२ होती हैं। ८ माहेशी आदि देवियों का अन्वय हो जाने पर ही यह संख्या पूरी होती है। अग्निकोण में आग्नेयी, निर्ऋति कोण में नैर्ऋत्या, वायुकोण में वायव्या और ईशानकोण में ऐशानी देवी की प्रतिष्ठा मानी जाती है। मा० वि० २०।४५ में कहा गया है कि, "चारों कोणों में स्थित चार देवियों के साथ ही माहेशी आदि शक्तियों को मिलाकर इनको संख्या १२ होती है।"

इसी तरह चौबीस अरा वाला एक महत्त्वपूर्ण चक्र है। वर्ष के कृष्ण और शुक्ल पक्ष ही ये अरे हैं। इस चक्र की इन देवियों के नाम इस प्रकार हैं—१. नन्दा, २. भद्रा, ३. जया, ४. कालो, ५. करालो, ६. विकृतानना, ७. क्रोष्टुकी, ८. भीममुद्रा, ९. वायुवेगा, १०. हयानना, ११. गम्भीरा और १२. घोषणी। इन्हें उक्त १२ देवियों से जोड़ने पर २४ संख्या हो जाती है। मा० वि० २०।५३ में यह लिखा गया है कि,

"चौबीस अरों की २४ देवियाँ, नन्दा आदि १२ और ब्राह्मी आदि १२ देवियों के योग से परिगणित होती हैं"।

यह वर्णन द्वादशार गत देवियों के उपजीवन के अर्थात् तदाश्रित व्यावहारिकता के स्थायित्व के उद्देश्य से किया गया है। अष्टक द्वय में अघोर आदि शक्तियाँ ही शक्तिमन्त का भी प्रातिनिधित्व करती हैं। यद्यपि इनके

सिद्धिर्वृद्धिर्द्युतिर्लक्ष्मीर्मेधा कान्तिः सुधा धृतिः ।
दीप्तिः पुष्टिर्मतिः कीर्तिः सुस्थितिः सुगतिः स्मृतिः ॥६॥
सुप्रभा षोडशी चेति श्रीकण्ठादिकशक्तयः ।
बलिश्च बलिनन्दश्च दशग्रीवो हरो हयः ॥ ७ ॥
माधवः षडरे चक्रे द्वादशारे त्वमो स्मृताः ।
दक्षश्चण्डो हरः शौण्डो प्रमथो भीममन्मथौ ॥ ८ ॥
शकुनिः सुमतिर्नन्दो गोपालश्च पितामहः ।
श्रीकण्ठोऽनन्तसूक्ष्मौ च त्रिमूर्तिः शंबरेश्वरः ॥ ९ ॥

शक्तिमन्त हैं। उनका उल्लेख पहले हो चुका है। वहीं इस सम्बन्ध में कहा गया है कि,

"अघोरो आदि देवियाँ अष्टार में प्रतिष्ठित की जाती हैं। साथ ही अघोराष्टकोक्त शक्तिमन्त्र भी प्रतिष्ठाप्य हैं" ॥ ४-५ ॥

१. श्रीपाठ के अनुसार शक्तिमन्त—

श्रीकण्ठादि शक्तियों का चक्र इस क्रम से परिगणित होता है। वही कह रहे हैं।

१. सिद्धि, २. वृद्धि, ३. द्युति, ४. लक्ष्मी, ५. मेधा, ६. कान्ति, ७. सुधा, ८. धृति, ९. दीप्ति, १०. पुष्टि, ११. मति, १२. कीर्त्ति, १३. सुस्थिति, १४. सुगति, १५. स्मृति और १६. सुप्रभा नामक ये १६ देवियाँ श्रीकण्ठ चक्र की शक्तियाँ मानी जाती हैं।

१. बलि, २. बलिनन्द, ३. दशग्रीव, ४. हर, ५. हय और ६. माधव ये छः शक्तिमन्त हैं। पुनः इनके अतिरिक्त १२ अरों में भी क्रमशः जो देव प्रतिष्ठित हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—

अर्घीशो भारभूतिश्च स्थितिः स्थाणुर्हरस्तथा ।
झण्ठिभौतिकसद्योजानुग्रहक्रूरसैनिकाः ॥ १० ॥
द्व्यष्टौ यद्वामृतस्तेन युक्ताः पूर्णाभतद्द्रवाः ।
ओघोर्मिस्यन्दनाङ्गाश्च वपुरुद्गारवक्त्रका ॥ ११ ॥
तनुसेचनमूर्तीशाः सर्वामृतधरोऽपरः ।
श्रीपाठाच्छक्तयश्चैताः षोडशैव प्रकीर्तिताः ॥ १२ ॥

सद्योजः सद्योजातः । अनुग्रहेति अनुग्रहेश्वरः । सैनिको महासेनः । यदुक्तं

'... ... ... **सद्योजातस्तथा परः ।**
अनुग्रहेश्वरः क्रूरो महासेनोऽथ षोडश ॥'
(मा० वि० २०।५०) इति ।

तेनेति अमृतेन, तदमृतवर्णोऽमृताभ इत्यादिः क्रमः । वक्त्रेति आस्यम् । सेचनेति । निषेचनम् । तदुक्तम्

---

१. दक्ष, २. चण्ड, ३. हर, ४. शौण्ड, ५. प्रमथ और ६. भीम, ७. मन्मथ ८. शकुनि, ९. सुमति, १०. नन्द, ११. गोपाल और १२. पितामह ॥ ६-८ ॥

षोडशार के सोलह देवों की गणना शास्त्रकार इस प्रकार कर रहे हैं—

१. श्रीकण्ठ, २. अनन्त, ३. सूक्ष्म, ४. त्रिमूर्ति ५. अम्बरेश्वर, ६. अर्घीश, ७. भारभूति, ८. स्थिति, ९. स्थाणु, १०. हर, ११. झण्ठि, १२. भौतिक, १३. सद्योजात, १४. अनुग्रहेश्वर, १५. क्रूर और १६. सौनिक [महासेन] । इस प्रसङ्ग में तेरहवाँ सद्योज शब्द सद्योजात के लिये ही प्रयुक्त है । अनुग्रह से अनुग्रहेश्वर का बोध करना चाहिये । सौनिक महासेन अर्थ में प्रयुक्त है । आगम कहता है कि,

"सद्योजात, अनुग्रहेश्वर और महासेन को लेकर ही १६ को गणना पूरी होती है" । यह उक्ति मालिनीविजयोत्तर तन्त्र के २०।५० की अंश रूप है ।

अमृतोऽमृतपूर्णश्च अमृताभोऽमृतद्रवः ।
अमृतौघाऽमृतोर्मिश्च अमृतस्यन्दनोऽपरः ॥
अमृताङ्गोऽमृतवपुरमृतोद्गार एव च ।
अमृतास्योऽमृततनुस्तथामृतनिषेचनः ॥
तन्मूर्तिरमृतेशश्च सर्वामृतधरस्तथा ।'
(मा० वि० ३।१९) इति ।

संवर्तलकुलिभृगुसित-
बकखड्गिपिनाकिभुजगबलिकालाः ।
द्विश्छगलाण्डौ शिखिशो-
णमेषमीनास्त्रिदण्डि साषाढि ॥ १३ ॥

चतुर्विंशत्यरे क्रमप्राप्तान् शक्तिमतो निर्दिशति संवर्तेत्यादिना । लकुलीति लकुलीशः । सितेति श्वेतः । कालो महाकालः । द्विश्छगलाण्डाविति

इनके स्थान पर वैकल्पिक देवों का उल्लेख भी शास्त्रों में उपलब्ध है। वह इस प्रकार परिगणित है—१. अमृत, २. अमृतपूर्ण, ३. अमृताभ ४. अमृतद्रव, ५. अमृतौघ, ६. अमृतोर्मि, ७. अमृत स्यन्दन, ८. अमृताङ्ग ९. अमृतवपु, १०. अमृतोद्गार, ११. अमृतास्य, १२. अमृततनु, १३. अमृत सेचन, १४. अमृतमूर्त्ति, १५. अमृतेश्वर और सर्वामृतधर।

शास्त्रकार ने इसका संक्षेप रूप ही लिखा है। उन्होंने कहा है कि अमृत और सर्वामृतधर इन दो नामों के अतिरिक्त १४ नामों में अमृत के साथ पूर्ण आभ, द्रव, ऊर्मि, स्यन्दन, अङ्ग, वपु, उद्गार वक्त्र (आस्य), तनु, सेचन, मूर्त्ति, ईश [ईश्वर] शब्दों का योग करने पर सबके नाम स्पष्ट हो जाते हैं॥ ९-१२॥

चौबीस अरों वाले चक्र में किन देवों की प्रतिष्ठा है, इसका वर्णन कर रहे हैं। यह वर्णन मालिनीविजयोत्तर तन्त्र के अधिकार २० में ५३वें श्लोक बाद ही उपलब्ध है। वे इस प्रकार हैं—

द्विरण्डच्छगलाण्डा शिख्यादिपञ्चकस्य समाहारे द्वन्द्वः शोणेति लोहितः। देवोकान्ततदर्धाविति उमाकान्तार्धनारीशौ। हलीति लाङ्गली। सोमनाथेति सोमेशः। तदुक्तं

'संवर्तो लकुलीशश्च भृगुः श्वेतो बकस्तथा।
खड्गी पिनाकी भुजगो नवमो बलिरेव च॥
महाकालो द्विरण्डश्च च्छगलाण्डः शिखी तथा।
लोहितो मेषमीनौ च त्रिदण्डयाषाढिनामकौ॥
उमाकान्तोऽर्धनारीशो दारुको लाङ्गली तथा।
तथा सोमेशशर्माणौ चतुर्विंशत्यमी मताः॥'
(मा० वि० २०।५६) इति।

देवोकान्ततदर्धौ दारुकहलिसोमनाथशर्माणः।
जयविजयजयन्ताजितसुजयजयरुद्रकीर्तनावहकाः ॥ १४ ॥

---

१. संवर्त, २. लकुलीश, ३. भृगु, ४. श्वेत, ५. बक, ६. खड्गी, ७. पिनाकी, ८. भुजग, ९. बलि, १०. महाकाल, ११. द्विरण्ड, १२ छगलाण्ड, १३. शिखी, १४. लोहित, १५. मेष, १६. मीन, १७. त्रिदण्डि, १८. आषाढि, १९. उमाकान्त, २०. अर्धनारीश्वर, २१. दारुक, २२. लाङ्गली, २३. सोमेश्वर और २४. सोमशर्मा। कुल मिलाकर ये चौबीस शक्तिमन्तों की संज्ञायें हैं। शास्त्रकार ने जिन नामों के संक्षिप्त या सांकेतिक नाम अपनी रचना में दिये हैं, वे इस प्रकार हैं।

लकुलि (लकुलीश) सित (श्वेत) काल (महाकाल) द्विरछगलाण्डौ (द्विरण्ड-छगलाण्ड) शोण (लोहित) देवोकान्त (उमाकान्त) तदर्ध (अर्धनारीश्वर) हली (लाङ्गली) सोमनाथ (सोमेश्वर)। शिखि आदि पाँच शब्दों का समाहार द्वन्द्व समास भी विचार का विषय है। इसका उपयोग इस रचना में किया गया है॥ १३॥

तन्मूर्त्युत्सापदवर्धनाश्च बलसुबलभद्रदावहकाः ।
तद्वान्दाता चेशो नन्दनसमभद्रतन्मूर्तिः ।। १५ ।।
शिवदसुमनःस्पृहणका दुर्गो भद्राख्यकालश्च ।
चेतोऽनुगकौशिककालविश्वसुशिवास्तथापरः कोपः ।। १६ ।।
श्रुत्यग्न्यरे स्युरेते श्रीपाठाच्छक्तयस्त्वेताः ।

अजितेति अपराजितः। जयेत्यनेन त्रयाणामपि सम्बन्धः। तेन जयरुद्रो जयकीर्तिर्जयावह इति। तच्छब्देन जयशब्दपरामर्शः। तेन जयमूर्तिर्जयोत्साहो जयदो जयवर्धनः इति। सुबलेति अतिबलः। भद्रेति त्रयाणामपि बलशब्देन सम्बन्धः। तेन बलभद्रो बलप्रदो बलावहश्चेति। तद्वानिति बलवान्। दातेति बलदाता। ईश इति बलेश्वरः। समभद्रेति सर्वतोभद्रः तन्मूर्तीति भद्रमूर्तिः। शिवद इति शिवप्रदः भद्राख्य इति भद्रकालः। चेतोऽनुग इति मनोऽनुगः। विश्वेति विश्वेश्वरः। श्रुत्यग्न्यरे इति चतुस्त्रिंशदरे। तदुक्तं

'जयश्च विजयश्चैव जयन्तश्चापराजितः ।
सुजयो जयरुद्रश्च जयकीर्तिर्जयावहः ॥
जयमूर्तिर्जयोत्साहो जयदो जयवर्धनः ।
बलश्चातिबलश्चैव बलभद्रो बलप्रदः ॥
बलावहश्च बलवान्बलदाता बलेश्वरः ।

---

२. श्रीपाठ के शक्ति-शक्तिमन्त—

इनकी संख्या श्रुति ४ और अग्नि ३=३४ है। ३४ अरों के चक्रों के ये ३४ चक्रेश्वर शक्तिमन्त हैं। इनके मालिनीविजयोत्तर वर्णित नाम इस प्रकार हैं। ये अधि० ३।२१-२४ में उल्लिखित हैं—

१. जय, २. विजय, ३. जयन्त, ४. अपराजित, ५. सुजय, ६. जयरुद्र, ७. जयकीर्त्ति, ८. जयावह, ९. जयमूर्त्ति, १०. जयोत्साह, ११. जयद, १२. जयवर्धन, १३. बल, १४. अतिबल, १५. बलभद्र, १६. बलप्रद, १७. बलावह, १८. बलवान्, १९. बलदाता, २०. बलेश्वर, २१. नन्दन,

नन्दनः सर्वतोभद्रो भद्रमूर्तिः शिवप्रदः ॥
सुमनाः स्पृहणो दुर्गो भद्रकालो मनोऽनुगः ।
कौशिकः कालविश्वेशो सुशिवः कोप एव च ।
एते योनिसमुद्भूताश्चतुस्त्रिंशत्प्रकीर्तिताः ॥'
(मा० वि० ३।२४) इति ।

तदीशेति विश्वेश्वरी । वीरनेत्रीति वीरनायिका । तदुक्तं
'विश्वा विश्वेश्वरी चैव हारीदी वीरनायिका ।
अम्बा गुर्वीति योगिन्य........ ....॥'
(मा० वि० २०।६०) इति ।

न केवलमस्मद्दर्शने एव एता उक्ताः, यावदन्यत्रापीत्याह श्रीसिद्धा-वीरदर्शिताः । इति स्कान्दीति कौमारी । यमात्मिकेति याम्या । अघोर्यादय इति । यदुक्तं श्रीत्रिशिरोभैरवे
'अघोरा परमाघोरा घोररूपा तथा परा ।
घोरवक्त्रा तथा भीमा भीषणा वमनी परा ॥
पिबनी चाष्टमी प्रोक्ता........... ....।' इति ।

---

२२. सर्वतोभद्र, २३. भद्रमूर्त्ति, २४. शिवप्रद, २५. सुमनाः, २६. स्पृहण, २७. दुर्ग, २८. भद्रकाल, २९. मनोऽनुग, ३०. कौशिक, ३१. काल, ३२. विश्वेश, ३३. सुशिव और ३४. कोप ।

शास्त्रकार ने संक्षेप की दृष्टि से जयरुद्र कीर्त्तनावहकाः में क्रमशः जयरुद्र, जयकीर्ति और जयावह तीन नामों का एक साथ संकेत कर दिया है । इसी तरह तन्मूर्युत्साहदवर्धनाः प्रयोग द्वारा जयमूर्त्ति, जयोत्साह और जयद और जयवर्धन इन चार नामों का संकेत किया है । सुबल से अतिबल अर्थ लेना चाहिये । इसी तरह भद्र, द और आवह के पूर्व बलशब्द का प्रयोग कर बलभद्र, बलप्रद और बलावह को संकेतित किया है । तद्वान् से बलवान् अर्थ ग्रहण करना चाहिये । दाता से बलदाता, ईश से बलेश्वर, समभद्र-

अन्विता इति अर्थात् माहेश्याद्याः । यदुक्तम्

'आग्नेय्यादिचतुष्कोण ब्राह्मण्याद्यास्तु वा प्रिये ।'

(मा० वि० २०।४५) इति ।

चतुर्विंशत्यरे विधिरिति माहेश्यादिद्वादशकसम्मेलनया । यदुक्तम्

.... चतुर्विंशतिके शृणु ।

नन्दादिकाः क्रमात्सर्वा ब्राह्मण्याद्यास्तथैवच ॥'

(मा० वि० २०।५३) इति ।

एतच्च अत्र द्वादशारगतदेव्युपजोवनाय उक्ततिति न क्रमव्यतिक्रमश्चोद्यः । अष्टकद्वये पुनरघोराद्या एव शक्तिमन्तः, किन्तु ते प्रागुद्दिष्टत्वादिह न उक्ताः । तदुक्तम्

अत्रैव मन्त्रविभागमाह

जुंकारोऽथाग्निपत्नीति षडरे षण्ठवर्जिताः ॥ १७ ॥

तन्मूर्तिः से सर्वतोभद्र, भद्रमूर्त्ति, शिवद से शिवप्रद, भद्राख्य से भद्रकाल, चेतोऽनुग से मनोनुग, विश्व से विश्वेश्वर अर्थ लेना चाहिये । पद्य रचना में नामों से संक्षिप्तीकरण के ये उदाहरण हैं । मा० विजयोत्तर तन्त्र शिवोक्त है । उसमें भो यदि यही पद्धति होती, तो संज्ञा का निर्धारण कठिन हो जाता । इसो क्रम में संख्यावाची श्रुत्यग्नि का भी कथन किया जा सकता है । वाम गति के अनुसार ३ अर्थ का अग्नि शब्द पहले प्रयुक्त होता है और ४ अर्थप्रद श्रुति का बाद में प्रयोग होता है । इसलिये इसका अर्थ ३४ ही मानते हैं ॥ १४-१६ ॥

चक्र देवताओं के वर्णन के उपरान्त मन्त्र विभाग के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं—

'जुं' यह महत्त्वपूर्ण बीज मन्त्र है । 'ज' चवर्ग का तृतोय वर्ण है । इससे जन्माधार, जायमानता, कान्ति, जलतत्त्व, विष्णुतत्त्व और सृष्टि समुद्भव आदि अनेक व्यापक अर्थ ग्रहण किये जाते हैं । इसके साथ उन्मेष

द्वादशारे तत्सहिताः षोडशारे स्वराः क्रमात् ।
हलस्तद्द्विगुणेऽष्टारे याद्यं हान्तं तु तत्त्रिके ॥ १८ ॥

अग्निपत्नी स्वाहेति, तेन प्रत्येकमेकैको वर्णः। तत्सहिता इति षण्ठसहिताः। तद्द्विगुणे इति द्वात्रिंशदरे ॥ १८ ॥

तत्त्व का प्रतीक 'उकार' का योग है और सर्ववेत्तीति बिन्दुः ब्रह्म परमशिव का सामञ्जस्य है। इस दृष्टि से इस बीज का संक्षिप्त अर्थ होता है—सृष्टि आदि के उन्मेष में व्याप्त परमशिवतत्व। इसके साथ स्वाहा पद का प्रयोग करने से अद्भुत शक्तिशाली मन्त्र का समुद्भव हो जाता है। सर्वप्रथम इस मन्त्र का प्रयोग जन्माधार चक्र को सत्त्व प्रदान करने के लिये करना चाहिये।

षडर में षण्ठ (ऋ ॠ ऌ ॡ) वर्णों को छोड़ कर प्रत्येक अर पर अं आं इं ईं उं ऊं ये छः वर्ण बीज प्रयोग में (प्रत्यर एक वर्ण के नियमानुसार) लाना चाहिये।

द्वादशार में षण्ठ वर्णों का भी सम्मिलित करने का नियम है। इस तरह इसमें अकार से लेकर ऐकार तक वर्ण बीज प्रयुक्त होते हैं। षोडशार में सोलहों वर्णबीज उसी क्रम से अर्थात् प्रत्यर एक वर्ण के नियमानुसार क्रमिक रूप से प्रयोग में लाये जाते हैं।

बत्तीस अरों में क से लेकर २५ स्पर्श वर्ण तथा य से लेकर स तक के सात कुलयोग २५+७=३२ वर्णबीजों का प्रयोग होता है। अष्टार में याद्यहान्त आठ वर्णबीज प्रयुक्त होते हैं। इस श्लोक में हान्त शब्द का दो पक्षों में अन्वय हो रहा है। प्रथम पक्ष में अन्तःस्थ और ऊष्मावर्ण आते हैं। ये आठ हैं और अष्टार के प्रत्येक अर में लगते हैं। दूसरे पक्ष में हान्त 'जूं स्वाहा' मन्त्र के अर्थ में प्रयुक्त है। यह मन्त्र अष्टार, षोडशार और द्वात्रिंशदर नामक तीनों चक्रों में प्रयोग में लाना चाहिये। जैसे 'कं जूं स्वाहा' खं जूं स्वाहा' इत्यादि। त्रिके शब्द की चरितार्थकता इसी तरह सिद्ध होती है ॥ १७-१८ ॥

अत्रैव विशेषमभिधत्ते

द्वात्रिंशदरके सान्तं बिन्दुः सर्वेषु मूर्धनि ।

अनेनैव क्रमेण चक्रान्तराणि अपि कल्पनीयानीत्याह

एवमन्यान्बहूँश्चक्रभेदानस्मात्प्रकल्पयेत् ॥ १९ ॥

अस्मादिति उक्तात् चक्रभेदात् । अन्यान्बहूनिति चतुःषष्ट्यादीन् । प्रकल्पयेदित्यनेन एषामवास्तवत्वं प्रकाशितम् ॥ १९ ॥

वस्तुतो हि चित्प्रकाश एव एकः समस्ति, यस्य शक्तितद्वयपदेशमात्रत्वमित्याह

एक एव चिदात्मैष विश्वामर्शनसारकः ।
शक्तिस्तद्वानतो माता शब्दराशिः प्रकीर्तितौः ॥ २० ॥
तयोरेव विभागे तु शक्तितद्वत्प्रकल्पने ।
शब्दराशिर्मालिनी च क्षोभात्म वपुरीदृशम् ॥ २१ ॥

इस अर-वर्ण-संयोजन में सर्वप्रथम यह ध्यान रखना चाहिये कि, बत्तीस अर वाले चक्र में पूरे २५ स्पर्श वर्ण ४ अन्तःस्थ वर्ण और ऊष्मा के ३ वर्ण अर्थात् श ष और स ही प्रयुक्त होते हैं। दूसरी विशेषता यह होती है कि, बिन्दु स ष के सिर पर सवार रह कर अपनी सर्वोच्च सत्ता का बोध कराता रहता है। तीसरी बात जो अत्यन्त आवश्यक है, वह यह कि, इन भेदों की तरह कोई भी मनीषी प्रकल्पक अपनी मेधाशक्ति के आधार पर नये चक्रों की प्रकल्पना कर सकता है। जैसे ६४ चक्रों १२८ चक्रों आदि के अरों और उन पर वर्णबीजों के समन्वय भी किये जा सकते हैं ॥ १९ ॥

वास्तविकता यह है कि, चाहे भेद प्रभेद के विषय में कितना भी विचार कर लें, इस विश्वात्मक प्रसार में चित्प्रकाश ही एक मात्र शाश्वत तत्त्व है। हम उसे शक्ति कहें, शक्तिमान् शब्द से व्यपदिष्ट करें, कोई अन्तर नहीं पड़ता। एक तरह से यह कह सकते हैं कि, सब कुछ चित्प्रकाश ही है। यही कह रहे हैं—

अत इति शक्तितद्विभागस्य आसूत्रणात् । माता मातृका। तयोरिति मातृकाशब्दराश्योः। ननु मालिन्याः शक्तित्वे किं निमित्तमित्याशङ्क्य आह क्षोभात्म वपुरीदृशमिति ॥ २१ ॥

अनयोरेव एकैकामर्शरूढावियांश्चक्रभेद इत्याह

तथान्तःस्थपरामर्शभेदने वस्तुतस्त्रिकम् ।
अनुत्तरेच्छोन्मेषाख्यं यतो विश्वं विमर्शनम् ॥ २२ ॥

इस व्यापक दृश्यादृश्य उल्लास में विश्व विमर्श का सार भूत वही चिदात्मा प्रकाशवपुष् परमेश्वर ही है। वही शक्ति है, वही शक्तिमान् है। वही विश्वोत्तीर्ण प्रमाता है। विश्वमय वही प्रभु है। वही माता अर्थात् मातृका है। वही शब्दराशिरूपा मालिनी विद्या है। मातृका और मालिनी शब्दों से वही व्यपदिष्ट होता है। इन दो विभागों में भी व्यक्त है। इसी विभाग के परिवेश में शक्ति और शक्तिमान् का अप्रकल्प्य प्रकल्पन होता है। मालिनी को शब्द राशि कहते हैं। यह शक्ति तत्त्व भी माना जाता है। इसका प्रमाण इसकी क्षोभात्मकता है। यह परमेश्वर के क्षोभात्मक अवयवों से पूर्ण पारमेश्वर शरीर ही है ॥ २१ ॥

माहेश्वर सूत्रों में आविष्कृत वर्णक्रमरूपिणी मातृका और शब्दराशि-रूपिणी मालिनी इन दोनों के वर्णों से स्वभावतः समुच्छलित परामर्शों के रहस्यों का आकलन शास्त्रकार कर रहे हैं और इनसे उत्पन्न चक्रभेदों का उद्भावन भी कर रहे हैं—

मातृका 'अह' प्रत्याहार में ही परामृष्ट होती है। 'अह' प्रत्याहार में आये हुए वर्ण समुदाय अनन्त अनन्त जागतिक रहस्यों का उत्स माना जाता है। इन्हीं के आधार पर अहमात्मक परामर्श निर्भर करता है। मनीषी इन परामर्शात्मक रहस्यों में रम जाता है। सर्वप्रथम आकार के 'अनुत्तर' परामर्श के विषय में विचार करें। 'अ' वर्ण में ही शक्ति और शक्तिमान् रूप प्रमात्रैक्य की अन्तः स्थिति का आकलन हो रहा है। यह तथ्य केवल 'अकार' के

आनन्देशोर्मियोगे तु तत्षट्कं समुदाहृतम् ।
अन्तःस्थोष्मसमायोगात्तदष्टकमुदाहृतम् ॥ २३ ॥
तदामृतचतुष्कोनभावे द्वादशकं भवेत् ।
तद्योगे षोडशाख्यं स्यादेवं यावदसंख्यता ॥ २४ ॥

तथा शक्तिशतिमद्रूपतया अन्तः प्रमात्रैकात्म्येन स्थितस्य अहंपरामर्शस्य विभजने सति

'तदेव त्रितयं प्राहुर्भैरवस्य परं महः ।

परामर्श का हो नहीं है। 'इ' कार और 'उ' कार में भी इसी प्रकार का अन्तःस्थ परामर्श अनुभूत होता है।

यह ध्यान देने की बात है कि, यही तीन वर्ण आद्य उच्छलन के प्रतीक वर्ण हैं। माहेश्वर सूत्र में इन्हीं वर्णों का प्राथमिक रूप से प्रख्यापन किया गया है। 'अइउण्' सूत्र इसका प्रतीकात्मक प्रमाण है। अहं परामर्श को विभाजित कर जब साधक मनीषी रहस्य का अनुसन्धान करता है, तो उसे वस्तुतः त्रिकविमर्श का संज्ञान रहता है। इस त्रिक विमर्श को तीन नामों से जानते हैं। १. अनुत्तर, २. इच्छा और ३. उन्मेष। ये तीनों ऐसे शब्द हैं, जिनके आदि में मूल अक्षर अपने प्रतीकार्थ के साथ विद्यमान है। इन्हीं तीनों की परामर्शात्मकता में सारा विश्व विमर्श समाहित हो जाता है। इसी तथ्य को शास्त्रकार लिखते हैं --

'यतो विश्वविमर्शनम्'। आगे के श्लोकों में यह स्पष्ट किया है गया कि, इन प्रतीकचक्रों से सारा विश्वविमर्श कैसे होता है। इस सम्बन्ध में आगम-शास्त्र भी यही कहते हैं। आचार्य जयरथ एक उद्धरण भी प्रस्तुत कर रहे हैं—

"इस परामर्श दृष्टि से जिस भेदत्रितय का उल्लास होता है, वह परभैरव तत्त्व की परम तेजसिकता का ही महोत्सव रूप है।"

इत्याद्युक्तनयेन अनुत्तरेच्छोन्मेषाख्यं त्रिकमेव वस्तुतोऽस्ति यत इदं सर्व-महमिति पूर्णं विमर्शनं स्यात्। तस्यैव पुनरानन्दादियोगे तत् समनन्तरोक्तं षट्कमुदाहृतं येन अयं चक्राणां भेदः। एवमन्तःस्थोष्माख्यं चतुष्कद्वयमधिकृत्य याष्टकं स्यात् येन उक्तमष्टारे याद्यमिति। आमृतं चतुष्कं षण्ठचतुष्टयं,

---

इस उक्ति के सन्दर्भ को आत्मसात् कर जब मनीषा आन्तर अनुभूतियों का स्पर्श करती है, तो उसे अकार में अनुत्तर तत्त्व का, इकार में इच्छा तत्त्व और उकार में उन्मेष तत्त्व उच्छलित होते प्रतीत होते हैं। इन्हीं 'अनुत्तर', 'इच्छा' और 'उन्मेष' का उल्लास परामर्श में अनुभूत होता है । इस आन्तर अनुभूति की विश्रान्ति पराहन्ता परामर्श में होती है। साथ ही सर्वम् अहम् में चरितार्थ होती है।

इसके बाद अनुत्तर से आनन्द, इच्छा से ईकार रूप ईशितृ का ऐश्वर्य और उन्मेष रूप उकार से ऊर्मि रूप विश्व प्रवाह की स्वाभाविक विमृष्टि होती है, तब अकार 'आ' रूप में, इकार 'ई' रूप में और 'उ' ऊकार रूप में पृथक् अनुभूत होने लगते हैं। त्रिक के इस षट्क रूप से भेद भिन्न परामर्शों का स्वरूप निर्मित होता है। चक्रभेद के ये परामर्शक सृष्टि विकास की दिशा में अग्रसर हो जाते हैं।

अनुत्तर से ऊर्मि तक के भेद षट्क के अतिरिक्त इ उ ऋ और ऌ जब अनुत्तर से सम्पृक्त होते हैं, तो चार अन्तःस्थ वर्ण य, व, र और ल बन जाते हैं। यह अन्तःस्थचतुष्क माना जाता है। इसी प्रकार विसर्ग अनुत्तर के सहयोग से ऊष्माचतुष्क रूप में रूपान्तरित होकर श, ष, स और ह वर्ण रूप में उल्लसित होने लगते हैं। अन्तःस्थ और ऊष्मा के चतुष्कद्वय अष्टार चक्र के रूप में विद्योतित होते हैं।

जहाँ तक षण्ठ चतुष्टय रूप आमृत (ऋ ॠ ऌ ॡ) वर्णों का प्रश्न हैं, इनके अतिरिक्त भी चक्रभेद गतिशील होते हैं। जैसे अ और इ के गुण योग में 'ए'कार, अ और ए के वृद्धि योग में ऐकार वर्णों का उल्लास होता

तस्य ऊनभावे तद्रहितत्वे सतीत्यर्थः । तद्योगे इति आमृतचतुष्कसहितत्वे इत्यर्थः । असंख्यतेति तत्तत्परामर्शसंयोजनवियोजनेन ॥ २४ ॥

ननु अखण्डैकघनाकारे अत्र कुतस्त्यमानन्त्यमित्याशङ्क्य आह

विश्वमेकपरामर्शसहत्वात्प्रभृति स्फुटम् ।
अंशांशिकापरामर्शान् पर्यन्ते सहते यतः ॥ २५ ॥

है । इसी तरह अनुत्तर और उन्मेष के गुण योग में 'ओ' कार तथा अनुत्तर और 'ओ' के वृद्धि योग में 'औ' रूप वर्णों का उद्भव होता है । अनुत्तरोर्मि के छः वर्णों के साथ ए ऐ ओ औ वर्णों के चतुष्क को जोड़ने से १० वर्ण तथा अनुस्वार विसर्ग से निर्मित 'अं' तथा अः के द्वितय योग से द्वादशार चक्र का भेदोल्लास होता है । षण्ठ वर्णों ऋ ॠ ऌ ॡ को जोड़ने से इसे षोडशार चक्र कहते हैं। इसी प्रकार परामर्शों के संयोग और वियोग से 'घटबढ़' के उच्छलन-व्युच्छलन से असंख्य चक्रों के उल्लास का आकलन किया जा सकता है, इसमें सन्देह नहीं ॥ २२-२४ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, एक, अखण्ड घनानन्द स्वरूप परमेश्वर में इस प्रकार के आनन्त्य के परिकल्पन का न कोई औचित्य है और न कोई शास्त्रीय प्रामाण्य । फिर भी ऐसे प्रकल्पन क्यों ? इसी आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

वस्तुतः विश्व एक ही है । एक है अर्थात् शिवात्मक है अर्थात् सर्वात्मक है । शिव भी सर्वात्मक है । अतः इनकी एकात्मकता स्वतः प्रमाणित है । इस एकात्मकता में सर्वात्मकता के परामर्श स्वाभाविक हैं । परामर्शों में आनन्त्य भी स्वाभाविक है । इस अनन्त परामर्शात्मकता को यह विश्वात्मकता आत्मसात् करती है । यह इसका स्फुट अर्थात् स्पष्ट रूप परामर्शसहत्व ही है । निरंश रहते हुए भी अंशांशिक परामर्शों का उदय उसी में होने वाला तदात्मक स्पन्द ही है । यह उससे पृथक् नहीं है । अतः यह सिद्ध हो जाता है कि, विश्व अनन्तपरामर्शात्मक है ।

अतः पञ्चाशदैकात्म्यं स्वरव्यक्तिविरूपता ।
वर्गाष्टकं वर्णभेद एकाशीतिकलोदयः ॥ २६ ॥
इति प्रदर्शितं पूर्वम्

विश्वमिति सर्वम् । पञ्चाशदेकात्म्यमिति अहंपरामर्शरूपत्वम् । व्यक्तिर्व्यञ्जनम् । कलेति अर्धमात्राणाम् । पूर्वमिति तृतीयषष्ठाह्निकादौ ॥

ननु

'एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते ।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं त्वर्धमात्रिकम् ॥'

उदाहरण रूप में यह कहना कसौटी पर कसा हुआ सत्य है कि, स्वर व्यक्ति (व्यंजन) मयी मातृका एक है। इसका पञ्चाशदैकात्म्य निकषायित सत्य है। मातृका एक है। पचास इसके स्वर व्यञ्जनमय परामर्श हैं। यह विरूपता उसकी स्वरूपता है। यह स्वरूपता इस विरूपता को पार्यन्तिक रूप से सहती है अर्थात् आत्मसात् करती है। इसी विरूपता का एक भेद आठ वर्गों में भी अभिव्यक्ति है। ये क्रमशः १. अवर्ग, २. कवर्ग, ३. चवर्ग, ४. टवर्ग, ५. तवर्ग, ६. पवर्ग, ७. यवर्ग और ७. शवर्ग हैं। इन आठ वर्गों में विभक्त पचास वर्णों में स्वर व्यंजन रूप में उल्लसित मातृका का एकाशीतिपदा देवी कहते हैं। इसको इक्यासी कलायें हैं। इनका कथन पहले अर्थात् तीसरे और छठे आह्निकों में किया जा चुका है।

सौविध्य को दृष्टि से उसका यहाँ उल्लेख अप्रासङ्गि नहीं माना जा सकता। अतः उसकी एकाशीति पदता को इस प्रकार समझना चाहिये—

१. ह्रस्व स्वर, अर्धमात्रायें	१०
२. दीर्घ स्वर, अर्धमात्रायें	३२
३. प्लुत स्वर, अर्धमात्रायें	६
४. कादि हान्त व्यंजन, अर्धमात्रायें	३३
कुल योग	=८१

---

१. श्रीत० १३।१९७

इत्युक्त्या व्यञ्जनानामर्धमात्रासहत्वं वक्तुं युज्यते, स्वराणां पुनरेक-मात्रानुरूपतया नेवमिति कथमेकाशीतिकलोदय इत्याशङ्क्य आह

अर्धमात्रासहत्वतः ।

स्वरार्धमप्यस्ति यतः स्वरितस्यार्धमात्रकम् ॥ २७ ॥

तस्यादित उदात्तं तत्कथितं पदवेदिना ।

इह अर्धमात्रासहत्वतः स्वराणामपि अर्धमात्रिकत्वं यतः पाणिनिना 'समाहारः स्वरितः' (१।२।३१) इति उदात्तसमुदायात्मा स्वरित इति

इस प्रकरण में यह लिखना भी आवश्यक है कि, भगवान् शिव ने भी इसी इक्यासी कला को दृष्टि से ८१ सूत्रों को ही रचना भी शिवसूत्र में की थी। यह एकाशीति पदता अर्ध मात्राओं के ८१ पदों के आधार पर ही स्वीकृत है ॥ २५-२६ ॥

प्रश्न कर्त्ता शास्त्रज्ञ है। शास्त्रों की परम्पराओं से परिचित है। व्याकरण शास्त्र की एक कारिका प्रस्तुत करते हुए कह रहा है कि, भगवन्! यह कारिका कहती है कि,

"ह्रस्व स्वर एक मात्रिक होता है। दीर्घ स्वर दो मात्राओं वाले होते हैं। जितने भो प्लुत होते हैं, वे त्रिमात्र हैं। यह स्वरों की बात है। व्यञ्जन सभी अर्धमात्रिक माने जाते हैं।"

"इस दृष्टि से व्यञ्जनों की अर्धमात्रायें तो मानी जा सकती हैं किन्तु स्वरों की स्थिति तो भिन्न है। उसके इस कथन में यह आशङ्का स्पष्ट झलक रहो है कि, यह एकाशोतिपदता कैसे? गुरुदेव उसी का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

वत्स! यह दृष्टि अर्धमात्रासहत्त्व पर निर्भर करतो है। वास्तव में स्वरों में भी अर्धमात्रिकता का परामर्श होता है। इसलिये यह सैद्धान्तिक उक्ति है कि, 'स्वरार्धमप्यस्ति' अर्थात् स्वरों में भी अर्धमात्राओं का मान सर्व मान्य है।

सूत्रेति 'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्' (१।२।३२) इति प्रथमोदात्तभागगत-ह्रस्वार्धमात्रिकत्वमपि सूत्रितम् ॥ २७ ॥

प्रकृतमेव उपसंहरति

इत्थं संविदियं याज्यस्वरूपामर्शरूपिणी ॥ २८ ॥

इसी सन्दर्भ को प्रामाणिकता का पुट देते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि, स्वरित की अर्धमात्रिकता शास्त्र सिद्ध है। व्याकरण शास्त्र में माहेश्वर सूत्रों के मन्त्र द्रष्टा महर्षि भगवान् पाणिनि ने अष्टाध्यायी नामक सूत्र ग्रन्थ के अध्याय १ पाद २ और सूत्र संख्या ३१ के द्वारा यह स्पष्ट घोषित किया है कि, उदात्त और अनुदात्त की अवस्था में जो वर्ण धर्म होते हैं, वे यदि एकवर्ण में ही समाहृत हो जाँय, तो वह स्वरित कहलाता है अर्थात् उसे स्वरित संज्ञा से विभूषित करते हैं।

इस सूत्र के तुरन्त बाद अर्थात् बत्तीसवें सूत्र द्वारा ही यह घोषित किया है कि, स्वर समाहार के सन्दर्भ में उपस्थित आदि उदात्त-भागगत ह्रस्व अर्धमात्रिक होता है। शास्त्रकार यह स्पष्ट करते हैं कि, पदवेदी आचार्य महर्षि पाणिनि ने यह घोषित किया है कि, 'तस्य उदात्तम् अर्ध ह्रस्वम्' अर्थात् आदि उदात्त अर्धह्रस्व होता है। इस प्रकरण को सूत्रकार के आर्ष सूत्रों के निकष पर निकषायित कर शास्त्रकार ने अर्धमात्राओं की प्रामाणिकता को प्रतिष्ठित किया है। साथ ही यह सिद्ध कर दिया है कि, देवी मातृका एकाशीतिपदा होती है।

अन्त में शास्त्रकार एक औपनिषदिक रहस्य को भी इस सन्दर्भ से समन्वित कर रहे हैं। उनका कहना है कि,

'संवित्' शक्ति याज्यस्वरूपपरामर्श रूपिणी है। उपनिषद् में वाक् को अग्नि और श्वास को हव्य कहा गया है। यह एक प्रकार का वाग्यज्ञ विश्व में चल रहा है। बोलते समय श्वास नहीं ले सकते क्योंकि श्वास का हवन वाक् रूपी अग्नि तत्त्व में हो रहा है।

अभिन्नं संविदश्चैतच्चक्राणां चक्रवालकम् ।
स्वाम्यावरणभेदेन बहुधा तत्प्रयोजयेत् ।। २९ ।।

तदिति चक्रचक्रवालकम् ॥ २९ ॥

ननु स्वामिनोऽपि को भेद इत्याशङ्क्य आह

परापरा परा चान्या सृष्टिस्थितितिरोधयः ।
मातृसद्भावरूपा तु तुर्या विश्रान्तिरुच्यते ।। ३० ।।

अन्येति अपरा । तिरोधिः संहारः ॥ ३० ॥

यह संवित् शक्ति भी प्रकाशमयी आग के समान है। सारे विश्वात्मक परामर्शों का उसमें यजन हो रहा है। परामर्श याज्य स्वरूप होते ही हैं। यह संविद्यज्ञ है। संहार का यजन हो रहा है। विश्वात्मक परामर्शों का यष्टा भी स्वात्मसंविद्‌वपुष् परमेश्वर ही है। यह सारा चक्रों का चक्रवाल संविद्विश्रान्त होने के कारण संवित्तत्त्व से नितान्त अभिन्न है। इस चक्रवाल पर भी स्वामीतत्त्व का प्रभावात्मक प्रकाशाधिकृत आवरण पड़ा हुआ है। उस आवरण पर मलावरण की परिभाषा चरितार्थ नहीं होती। यह रहस्यानुसन्धान की अपेक्षा रखता है। इसके प्रयोजन की विधि का निर्देश शास्त्रकार 'प्रयोजयेत्' इस एकवचनान्त क्रिया द्वारा करते हुए अध्येता की सक्रियता का आह्वान कर रहे हैं ॥ २७-२९ ॥

उपरि उक्त श्लोक में आवरण भेद की चर्चा की गयी है। यहाँ शङ्का को अवकाश मिल रहा है कि, क्या स्वामियों में भी भेद की संभावनायें होती हैं ? इसी का समाधान कर रहे हैं—

वस्तुतः शास्त्रों में भगवान् के पाँच कृत्यों का वर्णन किया गया है। आ० १।७९ में इनके नाम सृष्टि, स्थिति, तिरोधान, संहार और अनुग्रह बताये गये हैं। वहाँ तिरोधान का अर्थ दूसरा है। यहाँ इस श्लोक में आचार्य जयरथ के अनुसार तिरोधि का अर्थ संहार है। यहाँ मत वैभिन्न्य हो सकता है। शिव की अनन्त शक्तियों की यह विजृम्भा मात्र है। इन्हीं

ननु यदि तुर्यमेव विश्रान्तिस्थानं, तत् कथं विभज्य न उक्तमित्याशङ्क्य आह

तच्च प्रकाशं वक्त्रस्थं सूचितं तु पदे पदे ।

अत्रैव विश्रान्तिः कार्येत्याह

तुर्ये विश्रान्तिराधेया मातृसद्भावसारिणि ॥ ३१ ॥

शक्तियों में परा, परापरा और अपरा शक्तियाँ भो आती हैं। ये सृष्टि, स्थिति और संहारात्मक परामर्शों को अपने अधिकार के आवरण में अर्थात् परिवेश में सम्पन्न करतीं और आत्मसात् करती रहती हैं।

एक दूसरा परामर्शात्मक उल्लास जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य और तुर्यातीत रूप में भो होता है। इसका एक और विचित्र परामर्श है। सुधीजन सृष्टि में तिरोधान का और संहार में अनुग्रह का अन्तर्भाव कर देते हैं। इस प्रकार सृष्टि, स्थिति और संहार तीनों अवस्थायें क्रमशः परापरा, परा और अपरामयी हो जाती हैं। एक चौथो अवस्था भी बचती है। वह महाप्रभावा मानो जाती है। शास्त्रकार उसे 'तुर्या' नाम से वर्णित करते हैं। यह मातृसद्भावमयो सर्वविश्रान्ति की अवस्था है। इस परामर्श का अनुसन्धान करने वाला साधक धन्य हो जाता है ॥ ३० ॥

प्रश्नकर्त्ता जिज्ञासु पूछता है—गुरुदेव ! यदि यह तुर्य हो विश्रान्ति स्थान है, तो इसका विभाजन पूर्वक वर्णन क्यों नहीं किया जा रहा है? शास्त्रकार इसका समाधान करते हुए कह रहे हैं कि,

वास्तविकता यह है कि, इसकी सूचना शास्त्र में पदे-पदे प्रदत्त है। आवश्यकता और अपेक्षा यह है कि, अध्येता इसे समझे। वह प्रकाश रूप है और सारी विश्रान्ति तुर्य प्रकाश रूप परमेश्वर में हो होती है। यह तुर्य प्रकाश वक्त्रस्थ है। 'वक्त्र' शब्द पारिभाषिक है। प्रसङ्गानुसार इसके

अत्र च विश्रान्त्या किं स्यादित्याशङ्क्य आह

तथास्य विश्वमाभाति स्वात्मतन्मयतां गतम् ।

आह्निकार्थमेव अर्धेन उपसंहरति

इत्येष शास्त्रार्थस्योक्त एकीकारो गुरूदितः ॥ ३२ ॥

इति शिवम् ॥ ३२ ॥

अनेक अर्थ हैं। सन्दर्भानुसार परनादर्भ विश्रान्तिधाम अथवा पञ्चवक्त्रात्मक उल्लास का मुख्य धाम माना जा सकता है। प्रकाश ही सर्वरूपों में रूपं रूपं प्रतिरूपता को प्राप्त हो रहा है। इसको सूचना अणु-अणु कण-कण से प्राप्त हो रही है। यही परम विश्रान्ति का धाम है—यह स्पष्ट कर रहे हैं—

शास्त्रकार कह रहे हैं कि, इसी तुर्यधाम में विश्रान्ति प्राप्त करनी चाहिये। यह साधना का चरम उद्देश्य है। इसमें शाश्वत मातृसद्भाव रहता है। यह मातृसद्भावसार धाम सर्वोत्तम विश्रान्ति स्थान माना गया है। इसमें विश्रान्ति प्राप्त कर क्या होता है, इसका सटीक उत्तर नहीं दिया जा सकता है। यह आन्तर अनुभूति की प्रकर्षात्मक अवस्था की परानन्दमयता होती है फिर भी शास्त्रकार अध्येताओं पर अनुग्रह कर इस स्थूल अनुभूति का उल्लेख कर रहे हैं, जिससे सरलता से आत्मसात् किया जा सके। वे कहते हैं कि, वहाँ क्या होता है, यह तो शिवशक्ति रूप परमतत्त्व ही जाने किन्तु यह साक्षात् अनुभव होने लगता है कि, यह सारा विश्व स्वात्मतादात्म्य को प्राप्त कर चुका है। यहाँ 'मदभिन्नमिदं सर्वं' की उक्ति चरितार्थ हो जाती है। अन्त में आह्निक का उपसंहार करते हुए कह रहे हैं कि, भगवान् गुरुदेव ने शास्त्रार्थ का रहस्य उद्घाटित करते हुए कहा था कि, वत्स! इसे एकीकार साधना की संज्ञा से विभूषित करना चाहिये। गुरूक्त एकीकार शास्त्रीय रहस्य दर्शन रूप है ॥ ३०-३२ ॥

परसंविवद्वयात्मकतत्त्वचक्रानुसन्धिबन्धुरितः ।
एतज्जयरथनामा व्यवृणोदिदमाह्निकं त्रयस्त्रिशम् ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तविरचिते
श्रीजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेते
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलिते
श्रीतन्त्रालोके एकीकारप्रकाशनं नाम
त्रयस्त्रिशमाह्निकम् समाप्तम् ॥ ३३ ॥
॥ शुभं भूयात् ॥

यह संविद् अद्वैत मय सर्वचक्र-विधि-सिद्ध ।
एकीकाराह्निक विवृत जयरथ द्वारा ऋद्ध ॥

\+ \+ \+

विमृश्य शास्त्रार्थरहस्यरीतीः, विधाय चर्यात्मकचक्रसिद्धिम् ।
वितस्य हंसेन शिवाक्षियुक्त त्रिशाह्निकं संविवृतं वरेण्यम् ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तविरचित
राजानकजयरथकृतविवेकव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक
भाषाभाष्य संवलित
श्रीतन्त्रालोक का
एकीकारप्रकाशप्रकाशन नामक तेतीसवाँ आह्निक
सम्पूर्ण ॥ ३३ ॥

●

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते
श्रीजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते
डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलिते

चतुस्त्रिंशमाह्निकम्

सुशिवः शिवाय भूयाद्भूयोभूयः सतां महानादः ।
यो बहिरुल्लसितोऽपि स्वस्माद्रूपान्न निष्क्रान्तः ॥

ननु यदि एक एव अयं चिदात्मा परमेश्वरः, तत् किमाणवाद्युपाय-वैचित्र्येणेत्याशङ्कां गर्भीकृत्य अत्रैव द्वारद्वारिकया प्रवेशमभिधातुं द्वितीयार्धेन उपक्रमते

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित
श्रीराजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेत

डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक

भाषा भाष्य संवलित

श्री तन्त्रालोक

का

चौंतीसवाँ आह्निक

शाश्वत परमविमर्श शिव, करे जगत-कल्याण ।
अप्रच्युत निजरूप से, बहिरुल्लसित प्रमाण ॥

उच्यतेऽथ स्वस्वरूपप्रवेशः क्रमसङ्गतः ।

तमेव आह

इस आह्निक के आरम्भ में शास्त्रकार के समक्ष एक जिज्ञासु अपनी जिज्ञासा की शान्ति के उद्देश्य से उपस्थित हुआ। बड़ी विनम्रता के साथ उसने कहा। भगवन्! हमने गुरुजनों से यह श्रवण किया है और यह विश्वास भी करता हूँ कि, चिदात्मा परमेश्वर एक ही है। ऐसी अवस्था में उसे उपलब्ध होने के लिये आणव आदि अनेकानेक उपायों की परिकल्पना का क्या कारण है? शास्त्रकार इस आशङ्का से प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा, वत्स! एक भवन में प्रवेश करने के लिये कई द्वार हों और भवन में प्रवेश सरल हो जाय, तो इसमें क्या विप्रतिपत्ति हो सकती है?

इसी सन्दर्भ को मन में रख कर शास्त्रकार इस स्वस्वरूप-प्रवेश प्रकाश नामक आह्निक का श्रीगणेश कर रहे हैं—

शास्त्रकार विगत आह्निक के अन्त में पूर्वार्द्ध को वहीं पूर्णकर यहाँ इस अर्धाली से इस आह्निक का आरम्भ करते हुए कह रहे हैं कि, मैं क्रमिक रूप से क्रम को सङ्गति पूर्वक स्वात्म स्वरूप, एक मात्र संविद्वपुष परमेश्वर में प्रवेश के सम्बन्ध में ही यहाँ शास्त्रीय सिद्धान्त का प्रख्यापन कर रहा हूँ।

१. आणवोपाय से शिवत्व में अनुप्रवेश—

अनेकानेक उपायों की चर्चा की जा चुकी है। इनमें से क्रमिक रूप से सर्वप्रथम आणव उपाय की स्थिति में प्रवेश का आख्यान कर रहे हैं—

शिवत्त्व की उपलब्धि के लिये सर्वप्रथम आणव उपाय अपनाने की बात शास्त्रों में निर्दिष्ट है।

आणव उपाय उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण और स्थान प्रकल्पन नामक पाँच प्रकार की साधनाओं के माध्यम से काम में लाया जाता है। इसका वर्णन आ० १।१७० में किया गया है। इन पाँचों प्रकार की प्रक्रियायें शिवताप्ति में सहायक होती हैं। यहाँ पर एक सुन्दर प्रक्रिया का प्रख्यापन

यदेतद्बहुधा प्रोक्तमाणवं शिवताप्तये ।
तत्रान्तरन्तराविश्य विश्राम्येत्सविधे पदे ॥ १ ॥
ततोऽप्याणवसत्यागाच्छाक्तीं भूमिमुपाश्रयेत् ।
ततोऽपि शाम्भवीमेवं तारतम्यक्रमात्स्फुटम् ॥ २ ॥

शास्त्रकार कर रहे हैं। उनका कहना है कि, इन पाँचों में एक दूसरे में आन्तर रूप से अन्तः प्रवेश की विधि अपनानी चाहिये। इस तरह अन्त में उपाय निरुपाय हो जाता है और शिवत्व उपलब्ध हो जाता है।

जैसे कोई प्राथमिक साधक समस्त भुवनाध्वा में स्थान प्रकल्पन के माध्यम से सर्वत्र सभी स्थानों पर परमात्म सत्ता की संभूति से स्वानुभूति की शून्यता को भर रहा है। उसको इस स्तर से भी ऊपर उठ कर वर्ण के अन्तराल में प्रवेश कर वर्णात्मक संभूति अनुभूति को आत्मसात् करना चाहिये। वर्ण साधना का स्तर पार कर करण रूप ऐन्द्रयिक अनभूतियों को पार कर प्राणापानवाह रूप उच्चार को सात्म करे और उसको आत्मसात् कर ध्यान में प्रवेश प्राप्त कर उसके आन्तर अन्तराल में विश्रान्ति प्राप्त करनी चाहिये। (तं० आ० ५।४१ द्वारा) ध्यान की सर्वातिशायिनी महत्ता आणव उपायों में मानी जाती है। इसके बाद ही शाक्तोपाय में प्रवेश होता है। इस प्रकार क्रमिक रूप से एक दूसरे में अन्तःविश्रान्ति की अनुभूतियों को आत्मसात् करते हुए अन्त में शिवत्त्व को उपलब्ध हो जाता है। इस तरह आणव समावेश के माध्यम से शिवत्व के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ १ ॥

२. **शाक्तोपाय द्वारा आन्तर अन्तराल में प्रवेश—**

आणवोपाय को भी साधक संत्यक्त कर देता है। आणवोपाय की सर्वोच्च दशा में प्राणापानवाह विधि सिद्ध हो जाती है। किन्तु उच्च श्रेणी का साधक इसका भी परित्याग कर देता है।

बहुधेति ध्यानोच्चारादिरूपतया । अन्तरन्तरिति यथा स्थानापेक्षया वर्णेषु, तदपेक्षया च करणादाविति । सविधे इति स्वस्वरूपस्य । तत इति स्वस्वरूपसविधवर्तिध्यानादिविश्रान्त्यनन्तरम् । आणवसंत्यागादिति ज्ञेयहाने हि ज्ञाने एव विश्रान्तिराधेयेति अभिप्रायः । ततोऽपीति शाक्तभूम्युपाश्रयानन्तरम्, विकल्पस्य हि निर्विकल्पे एव विश्रान्तिस्तत्त्वम् । शाम्भवीमिति अर्थात् भूमिम् । एवमिति यथोत्तरं विश्रान्त्या । स्फुटमिति स्वं स्वरूपं, भवतीति शेषः ॥

इस स्तर पर उच्चार की उपयोगिता क्षीण हो जाती है। अब साधक उच्चार को पार कर श्वासजित् बन जाता है। अब वह केवल चेतस् स्तर पर विराजमान होता है। चेतन पद से अवारूढ चेत्य का चिन्तन चित्त के स्तर पर होता है। यहाँ चिन्तन तो रहता है पर श्वास प्रक्रिया से ऊपर उठकर होता है। यह समझना सरल नहीं है कि, श्वासजित् साधक चेतस् द्वारा जिस वस्तु का चिन्तन करता है, वह कैसी स्थिति है? यह साधना और अनुभूति का विषय है। वहाँ एक समावेश भी होता है, जिसे शाक्त समावेश कहते हैं। यह शाक्ती भूमि होती है। इसे ज्ञानभूमि भी कहते हैं। आणव समावेश ज्ञेय भूमि होती है। ज्ञेय के बाद ही ज्ञान में प्रवेश हो सकता है। यह मध्यभूमि भी मानी जाती है।

३. शाम्भवी भूमि में प्रवेश—

किन्तु वही सर्वोच्च अवस्था नहीं है। उससे ऊपर उठने का निर्देश शास्त्र करता है। शास्त्रकार कहते हैं कि, 'ततोऽपि' अर्थात् शाक्ती भूमि के समाश्रयण के उपरान्त शाम्भवी नामक सर्वोच्च दशा में प्रवेश प्राप्त करना ही अन्तिम लक्ष्य होना चाहिये। शाक्ती भूमि कुछ भी हो, वस्तुतः वह वैकल्पिक भूमि होती है। चित्त ही विकल्पों का आधार है। विकल्पात्मकता का परित्याग आवश्यक माना जाता है। इससे ऊपर उठकर निर्विकल्प भूमि पर विश्रान्ति होनी चाहिये। यही चरम विश्रान्ति दशा होती है।

ननु एवं सति अस्य किं स्यादित्याशङ्क्य आह

इत्थं क्रमोदितविबोधमहामरीचि-

संपूरितप्रसरभैरवभावभागी ।

अन्तेऽभ्युपायनिरपेक्षतयैव नित्यं

स्वात्मानमाविशति गर्भितविश्वरूपम् ॥ ३ ॥

साधना यहाँ स्वयं धन्य हो जाती है और साधक शिव हो जाता है। इस भूमि की अकिञ्चित् चिन्तनात्मकता और प्रतिबोध की विशुद्धता सर्वोच्च स्तर की होती है ।

यह यथोत्तर विश्रान्ति का क्रम माना जाता है। इस क्रम में स्वाभाविक तारतम्य है। इस तारतम्य क्रम से आणव से शाक्ती और शाक्ती से शाम्भवी भूमिका में प्रवेश हो जाता है। इस अवस्था में स्वात्म शैवतादात्म्य-महाभाव का समावेश होता है। और साधक स्वात्मस्वरूप की स्फुटता में निरंश रूप से व्याप्त हो जाता है ॥ २ ॥

सामान्य स्तर के लोग इसे शाब्दिक रूप से भी अवगम करने में असमर्थ होते हैं। अर्थ में प्रवेश पाना और उसके अन्तर में समाहित हो जाना असामान्य श्रेणी के मनीषी पुरुषों की अधिकार सीमा में आता है। इसलिये यह पूछना कि, शाम्भवी विश्रान्ति को उपलब्ध साधक का इससे क्या होता है, प्रश्न ही निरर्थक हो जाता है फिर भी जिज्ञासु की जिज्ञासा की शान्ति के लिये शास्त्रकार कहते हैं कि,

इस प्रकार तारतम्य योग से एक ज्ञानात्मक प्रकाश का पुंज उदित होता है। वह इस सूरज से भी विलक्षण होता है। उसकी मङ्गलमरीचियाँ महत्त्वपूर्ण होती हैं। उनमें उष्णतादि दोषों का सर्वथा अभाव होता है। उनका प्रकाश फैलता ही जाता है, फैलता ही जाता है। महाप्रसरात्मक इस प्रकाश में भैरव भाव भरा होता है। साधक इस पूर्णतया संपूरित महाभैरव भाव का भागी बन जाता है। शैवाधिकार का हकदार हो जाता है।

अभ्युपायनिरपेक्षतयेति सकृद्देशनाद्यात्मकानुपायक्रमेणेत्यर्थः । अतश्च युक्तमुक्तं

'संवित्तिफलभेदोऽत्र न प्रकल्प्यो मनीषिभिः ।' इति ॥

एतदेव अर्धेन उपसंहरति

कथितोऽयं स्वस्वरूपप्रवेशः परमेष्ठिना ।

इति शिवम् ॥

अब उसे किसी आणव या शाक्त या अन्य किसी प्रकार के अभ्युपायों की आवश्यकता नहीं रह जाती । उपाय निरपेक्ष रूप से उसका भैरवमहाभाव में शाश्वत प्रवेश सिद्ध हो जाता है । जैसे अधिकारी को वर्जित क्षेत्र में भी नित्य प्रवेश का अधिकार होता है, उसी तरह स्वात्म संप्रवेश का उसे नित्य अधिकार प्राप्त होता है । उसकी सारी वर्जनायें समाप्त हो जाती हैं । विधि निषेध से वह ऊपर उठ जाता है । उसके स्वात्म में सारा विश्वप्रपञ्च उसी तरह समाहित हो जाता है, जैसे आद्य शैव-शाक्त स्पन्द में सतत समाहित रहता है । अब वह बीज भी होता है और वृक्ष भी । उसे शिव का साक्षात् विग्रह कहा जा सकता है । एक स्थान पर कहा गया है कि,

"मनीषियों द्वारा संवित्ति जनित फलभेद यहाँ प्रकल्पित नहीं करना चाहिये ।"

वस्तुतः संवित्ति विज्ञान के क्रिया कलापों में संस्कारानुसार फलवत्ता भी प्रस्फुरित होती है । जहाँ इसके लिये कोई अवकाश ही नहीं, वहाँ इसकी कल्पना भी व्यर्थ मानी जाती है ॥ ३ ॥

इस स्वस्वरूप प्रकाश नामक आह्निक का उपसंहार कर रहे हैं । इसमें उसी शैली का प्रयोग भी कर रहे हैं, जिसमें श्लोक की एक ही अर्धाली से विगत आह्निक उपसंहृत होते रहे हैं । दूसरी अर्धाली अगले आह्निक का आरम्भ करती है । इस तरह सूत्र में पिरोयी माला के समान सभी आह्निक

श्रीमद्गुरुवचनोदितसदुपायोपेयभावतत्त्वज्ञः ।
एतज्जयरथनामा व्याकृतवानाह्निकं चतुस्त्रिंशम् ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तविरचिते
श्रीजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेते
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलिते
श्रीतन्त्रालोके स्वस्वरूपप्रवेशप्रकाशनं नाम
चतुस्त्रिंशमाह्निकं समाप्तम् ॥ ३४ ॥
॥ शुभं भूयात् ॥

मिथः संग्रथित रहते हैं। शास्त्रकार की यह व्यक्तिगत स्वोपज्ञ शैली है, जिसका यहाँ भी उपयोग कर रहे हैं—

शास्त्रकार स्पष्ट घोषणा कर रहे हैं कि, यह स्वस्वरूपप्रवेशविधि मेरी स्वोपज्ञ उक्ति नहीं है। इसे मेरे परमेष्ठी गुरु ने या परमेष्ठी साक्षात् शिव विग्रह श्री शंभुनाथ ने या स्वयं शिव ने अभिहित किया है। उसी कथन को मैंने अपने शब्दों में यहाँ अभिव्यक्त किया है। इसमें ही मैं अपना प्रयास सफल मानता हूँ। संवित्ति फलभेद के प्रकल्पन की यहाँ कोई आवश्यकता ही नहीं है॥ इति शिवम् ॥

निखिलतत्त्व-तत्त्वज्ञ जय,
जयरथ, गुरु-अवदात।
चतुस्त्रिंश आह्निक, विशद
यह जिससे व्याख्यात ॥

\+ \+ \+

स्वस्वरूपप्रवेशस्य
विधौ सिद्धः समाहितः ।
चतुस्त्रिशाह्निकं व्याख्यात्
'हंसः' शंभ्वनुकम्पया ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्त विरचित
राजानक जयरथकृत विवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक
भाषाभाष्य संवलित
स्वस्वरूपप्रवेशप्रकाशननामक
श्री तन्त्रालोक का चौंतीसवाँ आह्निक
संपूर्ण ॥ ३४ ॥

●

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते

श्रीजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते

डॉ॰ परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलिते

पञ्चत्रिंशमाह्निकम्

यः किल तैस्तैर्भेदैरशेषमवतार्य मातृकासारम्।
शास्त्रं जगदुद्धर्ता जयति विभुः सर्ववित्कोपः॥

इदानीं सर्वशास्त्रैकवाक्यतावचनद्वारा द्वितीयार्धेन सर्वागमप्रामाण्यं प्रतिपादयितुं प्रतिजानीते

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित

राजानकजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत

डॉ॰ परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक

भाषाभाष्य संवलित

श्रीतान्त्रलोक

का

पैंतीसवाँ आह्निक

जगदुद्धारक 'कोप' विभु, जय सर्वज्ञ उदार।
जय व्यञ्जक बहु भेदमय, शास्त्र मातृका-सार॥

मालिनी विजयोत्तर तन्त्र ३।२४ में ३४ अरा-संवलित भगवच्चक्र का वर्णन मिलता है। इसमें से एक अन्तिम शक्तिमन्त अरा का नाम 'कोप' है। अपने

अथोच्यते समस्तानां शास्त्राणामिह मेलनम् ।

तत्र आगमस्यैव तावत् साधारण्येन लक्षणमाह

इह तावत्समस्तोऽयं व्यवहारः पुरातनः ॥ १ ॥

प्रसिद्धिमनुसन्धाय सैव चागम उच्यते ।

मङ्गल श्लोक में आचार्य जयरथ ने उसी 'कोप' नामक शिव रूप 'कोप' की प्रार्थना की है। इससे यह संकेतित है कि,'कोप' नामक शिव से एक वागात्मक विक्षोभ हुआ और वाङ्मय की विविध भेदमयी धारायें शास्त्रों के रूप में व्यक्त हो गयीं। इन शास्त्रों को इसी आधार पर मातृका सार कहते हैं। मातृका का रहस्य रूप तत्त्वदर्शन इन शास्त्रों में प्रतिपादित है। मातृका ही उनकी उत्स है।

इन शास्त्रों में ज्ञान का निरंश प्रकाश विभिन्न स्तरों पर प्रकाशित है। उसी से जगत् का उद्धार होता है। मातृकामूल होने के कारण इनका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है। यहाँ शास्त्रकार वही कह रहे हैं—

शास्त्र अनन्त हैं। उनमें प्रतिपादित ज्ञान अनन्त है। इस आनन्त्य का थाह लगाना भी कठिन और इनके ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशमान होना भी कठिन है। इस अवस्था में सारे शास्त्रों में प्रतिपादित रहस्य ज्ञान का मेलन एक ऐसा मध्यममार्ग है, जिससे शास्त्रों के रहस्य जानने का सौविध्य प्राप्त हो सकता है।

शास्त्रकार कह रहे हैं कि, यहाँ मेरे द्वारा वही कहा जा रहा है।

शास्त्र मेलन के सन्दर्भ में सर्वप्रथम आगम का ही सामान्य लक्षण लक्षित कर रहे हैं—

यहाँ शास्त्रकार के समक्ष मुख्य रूप से शास्त्रों की एक विशाल परम्परा है, प्रसिद्धि है और पुरातन शाश्वतता है। इन तीनों दृष्टियों से आगम में अन्तर्निहित सत्य को अभिव्यक्त करना है और उसे परिभाषित करना

इह तावत् पुरातनीं प्रसिद्धयन्तरानुन्मूलितत्वेन चिरतरं प्ररूढां प्रसिद्धिमनुसन्धाय समस्तोऽयं व्यवहारः सर्वं एव तथा व्यवहरन्तीत्यर्थः। सैव च प्रसिद्धिरागम उच्यते तच्छब्दव्यवहार्या भवेदित्यर्थः। यदुक्तं

'प्रसिद्धिरागमो लोके ....। इति ॥ १ ॥

ननु

'पश्यन्नेकमदृष्टस्य दर्शने तददर्शने ।
अपश्यन्कार्यमन्वेति विनाप्याख्यातृभिर्जनः ॥'

है। मनुष्य का लौकिक जीवन व्यवहार पर निर्भर करता है। व्यवहार की पद्धति एक दो दिन में नहीं बनती। इसके बनने में, इसका सामाजिक समरस रूप बनने में सदियों का समय बीत जाता है। ऐसे व्यवहार पुरातन व्यवहार कहलाते हैं। इसमें कुछ विशिष्ट व्यवहार प्रसिद्धि का रूप ले लेते हैं। ये कभी टूटते नहीं, शाश्वत हो जाते हैं और प्रसिद्ध अर्थात् विशेष रूप से गतिशील रहते हैं। परम्परा से निरन्तरता की अजस्रता में गतिशील रहते हुए आते हैं और अन्त तक गमनशील रहते हैं। अनुन्मीलित रहते हैं।

लोक प्रचलित इस प्रकार की प्रसिद्धि का अनुसन्धान सारा समाज करता है। इसी पर सारा व्यवहार चलता है। पुरातन से आने के कारण हम इसे पुरातन व्यवहार कहते हैं। जिसका क्रमिक अनुसन्धान कर व्यवहार संचालन करते हैं, उसे प्रसिद्धि कहते हैं और प्रसिद्धि ही आगम कहलाती है। यह आगम का अन्तर्निहित अर्थ है। इस तथ्य को एक स्थान पर कहा गया है—

'प्रसिद्धिरागमो लोके' अर्थात् लोक में प्रसिद्धि को ही आगम कहते हैं। इस उक्ति से भी इसका समर्थन हो रहा है ॥ १ ॥

जिज्ञासु इस परिभाषा से सन्तुष्ट नहीं हो सका। उसके सामने एक नयी कल्पना है। वह यह निर्णय नहीं कर पा रहा है कि, सत्य क्या है? वह एक आगम की उक्ति प्रस्तुत कर रहा है। उसके अनुसार—

इत्यादिनयेन अन्वयव्यतिरेकाभ्यां साध्यसाधनभावमवगम्य सर्वे एव व्यवहर्तारस्तथा तथा व्यवहरन्तीति प्रसिद्धिमनुसन्धाय सर्वोऽपि अयं व्यवहार इति किमुक्तमित्याशङ्क्य आह

अन्वयव्यतिरेकौ हि प्रसिद्धेरुपजीवकौ ॥ २ ॥
स्वायत्तत्त्वे तयोर्व्यक्तिपूगे किं स्यात्तयोर्गतिः ।

"एक अदृष्ट घटित होता है। उसको घटित होते हुए सभी देख रहे हैं। पुनः उसका अदर्शन हो जाता है। घटित होने की अवस्था में उससे कुछ कार्य अन्वित हुए थे। अब उसके न रहने पर भी अर्थात् विना देखे भी विना किसी के कुछ भी कहे, कार्य की अन्विति हो रही होती है। न इसमें ख्याति की और न आख्याता की अपेक्षा होती या रहती है। जनता अपना काम कर लेती है और व्यवहार अन्वित हो जाता है।"

इस नियम के अनुसार क्या माना जाय ?

इस सन्दर्भ में पर्याप्त विचार की आवश्यकता है। जिज्ञासा की शान्ति के लिये यहाँ न्याय प्रक्रिया का आश्रय लेना उचित है। इसी प्रक्रिया से वस्तु तत्त्व का निगमन होता है। व्यवहार पर पूर्व श्लोक में चर्चा की गयी है। व्यवहार करने वाले व्यवहार के पहले किस बात पर ध्यान देते हैं? आचार्य जयरथ कहते हैं कि, वे साध्यसाधनभाव का अवगम करने के उपरान्त ही व्यवहार करते हैं। यह साध्यसाधन भाव क्या है ? इसका अवगम कैसे होता है ? इसका उत्तर न्याय शास्त्र देता है। न्याय कहता है कि, अन्वय और व्यतिरेक दृष्टि से विचार करने पर इसका निर्णय होता है। उसी के आधार पर व्यवहार होता है, इस कथन का आधार क्या है ? इसका समाधान शास्त्रकार कर रहे हैं कि,

अन्वय और व्यतिरेक दोनों व्यवहार के स्वतन्त्र निर्णायक नहीं होते। व्यवहार तो प्रसिद्धि के आधार पर ही होते हैं। अन्वय और व्यतिरेक

प्रसिद्धे हि वस्तुनि अन्वयव्यतिरेकयोः साध्यसाधनसम्बन्धाधिगम-निबन्धनत्वं भवेत्, अन्यथा स्वातन्त्र्येण तावेव यदि निश्चायकौ स्यातां, तत् प्रतिव्यक्तिभावित्वादेकैकविषयाश्रयस्ताभ्यामविनाभावावसायः स्यात्, नच

दोनों प्रसिद्धि के ही उपजीवक अर्थात् आश्रित हैं। ये स्वतन्त्र नहीं होते। उनकी स्वायत्तता स्वीकार्य नहीं है। अन्यथा व्यक्तियों के समूहरूपो समाज के व्यवहारों में बड़ा अन्तर पड़ जायेगा। इसको समझना आवश्यक है। इसके लिये प्रसिद्धि, अन्वय-व्यतिरेक, साध्यसाधन का अधिगम, प्रतिव्यक्ति भावित्व एकैकविषयाश्रय और अविनाभावावसाय शब्दों को समझना चाहिये।

१. प्रसिद्धि—प्रसिद्धि का अनुसन्धान कर सारा लोक व्यवहार संचालित होता है। प्रसिद्धि को ही आगम कहते हैं। यह शाश्वत चलती है। बीच में टूटती नहीं है।

२. अन्वय व्यतिरेक—जहाँ-जहाँ धुँआ उठता है, वहाँ वहाँ आग होती है। यह अन्वय दृष्टि है। जहाँ-जहाँ धुँआ नहीं होता, आग नहीं होती। यह व्यतिरेक दृष्टि है। ये प्रसिद्धि के आश्रित हैं।

३. साध्यसाधनाधिगम—पात्र साध्य है। कुम्हार साधक है। चक्र, चीवर और दण्ड आदि साधन हैं। इनका अधिगम अन्वय व्यतिरेक दृष्टि से होता है। अर्थात् अधिगम के ये दोनों साधन हैं। शिव साध्य या मोक्ष हैं। भक्त साधक है। उपासना और साधना साधन हैं। उपासना होती है तो मोक्ष मिलता है। नहीं होती तो मुक्ति नहीं होती। यह अन्वय व्यतिरेक प्रयोग है। ये दोनों मुक्तिरूपी प्रसिद्धि के उपजीवक हैं।

४. प्रतिव्यक्ति भावित्व—व्यक्ति समाज की इकाई होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने काम में संलग्न है। व्यक्ति है, तो कार्य है। नहीं है तो नहीं। यह अन्वय व्यतिरेक दृष्टि है।

५. एकैकविषयाश्रय—प्रतिव्यक्ति पर यह दृष्टि आश्रित होती है। यहाँ भी अन्वय व्यतिरेक दृष्टि है और व्यवहारानुसार होती है।

एवमिति तत्रापि प्रसिद्धिरेव मूलम् । तथा च धूमे दहनान्वयव्यतिरेकानुवर्तिनि तद्विशेषाः पाण्डिमादयस्तथाभावेऽपि प्रसिद्ध्यभावादविनाभावितया अनु-सन्धातुं न शक्यन्ते इति ॥ २ ॥

---

६. **अविनाभावावसाय**—बीज से वृक्ष होता है । यहाँ अविनाभाव दृष्टि है । विना बीज के वृक्ष नहीं होता । अवसाय अर्थात् इसमें निश्चय होता है ।

इस सन्दर्भ में पूरी कारिका का अर्थ है कि, अन्वय और व्यतिरेक प्रसिद्धि के आश्रित होते हैं । प्रसिद्धि उपजीव्य है और अन्वय व्यतिरेक उपजीवक । इसमें स्वायत्तता नहीं होती । इसको स्वायत्त मानने पर अर्थात् व्यवहार का निश्चायक मानने पर व्यक्ति-व्यक्ति के व्यवहार में कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है ।

जैसे प्रतिव्यक्ति व्यवहारवाद का आश्रय लेता है । यह व्यवहार एक-एक व्यक्ति पर आश्रित होता है । यदि अन्वय की दृष्टि से देंखे, तो यह प्रयोग करेंगे कि, यह पुरुष जहाँ जहाँ है, वहाँ वहाँ मोक्ष है । वह नहीं है, तो मोक्ष नहीं है । क्या यह प्रयोग सत्य पर आश्रित माना जा सकता है ? यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि, विना उन व्यक्तियों के मोक्ष नहीं हो सकता । यह अवसाय अर्थात् निश्चय होने लगेगा ।

वास्तविक दृष्टि से विचार करने पर यह बात स्वयं बेतुकी लगती है । मोक्ष किसी व्यक्ति विशेष पर निर्भर नहीं होता । इसमें प्रसिद्धि मूल कारण है । जितने लोग सच्ची उपासना और साधना करते हैं, उनको मोक्ष उपलब्ध होता है, यह प्रसिद्ध सत्य है । यह पुरातन शाश्वतिक व्यवहार शास्त्र पर आश्रित सत्य है । यहाँ अन्वय और व्यतिरेक प्रसिद्धि रूप उपजीव्य के उपजीवक सिद्ध हो जाते हैं । इनको किसी व्यवहार का निश्चायक नहीं माना जा सकता ।

न केवलमनुमाने एव प्रसिद्धिर्निबन्धनं, यावत् प्रत्यक्षेऽपीत्याह

प्रत्यक्षमपि नेत्रात्मदीपार्थादिविशेषजम् ।। ३।।
अपेक्षते तत्र मूले प्रसिद्धिं तां तथात्मिकाम् ।

इन्द्रियादिसामग्रीजन्यं प्रत्यक्षमपि तत्र इन्द्रियादिरूपे मूले तथात्मिकां ताद्रूप्यावमर्शमयीं तां सर्वव्यवहारनिबन्धनभूतां प्रसिद्धिमपेक्षते तांविना इन्द्रियादिप्रेरणाभावे न किञ्चित् सिध्येदित्यर्थः ॥ ३ ॥

जहाँ तक धूम और अग्नि के साथ अन्वय व्यतिरेक के प्रयोग का प्रश्न है, प्रसिद्धि के अभाव में इनके विशेष स्वरूप अविनाभाव को दृष्टि से अनुसन्धान के विषय नहीं बनाये जा सकते। जैसे अग्निविशेषरूप पाण्डिमा आदि। पाण्डिमा भी प्रसिद्धि पर ही निर्भर है ॥ २ ॥

प्रसिद्धि का यह निबन्धन केवल अनुमान में ही नहीं वरन् प्रत्यक्ष में भी होता है। यही कह रहे हैं—

इन्द्रियों की सामग्र्य-रूपता से उपलब्ध ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। आँख से रूप दर्शन करते हैं। इसे चाक्षुष प्रत्यक्ष कहते हैं। इसी तरह स्पार्श आदि प्रत्यक्ष भी व्यवहार में प्रचलित हैं। दीप रूपवान् वस्तु के साक्षात्कार में सहायक है। इस तरह चक्षु इन्द्रिय द्वारा इन्द्रियार्थ और दीप आदि के साहचर्य से प्रतिफलित रूप-दर्शन भी सामग्रीवाद का ही उदाहरण सिद्ध हो जाता है। यह सामग्रीजन्य साक्षात्कार किसी अन्वय व्यतिरेक द्वारा नहीं वरन् प्रसिद्धि का अनुसन्धान करने पर ही होता है। चक्षु इन्द्रिय रूप का ही दर्शन करती है। चाहे वस्तुरूप का प्रतिबिम्ब आँख के दर्पण में पड़े या इन्द्रिय शक्ति रश्मियाँ उसे स्वयम् अपने परिवेश में ले लें। इन विवादों से ऊपर उठकर ताद्रूप्य परामर्शमयी और समस्त व्यवहारवाद की आधारभूत प्रसिद्धि का अनुसन्धान ही मोक्ष-साक्षात्कार का कारण है, यह ध्रुव सत्य तथ्य है।

एतदेव व्यतिरेकद्वारेण व्यनक्ति

अभितःसंवृते जात एकाकी क्षुधितः शिशुः ॥ ४ ॥

किं करोतु किमादत्तां केन पश्यतु किं व्रजेत् ।

तदहर्जातो हि बालः सर्वतो नानाविधार्थसार्थसंवलिते स्थाने क्षुधितः साकाङ्क्षोऽपि एकाकी अप्राप्तपरोपदेशः किं करोतु विना स्वावमर्शात्मिकां प्रसिद्धिं नियतविषयहानादानव्यवहारो बालस्य न स्यादित्यर्थः ॥

इन्द्रियादि रूप के मूल में ताद्रूप्य के अवमर्श वाली सर्व-व्यवहार-निबन्धनभूता प्रसिद्धि की अपेक्षा प्रत्यक्ष करता है। उस प्रसिद्धि के अभाव में इन्द्रियादि में प्रेरणा का अभाव होगा। फलतः कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकेगा।

वह प्रसिद्धि ही मूल में उल्लसित है। वही सर्व व्यवहार प्रेरिका है। यह कह सकते हैं कि, वही इन्द्रिय व्यापार की भी मूल प्रेरिका है। प्रसिद्धि के इन्द्रियादि द्वारा प्रेरणा के अभाव में किसी तथ्य की सिद्धि नहीं हो सकती। यह निश्चय है ॥ ३ ॥

इस वास्तविकता को व्यतिरेक दृष्टि की कसौटी पर कस रहे हैं—

शास्त्रकार अध्येता के समक्ष एक शब्द चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं। एक अबोध शिशु है। आज ही धरा धाम पर उसका अवतरण हुआ है। हाथ-पाँव मार रहा है। इधर उसे भूख भी सताने लगी है। कोई वहाँ उसे सान्त्वना देने वाला भी नहीं। कक्ष चारों ओर से बन्द है। कमरा सुसज्जित है। सारी वस्तुयें उसमें भरी हुई हैं। उसे कोई दिशा निर्देश देने वाला नहीं है। वह रो रहा है। रोते-रोते थक भी गया है। भूख भी बढ़ गया है। वह ऐसी दशा में करे भी तो क्या करे? निरीह है। संसार के संकेतों से भी अपरिचित हैं। वह क्या करे, क्या ग्रहण करे, किसके द्वारा पथ प्रदर्शित हो? कहाँ जाये?

न अत्र अन्यथासिद्धेः प्रसिद्धिरुपयुज्यते इत्याह

ननु वस्तुशताकीर्णे स्थानेऽप्यस्य यदेव हि ॥ ५ ॥

पश्यतो जिघ्रतो वापि स्पृशतः संप्रसीदति ।

चेतस्तदेवादाय द्राक् सोऽन्वयव्यतिरेकभाक् ॥ ६ ॥

ऐसी दशा में उसमें क्या कोई स्वतः आमर्श स्पन्दित हो रहा होता है ? स्वावमर्श के विना वह कुछ कर भी नहीं सकता। वस्तुतः स्वावमर्श ही प्रसिद्धि है। स्वावमर्श ही प्रेरक होता है। स्वावमर्श से ही कोई भी प्राणी यह निश्चय करता है कि, हमें इस पदार्थ का परित्याग करना चाहिये या अमुक पदार्थ का ग्रहण करना चाहिये। यह त्याग और ग्रहण रूप विश्व-व्यवहार जिस प्रेरणा से प्रसूत होता है, वही प्रसिद्धि है। यही स्वावमर्श है। इसके विना कोई कुछ नहीं कर सकता। अर्थात् प्रसिद्धि नहीं तो व्यवहार भी नहीं। यही व्यतिरेक दृष्टि यहाँ प्रदर्शित है। स्वावमर्श में ही प्रसिद्धि की चरितार्थकता समाहित है ॥ ४ ॥

जिज्ञासु अन्यथा सिद्धि और प्रसिद्धि का अन्तर नहीं समझता। न्याय शास्त्रीय सामान्य ज्ञान के आधार पर वह प्रसिद्धि की उपयोगिता को आँकना चाहता है। वस्तुतः अन्यथा सिद्धि असिद्धि को ही एक प्रकार होती है। असिद्धि के कारण ही हेत्वाभास होता है।

असिद्धि के ही तीन प्रकार होते हैं। १. अन्यथासिद्धि, २. आश्रया-सिद्धि और ३. व्याप्यत्वासिद्धि। जहाँ हेतु में साध्यधर्म की व्याप्ति असिद्ध है, वहाँ अन्यथासिद्धि होती है। न्याय शास्त्र में कहा गया है—'अन्यथा सिद्धः सोपाधित्वम्' यह सब शास्त्रार्थ का विषय है। इसके आकाश कुसुम आदि उदाहरण दिये जाते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में चेतः प्रसाद रूप हेतु को लिया जा सकता है। यह पक्ष सर्वथा अमान्य है—

तदहर्जातस्य हि बालस्य प्राथमिक्यां प्रवृत्तौ वस्तुशताकीर्णेऽपि स्थाने यदेव चक्षुरादिगोचरतामुपगतं सत् चेतः प्रसादाधायि, यदेव आदेयमर्थादितरत्तु हेयम्। अनन्तरं तु द्राक् पौनः पुन्येन असावन्वयव्यतिरेकभागभ्यासातिशयोपनतोऽन्वयव्यतिरेकमूलोऽस्य व्यवहार इत्यर्थः ॥ ६ ॥

ननु चेतः प्रसादोऽपि कुतस्त्य इति साक्रोशमुपदिशति

हन्त चेतःप्रसादोऽपि योऽसावर्थविशेषगः।
सोऽपि प्राग्वासनारूपविमर्शपरिकल्पितः ॥ ७ ॥
न प्रत्यक्षानुमानादिबाह्यमानप्रसादजः।

शास्त्रकार कहते हैं कि, कक्ष शताधिक वस्तुओं से भरा हुआ है। उस स्थान पर वह अर्भक किसी वस्तु को देखता है, किसी को उठाकर सूंघता है, किसी का स्पर्श करता है और किसी को मुँह में डालकर अभिनव अनुभव करता है। इस क्रिया में उसका मन प्रसन्न भी हो जाता है। इस चेतः प्रसाद की प्रक्रिया में वह अन्वय व्यतिरेक भाव-जन्य हान और आदान से निर्णायक स्थिति पर पहुँचता है। यह कथन बालबुद्धि का ही परिचायक है ॥ ५-६ ॥

चेतः प्रसाद की इस मान्यता को अमान्य करते हुए शास्त्रकार अपना आक्रोश इस प्रकार व्यक्त कर रहे हैं—

हन्त ! यह सोचने की बात है कि, यह चेतःप्रसाद होता कैसे है ? यह सामान्यतया जानने की बात है कि, अर्थ अर्थात् वहाँ स्थित वस्तुओं की विशेषता को अनुभूति के उपरान्त हो उसको चेतःप्रसाद हुआ। यह भाव सामान्य भाव नहीं अपितु प्राग्वासना रूप विमर्श से ही परिकल्पित होता है। इसे प्रत्यक्ष या अनुमान आदि बाह्य प्रमाणों पर आधारित नहीं माना जा सकता। जो विषय जैसा है, उसे उसी रूप में अनुभव करना देखना सुनना, संघना आदि यथार्थ प्रत्यक्ष है। अनुमान में, व्याप्ति का ज्ञान,

ननु चेतःप्रसादो हि तत्कालोल्लसितविमर्शरूपं प्रतिभामात्रमिति प्राग्वासनारूपेण विमर्शेन परिकल्पित इति किमुक्तमित्याशङ्क्य आह

प्राग्वासनोपजीव्येतत् प्रतिभामात्रमेव न ॥ ८ ॥

न मृदभ्यवहारेच्छा पुंसो बालस्य जायते ।

परामर्श आदि के आधार अनुमिति करते हैं। वही अनुमान होता है। इसी लिये परामर्श जन्य ज्ञान को अनुमिति कहते हैं। यह प्रत्यक्षीकरण और यह अनुमिति व्यापार दोनों ठोस और सामने उपस्थित पदार्थों के आधार पर होते हैं। न्यायशास्त्रीय परामर्श भी स्थूल परामर्श होता है। इसीलिये व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान को ही परामर्श मानते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त प्राग्वासनारूप विमर्श का स्वरूप इस द्रव्यात्मक परामर्श के स्तर के बहुत ऊपर है। शास्त्रकार ने प्रत्यक्षानुमानादि बाह्यमान प्रसाद से अनुत्पन्न चेतःप्रसाद को समझने के लिये प्राग्वासनात्मक विमर्श की ओर जिज्ञासु का ध्यान आकृष्ट किया है ॥ ७ ॥

फिर भी जिज्ञासु ऐसा है, जो समझने के लिये तैयार ही नहीं है। वह कहता है कि, गुरुदेव! चेतः प्रसाद भी तत्काल उल्लसित अर्थात् उसी समय उत्पन्न विमर्श रूप ही माना जा सकता है। यह उसको विमर्शात्मक प्रतिभा का ही एक स्वरूप है। आप यहाँ प्राग्वासना अर्थात् संस्कारों के प्रभाव से उत्पन्न विमर्श की बात कह रहे हैं। यह समझ से परे की बात लगती है। कृपया इसे स्पष्ट करें। इस जिज्ञासा की शान्ति के लिये शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

यह चित्त की प्रसन्नता जिसे आप चेतः प्रसाद की संज्ञा से विभूषित कर रहे हैं, भी प्राग्वासना के आधार पर ही निर्भर करता है। इसे आकस्मिक प्रतिभा मात्र नहीं कहा जा सकता। एक उदाहरण द्वारा यह समझा जा सकता है। वही बालक जब कुछ बड़ा हो जाता है, तो उसे

एतत् चेतः प्रसन्नत्वं प्राग्वासनानुरोधि एव न पुनराकस्मिकं प्रतिभा-मात्रम्। एवं हि पुंसः कथञ्चिद्वृद्धिमुपेयुषो बालस्य स्तन्यादिवत् तत्त्वानभि-सन्धानेन मृदभ्यवहारेच्छापि स्यात्, नच एवमिति अत्र विमर्शात्मा प्राग्वास-नैव मूलम्। यत्तु बालादेर्मृद्भक्षणं, तत् जिघत्सामात्रपरिकल्पितमिति न कश्चित् दोषः ॥ ८ ॥

ननु भवतु नाम विमर्शरूपप्राग्वासनापरिकल्पितश्चेतः प्रसादः, तावता तु प्रसिद्धेः कोऽवकाश इत्याशङ्क्य आह

मिट्टी खाने की आदत पड़ जाती है। उसे यह नहीं सूझता कि, यह स्तन्य की तरह तत्त्वतः स्वास्थ्य वर्द्धक नहीं है। इस तथ्य का अनुसन्धान भी नहीं होता। वह उसकी आकस्मिक प्रतिभा नहीं मानी जाती वरन सूँघने की सोंधी महक का आकर्षण मात्र होती है। उसमें कोई दोष नहीं होता। इसी को दूसरी तरह भी समझ सकते हैं। बालक दूध पीता है। जन्म लेते ही स्तन में मुँह लगा कर वह दूध पीना शुरू कर देता है। यह उसकी प्राग्वासना पर आधारित प्रक्रिया है। आकस्मिक प्रतिभा नहीं। यदि उसको मात्र आकस्मिक इच्छा मानेंगे, ता यह पुरुषों में बालक की तरह जैसे तत्त्व का अनुसन्धान किये बिना दूध पीने लगता है, उसी तरह मिट्टी खाने की इच्छा भी तत्त्वानुसन्धान किये बिना होने लगेगी। ऐसा होता नहीं। इसलिये सिद्धान्त रूप से यह स्वीकार किया जा सकता है कि, प्रत्यक्षानु-मानादि बाह्यमानों के प्रसाद से उत्पन्न यह कोई अन्वय व्यतिरेक जन्य व्यवहार नहीं, अपितु सारे व्यवहारों में मूलरूप से विद्यमान प्राग्वासना ही है। यह विमर्श मयी है। यही प्रसिद्धि है ॥ ८ ॥

प्रश्न का यहाँ अन्त नहीं होता अपितु एक नयी जिज्ञासा का उदय हो जाता है। जिज्ञासु कहता है कि, जहाँ तक विमर्शमयी प्राग्वासना परिकल्पित चेतः प्रसाद की बात है, यह समझ में आती है। किन्तु प्राग्वासना में प्रसिद्धि के प्रवेश को कहाँ अवकाश मिल गया? कृपया इसे स्पष्ट करें। इसी आशङ्का का उपशमन शास्त्रकार कर रहे हैं कि,

प्राग्वासनोपजीवो चेद्विमर्शः सा च वासना ॥ ९ ॥

प्राच्या चेदागता सेयं प्रसिद्धिः पौर्वकालिकी।

ननु यदि प्राग्वासनैव चेतःप्रसादस्य निबन्धनं, साच प्राच्या वासना यदि विमर्श एव; तत् सा इयमागता पौर्वकालिकी प्रसिद्धिः इदमेव अस्यास्तात्त्विकं रूपमित्यर्थः। यदुक्तं

'विमर्श आगमः सा सा प्रसिद्धिरविगीतिका।' इति ॥ ९ ॥

प्राग्वासना अर्थात् जीव के साथ संस्कार रूप से लगी हुई स्वभावगत संस्क्रियात्मक भावना जीव के साथ जन्म लेते ही अपना कार्य करने लगती है। यह पौर्वकालिकी होती है। यहाँ यह पूछना अब व्यर्थ हो जाता है कि, यदि प्राग्वासना ही चेतः प्रसाद को भी निबन्धन, कारण या हेतु है और वह प्राच्या वासना ही विमर्श है, तो वासना और विमर्श में प्रसिद्धि कहाँ से आती है? प्रसिद्धि कहीं से आती नहीं वरन् वही विमर्शमयी पौर्वकालिकी वासना ही प्रसिद्धि कहलाती है। यही प्रसिद्धि का तात्त्विक स्वरूप है। कहा भी गया है—

"विमर्श ही आगम है। सा अर्थात् प्राग्वासना ही विमर्श रूप से उच्छलित होती है। वही आगम भी कहलाती है और वही 'प्रसिद्धि' संज्ञा से विभूषित भी होती है"।

यहाँ प्रसिद्धि का पूरा रूप निखर कर सामने आता है। विमर्शमयी पौर्व कालिकी प्राग्वासना को ही वाक्यपदीयकार ने 'विवर्त्तेत अर्थभावेन' शब्द से अभिव्यवहृत किया है। इसी के साथ ब्रह्मकाण्ड १६ के अनुसार यथागमं कह कर मान्य भी किया है। किन्तु यह वैयाकरण परिपाटी में आगम का व्यवहार है और त्रिक प्रक्रिया में यह आगम ही प्रसिद्धि है। यह निश्चय हो जाता है ॥ ९ ॥

ननु किं प्रसिद्धया, चेतःप्रसादमात्रनिबन्धन एव अस्तु व्यवहार इत्याशङ्क्य आह

नच चेतःप्रसत्त्यैव सर्वो व्यवहृतिक्रमः ॥ १० ॥

मूलं प्रसिद्धिस्तन्मानं सर्वत्रैवेति गृह्यताम् ।

नहि चेतःप्रसादमात्रेण सर्वो हानादानाद्यात्मा व्यवहारः सिद्धयेत् तथात्वे हानादेरनिर्वाहात् । तत् सर्वत्र हानादानाद्यात्मनि व्यवहारे मूलभूता प्रसिद्धिरेव प्रमाणमिति गृह्यतां हठायातमेतदित्यर्थः । यदाहुः

स्वभावतः व्यक्ति अपनी जिज्ञासा की शान्ति के लिये गुरुजनों के समक्ष अपनी शङ्का रखता ही है। उसका समाधान होता है। यहाँ भी जिज्ञासु पूछता है, गुरुदेव ! इस प्रसिद्धि से क्या लेना देना ? चेतः प्रसाद को ही व्यवहार का आधार मान लेने में क्या हर्ज है ? चित्त की प्रसन्नता का जीवन में अत्यन्त महत्त्व है। इसे ही आप व्यवहार का कारण क्यों नहीं मानते ?

शास्त्रकार कहते हैं कि, वत्स ! यह कथन सत्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। सारा व्यवहार चित्त की प्रसन्नता के कारण नहीं चलाया जा सकता। व्यवहार में मूलतः हेयोपादेय दृष्टि का बड़ा महत्त्व है। कभी कभी दैववश हेयपदार्थ में भी चित्त प्रसन्न होता है। अतः चित्तप्रसन्न रहने से हेय व्यवहार नहीं किया जा सकता। इस से हान और आदान इन दोनों का निर्वाह नहीं हो सकता।

इसलिये क्या छोड़ना चाहिये और क्या व्यवहार में स्वीकार करना चाहिये, इन दोनों सच्चाइयों को अपनाकर ही सारा व्यवहृति क्रम सम्पन्न करना पड़ता है। इसमें प्रसिद्धि को ही महत्त्व देना चाहिये। वही मौलिक व्यवहार निबन्धिका मानी जाती है। शास्त्रकार एक तरह का स्निग्ध दबाव देते हुए अनुशास्ता की तरह कह रहे हैं कि, इस प्रसिद्धि सम्बन्धी

'सजातीयप्रसिद्ध्यैव सर्वो व्यवहृतिक्रमः।
सर्वस्याद्यो वासनापि प्रसिद्धिः प्राक्तनी स्थिता ॥' इति ॥ १० ॥

ननु पूर्वपूर्ववृद्धोपजीवनजीवित एव सर्वो व्यवहार इति स्थितम्। नच इयमनवस्था मूलक्षतिकारिणीति किं प्रसिद्धिनिबन्धनेत्याशङ्क्य आह

पूर्वपूर्वोपजीवित्वमार्गणे सा क्वचित्स्वयम् ॥ ११ ॥

सर्वज्ञरूपे ह्येकस्मिन्निःशङ्कं भासते पुरा।

पूर्वपूर्वोपजीवनमार्गणेऽपि सा प्रसिद्धिः कस्मिंश्चिदेकस्मिन् सर्वज्ञे पुरा परारूपायां प्राथमिक्यां भूमौ स्वयमनन्यापेक्षत्वेन निःशङ्कं सौक्ष्म्यादनुन्मिषिता भासते परापरामर्शात्मना प्रस्फुरतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

तथ्य को गाँठ बाँध लीजिये। इस हठात् आने वाली प्राग्वासना के विमर्शात्मक महत्त्व को ही ग्रहण कीजिये।

आगमिक आप्त पुरुष कहते हैं कि,

"साजातीय प्रसिद्धि से ही सारा व्यवहार क्रम परिचालित होता है। सब के आदि में संस्कार में समायी हुई वासना ही प्रसिद्धि बन कर आती है। पौर्व कालिकी वासना ही प्रसिद्धि कहलाती है।"

इस कथन से यह प्रमाणित हो जाता है कि, व्यवहारवाद में प्रसिद्धि ही एक मात्र निबन्धन होती है ॥ १० ॥

व्यवहार वृद्धजनों के आदर्श आचार को प्रमाण मानकर भी चलता है। जिस वृद्ध को या आप्त को हम आदर्श मानते हैं, उन्होंने किसी वृद्ध के आदर्श को देखा, सुना और समझा होगा। उनसे भी पहले और उनसे भी पहले इस तरह पूर्व पूर्व वृद्ध व्यवहारों पर आश्रित यह व्यवहारवाद है। यह सिद्ध होता है। इसमें किसी प्रकार की मूल मान्यता को ही क्षति पहुँचाने वाली अनवस्था भी नहीं होती। अतः प्रसिद्धि को छोड़कर इसे ही व्यवहार का निबन्धन माना जाना चाहिये। इस मान्यता के विपरीत शास्त्रकार अपना मन्तव्य अभिव्यक्त कर रहे हैं—

ननु एवं पूर्वपूर्वप्रसिद्ध्युपजीवनमात्रेण असर्वज्ञ एव समस्तोऽयमस्तु व्यवहारः, किं सर्वज्ञस्यापि परिकल्पनेनेत्याशङ्क्य आह

व्यवहारो हि नैकत्र समस्तः कोऽपि मातरि ॥ १२ ॥

तेनासर्वज्ञपूर्वत्वमात्रेणैषा न सिद्ध्यति ।

नहि एकत्र कुत्रचिदसर्वज्ञे प्रमातरि समस्तो व्यवहारः कोऽपि असर्वज्ञत्वादेव न कश्चिदित्यर्थः। अतश्च एषा प्रसिद्धिरसर्वज्ञपूर्वत्वेनेव न सिद्ध्यति समस्तव्यवहारसहिष्णुत्वमस्या न स्यादित्यर्थः ॥ १२ ॥

पूर्व पूर्व उपजीवन की लम्बी प्रक्रिया में यदि तथ्य का अन्वेषण करना प्रारम्भ करें और एक सोपान परम्परा को पार करते हुए हम आदिम विन्दु पर पहुँचें, तो यह पायेंगे कि, वहाँ वह सर्वज्ञ आप्त शक्तिमन्त परारूपी प्राथमिक भूमि पर अन्यानपेक्ष भाव से दीप्तिमन्त है। उसमें अनुन्मिषित रूप सूक्ष्म भाव से परपरामर्शात्मिका शक्ति ही प्रसिद्धि रूप से विद्यमान है। अतः प्रसिद्धि-निबन्धना व्यवहृति ही मान्य है, यह निश्चित हो जाता है ॥ ११ ॥

पूर्व पूर्व पुरुषों क आधार पर आधारित भले ही यह सर्वज्ञता बिभूषित न हो किन्तु इसे ही व्यवहार सिद्ध मान लेने में कोई अन्तर नहीं पड़ता। सर्वज्ञ की परिकल्पना के विना भी काम चल ही रहा है। अतः सर्वज्ञ परिकल्पना की क्या आवश्यकता ? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

यह सारा व्यवहार एक जगह असर्वज्ञ प्रमाता में सम्भव नहीं है। चूंकि प्रमाता भी सर्वज्ञ नहीं हैं। अतः व्यवहार भी वहाँ असिद्ध है। इस सन्दर्भ में यह प्रसिद्धि असर्वज्ञ पूर्वता को आधृत कर सिद्ध नहीं मानी जा सकती। इसमें सर्वव्यवहारवाद की सहिष्णुता का नितान्त अभाव स्पष्ट प्रतीत हो रहा है ॥ १२ ॥

ननु एवमपि असर्वज्ञवत् सर्वज्ञान्तरपूर्वत्वेनैव सर्वज्ञस्यापि प्रसिद्धिरस्तु किं तत्र अस्या निष्टङ्केन भानेनेत्याशङ्क्य आह

बहुसर्वज्ञपूर्वत्वे न मानं चास्ति किंचन ॥ १३ ॥

मानं नास्तीति वैयर्थ्यादेः ॥ १३ ॥

अतश्च एक एव पूर्णाहंपरामर्शमयः सर्वज्ञः परमेश्वरः समस्तप्रसिद्धि-निबन्धनभूत इत्याह

भोगापवर्गतद्धेतुप्रसिद्धिशतशोभितः ।
तद्विमर्शस्वभावोऽसौ भैरवः परमेश्वरः ॥ १४ ॥

कभी-कभी शास्त्र में ऐसी शङ्कायें भी उपस्थित की जाती हैं, जिनका कोई मूल्य नहीं होता। ये केवल शास्त्र विस्तार के उद्देश्य से की जाती हैं। यहाँ एक ऐसी ही शङ्का उपस्थित है। शङ्कालु पूछता है—गुरुदेव! असर्वज्ञ तो बहुत से हैं। ऐसे ही सर्वज्ञ भी कई कल्पित करें और सर्वज्ञान्तर-पूर्वता से ही प्रसिद्धि की क्रमिकता का आकलन करें तो क्या हर्ज है? शास्त्रकार कह रहे हैं कि, ऐसा प्रश्न ही नहीं करना चाहिये, जिसका कोई मान या प्रमाण ही न हो। बहु सर्वज्ञ भी एक सर्वज्ञ के ही उल्लास हो सकते हैं किन्तु यह व्यर्थ प्रकल्पन दिमागी फितूर जैसा है। अतः अमान्य है ॥ १३ ॥

इसलिये शास्त्रकार यहाँ निर्विवाद सत्य सिद्धान्त की उद्घोषणा-सी कर रहे हैं—

वस्तुतः पूर्णाहंता परामर्शमय एक ही सर्वज्ञ परमेश्वर समस्त प्रसिद्धियों का एकमात्र निबन्धन है, यह सर्वमान्य श्रेयः साधक सिद्धान्त है।

इस विश्व में व्यक्त भोग, अव्यक्त अपवर्ग और इनकी हेतु भूमि से समुत्पन्न शतशत प्रसिद्धियों का विधाता आदि के विमर्श के स्वभाव से भव्य भैरव रूप परमेश्वर ही सर्वज्ञ रूप से मान्य है।

द्विधा च इयं परमेश्वरात् प्रवृत्ता लोकव्यवहारनिबन्धनमित्याह

ततश्चांशांशिकायोगात्सा प्रसिद्धिः परम्पराम् ।
शास्त्रं वाश्रित्य वितता लोकान्संव्यवहारयेत् ॥ १५ ॥

अंशांशिकेति देशकुलादिभेदात् लौकिकवैदिकादिभेदाद्वा । परम्परामिति मुखपारम्पर्यनिरूढिरूपाम् । शास्त्रमिति निबन्धनम् । विततेति अन्तर-विगानाभावात् । यदुक्तं

लौकिकाविरहस्यान्तशास्त्रामर्शप्ररोहिणी ।
वक्त्रागमप्ररूढ्यात्मा वागित्थं पारमेश्वरी ॥ इति ॥ १४-१५ ॥

यह परमेश्वर से दो प्रकार विश्व में प्रसृत और प्रवृत्त होती है । इसे शास्त्रकार अंशांशिका योग को संज्ञा देते हैं । देश काल आदि के अंश-अंश रूप में प्रचलन के माध्यम से यह प्रसिद्धि परम्परा रूप में प्रसृत और प्रवृत्त हो जाती है । इसकी प्रवृत्ति शास्त्रों में व्यक्त होती है । इसी को 'परम्परां शास्त्रं वा आश्रित्य' शब्द के द्वारा शास्त्रकार ने व्यक्त किया है । परम्परा मौखिक रूढ़ियों पर आश्रित रहती है । प्रसिद्धियों के द्वारा ही शास्त्र निबन्ध रूप से सन्दृब्ध होते हैं ।

लोक में यह वितता पद्धति अनवरत परिदृश्यमान है । यह लोकों के व्यवहारवाद का संचालन करती है । इसमें कभी टूटन की सम्भावना भी नहीं होती । इस सम्बन्ध में आगम कहता है कि,

"लौकिक और (आदि अर्थात् अलौकिक) समस्त रहस्यवादिता को आत्मसात् करने वाली आन्तरिकतामयी शास्त्र परामर्श से ही प्ररोह प्राप्त करने वाली एक धारा प्रसिद्धि-पीयूष से परिपूरित है । इसकी दूसरी धारा मौखिक रूढियों पर निर्भर रह कर चलती है । यही परम्परा कहलाती है । पारमेश्वरी वाक् की इन दो धाराओं का रहस्य लोक और शास्त्र उभयत्र उद्घाटित है" ॥ १४-१५ ॥

ननु भवतु एवं, नियतागमपरिग्रहे तु किं निमित्तमित्याशङ्क्य आह

तथैवाशैशवात्सर्वे व्यवहारधराजुषः ।
सन्तः समुपजीवन्ति शैवमेवाद्यमागमम् ॥ १६ ॥
अपूर्णास्तु परे तेन न मोक्षफलभागिनः ।

सन्त इति विवेकिनः शैवमिति आद्यमिति च अनेन अस्य संपूर्णार्थाभिधायकत्वं प्रकाशितम् । यदाहुः

'तस्मात्संपूर्णसंबोधपराद्वैतप्रतिष्ठितम् ।
यः कुर्यात्सर्वतत्त्वार्थदर्शी स पर आगमः ॥' इति ।

यहाँ आकर जिज्ञासु की जिज्ञासा पूर्णतया शान्त हो गयी। उसने प्रसिद्धि, आगम और व्यवहार विषयक सारी बातें मान लीं। स्वभाव वश एक विनम्र बात सामने रखता है। वह पूछता है—**भगवन्** ! इस नियत शैव आगम के परिग्रह का हेतु क्या है ? आधार क्या है ? इसको सर्वाधिक मान्यता का मूल कारण क्या है ? इसी प्रश्न को शास्त्रकार ध्यान में रखकर इन कारिकाओं का अवतरण कर रहे हैं—

व्यवहार के व्यावहारिक पक्ष को और उसकी आधार भूमि को तत्त्वतः जानने वाले विज्ञ लोग शैशव से ही इसी आद्य आगम रूप शैवागम की प्रचलित प्रसिद्धि का अनुसन्धान करते हुए जीवनयज्ञ सम्पन्न करते हैं। यहाँ शैव आगम को आद्य आगम की संज्ञा दी गयी है। इसका तात्पर्य इस आगम की सर्वार्थ प्रकाशिका शक्ति का व्यापक प्रभाव है। इसी आगम के द्वारा सारे विश्व रहस्यों का सामर्थ्यपूर्वक उद्घाटन किया गया है। इस सम्बन्ध में आप्त लोग कहा करते हैं कि,

"इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि, सम्पूर्ण रूप से सम्यक् बोध-समाविष्कृत पराद्वैत विज्ञान को जो स्वात्म संविद् में प्रतिष्ठित कर लेता है, वस्तुतः वही विश्व के समस्त रहस्यों का पारदृश्वा है। वही सर्व तत्त्वार्थ दर्शी है। ऐसी भूमि पर ला बिठलाने वाला आगम ही—सर्वोत्कृष्ट आगम है।"

परे इति असन्तः। अपूर्णत्वमेव प्रपञ्चितं तेन न मोक्षफलभागिन इति ॥ १६ ॥

ननु यदि एवं, तत् कृतं सर्वागमप्रामाण्यप्रतिपादनेनेत्याशङ्क्य आह

उपजीवन्ति यावत्तु तावत्तत्फलभागिनः ॥ १७ ॥

तुशब्दो हेतौ। यावत्तावदिति परिमितम्। अत एव उक्तं तत्फल-भागिन इति प्रतिनियतमेव अतः फलमासादयन्तीत्यर्थः, येन

इस भूमि पर अधिष्ठित होने का सौभाग्य जिन्हें प्राप्त नहीं होता, उन्हें अपूर्ण पुरुष कहते हैं। यह अपूर्णता उनके जीवन का अभिशाप बन जाती है। परिणाम यह होता है कि, जीवन का परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष उन्हें प्राप्त नहीं हो पाता। इस लिये इस पूर्णार्थी प्रक्रिया को आत्मसात् कर पूर्ण बनने का प्रयास करना चाहिये। विश्व माया का संकेत निकेतन है। इसमें बैठी वह सबको इशारों से बुला लेती है। इस लिये शास्त्रकार सावधान कर रहे हैं कि, वे अपूर्ण रह जाते हैं। आप पूर्ण बनिये और परम पुरुषार्थ को प्राप्त कीजिये ॥ १६ ॥

जिज्ञासु बड़ा बुद्धिमान् है। कोई अवसर वह नहीं छोड़ता बिना पूछे। वह पूछ बैठता है—गुरुदेव! इधर तो आप सर्वागम प्रामाण्य की बात भी करते हैं और इधर शैवागम शास्त्र को ही सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। क्या समझा जाय? इसका समाधान शास्त्रकार कर रहे हैं—

सर्वप्रामाण्य का सिद्धान्त मेरे इस कथन से खण्डित नहीं हो रहा है। वास्तविकता यह है कि, प्रामाण्य उपजीव्यत्व पर निर्भर है। जो आगम जितनी मात्रा में उपजीव्यत्व स्वीकार करता है, उसको उतनी ही प्रामा-णिकता मान्य है, श्लोक में प्रयुक्त 'तु' अव्यय हेतु अर्थ का हो द्योतक है। अर्थात् उपजीवकता भी प्राप्त होती है। श्लोक में प्रयुक्त यावत् और तावत् दोनों पारिमित्य पर ही बल प्रदान कर रहे हैं। अर्थात् जितनी आश्रयता होती है, प्रामाणिकता का मान भी उतना ही होता है। इसी का समर्थन

'बुद्धितत्त्वे स्थिता बौद्धा .... ।'

इत्यादि उक्तम् ॥ १७ ॥

ननु अविदितान्वयव्यतिरेकादेर्बालस्य अस्तु प्रसिद्धिमात्रनिबन्धनत्वम्, विवेकिनस्तु कथमेवं स्यादित्याशङ्क्य आह

बाल्यापायेऽपि यद्वृद्धोक्तुमन्नमेष प्रवर्तते ।
तत्प्रसिद्ध्यैव नाध्यक्षान्नानुमानादसम्भवात् ॥ १८ ॥

'तत्फलभागिनः' शब्द भी कर रहा है। वे शास्त्र उतनी मात्रा में ही फलवत्ता प्रदान कर सकते हैं। यह आश्रयता पर ही निर्भर है। एक तरह से प्रतिनियत है। इसीलिये कहा गया है कि,

"बुद्धितत्त्व में स्थितबौद्धदर्शन के अनुयायी आद्य शैव आगम के तत्त्ववाद में बुद्धिस्तरीय प्रतिनियत फल के ही भागी हो सकते हैं क्योंकि वे भी अपूर्ण ही हैं"।

अर्थात् तत्त्ववाद के जिस स्तर पर जितने सम्प्रदाय या सिद्धान्त उपजीवित हैं, वे उतने ही स्तर के फल के भागी बन सकते हैं। उस स्तर से ऊपरी स्तर के फल वे कैसे पा सकते हैं ॥ १७ ॥

समाज में अधिकतर ऐसे लोग ही हैं, जो लड़कपन से ही अन्वय व्यतिरेकवाद की बात नहीं जानते। उनके लिये ये तथ्य अविदित हैं। उनके लिये यह माना जा सकता है कि, उनके व्यवहार की आश्रय प्रसिद्धि है। जो लोग कर्त्तव्याकर्त्तव्य बोध के प्रति जागरूक हैं, उनमें विवेक है, वे किसी प्रसिद्धि के ऊपर निर्भर होकर अपना व्यवहार नहीं चलाते। इसलिये यह कहा जा सकता है कि, विवेकशील व्यक्ति स्वतन्त्र व्यवहार पर निर्भर है।

शास्त्रकार इस विचारधारा के बिलकुल विपरीत हैं। वे कहते हैं कि, चाहे बालक हो या वृद्ध अर्थात् विवेकी उभयत्र प्रसिद्धि ही प्रवृत्ति में कारण है। बाल्य भाव के अपाय में भी अर्थात् अभाव में भी अर्थात् अबालावस्था में भी सभी भोक्ता प्रमाता हैं। उनकी भोजन आदि में प्रवृत्ति

अबालस्यापि हि प्रमातुर्भोजनादौ प्रसिद्धिमात्रनिबन्धनैव प्रवृत्तिः, यतस्तत्र न तावत् प्रत्यक्षं सम्भवति तस्य हि अन्नं विषयः, न तद्भोज्यत्वं तस्य ज्ञाने विकारकारित्वाभावात् तत् कथमस्य विषयभावमप्राप्ते वस्तुनि प्रवर्तकत्वं स्यात्; नापि अनुमानं तत् हि अन्वयव्यतिरेकमूलम्, तयोश्च प्रसिद्धिरेव निबन्धनमिति उक्तम्, तन्मूलभूतां प्रसिद्धिमपहाय कथमस्य एवंभावो भवेत् । यदभिप्रायेणैव

होती है। वह प्रसिद्धि निबन्धना प्रवृत्ति ही मानी जाती है। अन्न ही भोज्य है। अतः इसके भोजन में सभी प्रवर्तित होते हैं।

प्रवृत्ति की इस प्रक्रिया में प्रत्यक्ष का कोई आधार नहीं होता। प्रत्यक्ष विषय अन्न है। अन्न का भोज्यत्व नहीं। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। भोज्यत्व में यह नहीं होता। प्रत्यक्ष ज्ञान में किसी प्रकार के विकार उत्पन्न करने की क्षमता नहीं होती। अन्न यहाँ प्रत्यक्ष है भी नहीं। अप्रत्यक्ष है। अप्रत्यक्ष विषयवस्तु में किसी प्रकार का प्रवर्त्तक नहीं होता। इसलिये अन्न में भोज्यत्व की प्रवृत्ति निमित्त प्रसिद्धि ही मानी जा सकती है।

अनुमान भी प्रवृत्ति निमित्त नहीं माना जा सकता। अनुमान अन्वय व्यतिरेक मूलक होता है। अन्वय व्यतिरेक दोनों के सम्बन्ध में प्रसिद्धि के सन्दर्भ में चर्चा की जा चुकी है। प्रसिद्धि ही इनकी निबन्धिका है। इस प्रसिद्धि पर ही दोनों आश्रित हैं। मूलभूत प्रवृत्ति निबन्धना प्रसिद्धि है। यही सिद्धान्त सत्य है। बालक और विवेकी सभी की प्रवृत्ति निमित्त यही प्रसिद्धि है। इसे छोड़कर दूसरे किसी पदार्थ को प्रवृत्ति निमित्त नहीं माना जा सकता।

आगम इसी सिद्धान्त का समर्थक है। एक स्थान पर कहा गया है कि,

'लौकिके व्यवहारे हि सदृशौ बालपण्डितौ ।'

इत्यादि उक्तम् ॥ १८ ॥

निमितान्तरमपि अत्र किञ्चित् न न्याय्यमित्याह

नच काप्यत्र दोषाशाशङ्कायाश्च निवृत्तितः ।

क्षुधादिना हि कथंचित्पोडितोऽपि न अन्यत्र प्रवर्तते तावता क्षुधादि-दोषनिवृत्तौ निश्चयायोगात् ।

ननु यदि एवं, तत् प्रसिद्धया प्रवर्तमानस्यापि किमेवमाशङ्का न स्यादित्याशङ्क्य आह

प्रसिद्धिश्चाविगानोत्था प्रतीतिः शब्दनात्मिका ॥ १९ ॥

"लौकिक व्यवहार में बालक और वृद्ध अर्थात् अप्रबुद्ध या सुबुद्ध दोनों समान होते हैं ।"

भोजन-पान, श्रान्ति-विश्रान्ति इति सृति सारो प्रवृत्तियाँ जैसी आमान्य लोगों में होती हैं, उसी तरह प्रबुद्ध व्यक्ति भो इन व्यावहारिक प्रक्रियाओं में प्रवृत्त होता है ॥ १८ ॥

किसी दूसरे निमित्त को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। यही कह रहे हैं—

भूख सबको सतातो है। भूख से पोड़ित भूखा व्यक्ति भूख मिटाने के लिये मिट्टो नहीं खाता । अन्य किसी वस्तु से क्षुधा रूप विकार की निवृत्ति नहीं होती। घास का रोटी भी यह काम अधिक दिनों तक नहीं चला सकती। क्षुधा निवृत्ति का निश्चय भोज्य पदार्थ के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं हो सकता। सर्व निश्चय का अयोग ओर अनिश्चय का ही योग रहता है। न तो इसमें किसो दोष या विकार की आशा रह जाती है और न तो किसी प्रकार की शङ्का ही होतो है। सारी शङ्काओं को यहाँ निवृत्ति हो जाती है। प्रसिद्धि द्वारा प्रवर्त्तमान में भी किसी आशङ्का के लिये अवकाश नहीं होता।

मातुः स्वभावो यत्तस्यां शङ्कते नैष जातुचित् ।
स्वकृतत्ववशादेव सर्ववित्स हि शङ्करः ॥ २० ॥

प्रसिद्धिर्हि सततोदितत्वादविगानेन उल्लसिता स्वावमर्शात्मप्रतीतिरूपा प्रमातुः स्वभाव एवेति तस्यां प्रसिद्धौ परामर्शनक्रियाकर्तृत्वेन स्वकृतत्व-वशादेव एष प्रमाता कदाचिदपि न शङ्कते विचिकित्सेत, यदसौ सर्ववित् शङ्कर एव वस्तुतस्तद्रूप एव असावित्यर्थः ॥ १९-२० ॥

ननु एवं परमेश्वररूपतायामस्तु, अन्यथा पुनरेतत् कथं सङ्गच्छता-मित्याशङ्क्य आह

शास्त्रकार कह रहे हैं कि, प्रसिद्धि को यही विशेषतायें हैं कि, यह १. सतत उदित तत्त्व है। २. यह अविगान (निन्दा और असंगतियों से रहित) भाव से अर्थात् नित्य शुद्ध भाव से उल्लसित रहती है और तीसरी विशेषता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रसिद्धि शब्दनात्मिका प्रतीति मानी जाती है। शब्दन का अनुसन्धान करने पर यह जान पड़ता है कि, यह स्वात्मावमर्श रूप ही होता है। स्वात्मावमर्श शाश्वत उल्लसित तत्त्व है। उसकी अनुभूति ही स्वात्मावमर्शमयी प्रतीति कहलाती है। यह प्रमाता की स्वभावरूपा है। यह इसकी चौथी विशेषता है।

उसमें परामर्श क्रिया का कर्त्तृत्व समाहित होता है। अपना कर्त्तव्य तो अपने साथ ही है। इस तरह प्रमाता साधक परामर्श सामरस्य सुखानुभूति सिद्धि का आधार बन जाता है। उसे किसी प्रकार की शङ्का नहीं होती। कोई विचिकित्सा नहीं होती। यह कहा जा सकता है कि, वह साक्षात् शिव ही हो जाता है। वह तादृप्य में रम जाने वाला राम हो जाता है। इसमें संदेह के लिये अवकाश नहीं रह जाता ॥ १९-२० ॥

परमेश्वर की तादृप्य-प्राप्ति इस उच्च स्वात्मपरामर्श की अवस्था में स्वीकार्य होते हुए भी जिज्ञासु यह जानना चाहता है कि, यदि ऐसी उच्च-

यावत्तु शिवता नास्य तावत्स्वात्मानुसारिणीम् ।
तावतीमेव तामेष प्रसिद्धिं नाभिशङ्कते ॥ २१ ॥
अन्यस्यामभिशङ्की स्यात् भूयस्तां बहु मन्यते ।

तावतीमेवेति परिमिताम् । अन्यस्यामिति परकीयायाम् । भूय इति अत्यर्थम् । तामिति स्वात्मानुसारिणीं प्रसिद्धिम् । बहु मन्यते इति अव्यभिचारित्वात् ॥ २१ ॥

ननु यदि एवं, तत् कथं शैवमेव आगमं सन्तः समुपजीवन्तीत्युक्तमित्याशङ्क्य आह

एवं भाविशिवत्वोऽमूं प्रसिद्धिं मन्यते ध्रुवम् ॥ २२ ॥

एवमिति स्वप्रसिद्धिवत् । अमूमिति प्रक्रान्तां शैवीम् ॥ २२ ॥

स्वात्मपरामर्शात्मकता न हो, तो उसमें यह तद्रूपता असंभव ही है ? इसका समाधान कर रहे हैं—

जब तक उपासक की शिवता अभी सम्पन्न नहीं होती, तब तक स्वात्म का ही अनुसरण करने वाली उतनी परिमित रूप में ही अनुभूत आंशिक प्रसिद्धि से ही प्रभावित रहकर व्यवहार का संचालन करता है। परकीय व्यक्ति की प्रसिद्धि के परिणामस्वरूप उसके व्यावहारिक उत्कर्ष का अनुभव करता है। पुनः स्वात्मसंप्रवृत्ति का अनुसन्धान करता है। पुनः स्वात्मावमर्श रूपा सत्प्रतीति के यथार्थ रूप अनुभव से सम्पन्न हो जाता है और स्वात्म अवमर्श के नाद का अनुरणन सुनता और उसे ही बहुमान प्रदान करता है। क्योंकि उसमें किसी प्रकार की विकृति का अनुभव उसे नहीं होता ॥ २१ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, यदि ऐसी बात है, तब तो सभी आगम इस दृष्टि से समान रूप से अङ्गीकार्य हो सकते हैं। फलतः विद्वद्वर्ग द्वारा शैव आगम को ही उपजीव्य मानने का आधार खिसक सकता है। इस आशङ्का का उत्तर शास्त्रकार दे रहे हैं—

ननु शैवबौद्धादिभिदा बहुधा इयं प्रसिद्धिरिति कस्मादवश्यभाविशिवत्वस्य शैवोमेव प्रसिद्धिं प्रति बहुमान इत्याशङ्क्य आह

एक एवागमश्चायं विभुना सर्वदर्शिना ।
दर्शितो यः प्रवृत्ते च निवृत्ते च पथि स्थितः ॥ २३ ॥

प्रवृत्ते इति कर्मादिरूपे । निवृत्ते इति ज्ञानैकरूपे ॥ २३ ॥

ननु यदि एक एव अयमागमो विभुना दर्शितः, तत् धर्मादिश्चतुर्वर्गस्य प्रतिशास्त्रं स्वरूपतः फलतश्च वैचित्र्ये किं निमित्तमित्याशङ्क्य आह

वस्तुतः यहाँ शङ्का का कोई प्रश्न ही नहीं उपस्थित है क्योंकि, उपासक स्वात्मावमर्श के आधार पर भविष्यत् में शिवत्व की उपलब्धि का स्वयं स्वात्म स्तर पर अनुभव कर लेता है । उसे ताद्रूप्य सुधा का रसास्वाद संतृप्त कर देता है । वह इसी शैवी प्रसिद्धि के महत्त्व को ध्रुव रूप से स्वीकार कर लेता है ॥ २२ ॥

प्रसिद्धि के कई भेद हैं । कोई शैवी प्रसिद्धि को मान्यता देता है, कोई बौद्ध आदि प्रसिद्धियों द्वारा व्यवहार का संचालन करता है । इस अवश्यभाविशिवत्वमयी पुरुष की शैवी प्रसिद्धि के प्रति बहुमानता का क्या आधार है ? इस आशङ्का का समाधान कर रहे हैं—

यही एक ऐसा आगम है, जिसे सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा, पूर्ण, सर्वव्यापक और सर्वसमर्थ परमेश्वर ने प्रवर्त्तित एवं प्रदर्शित किया है । यही एक ऐसा पूर्ण आगम है, जो प्रवृत्ति मार्ग में पड़े कर्ममार्गी अणु पुरुषों को उत्कर्ष पथ में प्रवृत्त करता है । निवृत्ति मार्ग में जहाँ एकमात्र ज्ञान के परम चरम प्रकाश की रश्मियों का ही प्रसार रहता है, वहाँ भी यह पथिस्थित है । अर्थात् इसके व्यापक बोध प्रकाश के समक्ष सारे अन्य आगम उपजीवक भाव से उपस्थित प्रतीत होते हैं ॥ २३ ॥

यहाँ एक विशेष तथ्य की ओर अपने आप ध्यान बँट जाता है । वह तथ्य है—सभी शास्त्रों का स्वरूप वैचित्र्य और फल वैचित्र्य । इस स्थिति

धर्मार्थकाममोक्षेषु पूर्णापूर्णादिभेदतः ।
विचित्रेषु फलेष्वेक उपायः शाम्भवागमः ॥ २४ ॥

ननु एवमेककर्तृकत्वे अस्य विचित्रोऽयमुपदेशः किं न परस्परस्य विरुध्ये-दित्याशङ्क्य आह

तस्मिन्विषयवैविक्त्याद्विचित्रफलदायिनि ।
चित्रोपायोपदेशोऽपि न विरोधावहो भवेत् ॥ २५ ॥

का आकलन सबको स्वाभाविक रूप से होता है कि, सभी शास्त्र धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध में ही उपदेश करते हैं। ऐसी स्थिति में इस विभु प्रदर्शित दर्शन का महत्त्व कैसे स्वीकार किया जाय ? इन्हीं तथ्यों का आकलन कर शास्त्रकार इस कारिका का अवतरण कर रहे हैं—

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनके विचित्र फल लोक में प्रसिद्ध हैं। कभी इनकी फलवत्ता में पूर्णता और कभी अपूर्णता के भेद भी दीख पड़ते हैं। इसकी समग्र और पूर्ण फलवत्ता का एक ही उपाय शास्त्रों में प्रसिद्ध है। वह उपाय है—शाम्भवागम। इसके स्वाध्याय से, इसमें निर्दिष्ट महेश्वर दैशिक की देशनाओं से ये चारों पुरुषार्थ पूर्णरूप से अपने मूल भूत तात्त्विक स्वरूप से घटित होते हैं। अर्थात् शाम्भवागम का पथिक साधक अपनी मन्जिल निर्विघ्न भाव से पा लेता है। इसलिये यह सर्वातिशायी आगम है, यह सिद्ध हो जाता है ॥ २४ ॥

प्रश्न उपस्थित होता हैं कि, समस्त शाम्भवागम एक मात्र शिव द्वारा हो निर्दिष्ट हैं। कभी कभो एक कर्त्ता के अनेक विधेयों में परस्पर विरुद्ध बातें भी दृष्टिगोचर होती हैं। क्या न देशनाओं में भी आशङ्का उत्पन्न होती है ? शास्त्रकार इसका उत्तर दे रहे हैं—

इस आगम संवर्ग के एक मात्र उपदेष्टा और प्रवर्त्तक शिव हैं। एक मात्र प्रणेता द्वारा प्रणीत इस आगम में विषय को दृष्टि से बड़ा

तस्मिन्नेकेनैव शम्भुना प्रणीतेऽपि आगमे विचित्राणां धर्मादीनामुपायानामुपदेशो देशकालाधिकार्यादिविषयभेदमाश्रित्य विचित्रफलदातृत्वात् न विरोधावहो भवेदप्रामाण्यकारणतां न यायादित्यर्थः ॥ २५ ॥

ननु बुद्धार्हत्कपिलप्रभृतीनाप्तानपहाय शम्भुनैव इदं सर्वं प्रणीतमित्यत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्य आह

लौकिकं वैदिकं साङ्ख्यं योगादि पाञ्चरात्रकम् ।
बौद्धार्हतन्यायशास्त्रं पदार्थक्रमतन्त्रणम् ॥ २६ ॥

विस्तार है। आनन्त्य है इसके वर्ण्य वस्तु का। इनमें, धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप परम पुरुषार्थों के पृथक् पृथक् उपदेश हैं। देश, काल और अधिकारी भेद से अवान्तर भेदमय विभिन्न विषयों पर चर्चायें की गयी हैं। इन क्रियाओं, इनकी उपासनाओं और विधि परक साधनाओं में फलभेद वैत्रिव्य भी कम नहीं है। उपायों में भी भेदभिन्नता उल्लसित है। ऐसी अवस्था में भी कोई उपदेश विरोध की पारस्परिक कटुता से ग्रस्त नहीं है। प्रायः भेदमयता अप्रामाणिक हो जाती है किन्तु प्रस्तुत शास्त्र के उपदेश पूर्णतः विरोध (पारस्परिक) रहित हैं। ये भेद इस आगम को और भी विचित्र सिद्ध करते हैं। इनका प्रामाण्य शाश्वत अखण्ड रूप से मान्य है ॥ २५ ॥

बुद्ध, अर्हत् और कपिल आदि आवतारिक महापुरुषों ने भी शास्त्र-प्रवर्त्तन किया है किन्तु इस शाम्भवागम के शिव ही एक मात्र प्रणेता हैं? इसमें क्या प्रमाण है? इस आशङ्का का समाधान कर रहे हैं—

लौकिक, वैदिक, सांख्य और योग आदि शास्त्रों के साथ ही पाञ्चरात्र का शास्त्रों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। बौद्ध, आर्हत, न्याय आदि दर्शन भारतीय वाङ्मय के रत्न हैं। सिद्धान्त तन्त्र और शाक्त आदि आगम ये सभी उत्कृष्ट कोटि के अनुशास्ता शास्त्र हैं। इनके प्रणेता कौन हैं, इसका

सिद्धान्ततन्त्रशाक्तादि सर्वं ब्रह्मोद्भवं यतः ।
श्रीस्वच्छन्दादिषु प्रोक्तं सद्योजातादिभेदतः ॥ २७ ॥

यतः सर्वं लौकिकादि शम्भोरेव सद्योजातादिभेदेन ब्रह्मभ्यो वक्त्रेभ्यः समुद्भूतमिति श्रीस्वच्छन्दादिषु शास्त्रेषु प्रोक्तमिति वाक्यार्थः। यदुक्तं तत्र

'अदृष्टविग्रहायातं शिवात्परमकारणात् ।
ध्वनिरूपं सुसूक्ष्मं तु सुशुद्धं सुप्रभान्वितम् ॥
तदेवापररूपेण शिवेन परमात्मना ।
मन्त्रसिंहासनस्थेन पञ्चमन्त्रमहात्मना ॥
पुरुषार्थं विचार्याशु साधनानि पृथक् पृथक् ।
लौकिकादिशिवान्तानि परापरविभूतये ॥

प्रमाण इतिहास ग्रन्थों में प्रायः उपलब्ध हैं। स्वच्छन्द तन्त्र का इस विषय में मतभेद है। उसके अनुसार ये सभी ब्रह्म-समुद्भूत शास्त्र हैं। शास्त्रों में पञ्चब्रह्म प्रसिद्ध हैं। सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान ये शैववक्त्र कहलाते हैं। साथ ही साथ इन्हें पञ्चब्रह्म भी कहते हैं। इन्हीं पञ्चवक्त्रों से समुद्भूत ये शास्त्र हैं, ऐसा स्वच्छन्द आदि शास्त्र कहते हैं। वहाँ कहा गया है कि,

"परमकारण और अदृष्ट विग्रह अर्थात् सर्वव्यापक अशरीर अस्तित्व के प्रतीक शिव से सर्वप्रथम अत्यन्त सूक्ष्म, विशुद्ध और बोधप्रकाश की प्रभा से भास्वर ध्वनि रूप अव्यक्त नाद स्पन्दित हुआ।

वह शिव का अपर रूप था। परमात्मा शिव ने मन्त्र-सिंहासन पर विराजमान पञ्चमन्त्र रूप में महात्मावत् प्रतिष्ठित पञ्चब्रह्म से ध्वनि रूप अव्यक्त नाद के सम्बन्ध में विचार किया। उसमें निहित पुरुषार्थों के सम्बन्ध में चर्चायें हुईं। साधनाओं को ऊह का विषय बनाया गया।

परापर ऐश्वर्य सिद्धि के उद्देश्य से उनका अभिव्यञ्जन निर्धारित किया गया। इस युग में प्रसिद्धि प्राप्त जितने लौकिक और वैदिक विज्ञान

तदनुग्रहयोग्यानां स्वे स्वे विषयगोचरे।
अनुष्टुब्छन्दसा बद्धं कोट्यर्बुदसहस्रधा॥' (८।३१) इति।

तथा

'लौकिकं देवि विज्ञानं सद्योजाताद्विनिर्गतम्।
वैदिकं वामदेवात्तु आध्यात्मिकमघोरतः॥
पुरुषाच्चातिमार्गाख्यं निर्गतं तु वरानने।
मन्त्राख्यं तु महाज्ञानमीशानात्तु विनिर्गतम्॥' (११।४५) इति।

हैं, वे सभी अभी अव्यक्त 'अवर्ण' की विमर्शरूपता में स्पन्दित थे। उन्हें उनके विशुद्ध स्पन्द रूप से मातृका रूप में अभिव्यक्ति का निश्चय किया। उन उन विषयों के अनुग्रह योग्य पात्रों के मस्तिष्क में उन विचारों का बीज उप्त कर दिया गया। इस तरह पञ्चवक्त्र रूप में प्रसिद्ध पञ्चब्रह्म रूप शिव के प्रतीकों द्वारा सहस्रार्बुदों की असंख्यता में और करोड़ों को संख्या के अनुष्टुप् छन्दों में वह स्पन्द अभिव्यक्त कर दिया गया।" इसके अतिरिक्त स्वच्छन्द तन्त्र में यह भी कहा गया है कि, किन किन वक्त्रों से कौन कौन विज्ञान संप्रसूत हुए। यहां उद्धरण के माध्यम से आचार्य जयरथ ने स्पष्ट कर दिया है। वह इस प्रकार है—

"भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति! लौकिक विज्ञान सद्योजात नामक वक्त्र से विनिर्गत हुए।

वैदिक विज्ञान वामदेव नामक वक्त्र से व्यक्त हुए। आध्यात्मिक विज्ञान अघोर नामक वक्त्र से उत्पन्न हुआ। अतिमार्ग नामक विज्ञान को तत्पुरुष नामक ब्रह्म ने व्यक्त किया। इसी क्रम में मन्त्रात्मक महाज्ञान ईशान ब्रह्म से विनिर्गत हुआ।"

ऊपर जितने प्रकार के विज्ञान वक्त्रों से विनिर्गत हुए हैं, उनको पृथक् पृथक् परिभाषित कर रहे हैं—

तथा

'धर्मणैकेन देवेशि बद्धं ज्ञानं हि लौकिकम् ।
धर्मज्ञाननिबद्धं तु पाञ्चरात्रं च वैदिकम् ॥
बौद्धमारहतं चैव वैराग्येणैव सुव्रते ।
ज्ञानवैराग्यसंबद्धं साङ्ख्यज्ञानं हि पार्वति ॥
ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं योगज्ञाने प्रतिष्ठितम् ।
अतीतं बुद्धिभावानामतिमार्गं प्रकीर्तितम् ॥
लोकातीतं च तज्ज्ञानमतिमार्गमिति स्मृतम् ।'

(११।१८२) इति ॥ २७ ॥

---

१. लौकिक—

एकमात्र धर्म से संबद्ध ज्ञान को ही लौकिक ज्ञान कहते हैं। धर्म से ही लोक का सञ्चालन हो सकता है। इसलिये लोक मङ्गल के उद्देश्य से लिखे गये विज्ञान लौकिक कहलाते हैं।

२. वैदिक—

धर्म और ज्ञान दोनों के समन्वय से व्यक्त विज्ञान को वैदिक कहते हैं। धर्म के साथ ज्ञान के नेत्र की आवश्यकता होती है। वैदिक विज्ञान में दोनों का सामरस्य व्यक्त है। पाञ्चरात्र वैदिक विज्ञान की श्रेणी में आता है।

३. बौद्धार्हत्—

ये दोनों विज्ञान धर्म ज्ञान के अतिरिक्त वैराग्य प्रधान हैं। भगवान् कहते हैं कि, सुन्दर व्रतों का आचरण करने वाली देवि! इसमें वैराग्य ही प्रधान माना जाता है।

४. सांख्य —

भगवान् कहते हैं कि पार्वति! सांख्य में ज्ञान और वैराग्य दोनों का समन्वय है।

ननु यदि एवं शैवबौद्धादिरेव आगमः, तत् बौद्धादिशास्त्रवर्तिनां शिवशास्त्रौन्मुख्ये कस्मात् लिङ्गोद्धारादि संस्कारान्तरमपि उक्तमित्याशङ्कां दृष्टान्तोपदर्शनेन उपशमयति

यथैकत्रापि वेदादौ तत्तदाश्रमगामिनः ।
संस्कारान्तरमत्रापि तथा लिङ्गोद्धृतादिकम् ॥ २८ ॥

संस्कारान्तरमिति अर्थादुक्तम् ॥ २८ ॥

---

५. योग—

योग में ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इन तीनों की प्रतिष्ठा है।

६. अतिमार्ग—

जो विज्ञान बुद्धि और भावना को अतिक्रान्त कर समाज में अपनी छाप छोड़ता है, उसे अतिमार्ग विज्ञान कहते हैं। इसी आधार पर इसे लोकातीत विज्ञान कहते हैं क्योंकि लोक तो बुद्धि और भावना के आधार पर ही संचालित होता है।"

उक्त उद्धरण स्वच्छन्द तन्त्र के आठवें और एकादशवें पटल में लिये गये हैं। इन उद्धरणों के माध्यम से आचार्य जयरथ ने अपनो गहन स्वाध्याय शीलता, शास्त्राभ्यास और शास्त्रकार के ज्ञान की व्यापक ज्ञानवत्ता का एक साथ ही वर्णन कर दिया है ॥ २६-२७ ॥

विश्वशास्त्र के प्रति औन्मुख्य के उद्देश्य से शैवागम में लिङ्गोद्धार प्रक्रिया पर बल दिया गया है। बौद्धादि आगमों से जो इस शास्त्र के अनुशासन में आना चाहते हैं, उन्हें लिङ्गोद्धार दीक्षा दी जाती है। यह दीक्षा किसी अन्य मतवाद में नहीं दी जाती। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, यदि बौद्ध आदि भो आगम हैं, तो उन्हें भो समादर मिलना चाहिये। लिङ्गोद्धार दीक्षा पद्धति द्वारा यह प्रतीत होता है कि, वह शैव श्रेणी स्तरीय उपादेयता से रहित है। शास्त्रकार इसका समाधान कर रहे हैं—

ननु एवमपि शिवादेव यदि अखिलमिदं शास्त्रमुदितं, तत् शैवपाञ्च-रात्रादिभ्योऽपि कस्मात् न शिवात्मकत्वमेव उदियादित्याशङ्कां दृष्टान्तीकृत्य दृष्टान्तपुरःसरीकारेण आह

यथाच तत्र पूर्वस्मिन्नाश्रमे नोत्तराश्रमात् ।
फलमेति तथा पाञ्चरात्रादौ न शिवात्मताम् ॥ २९ ॥

तत्रेति एकत्र वेदादौ। पूर्वस्मिन्नाश्रमे इति अर्थात् स्थितः। उत्तरा-श्रमादिति गार्हस्थ्यादेः ॥ २९ ॥

तदेवमेक एव अयमीश्वरप्रणीत आगमः, यत्र इदं लौकिकशास्त्रात्प्रभृति सर्वं विश्रान्तमित्याह

जैसे वेद एक है, फिर भी उसमें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम मान्य हैं और इन आश्रमों में विभिन्न दीक्षायें भी उपादेय मानी जाती हैं, उसी तरह लिङ्गोद्धार दीक्षा भी संस्कार सम्पन्न बनाने के उद्देश्य से ही दी जाती है। इससे बौद्ध अनुशासन की आगमिकता का खण्डन नहीं होता ॥ २८ ॥

इस स्तरीय मान्यता को स्वीकार करते हुए भी यह सुनिश्चित है कि, शिव से ही ये सारे शास्त्र प्रवर्तित हैं। शैव पाञ्चरात्र आदि से शिवात्मकता का ही उल्लास और इसकी अनुभूति क्यों नहीं होती है ? इस आशङ्का का दृष्टान्त के द्वारा समाधान कर रहे हैं—

जैसे पूर्व आश्रम में उत्तर आश्रम से कोई फल नहीं आता; उसी तरह पूर्वशास्त्र पाञ्चरात्र आदि में भी शैव महाभाव से भरे भैरव शास्त्र रूप उत्तर अनुशासन से शिवात्मता रूप महाफल की उपलब्धि नहीं होती। आश्रमों के दृष्टान्त से शिवशास्त्र के महत्त्व का ही ख्यापन यहाँ किया गया है ॥ २९ ॥

इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि, यही एकमात्र शिव प्रणीत

एक एवागमस्तस्मात्तत्र लौकिकशास्त्रतः ।
प्रभृत्यावैष्णवाद्बौद्धाच्छैवात्सर्वं हि निष्ठितम् ॥ ३० ॥

ननु एवंविधस्य अपि अस्य आगमस्य किमुपेयमित्याशङ्क्य आह

तस्य यत्तत् परं प्राप्यं धाम तत् त्रिकशब्दितम् ।

ननु

'यत्रोदितमिदं चित्रं विश्वं यत्रास्तमेति च ।
तत् कुलं विद्धि सर्वज्ञ शिवशक्तिविवर्जितम् ॥'

ऐसा शास्त्र है, जिसमें लौकिक मार्ग से अतिमार्ग पर्यन्त सभी शास्त्र अन्तर्निहित या विश्रान्त माने जाते हैं । यही कह रहे हैं—

यही एकमात्र शिव प्रणीत ऐसा सर्वातिशायी शास्त्र है, जिसमें धर्माधारित लौकिक शास्त्र से लेकर अंश अंश का समर्थन करने वाले समस्त वैष्णव आगम, बौद्ध आगम और द्वेत समर्थक अन्य आगम भी शैव नाम से प्रचलित आगम में सभी अन्तः विश्रान्त सिद्ध होते हैं । इस आगम की व्यापक दृष्टि का ही यह परिणाम है कि, यह सभी आगमों को अतिक्रान्त कर प्रतिष्ठित है । इसके मुख्य हेतु ये बौद्ध आदि आगम ही हैं । उनमें जिन दृष्टियों का समर्थन है, उनकी व्यापकता सन्दिग्ध है और सर्ववादिसम्मत नहीं है । उनकी आगम मूलिका प्रसिद्धि भी नितान्त असिद्धिमयी है ॥ ३० ॥

इस प्रकार के शास्त्र का परम उपेय क्या है ? इस प्रश्न को दृष्टि में रखते हुए शास्त्रकार कह रहे हैं कि, इसका जो परम प्राप्य है, वही महत्तम धाम माना जाता है । उसे 'त्रिक' संज्ञा से विभूषित करते हैं ।

आगम की एक उक्ति है कि,

"जिस चमत्कृति पूर्ण चित्र को हम विश्व कहते हैं, वह सर्वोत्तम शैव फलक पर ही उदित होता है । उसी में उसका अस्त भी हो जाता है । वह फलक और कुछ नहीं । उसे मात्र कुल की संज्ञा दी जा सकती है । पार्वती

इत्यादिदृशा कुलस्यैव सर्वविश्रान्तिधामत्वमुक्तम्, तत् किमेतदभिधीयते इत्याशङ्क्य आह

सर्वाविभेदानुच्छेदात् तदेव कुलमुच्यते ॥ ३१ ॥

यथोर्ध्वाधरताभाक्सु देहाङ्गेषु विभेदिषु ।
एकं प्राणितमेवं स्यात् त्रिकं सर्वेषु शास्त्रतः ॥ ३२ ॥

कहती हैं, सर्वज्ञ प्रभो ! वह स्थान सर्वातिशायी स्थान है। शिवशक्ति का पार्थक्य वहाँ दृष्टिगोचर नहीं होता । तादात्म्यमय सामरस्य के हो वहाँ दर्शन होते हैं।"

इस दृष्टि से कुल को सर्वातिशायी श्रेष्ठता सिद्ध हो जाती है। यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि, वही सर्वविश्रान्ति धाम है। ऐसी दशा में कारिका में त्रिक को परम प्राप्य धाम किस आधार पर लिखा गया है ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

शास्त्रकार के अनुसार त्रिक ही कुल संज्ञा से विभूषित किया जाता है। त्रिक सर्वत्र अविभेदरूप देश कालादि के शद्वैत अद्वय सद्भाव का समर्थक है। अद्वय उल्लास में भेदवाद का सर्वथा उच्छेद स्वयं सिद्ध है। इसलिये व्यतिरेक विधि से शास्त्रकार कह रहे हैं कि, इसमें अविभेद का अनुच्छेद नित्य स्वीकार्य है, और इस विशेषण से विशिष्ट त्रिक ही कुल रूप में मान्य है। संविदद्वयसद्भाव की संभूति से भरा हुआ नित्य अवभासित है। व्याकरण की दृष्टि से इसकी निरुक्ति करते समय 'कुल' धातु पर ध्यान जाता है। 'कुल' धातु संस्त्यान (विस्तार या राशि आदि) अर्थों में प्रयुक्त होता है। इस धात्वर्थ के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि, यह सारा विश्व-विस्तार, यह सारा विश्वात्मक उल्लास ही 'कुल' शब्द की पारिभाषिकता के परिवेश में समाहित है।

इस तथ्य को एक दृष्टान्त के माध्यम से समर्थित करते हुए शास्त्रकार कह रहे हैं कि, शरीर एक है। एक ही प्राणवत्ता इसमें

श्रीमत्कालीकुले चोक्तं पञ्चस्रोतोविवर्जितम् ।
दशाष्टादशभेदस्य सारमेतत्प्रकीर्तितम् ॥ ३३ ॥
पुष्पे गन्धस्तिले तैलं देहे जीवो जलेऽमृतम् ।
यथा तथैव शास्त्राणां कुलमन्तः प्रतिष्ठितम् ॥ ३४ ॥

तत् त्रिकमेव हि सर्वत्र देशकालादावविभेदस्य अनुच्छेदात् संविद-द्वयमयतयैव अवभासते । 'कुल संस्त्याने' इतिधात्वर्थानुगमात् कुलमुच्यते सथा व्यवह्रियते इत्यर्थः । एतदेव दृष्टान्तपुरःसरमुपपादयति यथेत्यादिना । न केवलमेतत् युक्तित एव सिद्धं, यावदागमतोऽपीत्याह श्रीमदित्यादि ॥३१-३४॥

परिव्याप्त है । इसके अवयवों का अनुसन्धान करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि, उत्तमाङ्ग कितने ऊर्ध्व स्तर पर विराजमान है और पादाधस्तल-वासिनी श्रीदेवी कितनी अधस्तात् अवस्थित हैं । यह आङ्गिक ऊर्ध्वाधरभाव भेदवाद में भी अद्वय देह-सद्भाव का सुन्दर दृष्टान्त है । यही दशा 'त्रिक' दर्शन की है । यह सारे शास्त्रों में व्याप्त है । त्रिक शरीर के सभी शास्त्र अङ्ग हैं ।

यह बात केवल युक्तिवाद से ही समर्थित नहीं है । अपितु शास्त्र भी समर्थन करते हैं । 'श्रीमत्कालीकुल' नामक आगम ग्रन्थ में यह शास्त्र भौतिक पञ्च स्रोतस्कता का निषेध करता है ।

यह दश और अष्टादशात्मकता का सार शास्त्र है । फूल में गन्ध शाश्वत प्रतिष्ठित है । वह पुष्पसार है । तिल में तैल सर्वत्र व्याप्त है । देह में जीवसत्ता की व्याप्ति सर्वानुभूत सत्य है । जल में अमृतत्व ओत प्रोत है । इन चारों दृष्टान्तों की तरह यह कह सकते हैं कि, सारे शास्त्रों का अन्तः प्रतिष्ठित तत्त्व कुल है । कुल तत्त्व ही त्रिक तत्त्व है । यह समस्त शास्त्रों का सार तत्त्व है ॥ ३१-३४ ॥

प्रकृतमेव उपसंहरति

तदेक एवागमोऽयं चित्रश्चित्रेऽधिकारिणि ।

चित्र इत्यत्र निमित्तमाह चित्रेऽधिकारिणीति ।

ननु कथमेकश्च अधिकारिभेदात् चित्रश्चेति सङ्गच्छतां नामेत्याशङ्क्य आह

तथैव सा प्रसिद्धिर्हि स्वयूथ्यपरयूथ्यगा ॥ ३५ ॥

स्वयूथ्यपरयूथ्यगतत्वेनापि हि सैव तथैकत्वेपि चित्रत्वात्मिका प्रसिद्धिः प्रवादः । नहि एवं कश्चित् त्वेव बौद्धादिरागमो य एकत्वेऽपि अधिकारिभेदात् न चित्र इति ॥ ३५ ॥

त्रिक शास्त्र की महत्ता का ही पुनः कथन कर रहे हैं। इसी के साथ इस विषय का उपसंहार करते हुए प्रसिद्धि रूप प्रकृत विषय का भी कथन कर रहे हैं—

इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि, चैतन्य के चमत्कार से चित्रात्मक यह त्रिक या कौल आगम ही सर्वोत्कृष्ट आगम है। इस आगम के अधिकारी विद्वद्वर्ग भी विश्ववैचित्र्य से विभूषित होते हैं। यहाँ अधिकारी वर्ग को चित्र के एकवचनत्व से विभूषित किया गया है। जैसे एक होने पर भी चित्रात्मकता का यहाँ कथन किया गया है, उसी तरह प्रसिद्धि भी एक है। साथ ही स्वयूथ्य और परयूथ्य गता भी मानी जाती है। यूथ सार्थवाह या समूह आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। स्वयूथ्य में पारम्परिकता का अर्थ निहित है। परयूथ्यगता प्रसिद्धि के विभिन्न सन्दर्भों का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। यह सिद्ध सत्य तथ्य है कि, बौद्धादि सारे आगम ऐसे ही हैं, जिनमें एकत्व सत्ता के साथ अधिकारी भेद से चित्रात्मकता भरी हुई है ॥ ३५ ॥

न केवलमत्र एकत्वं युक्तित एव सिद्धं, यावदागमतोऽपीत्याह

सांख्यं योगं पाञ्चरात्रं वेदांश्चैव न निन्दयेत् ।
यतः शिवोद्भवाः सर्वं इति स्वच्छन्दशासने ॥ ३६ ॥

ननु यदि सांख्यादयः सर्व एव शिवोद्भवास्तदेषां शैवतयैव कस्मात् न प्रसिद्धिरित्याशङ्क्य आह

एकस्मादागमाच्चैते खण्डखण्डा व्यपोद्धृताः ।
लोके स्युरागमास्तैश्च जनो भ्राम्यति मोहितः ॥ ३७ ॥

व्यपोद्धृता इति कपिलसुगतादिभिः । मोहितो भ्राम्यतीति तत्तत्प्रणीततया परस्परविरुद्धार्थाभिधायकत्वं मन्वानो यथावस्तुदर्शी न स्यादित्यर्थः ॥ ३७ ॥

एकत्व की बात केवल युक्ति पर ही निर्भर नहीं है। आगम भी इस तथ्य का समर्थन करते हैं। वही कह रहे हैं—

स्वच्छन्दतन्त्र से यह स्पष्ट उल्लेख है कि, सांख्य, योग, पाञ्चरात्र और वेदों को निन्दा कभी नहीं करनी चाहिये। ये सभी शास्त्र शिव से समुद्भूत हैं। इसलिये पञ्चवक्त्र विनिःसृत होने के कारण सर्वथा समादरणीय हैं। इनकी निन्दा की बात सोची भी नहीं जा सकती है। 'न निन्दयेत्' में विधि लिङ् का प्रयोग निन्दा के निषेध अर्थात् प्रशंसा का ही विधायक है, यह निश्चय है ॥ ३६ ॥

जिज्ञासु एक सुन्दर प्रश्न करता है। वह कहता है कि, यदि सारे शास्त्र शिव से ही समुद्भूत हैं, तो इनकी शैव शास्त्र के रूप ही प्रसिद्धि क्यों नहीं हुई ? इस जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं—

वस्तुतः आगम तो एक ही है। उसी एक आगम से मुण्डे मुण्डे मतिभिन्ना के आधार पर कपिल और सुगत सदृश खण्डित प्रतिभा से सम्पन्न सुविज्ञों ने खण्ड खण्ड रूपों में ही आंशिक आंशिक सत्य को

ननु यदि एक एव आगमस्तत् तुल्यप्रमाणशिष्टानां विकल्प इति नीत्या विकल्पोपपत्तेः किं विषयभेदेन कृत्यमित्याशङ्क्य आह

अनेकागमपक्षेऽपि वाच्या विषयभेदिता ।
अवश्यमूर्ध्वाधरतास्थित्या प्रामाण्यसिद्धये ॥ ३८ ॥
अन्यथा नैव कस्यापि प्रामाण्यं सिद्ध्यति ध्रुवम् ।

आनैक्येऽपि आगमानां प्रामाण्यसिद्ध्यर्थमूर्ध्वाधरतास्थित्या विषय-भेदित्वमवश्यवाच्यं, नो चेत् कस्यापि आगमस्य परस्परप्रतीघातात् प्रामाण्यं न सिद्ध्येदेवेति निश्चयः । तेन कञ्चित् क्वचित् नियुङ्क्ते इत्यादिदृशा कस्य-चिदेव अधिकारिणो नियतोपायोपदेशकं शास्त्रं प्रमाणमिति भावः ॥ ३८ ॥

व्यपोद्धृत करना प्रारम्भ कर दिया । परिणामतः शास्त्रों को राशि राशि अंशों की निरंश से हो निष्कृति हो गयी । लोक में भेदवाद का प्रसार हो गया । विभिन्न मेधावी विद्वज्जनों के द्वारा प्रणयन और परस्पर विरुद्ध अर्थों के प्रतिपादन से लोक मुग्ध हो उठा । इसका परिणाम उल्टा हुआ । सभी मोह मुग्ध मोहित लोक विपथभ्रान्त हो उठे । वस्तु के वास्तविक स्वरूप के दर्शन से सभो वञ्चित रह गये । इसी तथ्य को शास्त्रकार ने 'मोहितः भ्राम्यति' शब्दों के माध्यम से व्यक्त किया है ॥ ३७ ॥

श्लोक ३७ से यह उद्घोषित है कि, आगम वस्तुतः एक ही है । अन्य आगम अंशांशिकया व्यपोद्धृत हैं । कुछ लोग अनेक आगम मानते हैं । यहाँ दो पक्ष हो जाते हैं । १. एकागम पक्ष और २. आगमानैक्य पक्ष । आगम यदि अनेक हैं, तो उनकी प्रामाणिकता का निकष भी चाहिये । इसकी सिद्धि के लिये ऊर्ध्व और अधर अंगों की तरह इन आगमों को भी ऊर्ध्वाधर परीक्षा होनी चाहिये । इस परीक्षा में सर्वप्रथम उनके विषय भेद का अनुसन्धान करना पड़ता है । यदि ऐसा न किया जाय, तो उनकी स्थिति का आकलन असम्भव हो जायेगा । कुछ एक दूसरे के विपरीत मत रखते हैं । यथार्थ कौन है, इसकी प्रामाणिकता का निर्णय कैसे हो सकेगा ?

ननु नित्यत्वाविसंवादाभ्यामेव आगमप्रामाण्यसिद्धौ किं विषयभेदाभेद-वचनेनेत्याशङ्क्य आह

नित्यत्वमविसंवाद इति नो मानकारणम् ॥ ३९ ॥

नो मानकारणमिति प्रत्यक्षादावनित्यत्वेऽपि प्रामाण्यवर्णनात्, आकाशादौ नित्यत्वेऽपि तदसंभवात्, स्वर्गाग्निहोत्रवाक्यादावविसंवादा-दर्शनेऽपि प्रामाण्याभ्युपगमात्, अस्ति कूपे जलमित्यादौ कदाचित् तद्दर्शनेऽपि प्रामाण्यानुपपत्तेः ॥ ३९ ॥

इस स्थिति में व्यावहारिक उपाय काम में लाना चाहिये। जैसे अधिकारी किसी को कहीं नियुक्त कर देने का अधिकार रखता है, उसी तरह किसी अधिकारी द्वारा स्वयं सोच विचार कर निर्धारित और निश्चित उपाय प्रदर्शक ऐसे उपदेश किये जाते हैं, जिनसे स्वात्म का उत्कर्ष सिद्ध होता है और व्यावहारिकता का भी निर्वाह होता है। ऐसे साधिकार विचारित उपदेश प्रद शास्त्र ही प्रामाणिक माने जाते हैं। दूसरे शास्त्र नहीं ॥ ३८ ॥

शास्त्रों के प्रामाण्य के निर्धारित आधार क्या माने जाँय ? इसके लिये दो प्रमाणों पर ध्यान जाता है। १. नित्यत्व और २. अविसंवादित्व। इन पर विचार करें। पहले यह देखना चाहिये कि, इनके विचार शाश्वत हों और दूसरे यह देखना चाहिये कि, शास्त्र में किसी प्रकार की असंगति न हो, विचारों की असंबद्धता न हो और विचारों में परस्पर विरोध न हो। इन दो विन्दुओं से किसी आगम की प्रामाणिकता सिद्ध हो सकती है। ऐसी अवस्था में विषय भेदाभेद के निर्वचन की कोई आवश्यकता नहीं होती। पूर्वपक्ष के इस विचार को अमान्य करते हुए शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

नित्यत्व और अविसंवादत्व ये दोनों भी मानक प्रमाण नहीं माने जा सकते। आचार्य जयरथ ने इसका विशद विवेचन किया है।

अभ्युपगम्य अपि आह

अस्मिन्नंशेऽप्यमुष्यैव प्रामाण्यं स्यात्तथोदितेः ।

अस्मिन् नित्यत्वाविसंवादात्मनि प्रामाण्यकारणभागेऽपि अभ्युपगम्यमाने तथाभावोपदेशादमुष्य शैवस्यैव प्रामाण्यं स्यात्। वेदादेरपि शैवस्यैव सतो हि

'अन्तःसारविबोधैकपरवाङ्मयवर्णकः ।
अकृत्रिमपरावेशमूलसंस्कारसंस्कृतः ॥
शास्त्रार्थो लौकिकान्तोऽस्ति सप्तत्रिंशे परे विभौ।'

प्रमाण न मानने के कई कारण हैं। १. प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं। पर प्रत्यक्ष में नित्यत्व नहीं होता। प्रत्यक्ष को अनित्य मानते हैं। इसलिये नित्यत्व के विन्दु का निश्चित रूप से खण्डन हो जाता है। इसी तरह आकाश नित्य है। पर इसको प्रमाण नहीं माना जाता।

जहाँ तक अविसंवादित्व का प्रश्न है, यह भी असिद्ध हेतु है। श्रुति कहती है, स्वर्ग की अभिलाषा रखने वालों को यजन करना चाहिये। इसमें अविसंवाद नहीं है। कहाँ स्वर्ग और कहाँ अग्निहोत्र ? कोई संगति नहीं, कोई संबद्धता नहीं फिर भी यह वेदवाक्य है। इसका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है। 'कूप में जल है' इस सम्बन्ध में भी कदाचित् प्रामाण्य की अनुपपत्ति हो सकती है। अतः ये उक्त दोनों बिन्दु प्रमाण नहीं माने जा सकते ॥ ३९ ॥

इन दोनों को आंशिक सच्चाई पर विचार करने के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि, इनके प्रामाण्यांश की स्वीकृति के अनुसार भी शिवोदित त्रिक शास्त्र की ही प्रामाणिकता सिद्ध होती है। त्रिक शास्त्र ही नित्य शास्त्र है। इसमें कहीं किसी प्रकार का विसंवाद नहीं। वेदादि की नित्यता भी शैव शास्त्रोक्त परशिव संविद्विश्रान्ति के आधार पर निर्भर है। आगमिक उक्ति है कि.

इत्याद्युक्तयुक्त्या परादिदशाविश्रान्तौ नित्यत्वं

'.... .... नार्थवावः शिवागमः।'

इत्यर्थवादवाक्यादावपि अविसंवादः सिद्धयेत् ॥ ३९ ॥

ननु विसंवादे सत्यपि अर्थवादादिवाक्यानामस्त्येव गत्यन्तर, तत् किमनेनेत्याशङ्क्य आह

अन्यथाव्याकृतौ क्लृप्तावसत्यत्वे प्ररोचने ॥ ४० ॥

"आन्तरिक स्तर पर उल्लसित रहस्यबाध के वैशिष्ट्य से विभूषित पर वाङ्मय-तत्त्व के प्रतोक वर्णों से समुपेत, स्वाभाविक अकृत्रिम रूप से समुदित, परशिवावेश के मौलिक संस्कारों से पवित्रित, सर्वशास्त्रातिशायी शैव शास्त्रीय रहस्यार्थ से प्रथित इस ३७ तत्त्वात्मक परमेश्वर में ही यह लौकिकान्त प्रपञ्च विस्तार विश्रान्त है। अथवा ३७ आह्निकों में सुव्यक्त श्री तन्त्रालोक में विश्रान्त है।"

इन उक्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि, नित्यत्व परादि दशा में विश्रान्ति के आधार पर ही निर्धारित किया जा सकता है। इसी तरह एक उक्ति है कि,

"शिवागम अर्थवाद नहीं होता।'

अर्थवाद अतिशयोक्ति के आधार फलश्रुति को चरितार्थ करता है। अर्थवाद में अविसंवाद को सिद्धि भी हो सकती है ॥ ३९ ॥

विसंवाद के रहते हुए भी अर्थवाद आदि वाक्यों का प्रयोग शास्त्रों में होता ही है। इसलिये किसी वैमत्य या असंमति को स्थिति में प्रामाण्य में अन्तर नहीं आना चाहिये। इस मत को शास्त्रकार नहीं मानते। उनका कहना है कि,

किसी तथ्य को अन्यथा व्याकृति में अर्थात् असंगत विश्लेषण या व्याख्या की स्थिति में वाच्यार्थ में जो क्लृप्ति रूप शक्ति या योग्यता होती है, उसमें असत्यत्व अर्थात् मिथ्यात्वकी ही प्ररोचना होती है। मिथ्या-

अतिप्रसङ्गः सर्वस्याप्यागमस्यापबाधकः ।
अवश्योपेत्य इत्यस्मिन्मान आगमनामनि ॥ ४१ ॥

अन्यथाव्याकृताविति लक्षणादिना। क्लृप्ताविति वाच्यस्यैव अर्थस्य। असत्यत्वे इति रोदनाद्रुद इत्यादौ। प्ररोचने इति स्तुतिनिन्दादिना ॥ ४०-४१ ॥

एवं हि कुतोऽयं नियमो यदेकस्मिन्नपि आगमे कस्यचिदेव वाक्यस्य अन्यथाव्याकरणादि, न अन्यस्येति भङ्ग्या सर्वस्यैव आगमस्य प्रामाण्यविप्रलोपः प्रसज्जेत्, तदागमप्रामाण्यं वा हातव्यम्, अस्मदुक्तयुक्तिसतत्त्वं वा ग्रहीतव्यं, न अन्तरावस्थेयमित्याह

व्याख्या से मिथ्या भाव हो उद्दीप्त होता है। जैसे रुद्र की व्याख्या के अवसर पर कोई व्याख्या करे कि, रोदन के कारण रुद्र शब्द बनता है, तो इस व्याख्या से अर्थ का अनर्थ हो हो जाता है। शब्द का एक सामर्थ्य होता है। उस सही व्याख्या से वास्तविक अर्थ का बोध हो जाता है। यही व्याख्या की प्ररोचना है, सौन्दर्य बोध है।

यदि ऐसा न हुआ, अर्थ का अनर्थ हुआ, एक परिभाषा दूसरो जगह भी लागू हो गयी, तो निश्चित हो अतिप्रसङ्ग को अवकाश मिल जाता है। यह सभी आगमों में आनेवाला बाधक दोष है। ऐसो स्थितियाँ प्रामाण्य में बाधक सिद्ध होती हैं। इन सारी अर्थ गत समस्याओं अर्थात् १. अन्यथा व्याकृति, अक्लृप्ति असत्यत्व पूर्ण प्ररोचना आदि से सभो आगम अपबाधित हैं। केवल एक ही ऐसा आगम है, जो इनसे मुक्त है। इसलिये इसी में वास्तविक प्रामाण्य है। यही सर्व उपेय है। यही सर्वथा उपेय है। जैसे शिष्य गुरु के समोप जाता है, उसी तरह इसी शास्त्र के वैशिष्ट्य को अपना कर स्वात्म उत्कर्ष की ओर प्रवृत होना चाहिये ॥ ४०-४१ ॥

प्रश्न है कि, यदि किसी आगम में कुछ वाक्यों में पदों या शब्दों में अन्यथा व्याख्या आदि के दोष हों, तो उसकी प्रामाणिकता का इतने से

अवश्योपेत्यमेवैतच्छास्त्रनिष्ठानिरूपणम् ।

एतदिति समनन्तरोक्तम् ।

ननु सर्वागमानां तुल्येऽपि प्रामाण्ये कथं शैव एव आदरातिशय इत्या-शङ्क्य आह

प्रधानेऽङ्गे कृतो यत्नः फलवान्वस्तुतो यतः ॥ ४२ ॥

अतोऽस्मिन् यत्नवान् कोऽपि भवेच्छंभुप्रचोदितः ।

तथा च आगमोऽपि एवमित्याह

तत्र तत्र च शास्त्रेषु न्यरूप्यत महेशिना ॥ ४३ ॥

बाध होने पर सारी आगम शास्त्र-राशि ही अप्रामाणिक होने लगेगी। ऐसी दशा में या तो आगम प्रामाण्य की बात ही समाप्त कर देनी चाहिये या जैसा मेरे पक्ष के लोग कह रहे हैं, उसे ही स्वीकार कर लेना चाहिये। इस पर शास्त्रकार अपना मन्तव्य प्रकट कर रहे हैं कि,

जैसा मैंने पहले ही कह दिया है, इसका एक मात्र यही समाधान है। 'अवश्योपेत्य' शब्द गत निहितार्थ ही शास्त्र की निष्ठा का निरूपक हो सकता है। और कोई दूसरा नियम या कोई बात सर्वथा अमान्य है ॥ ४२ ॥

शैवागम के प्रति आदरातिशिय के कारण पर प्रकाश डाल रहे हैं—

प्रधान के प्रति ही यत्नवान् होना चाहिये। ऐसा प्रयत्न ही परिणामप्रद होता है, परिपाक मधुर होता है और उद्देश्य की सिद्धि में सहायक होता है। इसलिये इस शास्त्र के स्वाध्याय में संलग्न रहने से, उसमें निर्दिष्ट साधनाओं के विधान से एवं मोक्ष में उपादेय देशनाओं के अनुपालन से कोई व्यक्ति शम्भु के शक्तिपात रूपी अनुग्रह का अधिकारी हो सकता है, यह निश्चय है ॥ ४२ ॥

आगमिक मत भी यही है—

एतावत्यधिकारो यः स दुर्लभ इति स्फुटम् ।

यदुक्तं

'सिद्धातन्त्रमिदं देवि यो जानाति समन्ततः ।
स गुरुर्दुर्लभः प्रोक्तो योगिनोहृदिनन्दनः ॥' इति ।

एतदेव गुरूपदेशप्रदर्शनपुरःसरमर्धेन उपसंहरति

इत्थं श्रीशम्भुनाथेन ममोक्तं शास्त्रमेलनम् ॥ ४४ ॥

इत्थमुक्तेन प्रकारेण मम शास्त्रमेलनमुक्तं मया शास्त्रं मेलितमित्यर्थः । नच एतत् स्वोपज्ञमिति श्रीशम्भुनाथेनोक्तमिति शिवम् ॥

विभिन्न विविध शास्त्रों में यथासन्दर्भ जहाँ तहाँ भगवान् महेश्वर ने यही कहा है कि, इस शास्त्र में जो अधिकार प्राप्त कर लेता है, वह नितान्त सौभाग्यशाली साधक धन्य हो जाता है। ऐसा साधक वास्तव में बड़ा दुर्लभ होता है, यह स्पष्ट ही अनुभव में आता है। इस विषय में आगम कहता है कि,

"भगवान् शङ्कर कहते हैं कि, देवि पार्वति ! पूर्णरूप से साङ्गोपाङ्ग जो विद्वान सिद्धातन्त्र का पूर्णज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह दुर्लभ और धन्य पुरुष है । वास्तव में वही गुरु कहलाने का अधिकारी होता है। ऐसे भाग्यशाली पुरुष ही योगिनी हृदयनन्दन अर्थात् योगिनी भूः कहलाते हैं ।"

इसलिये इस शास्त्र का अभ्यास भाग्य की बात मानी जाती है। स्वात्मोत्कर्ष के लिये यह नितान्त आवश्यक कर्त्तव्य माना जाता है ॥ ४३ ॥

अन्त में अपने गुरुदेव के उपदेश की चर्चा करते हुए और प्रथम अर्धाली से इस आह्निक का उपसंहार करते हुये कह रहे हैं कि,

मेरे गुरुदेव श्री शम्भुनाथ ने मुझे शास्त्र मेलन नामक इस विज्ञान के रहस्य का उद्घाटन कर परम तृप्ति प्रदान की थी। मैंने भी उसी का इस आह्निक में अनुसरण किया है। यह मेरा स्वोपज्ञ प्रयास नहीं है। इति शिवम् ॥ ४४ ॥

निखिलागमार्थवीथीपथिकतया पृथुपदारोहः ।
पञ्चत्रिंशं व्यवृणोदाह्निकमेतज्जयरथाख्यः ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचिते
श्रीजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेते
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेकहिन्दीभाषाभाष्यसंवलिते
श्रीतन्त्रालोके मुद्राप्रकाशनं नाम
पञ्चत्रिंशमाह्निकम् समाप्तम्
॥ शुभं भूयात् ॥
॥ ३५ ॥

निखिल आगमों के रहस्यमय अर्थमयी पद्धतिका धर्म,
अपनाया मैंने, पाया भी पदारूढ़ होने का मर्म ।
पञ्चत्रिंश आह्निक व्याख्या में मैं कर्त्ता यह मेरा कर्म,
मैं जयरथ हूँ जीवरूप शिव शैव भाव ही मेरा वर्म ॥

\+ \+ \+ \+

शैवानुग्रहविग्रहे सुविमले 'हंसे' मयि स्वात्मनि,
इच्छाज्ञानकृतिस्वसङ्कुलतया जागर्त्ति या चेतना ।
शास्त्रे मेलकयाह्निके समुदिते पञ्चोत्तरे त्रिंशके,
नीर-क्षीर-विवेकनव्यनिपुणाव्याख्या तयाऽऽविष्कृता ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित
राजानकजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक
हिन्दीभाषाभाष्य संवलित
श्रीतन्त्रालोक का
शास्त्रमेलन नामक पैंतीसवाँ आह्निक परिपूर्ण
॥ इति शिवम् ॥
॥ ३५ ॥

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते

श्रीजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेते

डॉ० परमहंसमिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक

हिन्दीभाष्य संवलिते

षट्त्रिंशमाह्निकम्

अंशांशिकाक्रमेण स्फुटमवतीर्णं यतः समस्तमिदम् ।
शास्त्रं पूर्णाहन्तामर्शमयः शब्दराशिरवतु स वः ॥

इदानीं सर्वशास्त्रविश्रान्तिधाम्नः प्रक्रान्तस्य शास्त्रस्य आयातिक्रमं कथयितुमुपक्रमते

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित

राजानकजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत

डॉ० परमहंसमिश्र कृत-नीर-क्षीर-विवेक

हिन्दी भाष्य संवलित

श्रीतन्त्रालोक

का

छत्तीसवाँ आह्निक

पूर्णाहंतामर्शमय शब्दराशि जय सर्व ।
शास्त्र अंश जिसके सकल ऋग्यजुसामअथर्व ॥

प्रस्तुत त्रिकदर्शन रूप समस्त शास्त्रों की विश्रान्ति का मूलाधार यह

आयातिरथ शास्त्रस्य कथ्यतेऽवसरागता ।

तदेव आह

श्रीसिद्धादिविनिर्दिष्टा गुरुभिश्च निरूपिता ।
भैरवो भैरवी देवो स्वच्छन्दो लाकुलोऽणुराट् ॥ १ ॥
गहनेशोऽब्जजः शक्रो गुरुः कोटचपकर्षतः ।
नवभिः क्रमशोऽधीतं नवकोटिप्रविस्तरम् ॥ २ ॥

शिव प्रवर्त्तित शास्त्र स्वात्मोत्कर्ष विधायक आगमिक विधिशास्त्र है। इसके आयातिक्रम का वर्णन शास्त्रकार कर रहे हैं—

शास्त्र के समस्त मुख्य विषयों के प्रवर्त्तनक्रम में इसके इतिहास के विषय में भी लोग जानना चाहते हैं। अध्येताओं की यह आकाङ्क्षा होती है कि, इसका उत्स क्या है? इसका उद्भव कैसे हुआ है इत्यादि। ये सारी जिज्ञासायें आयातिक्रम के अन्तर्गत आती हैं। जिज्ञासायें ही अवसर भी उपस्थित करती हैं। इसी आधार पर शास्त्रकार कह रहे हैं कि, यह अवसर भी उपस्थित हो गया है कि, मेरे द्वारा आयातिक्रम का कथन किया जाय। यहाँ मैं वही कर रहा हूँ।

आयातिक्रम का प्रवर्त्तन सिद्धातन्त्रानुसार—

श्रीसिद्धातन्त्र में सर्वप्रथम इस विषय का निर्देश प्राप्त होता है। अन्यान्य गुरुजनों द्वारा प्रसिद्धि और परम्परा के अनुसार भी यह निरूपित है। इस क्रम में प्रधान रूप से नौ दिव्यात्माओं के नाम शास्त्र प्रसिद्ध हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. भैरव देव, २. भैरवो देवी, ३. स्वच्छन्द भैरव, ४. लाकुल, ५. अणुराट् (अनन्त) ६. गहनेश, ७. अब्जजन्मा (ब्रह्मा), ८. शक्र (इन्द्र) और ९. गुरु (वृहस्पति देवगुरु)। इन नौ दिव्यात्माओं के स्वाध्याय में एक विशेष

एतैस्ततो गुरुः कोटिमात्रात् पादं वितीर्णवान् ।

दक्षादिभ्य उभौ पादौ संवर्तादिभ्य एव च ॥ ३ ॥

अणुरनन्तः। अब्जजो ब्रह्मा। कोटयपकर्षत इति भैरवेण हि नवापि कोटयोऽधीताः, भैरव्या अष्टौ, यावत् गुरुणा कोटिः। क्रमश इति भैरवात् भैरव्या, ततः स्वच्छन्देन, यावत् शक्रात् गुरुणेति। एतैरिति भैरवादिभिः। यदागमः।

'भैरवाद्भैरवीं प्राप्तं सिद्धयोगीश्वरीमतम्।
ततः स्वच्छन्ददेवेन स्वच्छन्दाल्लाकुलेन तु॥
लकुलीशादनन्तेन अनन्ताद्गहनाधिपम् ।
गहनाधिपतेर्देवि देवेशं तु पितामहम् ॥
पितामहेन इन्द्रस्य इन्द्रेणापि बृहस्पतेः।
कोटिह्रासाच्छ्रुतं सर्वैः स्वच्छन्दाद्यैर्महाबलैः ॥' इति।

बात यह थी कि, इनके स्वाध्याय में एक-एक कोटि का अपकर्ष होता गया अर्थात् कमी आती गयी।

जैसे भगवान् भैरव ने नौ कोटि शास्त्रों का प्रवर्त्तन किया, तो भगवती भैरवी ने आठ कोटियों का ही स्वाध्याय किया। इस तरह स्वच्छन्द भैरव ने सात, लाकुल ने छः, अनन्त ने पाँच, गहनेश ने चार, ब्रह्मा ने तीन, शक्र ने दो और गुरुबृहस्पति ने एक कोटि प्रविस्तर शास्त्र का ही स्वाध्याय किया। अर्थात् नौ दिव्यात्माओं ने नवकोटि प्रविस्तर शास्त्र के स्वाध्याय का गौरव प्राप्त किया। कारिका में प्रयुक्त क्रमशः शब्द इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि, ये क्रमिक रूप से शास्त्रों के रहस्य का ज्ञान शिष्यवत् एक दूसरे से प्राप्त करते रहे। इस सम्बन्ध में आगम कहता है कि,

"सिद्धयोगीश्वरी मत नामक शास्त्र को भगवती भैरवी ने भगवान् भैरव की शिष्यता ग्रहण करने के उपरान्त प्राप्त किया। भगवती भैरवी से

पादं च वामनादिभ्यः पादार्धं भार्गवाय च ।
पादपादं तु वलये पादपादस्तु योऽपरः ॥ ४ ॥

पादं चतुर्थं भागं पञ्चविंशतिर्लक्षाणि । उभाविति अनेन पादाविति द्वित्वं प्राच्यपादसहभावप्रयुक्तमिति उक्तं भवति, अन्यथाहि द्विवचनादेव द्वित्वसिद्धावुभाविति अफलं भवेत्, गणना च विसंवदेत् । पादार्धमिति सार्धाणि द्वादश लक्षाणि। पादपादमिति सपादानि षट् लक्षाणि। अपरः पादपाद इति सपादषड्लक्षात्मेव। ततोऽर्धमिति सार्धद्वादशसहस्राधिकलक्ष-त्रयरूपम् । शिष्टादिति एवं रूपात् द्वितीयार्धात् । द्वौ भागाविति वक्ष्यमाणं रावणापहृतसार्धशतद्वयोपेतषट्पञ्चाशत्सहस्राधिकलक्षप्रमाणद्वितीयार्धापेक्षया

स्वच्छन्द भैरव ने प्राप्त किया। स्वच्छन्द से लाकुल ने सुना। सुनना दोक्षा प्राप्त करने पर होता है। लाकुल से अनन्त ने श्रवण किया। अनन्त से गहनेश ने, गहनेश से सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा ने, पितामह ब्रह्मा से इन्द्र ने, इन्द्र से वृहस्पति देवगुरु ने क्रमिक रूप से शास्त्र रहस्य प्राप्त किया।"

यह क्रमिक विकास किस प्रकार प्राप्त हुआ, इसकी ज्ञप्ति आप्तवाक्य के आधार पर होती है। शिव वक्त्र विनिःसृत विद्या देवक्रम से मानवता को वरदान रूप से प्राप्त हो सकी है, यह निश्चित है।

इसके बाद गुरुदेव गुरु वृहस्पति ने एक काटि के चार भाग कर दिये और उसमें से मात्र २५ लक्ष का विस्तार प्रसार किया। कारिका के अनुसार उभौ पादौ दो द्विवचनान्त प्रयोग हैं। पादौ के द्विवचनान्त प्रयोग से द्वौ पादौ अर्थ निकल आता है। उभौ प्रयोग व्यर्थ होकर "प्रथम और द्वितीय पाद दोनों पादों को दक्ष आदि को और संवर्त्त आदि को तृतीय पाद वितीर्ण कर दिया।" वामन आदि को उन्होंने चतुर्थ पाद का आधा भाग प्रदान किया। आधा भाग का तात्पर्य १२½ लाख होता है। भार्गव ने भी १२½ लाख मन्त्र प्राप्त किये। गुरु की एकान्त साधना के फलस्वरूप उनको इतने मन्त्रों की प्राप्ति हो सकी थी।

सिंहायार्धं ततः शिष्टाद्द्वौ भागौ विनताभुवे ।
पादं वासुकिनागाय खण्डाः सप्तदश त्वमी ॥ ५ ॥

प्रथमार्धात् सप्तषष्ट्युपेतैकचत्वारिंशच्छताधिकलक्षपरोमाणावित्यर्थः। भागमिति त्र्यशीत्यधिकद्वापञ्चाशत्सहस्रात्मकं तृतीयमंशमित्यर्थः। सप्तदशेति प्राच्यैर्नवभिः खण्डैः सह । एषां च दिव्यविषयत्वमवद्यातयितुमेवमुपसंहारः। स्वर्गादर्धं जह्रे इति हठमेलापभङ्ग्या प्राप्तवानित्यर्थः। अत इति रावणापहृतादर्धात्। अर्धमिति सपादशताधिकाष्टसप्ततिसहस्रसंख्याकम्। गुरुशिष्यक्रमादिति सर्वशेषः। एकान्नत्रिंशत्या खण्डैरिति प्राच्यैः सप्तदशभिः सह। अस्य च खण्डद्वयस्य भूलोकैकगोचरतां दर्शयितुं सप्तदशभ्यः पृथक्संख्यया निर्देशः। यदभिप्रायेणैव

स्वर्गादर्धं रावणोऽथ जह्रे रामोऽर्धमप्यतः ।
विभीषणमुखादाप गुरुशिष्यविधिक्रमात् ॥ ६ ॥
खण्डैरेकान्नविंशत्या विभक्तं तदभूत्ततः ।

इसी क्रम में बलि को पाद पाद अर्थात् सवा छः लाख मन्त्र प्राप्त हुये थे। इसका आधा तीन लाख बारह हजार पाँच सौ मात्र होता है। इतने मन्त्रों को पादपादार्ध कहते हैं। इतने मन्त्र सिंह ने प्राप्त किये थे। जो बचा, उसमें से दो भाग तथा चौथाई भाग अर्थात् एक लाख छप्पन हजार २५० मन्त्र गरुड को मिले। इसका आधा अर्थात् सिंह के भाग का पाद भाग अर्थात् ७८१२५ मन्त्र वासुकि को प्राप्त हो सके। यहाँ तक कुल नौ करोड़ मन्त्रों के सत्रह भाग हो गये थे।

इसके उपरान्त घटना क्रम आगे बढ़ता गया। तब तक रावण का युग आ पहुँचा। रावण ब्रह्माण्ड यात्रा में समर्थ था। वह स्वर्ग पहुँचा। जितना वासुकि को प्राप्त था, उतने मन्त्र ही इसने हठमेलापक पद्धति से प्राप्त कर लिया। रावण से विभीषण ने, विभीषण से राम ने इन मन्त्रों को प्राप्त

'शेषं कुमारिकाद्वीपे भविष्यति गृहे…………।' इत्यादि उक्तम् ।

तदिति नवकोटिप्रविस्तरं सिद्धयोगेश्वरीमतम् । यदागमः

'तत्र वृहस्पतिः श्रीमांस्तस्मिन्व्याख्यामथारभे ।'

इत्यादि उपक्रम्य

'दक्षश्चण्डो हरिश्चण्डो प्रमथो भोममन्मथौ ।
शकुनिः सुमतिर्नन्दो गोपालोऽथ पितामहः ॥
श्रुत्वा तन्त्रमिदं देवि गता योगीश्वरीमतम् ।
कोटिमध्यात् स्फुटं तैस्तु पादमेकं दृढोकृतम् ॥

किया। राम से मनुष्य योनि का ये मन्त्र प्राप्त हो सके। अब तक २१ खण्ड इन नौ करोड़ मन्त्रों के हो चुके हैं। ये सारे खण्ड गुरु शिष्य क्रम से ही आयात हुए हैं।

दिव्य लोक के सत्रह खण्ड और मानव लोक के चार खण्ड मिलकर इन मन्त्रों के विस्तार हुए हैं। मानव लोक के विस्तार के सम्बन्ध में आगम कहता है कि,

"दिव्यलोकों से कुमारिका खण्ड में भो इनका विस्तार हुआ।"

इस तरह सिद्ध हो जाता है कि, सिद्धयोगेश्वरी मत नव कोटि विस्तार वाला शास्त्र है। आगम की उक्ति है कि,

"श्रीमान् वृहस्पति ने इसकी व्याख्या आरम्भ की थी"।

यहाँ से आरम्भ कर, आगम में आगे कहा गया है कि,

"दक्ष, चण्ड, हरि, चण्डा, प्रमथ, भीम, मन्मथ, शकुनि, सुमति, नन्द, गोपाल, पितामह इन लोगों ने तन्त्र शास्त्र का श्रवण किया। भगवान् शङ्कर कहते हैं कि, देवि पार्वति! इसे सुनकर सिद्धयोगेश्वरी मत की परम्परा में पहुँचे। यहाँ प्रयुक्त 'गताः' शब्द प्राप्त हुए अर्थ में हो प्रयुक्त हुआ है। रहस्य में पहुँच एवं प्रवेश ही शास्त्र श्रवण का निष्कर्ष है।

संवर्ताद्यैस्तु वीरेशैर्द्वौ पादौ चावधारितौ।
वामनाद्यैर्वरारोहे ज्ञातं भैरवि पादकम्॥
अवाप्यार्धं ततः शुक्रो बलिनन्दस्तदर्धकम्।
सिंहस्तदर्धमेवं तु गरुडो लक्षमात्रकम्॥
लक्षार्धं तु महानागः पातालं पालयन् प्रभुः।
वासुकिर्नाम नागेन्द्रो गृहीत्वापूजयत्सदा॥
तदा तस्य तु यच्छेषं तत्सर्वं दुष्टचेतसा।
अपहृत्य गतो लङ्कां रावणो देवकण्टकः॥' इति,
'तदेवमागतं मर्त्ये भुवनाद्वासवस्य तु।
पारम्पर्यक्रमायातं रावणेनावतारितम्॥
ततो विभीषणे प्राप्तं तस्माद्दाशरथिं गतम्।' इति,

उन्होंने करोड़ों मन्त्रों के श्रवण के मध्य से केवल चौथाई अंश ही पचा सकने की क्षमता प्राप्त की। संवर्त्त और वीरेश पर्यन्त देवों ने दो चौथाई सिद्धि प्राप्त करने में ही सफलता प्राप्त की। भगवान् कह रहे हैं कि, देवि भैरवि ! वामन आदि दिव्यात्माओं ने एक चौथाई में ही प्रावीण्य प्राप्त किया। इसका आधा भाग शुक्र ने प्राप्त किया। बलि और उसके साथी नन्द आदि ने उसका आधा अंश प्राप्त किया।

उसका आधा सिंह ने आत्मसात् किया। गरुड ने एक लाख मन्त्र प्राप्त किये। पचास हजार मन्त्र महानागों ने प्राप्त किया। पाताल लोक का पालन करने वाले प्रभु नागेन्द्रवासुकि ने इन मन्त्रों को अत्यन्त पूज्यवत् महत्त्व प्रदान किया। इतने मन्त्रों के विभिन्न अधिकारियों द्वारा बचे खुचे समस्त मन्त्रों को दुर्भाव से ग्रस्त और नित्य देववर्ग के विरोध में लगे रहने वाले रावण ने स्वर्ग लोक से लङ्का में लाकर इनका प्रयोग किया।''

'खण्डैरेकोनविंशैस्तु प्रभिन्नं श्रवणार्थिभिः ।
नवकोटयन्तगं यावत्सिद्धयोगीश्वरीमतम् ॥' इति च ।

अत्र च लक्षमात्रमिति मात्रशब्देन लक्षार्धमिति असमांशवाचिना अर्धशब्देन च किंचिदधिकसंख्यास्वीकारः कटाक्षीकृतो यदवद्योतनाय ग्रन्थकृता भागपरिकल्पनमेव कृतम् ॥ ५-६ ॥

प्रतिखण्डं च अत्र अष्टखण्डत्वमस्तीत्याह

खण्डं खण्डं चाष्टखण्डं प्रोक्तंपादादिभेदतः ॥ ७ ॥

इसके अतिरिक्त मन्त्र विषयक मन्तव्य को आगम इस प्रकार व्यक्त कर रहा है—

"इस प्रकार यह पावन मन्त्रसमुदाय भूतल पर आ सका। स्वर्गलोक का यह वरदान भूतल को रावण द्वारा प्राप्त हो गया। यह रावण का विश्व के प्रति एक उपकार माना जा सकता है। रावण से इसे विभीषण ने प्राप्त किया। इसके बाद विभीषण से इसे राम ने प्राप्त किया। गुरुशिष्य परम्परा क्रम से इस प्रकार यह मन्त्रवर्ग राम तक पहुँच सका।"

इसके अतिरिक्त आगम इस विषय में और भी स्पष्टीकरण कर रहा है—

"यह सिद्धयोगीश्वरी मत मन्त्र की श्रवण विधि से दीक्षा प्राप्त करने वालों के द्वारा १९ खण्डों में विभक्त कर दिया गया है। इसकी पूरी संख्या ९ करोड़ की मानी जाती है।"

इस आगम के अनुसार गरुड लक्षमात्र मन्त्र संख्या प्राप्त कर सके थे। यहाँ मात्र शब्द और लक्षार्द्ध शब्द में प्रयुक्त अर्ध शब्द कुछ अधिक मन्त्रों की संख्या को संकेतित करते हैं। ग्रन्थकार ने इसी दृष्टि से मन्त्रों की संख्या में और उनके मनीषी श्रवणमननाधिकारियों के सम्बन्ध में भाग का प्रकल्प किया है ॥ ३-६ ॥

पादादीनेव निर्दिशति

पादो मूलोद्धारावुत्तरबृहदुत्तरे तथा कल्पः ।
सांहितकल्पस्कन्दावनुत्तरं व्यापकं त्रिधा तिस्रः ॥ ८ ॥
देव्योऽत्र निरूप्यन्ते क्रमशो विस्तारिणैव रूपेण ।
नवमे पदे तु गणना न काचिदुक्ता व्यवच्छिदाहीने ॥ ९ ॥

पादाद्याश्च एताः प्रतिनियतग्रन्थपरिमाणविषयाः पारिभाषिक्यः संज्ञाः । ननु तिस्रोऽपि देव्यस्त्रिधा चेदत्र प्रपञ्चात्मना रूपेण निरूप्यन्ते, तत् कस्मात् प्रत्येकं नवखण्डत्वं न उक्तमित्याशङ्क्य उक्तमनुत्तरं व्यापकमिति । अत एव उक्तं व्यवच्छिदाहीने नवमे पदे न काचित् गणना उक्तेति । यदागमः

'पादो मूलं तथोद्धार उत्तरं बृहदुत्तरम् ।
कल्पश्च संहिता चैव कथिता तव सुव्रते ॥
कल्पः स्कन्दं वरारोहे समासात्कथयामि ते ।
पादः शतार्धसंख्यातो मूलं च शतसंख्यया ॥

प्रतिखण्ड में इसके खण्डों को चर्चा कर रहे हैं—

शास्त्रकार के अनुसार इसके प्रति खण्ड में आठ खण्ड होते हैं । यह आगम कहते हैं । इन खण्डों के पृथक्-पृथक् पाद भी निर्धारित हैं । अग्रिम कारिका में पाद आदि का भी निर्देश कर रहे हैं—

१. पाद, २. मूल, ३. उद्धार, ४. उत्तर, ५. बृहदुत्तर, ६. कल्प तथा संहिता और ८. अनुत्तर ये आठखण्ड हैं । इसमें कल्प, स्कन्द और अनुत्तर को पुनः परिभाषित कर रहे हैं—

कल्प—

कल्प के अन्तर्गत पाद, मूल, उद्धार, उत्तर, बृहदुत्तर, कल्प, संहिता और अनुत्तर ये आठ आते हैं । इनमें से अनुत्तर व्यापक भाव है ।

उद्धारं द्विगुणं विद्धि चतुर्धा तूत्तरं मतम्।
अपरेयं वरारोहे अर्धाक्षरविवर्जिता ॥
एवमुत्तरतन्त्रं स्यात्कथितं मूलभैरवे।
यदापरा वरारोहे षड्भिर्भागैर्विवर्जिता ॥
तदा बृहोत्तरं तु स्यादमृताक्षरवर्जनात्।
अक्षराणां शतं नाम परिभाषा निगद्यते ॥

कल्पः सहस्रसंख्यातस्त्वपराया यशस्विनि।
द्वाषष्ट्यैव च श्लोकानां सहस्राणि चतुर्दश ॥

स्कन्द—

भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, देवि! पार्वति! संक्षेप में मैं तुम्हारे समक्ष स्कन्द के विषय में कहना चाहता हूँ। शतार्ध संख्या अर्थात् ५० मन्त्रों का एक पाद होता है। इसी तरह शतसंख्यक मन्त्रों का एक मूल होता है। उद्धार मूल की दूनी संख्याओं का माना जाता है। उत्तर चतुष्प्र-कारिका होती है। यह अपरा विद्या कहलाती है। इसके मन्त्रों में कहीं अर्धाक्षर इत्यादि नहीं होते। हे मूलभैरवि पार्वति! यह उत्तर तन्त्र कहलाता है।

जब अपरा विद्या के बाद परा को बात करनी हो, तो उस समय इनके अन्तर को समझ कर परा को परिभाषित करना चाहिये। इसमें पहले के छः भाग परिगणित नहीं होते। साथ ही इसमें अमृताक्षर 'अ' को कहते हैं। अकार का पृथक् प्रयोग इस मन्त्र में नहीं होता। जहाँ शताक्षर मन्त्र प्रयोग में लाये जाते हैं, उन्हें परिभाषा मन्त्र कहते हैं। कितना सुन्दर वातावरण था वह, जब रमणीय मनोहारी दिव्य कथोपकथन के विद्या सन्दर्भ में शिवशक्ति द्वारा सारा रहस्य उद्घाटित हो रहा होगा।

बासठ सहस्र संख्यात्मक अपरा के मन्त्र कल्प के अन्तर्गत आते हैं। वहीं चौदह हजार मन्त्रों की एक 'संहिता' होती है। ये सिद्ध योगीश्वरो

तदा सा संहिता ज्ञेया सिद्धयोगीश्वरे मते ।
कल्पस्कन्दः पुराख्यातः कल्पाद्विगुणितो भवेत् ॥
एवं तन्त्रविभागस्तु मया ख्यातः सुविस्तरात् ।' इति ॥ ९ ॥

ननु एतद्रामेण विभीषणात् प्राप्तं, तस्मात् पुनः किं कश्चिदाप न वेत्याशङ्क्य आह

रामाच्चलक्ष्मणस्तस्मात् सिद्धास्तेभ्योऽपि दानवाः ।
गुह्यकाश्च ततस्तेभ्यो योगिनो नृवरास्ततः ॥ १० ॥

मतानुसार व्यक्त परिभाषायें हैं—यह जानना चाहिये। कल्प से द्विगुणित संख्या में कल्प स्पन्द नामक एक परिभाषिक संज्ञा होती है। इस प्रकार से तन्त्र में मन्त्र विभाग कथित है और तन्त्र के आठ-आठ विभाग के अनुसार ६४ भेद स्पष्ट हो जाते हैं। संहिता, कल्प स्कन्द और अनुत्तर ये तन्त्र में मुख्य तीन विभाग ही विख्यात हैं। इसी तरह तीन अपरा, परा और परापरा देवियों के विस्तार भो इसमें आ जाते हैं। जहाँ तक नवम पद की बात है, उसमें कोई किसी प्रकार की विभाग कल्पना नहीं होतो। अतः गणना का यहाँ अस्तित्व ही नहीं है। यहाँ किसो प्रकार की व्यवच्छिदा नहीं होतो। जब व्यवच्छिदा हो नहीं, तो गणना की कल्पना कैसे हो सकतो है? इसीलिये शास्त्रकार ने व्यवच्छिदा के साथ हो न शब्द का प्रयोग किया है ॥ ७-९ ॥

प्रश्नकर्त्ता पूछता है, श्रीमन्! यह परम्परा विभोषण से राम को प्राप्त हुई। पौराणिक आस्था के विपरीत यह बात आगमिक प्रसिद्धि ही प्रतीत होती है। फिर भो विभोषण से प्राप्त करने के बाद क्या राम ने किसी को शिष्य नहीं बनाया? इस विद्या को किसी ने राम से प्राप्त नहीं किया? इन्हीं जिज्ञासाओं का समाधान कर रहे हैं?

शास्त्रकार के अनुसार इस विद्या को राम से सर्वप्रथम लक्ष्मण ने प्राप्त किया। इस प्रकार लक्ष्मण केवल सहोदर भ्राता ही न रहकर सहोदर

यदागमः

'विभीषणेन रामस्य रामेणापि च लक्ष्मणे।
लक्ष्मणेन तु ये प्रोक्तास्तेषां सिद्धिस्तु हीनता ॥
सिद्धेभ्यो दानवा ह्रस्वा दानवेभ्यश्च गुह्यकैः।
गुह्यकेभ्यो योगिभिश्च योगिभ्यश्च नरोत्तमैः ॥
संप्राप्तं भैरवादेशात्तपसोग्रेण भैरवि।' इति ॥ १० ॥

शिष्य भी हो गये। राम के समय की इस ऐतिहासिक परम्परा का भी इससे पता चलता है। इसके अनन्तर लक्ष्मण से सिद्धों ने इस विद्या को प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की। सिद्धों में दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ इन तीनों का अन्तर्भाव माना जाता है। सिद्धों से दानवों ने प्राप्त की। दनु से उत्पन्न वंश को दानव कहते हैं। राक्षसों की गणना इनसे अलग की जाती है। दानवों से गुह्यकों ने इसे प्राप्त किया। गुह्यकों से योगमार्ग को मुक्ति का लक्ष्य मानने वाले योगियों ने प्राप्त किया। योगिथों के माध्यम से ही यह विद्या उत्तम श्रेणी के मानवों को प्राप्त हो सको। इस विषय में आगमिक उक्ति है कि,

"विभीषण के द्वारा राम को एतद्विषयक विज्ञान प्राप्त हुआ। राम का यह विज्ञान लक्ष्मण में अधिष्ठित हो सका। लक्ष्मण से जिन लोगों को यह आगमिक विज्ञान प्राप्त हुआ। उन्हें सिद्ध कहते थे। उनकी सिद्धि में आवतारिक पुरुषों की अपेक्षा हीनता का भाव समाविष्ट था। 'ई' तन्त्र शास्त्र में ऐश्वर्य का प्रतीक मानो जाता है। हि+ईन+ता के योग से बने हीनता शब्द से इस विद्या के द्वारा सिद्धों के ऐश्वर्य को वृद्धि हुई, यह अर्थ भी संकेतित है। सिद्धों से दानवों को यह विज्ञान मिला किन्तु वे सिद्धों की समता नहीं प्राप्त कर सके। ह्रस्वता ने उनके भाग्य में उत्कष का अवरोध कर डाला। ह्रस्व का अर्थ शिष्य भाव भी हो सकत है। अर्थात् शिष्य बनकर उस विज्ञान को प्राप्त किया। दानवों से गुह्यकों

एवं श्रीसिद्धातन्त्रनिर्दिष्टमायातिक्रममभिधाय गुरुनिरूपितमपि अभिधातुमाह

तेषां क्रमेण तन्मध्ये भ्रष्टं कालान्तराद्यदा ।
तदा श्रीकण्ठनाथाज्ञावशात् सिद्धा अवातरन् ॥ ११ ॥
त्र्यम्बकामर्दकाभिख्यश्रीनाथा अद्वये द्वये ।
द्वयाद्वये च निपुणाः क्रमेण शिवशासने ॥ १२ ॥

ने, गुह्यकों से योगियों ने, योगियों से श्रेष्ठ मनुष्यों ने प्राप्त किया। यह मानव जाति में इस विज्ञान के आने का एक क्रम है। यह सब कुछ भगवान् भैरव के आदेश के अनुसार हो सम्पन्न हुआ। भगवान् भूतभावन कहते हैं कि, देवि! भैरवि! इसके लिये मनुष्यों को उग्र तपस्या करनी पड़ी। तपः प्रभाव से ही यह विज्ञान मानव जाति में विकसित हो सका" ॥ १० ॥

गुरुनिरूपित आयातिक्रम—

यहाँ तक जिस आयाति क्रम का वर्णन किया गया है, वह सिद्धातन्त्र के आधार पर ही किया गया है। यहाँ से आगे वह क्रम अपनाया जा रहा है, जिसे गुरु निरूपित क्रम कहा जाता है। गुरु परम्परा से प्राप्त इस क्रम का कथन कर रहे हैं—

काल चक्र की गति बड़ी विचित्र होती है। चक्रनेमि का उतार-चढ़ाव सामाजिक उत्कर्ष और पतन का मुख्य कारण है। सिद्धातन्त्र में वर्णित मन्त्रों को संख्या, उनके ह्रास और साधकों के असाफल्य ने मान्त्रिक परम्परा को अधःपतन की ओर धकेल दिया। परिणामतः वह क्रम भ्रष्ट हो गया। शास्त्रकार ने इसे कालान्तरता का परिणाम बताकर नये आयाति क्रम का प्रवर्त्तन किया है।

कालान्तर में उसी ह्रास के नैराश्यपूर्ण युग में भगवान् श्रीकण्ठनाथ का अवतरण हुआ। उन्होंने इसके निराकरण का प्रयास किया। अपने

आद्यस्य चान्वयो जज्ञे द्वितीयो दुहितृक्रमात् ।
स चार्धत्र्यम्बकाभिख्यः संतानः सुप्रतिष्ठितः ॥ १३ ॥
अतश्चार्धचतस्रोऽत्र मठिकाः संततिक्रमात् ।
शिष्यप्रशिष्यैर्विस्तीर्णाः शतशाखं व्यवस्थितैः ॥ १४ ॥

अद्वये इति त्रिककुलादौ । अर्धेति दुहित्रपेक्षया । अर्धचतस्र इति अर्धेन चतस्रः सार्धास्तिस्र इत्यर्थः ॥ १४ ॥

सत्प्रयास से उन्होंने इस दिशा में नयी आशा का संचार किया। सोयी निष्प्राण परम्परा को प्राणवन्त बनाया। नये उपदेश, और समादेश दिये। अपने आदेशों के अनुसार सिद्धों जैसी उच्च आत्माओं को अवतरित किया। देश में सिद्धों का अवतार हुआ। परम्परा को प्राणवत्ता प्राप्त हुई।

शैवशासन के त्रिस्रोतस् कमानुसार अद्वयवाद, द्वैतवाद और उन्हीं के साथ द्वयाद्वयवाद का भी प्रवर्त्तन हो गया। यह सब श्रीमान् श्रीकण्ठ की आज्ञा का सुपरिणाम था। श्री त्र्यम्बक ने अद्वयवाद की अद्वैतधारा का प्रवर्त्तन किया। श्री श्रीनाथ नामक सिद्ध आचार्य द्वारा द्वैताद्वैतवाद की धारा इस भावभूमि पर बह चली। इनमें से आचार्य त्र्यम्बक की परम्परा निर्बाध प्रवर्त्तित होती रही। उसकी सन्तति का क्रम निर्विघ्न चलता रहा।

आमर्दक परम्परा में आगे चलकर अवरोध आया किन्तु भगवत्कृपा से उनकी पुत्री का वंशक्रम चला। इस सन्तति क्रम को अर्ध त्र्यम्बक परम्परा के रूप में आज भी जानते हैं। श्रीमान् श्रीनाथ ने द्वैताद्वैत-धारा का संचार किया वह समाज को पुष्ट करता रहा। इस प्रकार आचार्य श्रीकण्ठ से चार क्रम चले १. आमर्दक क्रम २. त्र्यम्बक क्रम ३. श्री अर्ध त्र्यम्बक क्रम और ४. श्रीनाथ क्रम। अर्ध त्र्यम्बक क्रम को $\frac{1}{2}$ क्रम मान लेने पर यह अर्धचितस्र क्रम वाली परम्परा कहलाती है। कुछ लोग आमर्दक की

ननु इह त्रैयम्बिकैवमठिका वक्तुं न्याय्या तद्द्वारा अस्य शास्त्रस्य आयातिः, किं मठिकान्तरव्यावर्णनेनेत्याशङ्क्य आह

अध्युष्टसंततिस्त्रोतःसारभूतरसाहृतिम् ।

विधाय तन्त्रालोकोऽयं स्यन्दते सकलान्रसान् ॥ १५ ॥

गणना नहीं करते। वे ३½ क्रम ही स्वीकार करते हैं[१]। इसमें श्रीकण्ठ सक्षात् शिव हैं[२]। ये मठिकायें उनकी आज्ञा से सिद्धों द्वारा प्रवर्त्तित की गयीं। इसे ही सन्तति क्रम कहते हैं। शिष्यों और प्रशिष्यों द्वारा शत शतशाखाओं में ये पुष्पित होती रहीं ॥ ११-१४ ॥

श्रीतन्त्रालोक नामक इस तान्त्रिक विश्वकोष के वैशिष्ट्य का ख्यापन करते हुए माननीय मनीषी प्रवर महामाहेश्वर शास्त्रकार ने सूत्र रूप में इसकी आनन्दमयी रसधारा की ओर संकेत किया है।

इस महान् परम्परा के आयातिक्रम में किसी एक का ही प्राधान्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता कि, साक्षात् शिवरूप कैलाशवासी श्रीकण्ठ के आदेश से ही यह प्रवर्त्तित हुआ किन्तु न तो यह त्रैयम्बक मठिका के नाम से विभूषित किया जा सकता है और नहीं किसी अन्य नाम से।

श्रीतन्त्रालोक में ग्रन्थकार की पुरः कालीन और समकालीन समस्त तत्कालीन प्रचलित और समाज में सम्यक् रूप से अपनी मौलिकता का ख्यापन कर मनीषियों की मनीषा में भी जड़ जमा लेने वाली सारी अध्युष्ट सन्ततियों की स्रोतस्विनियों का निष्कर्ष-पीयूष प्रवाहित है। इसकी आनन्द-वादी रसधारा में सारी सन्ततियों का समाहार किया गया है। सारी रसधाराओं की तारङ्गिकता का स्पन्दन इसमें अनुस्यूत है। वर्ण-वर्ण को

१. श्री तन्त्रालोक खण्ड १।८ आचार्य जयरथ की टीका पृ० ३६

२. श्रीत० १।९

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति

उक्तायातिरुपादेयभावो निर्णीयतेऽधुना ।

इह आह्निकादाह्निकान्तरस्य परस्परमनुस्यूततां दर्शयितुमाद्यन्तयोरेकेन श्लोकेन पृथगुपसंहारोपक्रमयोरुपनिबन्धेऽपि सांप्रतं ग्रन्थान्ते तदाश्लेषमत्यन्तमवद्योतयितुमेकेनैव अर्धेन युगपत्तदुपनिबन्ध इति शिवम् ॥ १५ ॥

अपने कर्ण कुहर से सम्पृक्त कर इसकी सन्तति-प्राप्त रसध्वनि के आनन्द निःस्वन को सुना जा सकता है। यही नहीं इस रसधार के निःस्यन्द का आस्वाद भी लिया जा सकता है। रसमयी पीयूष राशि इससे अजस्र भाव से स्रवित हो रही है । यह श्लोक सहृदय हृदयों का आग्रहपूर्ण आवाहन है। इस सुधा निष्यन्द का आस्वाद आप अवश्य लें—यह अर्थ इसके वर्ण-वर्ण से फूट रहा है। कहीं भूल से भी कोई विचारक इससे वञ्चित न रह जाय, शास्त्रकार का यही स्वर इसमें उल्लसित है ॥ १५ ॥

इन पञ्चदश श्लोकों में आयाति क्रम का पाञ्चदश्य समाहित है। शास्त्रकार का शैव पीयूष रस प्रवाह यहाँ मानसरोवर की पूर्णता से ओत-प्रोत प्रतीत हो रहा है। ३६ तत्त्वों की अर्थवत्ता का सारा अर्थवाद इन ३६ आह्निकों में स्पन्दित हो रहा है। शास्त्रकार का आन्तर चैतन्य यहाँ प्रत्यक्ष प्रकाशमान हो गया है। इसका एकमात्र प्रमाण यह एक श्लोकी एक पूर्णता ख्याति की प्रतीक अर्धाली है। यह अर्धाली ही यहाँ पूर्णता का ख्यापन कर एकत्व की अद्वय भावना से भावित है।

अब तक प्रत्येक आह्निक को परस्पर संग्रथित करने की दृष्टि से प्रथम अर्धाली से उपसंहार और दूसरी अर्धाली से नये आह्निक का आरम्भ करने की शैली शास्त्रकार अपना रहे थे। यह ग्रन्थ में प्रतिपादित वर्ण्य विषयों की पारस्परिक अनुस्यूतता का प्रमाण था। यहाँ आकर शास्त्रकार ने उस शैली का परित्याग कर दिया है। उपसंहार और उपक्रम के उस

अध्युष्टसंततिक्रमसंक्रान्तरहस्यसंप्रदायेन ।
षट्त्रिंशमाह्निकमिदं निरणायि परं जयरथेन ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तविरचिते
राजानकजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेते
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलिते
श्रीतन्त्रालोके आयातिक्रमनिरूपणं नाम
षट्त्रिंशमाह्निकम् समाप्तम् ॥ ३६ ॥

॥ शुभं भूयात् ॥

उपनिबन्धन से मुक्त छत्तीस की तात्त्विक पूर्णता से शास्त्रकार परम सन्तुष्ट और तृप्त हैं। यहाँ सबको आत्यन्तिक आश्लेष मयता ही सन्दृब्ध है। इसलिये एक शब्द में उन्होंने पूरी बात कह दी—आयातिः उक्ता। आयाति क्रम को मैंने वाणी का विषय बना डाला। आयाति शब्द का उत्स परमशिव और उसका स्यन्दन यह विश्वात्मक प्रवाह! यही तो इस तन्त्रालोक की कला का लालित्य है। इसी में लीन होना है।

व्यक्ति लीन तभी हो सकता है, जब उसकी उपादेयता का उसे आकलन हो जाय। उपादेयता पूर्णता के परिज्ञान और उत्कर्ष के अनुसन्धान से प्रतीत होती है। अब उसी को निर्णीत करना अवशिष्ट रह गया है। अधुना शब्द शाश्वत वर्त्तमान का अवद्योतक है। शिव सर्वव्यापक शाश्वत तत्त्व है। उसी की शाश्वतता को यह निर्णय भी समर्पित है।

॥ इति शिवम् ॥

साधिकार सिद्धों के द्वारा प्रचलित शिव-सिद्धान्त-समर्थ
आयाति क्रम और गुरुजनों के संतति-विज्ञान समर्थ
साधिकार मन्थन कर जिसने पाया परपीयूष परार्थ
षट्त्रिंशाह्निक विषय विवेचन उसी जयन जयरथ का स्वार्थ!

\+ \+ \+

षट्त्रिंशाह्निकं संतत्या याति-क्रमसंयुतम् ।
'हंसेन' विश्रुतेनैतत् व्याख्यातं स्वात्मसंविदा ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तविरचित
राजानकजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक
भाषाभाष्य संवलित
श्रीतन्त्रालोक का
आयातिक्रमनिरूपण नामक छत्तीसवाँ आह्निक
सम्पूर्ण ॥ ३६ ॥

इति शिवम्

●

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते

श्रीजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेते

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलिते

सप्तत्रिंशमाह्निकम्

यन्मयतयेदमखिलं परमोपादेयभावमभ्येति ।
भवभेदास्त्रं शास्त्रं जयति श्रीमालिनी देवी ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित

श्रीराजानकजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत

डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक

भाषा भाष्य संवलित

श्रीतन्त्रालोक

का

सैंतीसवाँ आह्निक

तव तन्मयता सबको देती उपादेयता का वरदान ।
भवभेदास्त्र शास्त्रमयि मालिनि ! देवि विश्व तेरा अवदान ॥
शास्त्रकार के नवनिर्णय में है प्रसिद्धि का अनुसन्धान ।
जय शाश्वत उपजीव्य जननि ! जय आगम का रहस्य उद्गान ॥

तदेवमुपक्रान्तस्यैव शास्त्रस्य उपादेयभावं निर्णेतुं प्रागुपजीवनेन पीठिकाबन्धमारचयति

उक्तनीत्यैव सर्वत्र व्यवहारे प्रवर्तिते ।
प्रसिद्धावुपजीव्यायामवश्यग्राह्य आगमः ॥ १ ॥

इह सार्वत्रिके व्यवहारे प्रवर्तिते पञ्चत्रिंशाह्निकोक्तनीत्या प्रसिद्धावुपजीव्यायामागम एव अवश्यग्राह्यो न अन्यथा किञ्चित् सिद्धयेत् ॥ १ ॥

शास्त्रकार उपादेय भाव के निर्णय की प्रतिज्ञा कर चुके हैं । आचार्य जयरथ शास्त्रकार के हृदय के प्रत्येक स्पन्दन से आन्दोलित होने वाले तत्त्वज्ञ आचार्य हैं । उन्होंने शब्दराशिमयी मालिनी देवी की उपजीव्यता में उल्लसित शास्त्रों की उपादेयता का अनुसन्धान कर उन्हीं देवी की माङ्गलिकता का सन्दर्भानुसारी प्रवर्त्तन किया है । शास्त्रों को उन्होंने भव-भेदास्त्र की संज्ञा दी है । भेद इस तरह हेय हो जाते हैं । शास्त्र ही भेदमयता रूप हेय का हान करते हैं । अतः यही उपादेय हैं । इस दृष्टि से 'श्रीतन्त्रालोक' रूप यह आगमिक उपनिषद् सर्वतोभावेन सर्वातिशायी परमोपादेय शास्त्र है, यह सिद्ध हो जाता है ।

शास्त्रों का उपजीवन (शास्त्रीयता का साधन) उपजीव्या शक्ति में निहित है । इसी भाव भूमि को शास्त्रकार इस प्रथम कारिका में प्रस्तुत कर रहे हैं—

विगत आह्निक में व्यक्त किये गये विचारों और नीतियों के अनुसार ही यह सारा विश्व-व्यवहार प्रवर्त्तमान होता है । यह निश्चित सिद्धान्त है कि, व्यवहार के संचालन के मूल में प्रसिद्धि ही प्रतिष्ठित है । प्रसिद्धि ही उपजीव्य होती है । महाभारत में एक उक्ति है—"सर्वेषां कविमुख्याना मुपजीव्यो भविष्यति" अर्थात् सभी कवियों का उपजीव्य जैसे महाभारत शास्त्र है, उसी तरह समस्त जागतिक व्यवहार की उपजीव्या प्रसिद्धि है ।

ननु लौकिकप्रमाणगोचरे वस्तुनि अस्तु प्रसिद्धिनिबन्धना सिद्धिः, सकलप्रमाणगोचरे योगिनामपि अगम्ये शिवे तु कथमेवं स्यादित्याशङ्क्य आह

यथा लौकिकदृष्टचान्यफलभाक् तत्प्रसिद्धितः ।
सम्यग्व्यवहरंस्तद्वच्छिवभाक् तत्प्रसिद्धितः ॥ २ ॥

अन्येति अदृष्टम् ॥ २ ॥

इस स्थिति में यह विचार अनिवार्यतः आवश्यक होता है कि, इस प्रसिद्धि से क्या ग्रहण किया जाय ? शास्त्रकार कह रहे हैं कि, उपजोव्या प्रसिद्धि से जो अवश्य रूप से ग्राह्य है, वही आगम है। अवश्य ग्राह्य आगम की विशेषता का प्रदर्शन कर रहे हैं। यदि ऐसा नहीं कर सकते हैं, तो यह भी निश्चित है कि, कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता ॥ १ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, लौकिक प्रमाण रूप में प्रस्तुत पदार्थों में ही प्रसिद्धिनिबन्धना सिद्धि मानो जानी चाहिये। सकल प्रमाण गोचर शिव में तो योगियों को भी अगम्यता के कारण कठिनाई होती है। ऐसी स्थिति में क्या निर्णय लेना चाहिये ? शास्त्रकार इन आशङ्काओं के समुचित उत्तर दे रहे हैं—

वैचारिक स्तर पर यह तथ्य अनुभवगम्य होता है कि, किसो फल की प्राप्ति के लिये या किसी परिणाम पर पहुँचने के लिये विशेष दृष्टि की आवश्यकता होती है। ये दृष्टियाँ दो प्रकार की होती हैं—

१. लौकिक दृष्टि और सम्यक् व्यवहारमयी अलौकिक दृष्टि।

व्यक्ति जब लौकिक दृष्टि से किसी विशेष विन्दु पर विचार करता है, तो उसके सामने अंश अंश में व्यक्त खण्डित लोकगत पदार्थ राशि से समन्वित खण्डित प्रसिद्धि के अनुसार निर्णय लेना पड़ता है। ये सारे निर्णय अदृष्ट पर निर्भर होते हैं। क्योंकि व्यक्त, निश्चित रूप से अवास्तविक होता है। अवास्तविक प्रसिद्धि अदृष्ट परिणाम ही दे सकतो है।

ननु एवमनेकप्रकारः प्रसिद्ध्यात्मा आगम इति कस्य तावदवश्यग्राह्य-त्वमित्याशङ्क्य आह

तदवश्यग्रहीतव्ये शास्त्रे स्वांशोपदेशिनि ।
मनाक्फलेऽभ्युपादेयतमं तद्विपरीतकम् ॥ ३ ॥

वहीं जब सम्यक् व्यवहारमयी अलौकिक दृष्टि से विश्व की वास्त-विकता पर विचार करते हैं, तो इसके मूल में वह प्रसिद्धि अवस्थित प्रतीत होती है, जिसमें सर्वमयता की मधुमती सुधा की धार बहती प्रतीत होती है। सुधा का यह अमृत-आस्वाद शिवत्व का श्रेय प्रदान करता है। व्यक्ति या साधक शिवत्व से विभूषित हो जाता है। प्रसिद्धि का यही आगमिक अवदान है ॥ २ ॥

जिज्ञासु यह सुनकर तुरत पूछ बैठता है कि, क्या प्रसिद्धियाँ भी कई प्रकार की होती हैं ? और प्रसिध्यात्मा आगम भी अनेक प्रकार का होता है ? ऐसी दशा में प्रथम श्लोक में वर्णित अवश्य ग्राह्यता किस आगम में स्वीकार की जाय ? इन सभी जिज्ञासाओं का समाधान शास्त्रकार कर रहे हैं—

प्रस्तुत शास्त्र की उपादेयता का पीठिकाबन्ध अन्य शास्त्रीय सन्दर्भों को भी समझाने का माध्यम होता है। आगम की अवश्य ग्राह्यता स्वाभाविक है। अध्येता इसका अनुसन्धान करता है। उसके सामने अनन्त शास्त्र हैं। उसने ग्रहण करने की दृष्टि से किसी एक शास्त्र का अभ्यास प्रारम्भ किया। उसने पाया कि, यह शास्त्र तो 'स्व' अर्थात् स्वात्म की परसंविद् व्याप्ति के आधार परमेश्वर के 'अंश' मात्र का ही उपदेश करता है। यह मनाक् अर्थात् आंशिक फल प्रदान करने वाला है। इस अनुभव के बाद वह यह निश्चय करता है कि, १. यह अवश्य ग्रहीतव्य नहीं है। २. यह अंशमात्र का उपदेश करता है। ३. यह अल्पपरिणामी है और ४. यह परमोपादेयत्व से रहित है। इस आधार पर वह उसके विपरीत अन्तिम निर्णय लेता है कि,

यथा खगेश्वरीभावनिःशङ्कत्वाद्विषं व्रजेत् ।
क्षयं कर्मस्थितिस्तद्वदशङ्काद्भैरवत्वतः ॥ ४ ॥
यदार्षे पातहेतूक्तं तदस्मिन्वामशासने ।
आशुसिद्ध्यै यतः सर्वमार्षं मायोदरस्थितम् ॥ ५ ॥

तद्विपरीतमिति महाफलम् ॥ ५ ॥

ऐसे शास्त्र अवश्य ग्राह्य नहीं हो सकते। उपादेयता तो मनाक् फलवत्ता के विपरीत महाफलदायिकता में ही निहित होती है।

इस तथ्य को दृष्टान्त के माध्यम से समझने-समझाने का प्रयास शास्त्रकार कर रहे हैं। उनका कहना है कि, जैसे विष के निराकरण के लिये गारुडी विद्या का आश्रय लेते हैं और उसके भावावेश में आने पर निःशङ्कता आ जाती है, तथा विष का प्रभाव समाप्त हो जाता है, उसी तरह महाभैरव भाव से भावित होने पर कर्म स्थिति का विनाश हो जाता है। किसी प्रकार की शङ्का नहीं रह जाती। निःशङ्क भाव से विहार करता हुआ साधक साक्षाद् भैरवत्व से विभूषित हो जाता है। अर्थात् कर्मस्थिति रूप तीनों मलों से आवृत अणुत्व एक प्रकार का विष है। इसके निराकरण के अनन्तर निःशङ्क विश्वविहार के लिये भैरवी भाव से भावित हो जाता है।

इस वाम शासनतन्त्र के अनुशासन से ही भैरवी भाव की उपलब्धि होती है। अन्य शास्त्रों के स्वाध्याय से इसके विपरीत पतन ही हाथ लगता है। आगमों में यह कहा गया है कि, ऋषियों द्वारा प्रणीत आर्ष शास्त्रों के स्वाध्याय से व्यक्ति का पतन हो जाता है। यहाँ पतन का तात्पर्य आत्म विस्मृति है। आत्मविस्मृति ही अधःपात माना जाता है। आत्मविस्मृति का कारण है, माया के उदर में अवस्थित रहकर विभिन्न लौकिक आकर्षणों में पड़ा रहना। अर्थात् यहाँ की जागतिक सिद्धियों की समीहा में स्वात्म को खपा देना। कहाँ व्यक्ति को स्वात्मसंविद् को आशु सिद्धि के उद्देश्य से

एवंविधं च एतत् किमित्याशङ्क्य आह

तच्च यत्सर्वसर्वज्ञदृष्टं

सर्वसर्वज्ञदृष्टमपि किं भवेदित्याशङ्कापुरःसरीकारेण तत्वस्वरूपं दर्शयति

तच्चापि किं भवेत् ।

यदशेषोपदेशेन सूयतेऽनुत्तरं फलम् ॥ ६ ॥

वामशासन में रहकर भैरवी भाव भावित होना चाहिये और कहाँ आर्ष ग्रन्थों के मोह पाश में निबद्ध होकर 'गोधूमश्च मे श्यामाकाश्च मे' की रट लगाने में तल्लीन हो जाते हैं। यही आर्ष ग्रन्थों का पात हेतुत्व है। इसी आधार पर मुहावरा बन गया है कि,

'सर्वमार्षं मायोदरस्थितम्' ।

अर्थात् ऋषियों की समस्त रचनायें विश्वात्मक जागतिक सिद्धियों के उद्देश्य से की गयी हैं ॥ ३-५ ॥

आर्षशास्त्रों की मायोदर अवस्थिति का कथन करने के अनन्तर वामशासनस्थ शास्त्रों के स्वरूप पर प्रकाश प्रक्षिप्त कर रहे हैं—

वामशासनस्थ सभी शास्त्र विभिन्न विशेषताओं से संवलित होते हैं। इनकी सर्वोत्कृष्ट विशेषता है कि, ये सर्व-सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा दृष्ट और प्रवर्त्तित हैं। ये मायोदर स्थित नहीं होते। इनके स्वाध्याय से स्वात्म-संवित्ति का परिष्कार होता है और परिणामतः भैरवी भाव की उपलब्धि हो जाती है। इस अनुभव के बाद यह प्रश्न निरर्थक हो जाता है कि, इन विशेषताओं से क्या लाभ? शास्त्रकार कह रहे हैं कि, इनके सर्वतो भावेन समग्र उपदेशों के श्रवण, मनन, चिन्तन और अभ्यास के परिणाम स्वरूप एक अचिन्त्य 'अनुत्तर' फल की उपलब्धि हो जाती है। शास्त्रकार ने श्लोक चार और पाँच का दुबारा प्रयोग श्लोक ग्यारह बारह के रूप में किया है। श्लोक तीन और छः के बीच में आने वाले इन दोनों श्लोकों का

अत्र च अन्तरा श्लोकद्वयमन्यथा लिखितमधरे व्यत्ययेन न्याय्यमिति तत्रैव व्याख्यास्यामः ॥ ६ ॥

ननु को नाम अयमशेष उपदेशो येन तदेवंविधं स्यादित्याशङ्क्य आह

यथाधराधरप्रोक्तवस्तुतत्त्वानुवादतः ।
उत्तरं कथितं संवित्सिद्धं तद्धि तथा भवेत् ॥ ७ ॥

यथा अत्र वैदिकाद्युक्तं क्रियादि वस्तुतत्त्वमनूद्य प्रकृष्टं, तथा ज्ञानयोगादि स्वानुभवसिद्धमुक्तमिति ॥ ७ ॥

आम्रेडित प्रयोग प्रासङ्गिक होने के कारण उचित है। इनकी व्याख्या वहीं की गयी है ॥ ६ ॥

श्लोक ६ में अनुत्तर फल प्रद अशेषोपदेश की चर्चा की गयी है। इस श्लोक में उसी का विश्लेषण कर रहे हैं—

शास्त्रों के कई स्तर लोक में प्रचलित हैं। कुछ शास्त्र 'अधर' तन्त्र और कुछ (अधराधर) तन्त्र भी हैं। इनमें परम तत्त्व के स्थान पर वस्तु तत्त्व की सापेक्ष आणवोय संवित्ति से भावित उत्तर मिल जाता है, परन्तु वह बन्ध प्रद ही होता है। वहीं ऊर्ध्वशासन द्वारा परमतत्त्वमयी देशना से स्वात्म संवित्ति सद्भाव संभूति के संदर्शन का लाभ साधक को प्राप्त हो जाता है। शास्त्रकार ने इसी भाव को दर्शाने के लिये शिव के अशेषोपदेश से अनुत्तर फल की बात श्लोक ६ में की है। इस प्रस्तुत कारिका के अनुसार अधराधर शासन में विशेष विशेष वस्तुओं और तत्त्वों के विषय में जब बातें की जातो हैं तो, उनसे अनुवादात्मक अर्थ का उन्मेष हो, हो जाता है। यही उत्तर-तत्त्वगत अनुभूति का स्तर है। जब कि जीवन का लक्ष्य अनुत्तर फलोपलब्धि ही मानी जाती है। वैदिक आदि अधरशास्त्रों में बतलायो गयीं क्रियायें वस्तु-तत्त्व के अनुवाद से ही व्यक्त होती हैं। जब कि स्वात्मसंवित्ति से सिद्ध ज्ञान योग आदि अनुवाद से नहीं अपि तु स्वानुभव से ही सिद्ध होते हैं। यही अनुत्तर फलवत्ता है। 'तथा भवेत्' अर्थात् संवित्शुद्ध होता है ॥ ७ ॥

अत एव अधरशासनेषु असर्वप्रणीतत्वं निश्चीयते इत्याह

यदुक्ताधिकसंवित्तिसिद्धवस्तुनिरूपणात् ।
अपूर्णसर्ववित्प्रोक्तिर्ज्ञायतेऽधरशासने ॥ ८ ॥

ननु अधरशासनेषु अपि

'आत्मा ज्ञातव्यो मन्तव्यः ।'

इत्यादिदृशा ज्ञानादि उक्तमिति अत्र कस्मादसर्वप्रणीतत्वं ज्ञायते इत्युक्तमित्याशङ्क्य आह

अधरशास्त्रों की एक और कमी और असामर्थ्यमयी अशक्तता की ओर ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं—

वास्तव में शास्त्र की प्रामाणिकता उसकी मर्यादा, आनुशासनिक सामाजिक उपयोगिता और महत्ता इसी तथ्य में निहित है कि, वह सर्ववित् प्रणीत हो। सर्ववित् एक मात्र सर्वज्ञ शिव हो हैं। सभी ऊर्ध्वशासन सर्वज्ञ द्वारा ही प्रणीत हैं। इसके विपरीत सारे अधरशास्त्र असर्ववित्प्रणीत हैं। ऋषि भी सर्ववित् नहीं होते। उनके द्वारा दृष्ट ऋचायें और मन्त्र आदि इसी श्रेणी में आते हैं। अतएव वेद भी अधर शासन में ही परिगणित हैं। यह अलग बात है कि, किसी शास्त्र में अधिकाधिक परिष्कृत संवित्तिसिद्ध वस्तुतत्त्व का निरूपण हो, फिर भी वह सर्ववित्प्रणीत न होने के कारण अधर शासन में हो परिगणित होते हैं।

यह नहीं कहा जा सकता कि, छिटफुट रूप से उनमें भी ज्ञानादि की बातों के वर्णन हैं, अतएव श्रेष्ठ हैं। जैसे,

"आत्मा जानने योग्य है, मनन करने योग्य है" आदि उपदेश—

श्रुति में वर्णित हैं। ऐसा होने पर भी वे असर्वज्ञप्रणीत ही हैं। इसलिये अधर शासन में ही परिगणित करने योग्य हैं।

ऊर्ध्वशासनवस्त्वंशो दृष्ट्वापिच समुज्झिते ।
अधःशास्त्रेषु मायात्वं लक्ष्यते सर्गरक्षणात् ॥ ९ ॥

समुज्झिते इति तत्रैव प्ररोहाभावात्। सर्गरक्षणादिति लोकरक्षणात् हेतोरित्यर्थः ॥ ९॥

किञ्च अत्र प्रमाणमित्याशङ्कय आह

श्रीमदानन्दशास्त्रादौ प्रोक्तं च परमेशिना ।
ऋषिवाक्यं बहुक्लेशमध्रुवाल्पफलं मितम् ॥ १० ॥
नैव प्रमाणयेद्विद्वान् शैवमेवागमं श्रयेत् ।

ये ज्ञान आदि की बातें ऊर्ध्वशासन के वर्ण्य विषयों के अंश मात्र हैं। उनमें सत्यज्ञान की झलक मात्र है। वास्तविकता से वे समुज्झित हैं। अर्थात् ज्ञान के अङ्कुर उनसे नहीं फूटते। इसी आधार पर उन्हें अधःशास्त्र कहते हैं। इनमें माया तत्त्व का प्राधान्य है, प्रभाव है और मायीय आवरण का प्रभाव विश्वतः परिलक्षित होता है। इसमें सर्ग के सृष्टि प्रवाह के संरक्षण की सोद्देश्य उक्तियाँ हैं। जहाँ लोकरक्षण की दृष्टि का ही प्राधान्य है, जहां मायीय आवरण का आलान है और जहां असर्ववित्प्रणीतता के दुष्प्रभाव की अनुस्यूतता व्याप्त है, वहाँ की अधः स्थिति पर दया ही आनी चाहिये ॥ ८-९ ॥

इस प्रसङ्ग को आगे बढाते हुए शास्त्रकार शास्त्रीय प्रामाणिकता प्रस्तुत कर रहे हैं—

श्रीमदानन्द शास्त्र आदि शास्त्रों में स्वयं परमेश्वर शिव ने कहा है कि, ऋषियों के वाक्यों में चार दोष मुख्य रूप से ध्यान देने योग्य हैं। १. वे अत्यन्त क्लिष्ट हैं। २. वे ध्रुव भाव से रहित हैं। किसी चरम परम तत्त्वज्ञानके निर्णायक नहीं हैं। ३. इनमें पूर्ण फलवत्ता का अभाव है। स्वर्ग आदि फलवत्ता तक ही वे सीमित हैं। और ४. उनमें पारिमित्य की व्याप्ति

ननु मन्वादिशास्त्रं यदि न ग्राह्यं, तत् किं न अयं सर्व एव आचारो भ्रश्येदित्याशङ्क्य आह

यदार्षे पातहेतूक्तं तदस्मिन् वामशासने ॥ ११ ॥
आशुसिद्धयै यतः सर्वमार्षं मायोदरस्थितम् ।

पातहेतूक्तमिति पातहेतोः सुरादेरुक्तं वचनमित्यर्थः पातकार्युक्त-मिति तु स्पष्टः पाठः । मायोदरस्थितमिति लोकरक्षापरत्वात् ॥

का ही सार्वत्रिक प्रभाव परिलक्षित होता है। इन दोषों के शाश्वतिक दुष्प्रभाव के कारण शास्त्रकार यह निर्देश कर रहे हैं कि, इनको कभी प्रमाण नहीं मानना चाहिये। शैव आगम का ही सर्वदा आश्रय ग्रहण करना चाहिये ॥ १० ॥

मनु प्रवर्त्तित मानव धर्मशास्त्र आदि भी इसी दृष्टि से अधःशास्त्र सिद्ध होते हैं। जिज्ञासु यह आशङ्का व्यक्त कर रहा है कि, यदि अधःशासन मानकर उसका अनुगमन नहीं किया जायेगा, तो अनर्थ ही हो जायेगा। सारी की सारी सामाजिकता और भारतीय संस्कृति के भ्रंश का भय भी इसमें है। इस स्थिति में क्या करना चाहिये ? शास्त्रकार इसका समाधान कर रहे हैं—

वस्तुतः इस विषय में दूरदर्शिता पूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। समाज का भ्रंश आत्मभ्रंश पर ही निर्भर होता है। व्यष्टि व्यष्टि के उत्कर्ष से ही समष्टि का उत्कर्ष संभव है।

एक उदाहरण पर विचार करें—समाज में सुरा सर्वतो भावेन वर्जित होनी चाहिये। यह अधःशासन की मान्यता है। सुरा आर्ष दृष्टि से पात हेतु है। 'पात हेतु' शब्द की जगह एक अन्य पाठ भी है। वहाँ पातकारि' शब्द का प्रयोग है। इस पाठ को ही आचार्य जयरथ उचित मानते हैं। इसके अनुसार' सुरा' पापकारिणी होती है या अधःपात करा देती है—यह अर्थ होता है।

ननु एवं कर्म स्थितिः किं नश्येदित्याशङ्कां दृष्टान्तोपदर्शनपूर्वकम-पाकरोति यथेत्यादिना

यथा खगेश्वरीभावनिःशङ्कत्वाद्विषं व्रजेत् ॥ १२ ॥
क्षयं कर्मस्थितिस्तद्वदशङ्काद्भैरवत्वतः ।

ननु भवतु एवं भैरवत्वापत्त्या, तावता तु तदागमस्य अवश्यग्राह्यत्वं कुतस्त्यमित्याशङ्क्य आह

इसके विपरीत वामशासन में सुरा आशुसिद्धि को प्रमुख हेतु मानी जाती है। यह शिवात्मकता प्रदान करती है। यह दृष्टि का अन्तर है। व्यक्ति का परिष्कार सुरा से सम्भव है और ऐसा समाज भ्रष्ट नहीं माना जा सकता। ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं। इन पर पूर्ण विचार करने पर निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि, सारा आर्ष साहित्य और आर्ष शास्त्र मायोदर स्थित है अर्थात् माया के गर्भ में पलने वाला मायीय पिटारा मात्र है। अतः इसे कभी प्रमाण नहीं मानना चाहिये। वाम शासन का ही आश्रय लेना चाहिये ॥ ११ ॥

इतना समाधान भी अभी अपर्याप्त ही प्रतीत हो रहा है। इससे भी समस्या ज्यों की त्यों शेष रह जाती है। जिज्ञासु कहता है कि, कर्मस्थिति का क्या होगा? वामशासन में इसकी कोई व्यवस्था ही नहीं है। इसका समाधान भी दृष्टान्त के माध्यम से कर रहे हैं—

जैसे गारुडी विद्या के प्रयोग से निःशङ्कता के आवेश के साथ ही साथ विष का निराकरण भी हो जाता है, उसी तरह भैरवीभाव के आवेश से विकसमान निःशङ्कता के प्रभाव से कर्म जाल रूप कार्ममल भी क्षयता को प्राप्त हो जाता है। कार्म और मायीय दोनों का पारस्परिक सम्पर्क होता है। मायीय भाव में कार्म मल का क्षय नहीं हो सकता। इसलिये मायोदर स्थित विषम कर्म स्थिति को भैरवीभाव की निःशङ्कता के प्रभाव से दोनों आवरणों का निराकरण कर लेना चाहिये ॥ १२ ॥

अज्ञत्वानुपदेष्टृत्वसंदष्टेऽधरशासने ॥ १३ ॥
एतद्विपर्ययाद्ग्राह्यमवश्यं शिवशासनम् ।
द्वावाप्तौ तत्र च श्रीमच्छ्रीकण्ठलकुलेश्वरौ ॥ १४ ॥
द्विप्रवाहमिदं शास्त्रं सम्यङ्निःश्रेयसप्रदम् ।
प्राच्यस्य तु यथाभीष्टभोगदत्वमपि स्थितम् ॥ १५ ॥
तच्च पञ्चविधं प्रोक्तं शक्तिवैचित्र्यचित्रितम् ।
पञ्चस्रोत इति प्रोक्तं श्रीमच्छ्रीकण्ठशासनम् ॥ १६ ॥

भैरवत्वापत्ति का महत्त्व अवश्य ही अङ्गीकार्य है। इससे कर्मस्थिति का क्षय भी समझ में आने वाला तथ्य है किन्तु इस शासन की अवश्यंग्राह्यता कैसे स्वीकार्य हो सकती है? इसका उत्तर दे रहे हैं—

अधर शासन दो विषधरों के दंश से मूच्छित होता है। ये विषधर हैं, १. अज्ञत्व और २. अनुपदेष्टृत्व। इस जहरीले प्रभाव से ऊर्ध्वशासन सर्वथा मुक्त होता है। सर्वज्ञप्रवर्तित और स्वात्म संवित्ति परिष्कारक शैवदेशना से दिव्य ऊर्ध्वशासन अवश्य ग्राह्य है। इसकी अवश्य ग्राह्यता पर अंगुली नहीं उठायी जा सकती। इस शासन के आचरण से महापुरुष आप्त श्रेणी में आते हैं।

१. श्रीमान् श्रीकण्ठ और २. श्रीमान् लकुलेश्वर इन दोनों का यह शासन अधमर्ण है ॥ १३-१४ ॥

यह दो धाराओं में प्रवहमान होता हुआ मनीषियों के मस्तिष्क को प्रभावित करता है। यह सम्यक् रूप से निःश्रेयस रूप स्वात्मज्ञान का वरदान विश्व को प्रदान करता है। इसमें प्राच्य प्रवाह अर्थात् श्रीकण्ठ मार्ग और भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें मुमुक्षु को मोक्ष की देशना है तथा बुभुक्षु के अभीष्ट फलों की भोग-भावना को भी यह सन्तुष्ट करता है।

दशाष्टादशधा स्रोतः पञ्चकं यत्ततोऽप्यलम् ।
उत्कृष्टं भैरवाभिख्यं चतुःषष्टिविभेदितम् ॥ १७ ॥

अज्ञत्वात् विपरीतोपदेष्टृत्वेन संदष्टे स्पृष्टे इत्यर्थः । तत्रेति शिवशासने । प्राच्यस्येति श्रीकण्ठस्य । पञ्चविधेति चिदादिभेदात् ॥ १७ ॥

अत्रैव पीठचतुष्टयात्मकत्वं निर्णेतुमाह

श्रीमदानन्दशास्त्रादौ प्रोक्तं भगवता किल ।
समूहः पीठमेतच्च द्विधा दक्षिणवामतः ॥ १८ ॥
मन्त्रो विद्येति तस्माच्च मुद्रामण्डलगं द्वयम् ।

शाक्त वैचित्र्य के चमत्कार से चित्रित प्राच्य प्रवाह—पाँच प्रकार से वाङ्मय को विभूषित कर रहा है । इसी लिये 'पञ्चस्रोतस्' शास्त्र कहते हैं । अर्थात् श्रीकण्ठ शासन पाँच प्रवाहों में [१. चिद्धारा, २. आनन्द उत्स, ३. इच्छा शक्ति प्रधान ४. ज्ञानशक्ति प्रधान और ५. क्रिया योग प्रधान] प्रवाहित है । एक तरह से इस मानसरोवर से पञ्चनद प्रवहमान होते हैं, यह कहा जा सकता है । इन पाँच स्रोतों में दश और अष्टादश साधनाविधाओं का प्रवर्त्तन होता है । इस स्रोतः पञ्चक में भैरव शासन नामक स्रोत सर्वोत्कृष्ट माना जाता है । यह चौसठ प्रकार का होता है ॥ १५-१७ ॥

इस प्रवाह में पीठ चतुष्टय का सन्निवेश शास्त्र द्वारा स्वीकृत है । श्रीमदानन्द शास्त्र आदि शास्त्रों में स्वयं भगवान् भूत भावन ने इसका निर्देश किया है । पीठ को परिभाषित करने वाला एक दूसरा शब्द 'समूह' है । शिव की प्रधानता के आधार पर इसे दक्ष मार्ग या दक्ष शासन कहते हैं । इसी तरह शक्ति प्राधान्य में इसे वाममार्ग या वाम शासन कहते हैं । इस मान्यता के साथ एक और तथ्य पर भी ध्यान देना चाहिये । मन्त्र भी शिवस्वभावात्मक होता है । मन्त्र को प्रथम पीठ मानते हैं । द्वितीय पीठ का नाम विद्या है । विद्या शक्ति स्वाभावात्मिका होती है । इन दोनों पीठों

भगवता किल आगमे समूहशब्देन पीठं प्रोक्तमेवं परिभाषितमित्यर्थः। दक्षिणवामत इति शिवशक्तिरूपतयेत्यर्थः। मन्त्रो हि शिवस्वभावः, विद्या च शक्तिस्वभावेति। तस्मादिति मन्त्रविद्यात्मनः पीठद्वयात्॥ १८॥

एतदेव क्रमेण व्याचष्टे

मननत्राणदं यत्तु मन्त्राख्यं तत्र विद्यया॥ १९॥
उपोद्वलनमाप्यायः सा हि वेद्यार्थभासिनी।
मन्त्रप्रतिकृतिर्मुद्रा तदाप्यायनकारकम्॥ २०॥

से मुद्रा और मण्डल नाम के दो पीठ और विनिःसृत होते हैं। मुद्रा मन्त्र पीठ की अङ्गभूत क्रिया और मण्डल विद्या पीठ का अनुष्ठान केन्द्र होता है। पीठ चतुष्टय का यही स्वरूप है। मन्त्र, विद्या, मुद्रा और मण्डल के प्रयोग के विषय में विशिष्ट चर्चा की जा चुकी है॥ १८॥

इनका क्रमिक विश्लेषण यहाँ अपेक्षित है। आनन्दशास्त्रानुसारी इन पीठों का एक-एक कर विचार शास्त्रकार प्रस्तुत कर रहे हैं—

मन्त्र पीठ—मननीय और त्राण प्रदान करने वाला पीठ ही मन्त्र पीठ कहलाता है।

विद्या-पीठ—विद्या पीठ में मन्त्र का उपोद्बलन होता है। मन्त्र से विद्या की पुष्टि होती है। पुष्टि ही उपोद्बलन कहलाती है। इसके साथ ही साथ आप्यायन भी विद्या का ही गुण है। पुष्टि और तृप्ति रूपा तुष्टि विद्या के गुण धर्म हैं। विद्या से ही सभी अर्थों का अर्थात् विश्वात्मक विज्ञानवाद का अवभास सरलता पूर्वक हो जाता है। यह शक्ति की कृपा से ही सम्भव होता है।

मुद्रा—मुद्रा तन्त्र की प्रतिबिम्ब रूपा होती है। उसमें मन्त्र की परछाईं झलकती है। मुद्रा प्रदर्शन से मन्त्रात्मकता का भी आप्यायन होता है। विना मुद्रा प्रदर्शन के मन्त्र प्रयोग अधूरे प्रतीत होते हैं।

मण्डलं सारमुक्तं हि मण्डश्रुत्या शिवाह्वयम् ।

एवमन्योन्यसंभेदवृत्ति पीठचतुष्टयम् ॥ २१ ॥

यतस्तस्माद्भवेत्सर्वं पीठं पीठेऽपि वस्तुतः ।

उपोद्वलनमाप्याय इति । यत्सूत्रितं

'विद्याशरीरसत्ता मन्त्ररहस्यम्' । (शिव० सू० २।३) इति ।

वेद्यार्थभासिनीति शक्तिरूपत्वात् । मण्डलमिति मण्डं शिवाह्वयं सारं लातीत्यर्थः ॥ १९-२१ ॥

मण्डल पीठ—मण्ड धात्वर्थ में शिवत्व का शृङ्गार समाहित है । इसीलिये 'मण्ड' शब्द शिवात्मकता के सार रहस्य का द्योतक माना जाता है । इस प्रकार इसका विग्रह वाक्य—'मण्डं लाति इति मण्डलम्' बनता है ।

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि, यह पीठ चतुष्टय भेदमयता के साथ ही परस्पर अनुस्यूत होते हुए भी अन्योन्यभेदवृत्ति से पार्थक्य प्रथा को भी प्रथित करते हैं । एक तरह से स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि, एक-एक पीठ में भी सर्वपीठमयता का पुट विद्यमान है। यह सर्वमयता प्रतिपीठ का प्राथमिक गुण है ।

श्लोक २० में उपोद्बलन और आप्याय दोनों शब्द विशेष महत्त्व के हैं । (शिवसूत्र सं० २।३) में स्पष्ट उल्लेख है कि,

"विद्या शरीर को सत्ता में मन्त्र के सारे रहस्त उपोद्वलित होते हैं ।"

इसी तरह वेद्य अर्थों का भासन भी शक्ति को सर्वमयता का हो परिणाम है । विना शक्ति के आभास असम्भव है । मण्डल अन्तिम पीठ है । इसके विग्रह वाक्य का ऊपर उल्लेख किया गया है । यह शास्त्रीय भाषा में शिवाह्वय-सार माना जाता है ॥ १९-२१ ॥

ननु यद्येवमेकं पीठं सर्वात्मकं, तत् किमेषां पृथगुपदेशेनेत्याशङ्क्य आह

प्रधानत्वात्तस्य तस्य वस्तुनो भिन्नता पुनः ॥ २२ ॥

कथिता साधकेन्द्राणां तत्तद्वस्तुप्रसिद्धये ।

प्रत्येकं तच्चतुर्धैवं मण्डलं मुद्रिका तथा ॥ २३ ॥

मन्त्रो विद्येति च पीठमुत्कृष्टं चोत्तरोत्तम् ।

प्रत्येकमिति ऐकैकश्येन। उत्तरोत्तमुत्कृष्टमिति, तेन मण्डलपीठात् मुद्रापीठं, ततो मन्त्रपीठं ततो विद्यापीठं चेति ॥

श्लोक २२ की प्रथम अर्धाली में यह स्पष्ट उल्लेख है कि, प्रत्येक पीठ सर्वात्मक होता है। जिज्ञासु पूछता है कि, यदि प्रत्येक पीठ सर्वात्मक है, तो इनके पृथक्-पृथक् उल्लेख की क्या आवश्यकता ? शास्त्रकार इसका समाधान कर रहे हैं—

वस्तु वस्तु की भिन्नता का और उसके पृथक् उल्लेख का कारण वस्तु वस्तु में उसकी विशिष्ट गुणवत्ता की प्रधानता मानी जाती है। साधक शिरोमणि इस तथ्य से परिचित होते हैं। उन-उन वस्तुओं की प्रसिद्धि उनकी गुणवत्ता पर निर्भर करती है। इसीलिये उनकी भिन्नता का कथन किया जाता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि, ये प्रत्येक भी चार-चार प्रकार की गुणवत्ता से विभूषित हैं। इसके साथ ही इनके चार प्रधान पीठों का भी उल्लेख किया जाता है।

इनकी उत्तरोत्तर उत्कृष्टकता का उल्लेख भी शास्त्रकार कर रहे हैं—

सर्वप्रथम मण्डल पीठ पर विचार करें। मण्डल पीठ से शिवत्व के रहस्य की झलक भर मिलती है। इसलिये मण्डल पीठ को मान्यता तो दी गयी है किन्तु आप्यायन शक्ति प्रधान होने के कारण मुद्रा, मण्डल से उत्कृष्ट कोटि की मानी जाती है। मुद्रा पीठ से उत्कृष्ट श्रेणी का पीठ मन्त्र पीठ है

एतदेव प्रकृते विश्रमयति

विद्यापीठप्रधानं च सिद्धयोगीश्वरीमतम् ॥ २४ ॥

तस्यापि परमं सारं मालिनीविजयोत्तरम् ।

किञ्च अत्र प्रमाणमित्याशङ्क्य आह

उक्तं श्रीरत्नमालायामेतच्च परमेशिना ॥ २५ ॥

अशेषतन्त्रसारं तु वामदक्षिणमाश्रितम् ।

एकत्र मिलितं कौलं श्रीषडर्धकशासने ॥ २६ ॥

सिद्धान्ते कर्म बहुलं मलमायादिरूषितम् ।

दक्षिणं रौद्रकर्माढ्यं वामं सिद्धिसमाकुलम् ॥ २७ ॥

क्योंकि इसी के द्वारा मनन होता है। इसी के द्वारा त्राण भी होता है। इसी क्रम में मन्त्र पीठ से उत्तम श्रेणी का पीठ विद्यापीठ है, यह भी ध्यान में रखना चाहिये। मण्डल, मुद्रा, मन्त्र और विद्या की उत्तरोत्तर उत्कृष्ट कोटि मानी जाती है ॥ २२-२३ ॥

इन पीठों की प्रधानता के क्रम से शास्त्रों की वरीयता का क्रम भी निर्धारित होता है। वही कह रहे हैं—

विद्यापीठ प्रधान शास्त्र सिद्ध योगीश्वरी मत शास्त्र है। इस शास्त्र का भी सार निष्कर्ष रूप 'मालिनी विजयोत्तर तन्त्र' नामक शास्त्र माना जाता है। यहाँ यह पूछना आवश्यक नहीं कि, इन बातों का प्रमाण क्या है? इन तथ्यों के श्रेष्ठ प्रमाण रूप में रत्नमाला शास्त्र को लिया जा सकता है। स्वयं परमेश्वर ने उसमें यह लिखा है कि, समस्त तन्त्रों के सार रूप वाम और दक्षिण तन्त्र ही मान्य हैं। ये दोनों एक साथ मिलकर त्रिकशास्त्र के अन्तर्गत कौल शास्त्र के रूप में परिगणित होते हैं।

सिद्धान्त तन्त्र में कर्म के बाहुल्य का वर्णन है। इस तरह उसमें कार्म मायीय और आणव मलों का भी आख्यान होता है। इसकी गणना दक्षिण

स्वल्पपुण्यं बहुक्लेशं स्वप्रतीतिविवर्जितम् ।
मोक्षविद्याविहीनं च विनयं त्यज दूरतः ॥ २८ ॥

रौद्रेति मारणोच्चाटनादि । स्वप्रतीतिः स्वानुभवः । विनयं तन्त्रप्रधानं शास्त्रम् ॥ २८ ॥

ननु अत्रापि शेषवृत्तौ कर्मादिबाहुल्यमपि उक्तं, तत् किमतेदुक्तमित्याशङ्क्य आह

मार्ग में की जाती है । जहाँ तक वाम मार्ग का प्रश्न है, यह रौद्रकर्मों की बहुलता के लिये प्रसिद्ध है । इसमें सिद्धियाँ हस्तामलकवत् प्राप्त होती हैं ।

इन दोनों के अतिरिक्त केवल तन्त्रात्मक षट्कर्म की क्रियाओं का समावेश भी वाममार्ग में आता है । किन्तु इसमें बड़े दोष हैं ।

१. इसके दोषों पर ध्यान देने से इसका पहला दोष स्वल्पपुण्यता है । इनके करने में पुण्य की प्राप्ति नहीं के बराबर होतो है ।

२. दूसरा इनका सबसे बड़ा दोष है, इनके सम्पादन में होने वाले कष्ट ।

३. इनसे स्वात्म प्रतीति नहीं होती । दूसरों के कथन पर विश्वास कर इन्हें करना पड़ता है ।

४. इनसे न तो मोक्ष मार्ग का परिष्कार होता है और नहीं किसो प्रकार की विद्या को उपलब्धि ही होती है ।

शास्त्रकार कहते हैं कि, इस प्रकार की सदोष तन्त्र प्रक्रिया का दूर से परित्याग कर देना चाहिये । इनके करने में साधक वर्ग की साधनायें ही बाधित होतो हैं ॥ २४-२८ ॥

सिद्धान्त तन्त्र एक प्रकार से शेषवृत्ति के समान होता है । इसमें कर्म बाहुल्य का कथन असंगत प्रतीत होता है । ऐसा क्यों कहा गया है ? इस प्रश्न का अनूठा उत्तर शास्त्रकार दे रहे हैं—

यस्मिन्काले च गुरुणा निर्विकल्पं प्रकाशितम् ।
मुक्तस्तेनैव कालेन यन्त्रं तिष्ठति केवलम् ॥ २९ ॥

ननु स्रोतोऽन्तराणामेव किं रूपं येभ्योऽपि अस्य उत्कृष्टत्वादेव-मुपादेयत्वं निरूपयितुं न्याय्यमित्याशङ्क्य आह

मयैतत्स्रोतसां रूपमनुत्तरपदाद्ध्रुवात् ।
आरभ्य विस्तरेणोक्तं मालिनीश्लोकवार्तिके ॥ ३० ॥
जिज्ञासुस्तत एवेदमवधारयितुं क्षमः ।
वय तूक्तानुवचनमफलं नाद्रियामहे ॥ ३१ ॥

उनका कहना है कि, गुरु द्वारा जिस समय शिष्य के निर्विकल्प का प्रकाशन कर दिया गया होता है। उसी समय शिष्य नित्य मुक्त हो जाता है। उस समय के कर्म बाहुल्य का कोई महत्त्व नहीं होता! जिसके निर्विकल्प का प्रकाशन कर दिया गया है, उसका शेष वृत्ति से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। अब वह, वह नहीं रहा। अब उसके रूप में परमेश्वर विहार करता है। जहाँ तक उसके शरीर का प्रश्न है, वह तो अब यन्त्र मात्र रूप में ही अवशिष्ट रह जाता है ॥ २९ ॥

स्वात्म प्रतीति को जागृत करने वाला यह शासन सभी शास्त्रों और शासन तन्त्रों में श्रेष्ठ माना जाता है। इस कथन के अन्तराल में कोई ऐसा तत्त्व या कोई ऐसा स्वरूप अवश्य विद्यमान है, जो अन्य स्रोतों से इसे उत्कृष्ट स्तर पर पहुँचा देता है। शास्त्रकार उसी स्वरूपभूत उपादेयरूप उत्कर्ष हेतु के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं—

कर्मवाच्य प्रयोग द्वारा स्रोतों के आन्तर रूप का प्राधान्य स्वीकृत करते हुए शास्त्रकार ने यह स्पष्ट रूप से वर्णित किया है कि, मैंने ध्रुव की तरह शाश्वत निश्चल सत्य रूप अनुत्तर तत्त्व से लेकर समस्त स्रोतों के स्वरूप का वर्णन 'मालिनी श्लोक वार्त्तिक' में विस्तार पूर्वक किया

एवमेतदर्थाभिधायकत्वादिदमस्मत्कृतमपि शास्त्रमुपादेयमेवेत्याह

इत्थं ददवनायासाज्जीवन्मुक्तिमहाफलम् ।
यथेप्सितमहाभोगदातृत्वेन व्यवस्थितम् ॥ ३२ ॥
षडर्धसारं सच्छास्त्रमुपादेयमिदं स्फुटम् ।

है । जिसे यह जानने की आकाङ्क्षा हो, जिज्ञासा हो, उसे इस विषय का स्वाध्याय वहीं से करना चाहिये । उसके स्वाध्याय से अध्येता यह अवधारित करने में समर्थ हो जाता है । साथ ही साथ शास्त्रकार यह भी व्यक्त कर रहे हैं कि, मैं निष्फल पुनरुक्ति का आदर नहीं करता । अर्थात् वहाँ जो विषय व्यक्त कर दिया गया है, उसे श्रीतन्त्रालोक में पुनः कहना अच्छा नहीं ॥ ३०-३१ ॥

शास्त्रकार कह रहे हैं कि, मालिनी श्लोकवार्त्तिक में जो बातें कही गयी हैं, वे तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, इस शास्त्र का भी मैं ही प्रवर्त्तन कर रहा हूँ, और प्रायः उन्हीं अर्थों का दूसरे शब्दों में यहाँ भी अभिधान किया गया है । इसलिये अत्यन्त महत्त्व इस शास्त्र का भी है । यह मेरे द्वारा प्रवर्तित शास्त्र भी उपादेय है । इसका स्वाध्याय भी जीवन में उत्कर्ष का आधान कर सकता है । यही कह रहे हैं—

मेरे द्वारा प्रवर्त्तित इस शास्त्र की भी महत्त्वपूर्ण विशेषतायें हैं—

१. इसके स्वाध्याय से जीवन्मुक्ति रूपी विश्व का सबसे महत्त्वपूर्ण फल अनायास ही प्राप्त हो जाता है । दद धातु के शत्रन्त प्रयोग से सिद्ध है कि, स्वाध्याय के तात्कालिक वर्त्तमान में ही यह मिलने लगता है ।

२. मोक्ष में सामान्य जन की प्रवृत्ति नहीं होती । वे कहते हैं— मोक्ष लेकर क्या करेंगे । मरने के बाद मिलने वाले फल से क्या लेना देना ? इसके विपरीत वे भोग रूपी आनन्दप्रद फल चाहते हैं । शास्त्रकार कह रहे हैं कि, यह मेरे द्वारा प्रवर्त्तित शास्त्र यथेप्सित भोग प्रदान करने की व्यवस्था का मार्ग भी प्रशस्त करता है ।

अनेन च अस्य ग्रन्थस्य

'इति सप्ताधिकामेनां त्रिंशत यः सदा बुधः ।
आह्निकानां समभ्यस्येत्स साक्षाद्भैरवो भवेत् ।
सप्तत्रिंशत्सु संपूर्णबोधो यद्भैरवो भवेत् ॥
किं चित्रमणवोऽप्यस्य दृशा भैरवतामियुः ॥'

(१।२८४-२८६)

इत्यादिना उपक्रान्तमेव महाप्रयोजनत्वं निर्वाहितम् ॥ ३२ ॥

---

३. यह षडर्धदर्शन (त्रिकमार्ग) का ही सार रहस्य है।

४. यह सत् शास्त्र है। सत् सत्ता सद्भाव, सृष्टि और शाश्वत वर्त्तमान अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस शास्त्र का अध्येता शाश्वत वर्त्तमान परमशिव में प्रतिष्ठित हो जाता है।

५. यह परम उपादेय है। हेयोपादेय-विज्ञान का मर्म अभिव्यक्त करता है और अपनी उपादेयता सिद्ध कर देता है। इसके साथ ही यह स्फुट रूप से तत्त्वार्थ को अभिव्यक्त करने में समर्थ है। अतः यह सबके द्वारा पठनीय भी है। इस सम्बन्ध में प्रथम आह्निक श्लोक २८४-२८५ द्वारा यह घोषित किया है कि,

"इन सैंतिस आह्निकों में आये वर्ण्य विषयों का जो अध्येता अध्यवसाय पूर्वक अभ्यास कर लेता है, वह सचमुच बुध कहलाने का अधिकारी है। वह साक्षाद् भैरवभाव को प्राप्त कर लेता है। इन सैंतिस आह्निकों में गिने चुने भाव ३७ पूर्वजोद्देश के विषय हैं। इन सैंतिस विषयों में विश्व के सारे रहस्य निष्कर्ष रूप में अभिव्यक्त हैं। इनका सम्पूर्णबोध व्यक्ति को सर्वोच्च दार्शनिक शिखर पर पहुँचा देता है। इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं कि,

इसके स्वाध्याय से अणु पुरुष भी इसको बतायी विधियों को अपना कर भैरवीभाव प्राप्त कर लेता है ॥ ३२ ॥

इदानीमेतद्ग्रन्थाभिधाने स्वात्मनि योग्यतां प्रकाशयितुं सातिशयत्व-प्रयोजकीकारेण देशवंशदैशिकादिक्रममुट्टङ्कय स्वेतिवृत्तमभिधत्ते

षट्त्रिंशता तत्त्वबलेन सूता
यद्यप्यनन्ता भुवनावलीयम् ।
ब्रह्माण्डमत्यन्तमनोहरं तु
वैचित्र्यवर्जं नहि रम्यभावः ॥ ३३ ॥

एक तरह से श्रीतन्त्रालोक नामक इस अशेष आगमोपनिषद् रूप तान्त्रिक विश्वकोष के समस्त विषयों का निर्वचन यहाँ परमशिवता की षट्त्रिंशात्मक और सप्तत्रिंशात्मक पूर्णता में आत्मसात् हो गया है। इस विश्वकोष रूपी कमलकोश के प्रकाशन में अपनी सूर्यात्मक शक्ति का परिचय, अपनी योग्यता के सम्बन्ध में संक्षिप्त रूप से कुछ व्यक्त करना ग्रन्थ की अमर ऐतिहासिकता के लिये आवश्यक है। इस प्रसङ्ग में विश्व ब्रह्माण्ड की व्यापकता में अपने वैशिष्ट्य से विभूषित देश, वंश, उसमें उत्पन्न दैशिक आदि का क्रमिक वर्णन भी ग्रन्थकार की ग्रथनशिल्पकला की कमनीयता का द्योतक होता है। शास्त्रकार यहाँ वही शैली अपनाकर उस काल खण्ड को वर्णवत्ता की विभूषा से विभूषित कर रहे हैं—

इस दृश्यमान और अदृश्य की अलौकिक शक्तिमत्ता से ओत-प्रोत भुवनावली पर ध्यान दें। इसकी सृष्टि सत्ता पर विचार करें। शास्त्रों की यह मान्यता है कि, परम शिव की छत्तीस तत्त्वात्मक शक्ति से ही यह प्रसूत है। विश्वेश्वर की वैसर्गिकी कला का यह कमनीय प्रकल्पन है। इसकी सीमा के सम्बन्ध में विचार करने से बुद्धिवाद भी मौन धारण करता है। इसे अनन्त कहकर ही सन्तोष करता है।

यह ब्रह्माण्ड कितना मनोरम है। इसकी विविध विचित्रताओं के चमत्कार से कोई वञ्चित नहीं कर सकता। इसके आश्चर्य पूर्ण अस्तित्व को

भूरादिसप्तपुरपूर्णतमेऽपि तस्मिन्
मन्ये द्वितीयभुवनं भवनं सुखस्य ।
क्वान्यत्र चित्रगतिसूर्यशशाङ्कशोभि-
रात्रिन्दिवप्रसरभोगविभागभूषा ॥ ३४ ॥

तत्रापिच त्रिदिवभोगमहार्घवर्ष-
द्वीपान्तरादधिकमेव कुमारिकाह्वम् ।

द्वितीयभुवनमिति भुवर्लोकः । तत्रेति द्वितीयभुवने । वर्षाणि इलावृतादीनि । द्वीपाः शाकादयः ॥

भगवान् श्रीकृष्ण भी "आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्" कहकर स्वीकार करते हैं। इसकी रमणीयता में प्रत्येक सहृदय भावात्मक रूप से रमण करता है। यह इसके रम्यभाव का महत्त्व है।

भूर्भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यं नामक सात लोकों के लालित्य से ललाम इस भुवन मण्डल में ही एक अद्वितीय आनन्दप्रद द्वितीय भुवन के समान समस्त आनन्दों का आगार एक भुवन और भी है। ऐसी विचित्रता कहीं अन्यत्र खोजने से भी नहीं मिल सकता। भला ऐसी कौन सी जगह होगी, जहाँ सूर्य और चन्द्र की चमत्कारपूर्ण प्रकाशमानतामयी प्ररोचना की रोचिष्णुता का शाश्वत आकर्षण हो, रात और दिन के प्रसर-सौन्दर्य का सौमनस्य हो! और इसकी भोग-विभूषा का लावण्यमय आभरण मनीषियों की मनीषा को भी मुग्ध करता हो! इस प्राकृत परिवेश में भी स्वर्गीय भोगों से भ्राजमान इलावृत आदि वर्षों और शाक आदि द्वीपों की शोभा से भी अतिशायिनी शोभा से समन्वित यहीं कुमारिका खण्ड सदृश शोभमान द्वीपान्तर भी वर्त्तमान है। अतिशायिनी शोभा का प्रमाण यहाँ की प्रमेयराशि से लेकर अप्रमेय पर्यन्त तत्त्वव्रात में मिलता है ॥ ३३-३४ ॥

अधिकत्वमेव दर्शयति

यत्राधराधरपदात्परमं शिवान्त-
मारोढुमप्यधिकृतिः कृतिनामनर्घा ॥ ३५ ॥

एतदेव व्यतिरेकद्वारेण उपपादयति

प्राक्कर्मभोगिपशुतोचितभोगभाजा
किं जन्मना ननु सुखैकपदेऽपि धाम्नि ।
सर्वो हि भाविनि परं परितोषमेति
संभाविते ननु निमेषिणि वर्तमाने ॥ ३६ ॥

त्रिक सिद्धान्त के अनुसार विश्व का प्रसर ३६ तत्त्वात्मक है। इसमें अधर से अधर तत्त्व पञ्चमहाभूत हैं। मानव सभ्यता और संस्कृति के आधार भूत तत्त्व यही महाभूत हैं। इस अधर पद से प्रारम्भ कर साधक शिवान्त आरोहण की साधना करता है। ऐसे यशस्वी साधकों को शिखरारूढ़ होने के लिये अधिकार प्रदान करने वाली शैव शास्त्रीय अनर्घ अमूल्य देशनायें भी यहीं उपलब्ध हैं। इसीलिये भूमण्डल को धरा-धाम कहते हैं। यहाँ जन्म ग्रहण करना मानव के परम उत्कर्ष के लिये सौभाग्य का विषय माना जाता है ॥ ३५ ॥

अधराधर पद से शिवान्त आरोहण की अनर्घ अधिकृति को व्यतिरेक दृष्टि से प्रतिपादित कर रहे हैं—

कर्म तीन प्रकार के होते हैं। १. क्रियमाण, २. संचित और ३. प्रारब्ध। प्रारब्ध कर्म भोगप्रद होता है। पूर्वजन्म में संचित कर्म ही प्रारब्ध बनकर भोग रूप में अनुभूत किये जाते हैं। कर्म भोग रूप कार्म मल से ग्रस्त आत्मा जीव भाव रूप पशुता के पाशव भाव का आवरण प्राप्त करता है एवं तदनुरूप भोग भोगने के लिये विवश हो जाता है। भोग भूमि भूमण्डल में जन्म का ही परिणाम होता है। व्यतिरेक भाव से शास्त्रकार पूछ बैठते हैं—किं जन्मना? अर्थात् इस पशुतामय भोग वाले

कन्याह्वयेऽपि भुवनेऽत्र परं महीयान्

देशः स यत्र किल शास्त्रवराणि चक्षुः ।

जात्यन्धसद्मनि न जन्म न कोऽभिनिन्देः

द्विन्नाञ्जनायितरविप्रमुखप्रकाशे ॥ ३७ ॥

जन्म से क्या लाभ? स्वयम् इसका उत्तर भी दे रहे हैं। वे कहते हैं कि, मानव मात्र का यह स्वभाव है कि, आनन्द के एक कण मात्र को सुस्वानुभूति प्रदान करने वाले संभावित भविष्य की बात सोच कर ही परितोष प्राप्त करता है। निरन्तर अतीत को आलिङ्गन करने वाले निवर्त्तमान वर्त्तमान में वह विश्वास नहीं करता। इसीलिये संभावित भविष्यत् सुख की खोज में वह सारा जीवन खपा देता है। इसके विपरीत शैव साधक शैव तादात्म्य में समाहित हो जाता है एवं शाश्वत वर्त्तमान को उपलब्ध होकर सद्ब्रह्म भाव का अधिकारी हो जाता है ॥ ३६ ॥

श्लोक ३५ में कुमारिका खण्ड की चर्चा की जा चुकी है। इस कन्याकुमारी भुवन में भी एक अत्यन्त पावन और महामहनीय देश है। इस देश का यह वैशिष्ट्य है कि, यहाँ विश्व रहस्य दर्शन के लिये, इसके स्वरूप के निरूपण के लिये दिव्यातिदिव्य अभिनव आँखें उपलब्ध हैं। ये आँखें स्वयं शिवद्वारा प्रवर्त्तित शास्त्र हैं। वे नई दृष्टि देते हैं। उनसे जाँच परख कर साधक सर्वोत्तम प्राप्य को पा लेता है। यह सत्य है कि, अन्धे के घर अन्धा बनकर जीना कोई पसन्द नहीं करता। जहाँ ज्ञानात्मक प्रकाश लिये सूरज की रश्मियाँ जन जन की आँखों में अञ्जन लगाने के लिये मचल रहीं हों, वह देश कितना स्पृहणीय हो सकता है। इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। सौभाग्य से ही ऐसे देश में जन्म होता है ॥ ३७ ॥

निःशेषशास्त्रसदनं किल मध्यदेश-

स्तस्मिन्नजायत गुणाभ्यधिको द्विजन्मा ।

कोऽप्यत्रिगुप्त इति नामनिरुक्तगोत्रः

शास्त्राब्धिचर्वणकलोद्यदगस्त्यगोत्रः ॥ ३८ ॥

तमथ ललितादित्यो राजा निजं पुरमानयत्

प्रणयरभसात् कश्मोराख्यं हिमालयमूर्धगम् ।

ऐसा पावन वह देश भारतभूमि का मध्य देश ही है। यह अशेष शास्त्रों के ज्ञान का आयतन है। कुमारिका खण्ड का यह हृदय है। ब्रह्मवर्चस्व विभूषित द्विजन्मा ब्राह्मण वर्ग यहाँ आजीवन तपः स्वध्याय संलग्न रहते हुए सारस्वत उपासना में निरत रहता है। उन्हीं द्विजन्मा विप्रों के वंश में सर्वगुण सम्पन्न, अगस्त्यगोत्र में अवतरित अत्रिगुप्त नाम सत्पुरुष यहाँ निवास करते थे। शास्त्रों के साररहस्य में प्रकाशपीयूष का पारावार लहराता रहता है किन्तु इन ज्ञान विज्ञान की तरङ्गों में शाश्वत तरङ्गायित सारस्वत समुद्र को चुल्लू में रख कर आचमन कर लेने में सर्वथा सक्षम अगस्त्य के समान शक्तिमन्त थे। वे महापुरुष अगस्त्यनामानुकूल निरुक्ति से विभूषित गोत्र के होते हुए भी अपने विज्ञानविभव के आधार पर साक्षात् अगस्त ही प्रतीत होते थे, यह अर्थ कलोद्यदगस्त्य गोत्रः से अभिव्यक्त रहा है ॥ ३८ ॥

उस समय कन्नौज में राजा यशोवर्मन् (७३०-७४०) का शासन था। मध्य देश के ये मान्य नृपति थे। इनके राज्य में भी विद्वद्वर्ग का समादर था। ऐतिहासिक दृष्टि से उसी समय कश्मीर के गुणग्राही शासक श्रीमान् ललितादित्य नामक नृपति राज्य के रंजन में जागरूक महापुरुष राज्य करते थे। विद्वद्वर्ग का वे भी समादर करते थे। उन्होंने विद्वद्वरेण्य अत्रिगुप्त को प्रेम पूर्ण स्निग्ध आग्रह भाव से अपनी राजधानी में लाकर

अधिवसति यद्गौरीकान्तः करैर्विजयादिभि-
र्युगपदखिलं भोगासारं रसात् परिचर्चितुम् ॥ ३९ ॥

उनका अभिनन्दन किया। हिमालय के मूर्धा प्रदेश में अवस्थित कश्मीर भारतभूमि के किरीट की तरह आज भी सुशोभित है। उस समय वह देश विश्व के मुकुट के समान समादरणीय था। सर्व विद्याओं का कमनीय केन्द्र था। श्रीमान् अत्रिगुप्त से राजन्य-मूर्धन्य ललितादित्य का प्रगाढ सौहार्द भाव था। उनसे मित्रों की तरह आनन्दप्रद अन्तरङ्ग बातें भी होती थीं। कर्म भूमि रूप कश्मीर के स्वामित्व के लिये जितने युद्ध हुए, शत्रुओं ने जो आक्रमण किये, उनपर विजय प्राप्त कर ललितादित्य ने अपना वर्चस्व स्थापित किया था। उन बीती बातों के सम्बन्ध में भी वे श्री अत्रिगुप्त से रसमयी परिचर्चा किया करते थे। गौरीकान्त शब्द यह संकेत दे रहा है कि, उनकी पत्नी का नाम गौरी देवी था।

श्लेष दृष्टि से हिमालय में गौरीकान्त भगवान् शिव निवास करते ही हैं। गौरी देवी के पति भी अधिकार पूर्वक कश्मीर में अपने राज्य की स्थापना कर निवास करते थे। इस 'अधि' उपसर्ग का प्रयोग यहाँ शास्त्रकार ने जानबूझ कर किया है। शिव अपने वरदहस्त के माध्यम से आशीर्वाद-रूपी रश्मियों से कश्मीर पर प्रकाश की वर्षा करते हैं। श्री ललितादित्य अपने बल से विजय प्राप्त किये थे। विजय के साथ आदि शब्द भी जुटा हुआ है। आदि शब्द से राज्य व्यवस्था प्रबन्ध व्यवस्था, कृषि, उत्पादन, शिक्षा आदि का ग्रहण किया जा सकता है। भोग, आसार, गौरीकान्त और कर इन चार श्लिष्ट शब्दों में उस समय का पूरा इतिहास झाँकता हुआ प्रतीत हो रहा है। भोग-सुखास्वाद, स्वामित्व, शासन, व्यवहार स्त्री संभोग (मैथुन) भोग, लाभ, राजस्व, साँप का फन, आदि अर्थों में प्रयुक्त होने वाला बह्वर्थक शब्द है। इसी तरह आसार शब्द भी मूलाधार वृष्टि, शत्रु

स्थाने स्थाने मुनिभिरखिलैश्चक्रिरे यन्निवासा
यच्चाध्यास्ते प्रतिपदमिदं स स्वयं चन्द्रचूडः ।
तन्मन्येऽहं समभिलषिताशेषसिद्धेर्नसिद्धचै
कश्मीरेभ्यः परमथ पुरं पूर्णवृत्तेर्न तुष्टचै ॥ ४० ॥

का घेरा डालकर आक्रमण, मित्र नृपति की सेना और सेना की भोजन सामग्री आदि में प्रयुक्त होता है।

इस दृष्टि से यह श्लोक श्लेष का सुन्दर उदाहरण सिद्ध होता हैं। शृङ्गार और वीर रस के सांकर्य का सौन्दर्य इसमें स्पष्ट रूप से झलक रहा है। इतिहास का यह साक्षी है। साथ ही साथ गौरीकान्त में शैव हस्त विधि का भी संकेत गौरी कान्त का 'कर' अर्थात् हस्त और रश्मि वाचक श्लिष्ट पद से अर्थतः प्राप्त हो रहा है ॥ ३९ ॥

ललितादित्य शासित शान्त सुव्यवस्थित कश्मीर राज्य में स्थान-स्थान पर मननशील मुनियों के आश्रम थे। एक तरफ भगवान् भूतभावन चन्द्रचूड की यह लीलास्थली का प्रतीक था, तो दूसरी ओर यह पावन ऋषियों को तपःस्थली भी था। तपःस्थली तो स्थान-स्थान पर थी पर चन्द्रचूड प्रतिपद अध्यासीन थे। इससे स्पष्ट है कि, कश्मीर महामहेश्वर की महनीय महीयसी मही थी। शास्त्रकार कहते हैं कि, मेरी मान्यता तो यह है कि, केवल छोटी मोटी सिद्धियों की ही नहीं अपितु सम्यक् रूप से अभिलषित अशेष अर्थात् सम्पूर्ण सिद्धियों को प्रदान करने वाला कश्मीर से बढ़कर कोई स्थान इस ब्रह्माण्ड मण्डल में नहीं है। इसी के साथ यह भी ध्यान देने की बात है कि, जब तक मनुष्य में तुष्टि का अनुत्तर-आनन्द न हो, सारी सिद्धियाँ व्यर्थ हो जाती हैं। इस दृष्टि से भी समस्त वृत्तियों की पूर्णताख्यातिमयी तुष्टि का ही सर्वाधिक महत्त्व है। शास्त्रकार कह रहे हैं

यत्र स्वयं शारदचन्द्रशुभ्रा
श्रीशारदेति प्रथिता जनेषु ।
शाण्डिल्यसेवारससुप्रसन्ना
सर्वं जनं स्वैर्विभवैर्युनक्ति ॥ ४१ ॥

कि, इस प्रकार की तुष्टि प्रदान करने वाला कश्मीर सदृश दूसरा कोई देश भूमण्डल में नहीं है ॥ ४० ॥

काश्मीर के उस क्षेत्र में स्वयं देवी सरस्वती का विग्रह विद्यमान था। समाज में उसकी बड़ी मान्यता थी। शास्त्रकार का 'जनेषु' प्रयोग तत्कालीन विद्याप्रेमी समाज की ओर ही संकेत करता है। ऐसे समाज में माँ की प्रसिद्धि न हो, यह सोचा भी नहीं जा सकता। माँ सरस्वती की वह प्रतिमा श्वेत संगमर्मर जैसे मूल्यवान् श्वेत धातु की रही होगी। इसी आधार पर शास्त्रकार ने उसे शरत्पूर्णिमा को पूर्ण और आकर्षक सुषमा से समन्वित था, ऐसा प्रयोग किया है।

माँ शारदा की आराधना में शाण्डिल्य गोत्रीय विप्रवर्ग का व्यक्ति नियुक्त था। आराधना आराध्य की होती है। सेवा माता सदृश पूज्य गुरुजनों की होती है। यहाँ का शाण्डिल्य गोत्रोत्पन्न विप्र सेवाधर्म से भी परिचित था। भक्तों का स्वागत, अभिनन्दन, गुरुजनों की सेवा कहलाती है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य में नन्दिनी और दिलीप के प्रसङ्ग में सेवा समाराधन दोनों शब्दों का युगपद प्रयोग किया है। यहाँ केवल सेवारस शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस पंक्ति में शाण्डिल्य, सेव और आरस तीन फलों के नाम का प्रयोग भी आलङ्कारिक है। शाण्डिल्य बिल्व फल, सेव प्रसिद्ध मेवा फल और आरस अनन्नास की तरह का अन्य फल इन तीनों से प्रसन्न रहने वाली माँ शारदा का वहाँ बड़ा महत्त्व है। इस प्रकार का ख्याति से प्रतिष्ठित माँ शारदा

नारङ्गारुणकान्ति पाण्डुविकचद्वल्लावदातच्छवि-
प्रोद्भिन्नामलमातुलुङ्गकनकच्छायाभिरामप्रभम् ।
केरीकुन्तलकन्दलीप्रतिकृतिश्यामप्रभाभास्वरं
यस्मिञ्शक्तिचतुष्टयोज्ज्वलमलं मद्यं महाभैरवम् ॥ ४२ ॥

कश्मीरवासियों को ही नहीं वरन् विश्व के वाङ्मय आराधकों को अपने विद्या विभव से कृतार्थ करती रहती है। इन श्लोकों से कश्मीर प्रदेश की महत्ता का ख्यापन हो रहा है। एक आकर्षण मन में होता है कि, वहाँ रहकर स्वर्गीय सुख की उपलब्धि हो सकती है ॥ ४१ ॥

शक्ति चतुष्टय की उपासना कश्मीर में प्रचलित थी। इन चारों शक्तियों को चार सिद्ध शक्तियों के रूप में जाना जाता है। इनके वर्ण विभाग की भी शास्त्रों में चर्चा है। ये क्रमशः रक्त, श्वेत, पीताभ और श्याम वर्ण की मानी जाती हैं। इनके वर्णों और रङ्गों से मेल खाती मदिरायें यहाँ सदा उपलब्ध रहती हैं। वहाँ जाने वाले मद्यप शराबियों के लिये यह स्वर्ग के समान भूमि है। पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र है—

मद्यों के रङ्ग के विषय में आलङ्कारिकता का आश्रय लेते हुए इन्हें शक्ति चतुष्टय के क्रम के अनुसार और चारों वर्णों के क्रमानुसार वर्णन कर रहे हैं—

१. **नारङ्गारुणकान्ति**—नारङ्ग को आज स्त्रीत्व विशिष्ट शब्द नारङ्गी के रूप में प्रयुक्त करते हैं। इसे सन्तरा भी कहते हैं। इसका रङ्ग लाल होता है। केशर के आरुण्य से उपमित अङ्गूरी लाल शराब की तरह—वह शराब होती थी और परम आकर्षणमयी कान्ति से कमनीय लगती थी।

२. **पाण्डुविकचद्वल्लावदात छवि**—यह स्वच्छ, चमकयुक्त और पारदर्शी द्रवमयी शराब का विशेषण है। पाण्डुर वर्ण पीलापन लिये श्वेत वर्ण

का ही वाचक वर्ण है। ऐसा लगता है—मानो अभी इसमें नयी ताजगी कुलबुलासी रही हो और ताजा होने के लिये ऐसा पाण्डुविकचद् बल्ल नामक एक ऐसा पौधा होता था, जिसका पुष्प भी पाण्डुवर्णी होता था। उसके मिश्रण से शराब बनायी भी जाती थी। वैसी ही श्वेत कुसुमावदात मदिरा उससे बनती भी थी। अर्क के समान वह खींच ली जाती थी। इसी लिये उसमें पारदर्शिता भी होती थी।

३. प्रोद्भिन्नामलमातुलुङ्ग·······प्रभम्—सद्यः अङ्कुरण प्रक्रिया में अभिव्यक्त आँवले और चकोतरा श्रेणी के नीबू की पीतवर्णी कनकाभिराम प्रभा से भास्वर मदिरा को देखकर ही साकी के प्याले खनकने लग जाते हैं। साथ ही कनक शब्द वाच्य ढाक, आबनूस और धतूरे का स्वरस मिला हो तो क्या कहने ? मद्यप विना मद्य पिये ही झूम उठता है।

४. केरी ···· ···· भास्वरम्—केरल की श्यामा नायिका केरी कहलाती है। कुन्तलों का आकर्षण उनकी सान्द्र यामता में ही निहित है। इसी प्रकार कन्दली वाचक कमल बीज (कमल गट्टा) की कृष्णवर्णी श्यामलता के आकर्षण से भरपूर आभामयी भामिनी सुरा का मनभावना लुभावना रङ्गरूप मधुपायी को मुग्ध करने के लिये पर्याप्त होता है।

ये चार रङ्ग प्रकृति को भी अलंकृत करते हैं, मद्य को भी मोहक बना देते हैं। ये चारों सिद्धचतुष्टय रूप चारों शक्तियों में शाक्तप्रभाव की भूमिका के दिग्दर्शक हैं और चर्या में शिवाम्बुसुधा के आस्वाद के उद्भावक हैं। इस तरह इस पद्य में मद्य के अनवद्य आकर्षण, प्राकृतिक पौधों में विराजमान अनुरञ्जकता, उपास्यों की वर्णमयता के सहज आकर्षण और कश्मीर के तत्कालीन सामाजिक सन्दर्भ, सबका एक साथ श्लिष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। शास्त्रकार के काव्यकला शिल्प का यह सुन्दर उदाहरण है॥ ४२॥

त्रिनयनमहाकोपज्वालाविलीन इह स्थितो
मदनविशिखव्रातो मद्यच्छलेन विजृम्भते ।
कथमितरथा रागं मोहं मदं मदनज्वरं
विदधनिशं कामातङ्कैर्वशीकुरुते जगत् ॥ ४३ ॥

काव्यकला कमनीयता का नमूना यह अभिनव पद्य काम कामेश्वर के पौराणिक मिथक, पञ्चबाणों के रागादि मदन-ज्वरान्त प्रभाव और जगत् की कामात्मक वृत्तियों की विवश-वश्यता सबका एक साथ उद्भावक बन कर उपस्थित है। भगवान् भूतभावन तपस्यारत थे। उनके दक्ष नेत्र में सूर्य, वामलोचन में, चन्द्र भ्रूमध्य ललाट में त्रिनेत्रा के निवास और आज्ञा चक्र में अग्नि उल्लसित थे। सूर्य और चन्द्र में भी प्रकाश के प्रमाता अग्नि ही माने जाते हैं। इस प्रकार त्रिनयन की तपस्या के उस अलौकिक आनन्दवाद की परानुभूतिभव्यता में मदन ने अपनी मंदता का परिचय दे ही दिया। पञ्चबाण के पाँचों बाणों से विद्ध त्रिनयन पर सर्वप्रथम 'मोहित' ने प्रहार किया। उसके तुरत बाद उन्हें 'शुष्क' ने बींधने का असफल प्रयास किया। तुरत 'शिथिल' आ लगा। 'शिथिल' के बाद 'तपन ने कामज्वर' उपन्न करने की चेष्टा की। तब तक त्रिनेत्र के तृतीय नेत्र को आग सुलगने लगी। और ज्यों ही 'मत्त' ने महेश्वर के मन को को मन्थन करने का प्रयत्न किया, त्यों ही विरूपाक्ष के विषम नेत्र के पट खुल गये और इधर मदन जल कर भस्मसात् हो चुका था। काम का भस्म भूमि पर पड़ा उग्र गङ्गाधर के क्रोध का परिणाम घोषित कर रहा था। मदन के विशिखव्रात अर्थात् १. मोहित २. शुष्क, ३. शिथिल, ४. तपन और ५. 'मत्त' ये पाँचों बाण कश्मीर की भूमि में विलीन हो गये थे। उस समय शङ्कर की क्रोधाग्नि से भूमिलीन वे पाँचों तत्कालीन कश्मीर में 'मद्य' के व्याज से बदला लेने आ गये थे। यदि ऐसा नहीं माना जाय,

यत्कान्तानां प्रणयवचसि प्रौढिमानं विधत्ते
यन्निर्विघ्नं निधुवनविधौ साध्वसं संधुनोति ।
यस्मिन् विश्वाः कलितरुचयो देवताश्चक्रचर्या
स्तन्माद्वींकं सपदि तनुते यत्र भोगापवर्गौ ॥ ४४ ॥

तो ये राग ये मोह, मद और मदन ज्वर कश्मार भूमि में कैसे इतने महाप्रभावी बन जाते ?। ये पञ्चबाण के पाँचों बाण दिनरात काम के आतङ्क से कश्मोर को अपने वश में किये जा रहे हैं।

यह चित्र यह स्पष्ट कर रहा है कि, शान्ति सुख साम्राज्य में जीने वाला समृद्ध देश कश्मोर है। यह सबके सर्वविध आकर्षण का केन्द्र है ॥४३॥

मृद्वीका (मुनक्का) बड़े चमन के अंगूरों से बने शुष्क मेवा से जो सुरा निर्मित होती है, उसे मार्द्वीक कहते हैं। यह विश्व प्रसिद्ध अंगूरी लाल शराब सबसे प्रभावशालिनो और बुभुक्षु मुमुक्षु दोनों वर्गों के लिये समान रूप से प्रिय है। शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

वह चमन के अंगूरों से बनो परिस्रुता सुरा जिसे विशेष रूप से मार्द्वीक कहते हैं, वह अपने महाप्रभाव से भोग और अपवर्ग रूपी जीवन के सुखप्रद ओर श्रेयः साधक सफल परिणाम तत्काल प्रभाव से कश्मीर में वितरित सो कर रही है। जा चाहे, बेमोल ये अमूल्य फल पा सकता है। इसके अन्य महत्त्वपूर्ण परिणामों पर विचार करने से और चर्या में साक्षात् अनुभव करने से यह ज्ञात होता है कि, यह कान्ताओं के एकान्त प्रणयपूर्ण पारस्परिक प्रेम-प्रसङ्गों में अपने प्रभाव से भावमयता का संवर्द्धन करती हुई प्रणय प्रौढिमा प्रदान कर रही है। निधुवन विधि में निर्विघ्नता पूर्वक स्वच्छन्द स्वैर विहार को प्रेरणा प्रदान करतो है। जन्मस्थान से लेकर समस्त शरीरस्थ चक्रों को चर्या में लीन देवता आनन्द का महोत्सव मना रहे हैं। यह इसी मार्द्वीक का ही महाप्रभाव है। यहाँ देवता शब्द दिव्यता

उद्यद्गौराङ्कुरविकसितैः श्यामरक्तैः पलाशै-
रन्तर्गाढारुणरुचिलसत्केसरालोविचित्रैः ।
आकीर्णा भूः प्रतिपदमसौ यत्र काश्मीरपुष्पैः
सम्यग्देवीत्रितययजनोद्यानमाविष्करोति ।। ४५ ।।

सर्वो लोकः कविरथ बुधो यत्र शूरोऽपि वाग्मी
चन्द्रोद्द्योता मसृणगतयः पौरनार्यश्च यत्र।

से ओतप्रोत नरनारी, इन्द्रियाँ और शरीरस्थ देवताओं तीनों का अर्थ दे रहा है। अर्थात् सुन्दर रुचिवाले सभी सहृदय कश्मीरी वर्ग मद्य के महा प्रभाव से काम मङ्गल से मण्डित श्रेय का सुख भोग रहा है ॥ ४४ ॥

उन्मिष्यमाण गौरवर्ण के अङ्कुरों से विकसित कुछ कुछ हरीतिमा लिये लालिमा से युक्त पलाशों का सौन्दर्य जहाँ देखते ही बनता है, जिसके अन्तराल में गाढ़ अरुणिमा को प्राणसन्तर्पणप्रदा आभा से भासमान कान्ति से उल्लसित केशर राशि का सौन्दर्य दर्शक को आश्चर्य चकित कर देता है, ऐसो केशर क्यारियों में कुसुमित काश्मीर कुसुमों से जहाँ की भूमि पदे-पदे सौन्दर्य सुधा से परिव्याप्त हो रहो है। उस भूमि को शोभा आपका आवाहन कर रही है। जाइये, देखिये उस भाव भूमि को। उसमें एक महती विशेषता है। उसे अनुभव करना न भूलें। वह अनुभूति है, परा, अपरा और परापरा अथवा महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती-प्रिया यज्ञवाटिका की। वहाँ महाकाली के श्यामरक्त महालक्ष्मी के पीताभ अरुण और महा-सरस्वती के श्वेताभ कुसुमों की रञ्जकता का ऊहन आज भी स्मृति शक्ति कर रही है। यह प्रतीति प्रत्यक्ष सी हो जातो है कि, यह भूमि त्रिशक्ति का शाक्त उल्लास है ॥ ४५ ॥

यत्राङ्गारोज्ज्वलविकसितानन्तसौषुम्णमार्ग
प्रस्तार्केन्दुर्गगनविमलो योगिनीनां च वर्गः ॥ ४६ ॥

कश्मीर के सारे लोग काव्यकला में कुशल हैं। कवि हैं। बुध अर्थात् ज्ञानवान् हैं। शूरवीर हैं। वहाँ की ललनाओं को तो बात हो मत पूछिये। सभी चन्द्रमुखो नारियाँ चन्द्र के उद्योत से दोप्तिमन्त प्रतीत होतो हैं। उनको सुकुमार गतिशोलता मन को मोहती है और सब में पौर निवास की पावनता है। नागरिकता की वे प्रतिमूर्त्ति हैं।

कश्मीर की योगिनी नायिकाओं का सौन्दर्य आकर्षक है। शास्त्रकार आकाश में प्राकृतिक रूप से घटित एक आन्तर उल्लास की ओर अध्येता का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। अनन्त आकाश को कहते हैं। आकाश का सौषुम्ण मार्ग आकाश गङ्गाओं का क्षेत्र माना जाता है। उसमें अकस्मात् सूर्य के ऊपर राहु की छाया पड़ गयी। उधर इन्द्र भी ग्रहण से ग्रस्त हो गया। दो-दो ग्रहण और दोनों का पड़ने वाला विश्व वातावरण पर प्रभाव। कल्पना का विषय है। उसमें मङ्गल ग्रह का उज्ज्वल प्रकाश आकाश में एक नयो आभा को भी जन्म दे रहा है। इस सम्मिलित सौन्दर्य की जो विमलता होती है, वही निर्मलता योगिनियों में भी पूर्णतया व्याप्त है।

इस छन्द में एक प्रकार का मुद्रालङ्कार भी ध्वनित है। आकाश में वृहस्पति वाग्मी बनकर उपस्थित है। कवि उशना शुक्राचार्य भी हैं। बुध भी उल्लसित हो रहे हैं। चन्द्र भी अपने उद्योत के साथ उदित है। मसृणगति शनैश्चर भो चल रहे हैं। अङ्गार रूप मङ्गल भी है। सूर्य भी हैं पर उन पर ग्रहण लगा दिया गया है। सबकी सूचना के कारण मुद्रा का यहाँ आसूत्रण है। ये सभो शब्द श्लिष्ट अर्थ को व्यक्त करते हैं। इसलिये श्लेष का भो परिवेश यहाँ प्राप्त है। साथ ही इस पद्य में शरीर संरचना

श्रीमत्परं प्रवरनाम पुरं च तत्र
यन्निर्ममे प्रवरसेन इति क्षितीशः ।
यः स्वप्रतिष्ठितमहेश्वरपूजनान्ते
व्योमोत्पतन्नुदसृजत्किल धूपघण्टाम् ।। ४७ ।।
आन्दोलनोदितमनोहरवीरनादैः
सा चास्य तत्सुचरितं प्रथयांबभूव ।

प्रक्रिया भी अनुस्यूत है । सुषुम्ना, अर्करूप प्राण और इन्दु रूप अपान और साधना में आयी क्षणिकामयी ग्रहणशीलता का चित्रण भी किया गया है । यह श्लोक शास्त्रकार के कवित्व का चमत्कार है ॥ ४६ ॥

इसी कश्मीर की कमनीय मेदिनी के हृदय देश में प्रवरपुर नामक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नगर है । प्रवरपुर की स्थापना 'प्रवरसेन' नामक नृपति ने की थी । वे इस प्रदेश के क्षितीश थे । उन्होंने एक महेश्वर मन्दिर का निर्माण भी कराया था । स्वयं उस मन्दिर में उन्होंने भगवान् महेश्वर को प्रतिष्ठित भी किया था । इसी प्रवरपुर में अपनी राजधानी बनाकर ललितादित्य भी निवास करते थे । अत्रिगुप्त भी यहीं आकर निवास करते थे । नृपति प्रवरसेन ने भगवान् महेश्वर की पूजा के अन्त में एक बार एक वैज्ञानिक चमत्कारपूर्ण कार्य सम्पन्न कराया था । उस युग के लिये वह एक महत्त्वपूर्ण कार्य था । उन्होंने एक धूपघण्टे का निर्माण कराया था, जिसे आकाश में उत्पतित होकर बजाया जा सकता था । धूप घड़ी तो सूर्य की गति के आधार पर समय का निर्धारण करती हैं । किन्तु वह धूप घण्टा बड़ा विचित्र था । उसके व्योम में उत्पतित होकर बजाने का स्वयम् उन्होंने ही उद्घाटन किया था ॥ ४७ ॥

आन्दोलित होने पर आकर्षक और वीरोचित घण्टानाद से उस यन्त्र ने प्रवरसेन के यश को विश्वविख्यात बना दिया था । यह कहा जा सकता

सद्वृत्तसारगुरुतैजसमूर्तयो हि
त्यक्ता अपि प्रभुगुणानधिकं ध्वनन्ति ॥ ४८ ॥
संपूर्णचन्द्रविमलद्युतिवीरकान्ता
गाढाङ्गरागघनकुङ्कुमपिञ्जरश्रीः ।
प्रोद्धूतवेतसलतासितचामरौघै-
राज्याभिषेकमनिशं ददती स्मरस्य ॥ ४९ ॥

है कि, सुन्दर और आकर्षक चरित्र और व्यवहार को मार्मिकता से महत्त्वपूर्ण तैजसिक विग्रह व्यक्ति परित्यक्त कर दिये जाने पर भी अपने स्वामी के गुणों का ही चतुर्दिक ध्वनन करते हैं अर्थात् अपने अधोश्वर को कोत्तिपताका को विश्व में प्रथित कर देते हैं। इस धूप घण्टा ने भी त्यक्त होने के बावजूद राजा प्रवरसेन को कीर्त्ति पताका फहराई ।। ४८ ।।

पूर्णिमा का चाँद विश्व को चाँदनो से चमत्कृत कर देता है। उसकी निर्मल कान्ति निराली होती है। वह कान्ति सामान्य कान्ति नहीं होती। उसे वीर सम्प्रदाय में दीक्षित कान्ता की उपाधि से शास्त्रकार विभूषित कर रहे हैं। ऐसो ज्योत्स्ना सुन्दरी गाढा केशर कमनीय अङ्गराग सा लगा कर भो मन्तुप्ट नहीं है। अभी सौन्दर्य को सर्वातिशायो बनाने के उद्देश्य से उसने कश्मीर को प्रकृति से कमनीय कुङ्कुम का मानो उपलेप भी कर लिया है। परिणामतः उस ज्योत्स्ना रमणो को रमणोयता पर पाण्डुर वर्णी पिञ्जर श्री भी न्योछावर हो गयो। शास्त्रकार को आखों ने उस सौन्दर्य माधुरो सुधा को छक कर पिया है। वह देख रहो है—यह रतिरमणोया प्रतीपदर्शिनी ज्योत्स्नामयी कान्ता अनवरत अजस्र भाव से मनसिज का राज्याभिषेक रचा रही है। राज्याभिषेक रतिपति का हो रहा है और वितस्ता को वेतसवल्लरियाँ चामर डुला रहीं हैं। इस कल्पनालोक की अलौकिकता भी श्रीतन्त्रालोक का शृङ्गार कर रही है ।। ४९ ।।

रोधःप्रतिष्ठितमहेश्वरसिद्धलिङ्ग
स्वायंभुवार्चनविलेपनगन्धपुष्पैः ।
आवर्ज्यमानतनुवीचिनिमज्जनौघ-
विध्वस्तपाप्ममुनिसिद्धमनुष्यवन्द्या ॥ ५० ॥

भोगापवर्गपरिपूरणकल्पवल्ली
भोगैकदानरसिकां सुरसिद्धसिन्धुम् ।
न्यक्कुर्वती हरपिनाककलावतीर्णा
यद्भूषयत्यविरतं तटिनी वितस्ता ॥ ५१ ॥

वितस्ता के तीर पर ही महेश्वर का सिद्ध लिङ्ग उसी प्रवरसेन प्रतिष्ठापित महादेव मन्दिर में विराजमान था। उस स्वयंभू लिङ्गकी पूजा अर्चना स्वयंभुव पद्धति से सम्पन्न होती थी। उसमें विशिष्ट विलेपनों का प्रयोग होता था। सुगन्धि-सुरभि मय सुन्दर कमनीय कल्हारादि कुसुमों से पूजा सम्पन्न होती थी। वे सारे पूजा के पुष्प वितस्ता के प्रवाह में अर्पित कर दिये जाते थे। आवर्ज्यमान अर्थात् अत्यन्त आकर्षक लघुलघु लहरिकाओं में डूबती उतराती उन पुष्पों की राशि उस प्रवाह को और भी पावन बना देती थी। उस प्रवाह में निमज्जन करने वाले मुनियों, सिद्धों और मनुष्यों की समस्त पापराशि विध्वस्त हो जाती है। ऐसे समस्त पापनिर्मुक्त मनुष्यों, सिद्धों और मुनियों द्वारा वह पवित्र स्रोतस्विनी नित्य अभिवन्द्य थी ॥ ५० ॥

वितस्ता भोग और अपवर्ग को अनायास प्रदान कर देने वाली कल्पलता के समान महिमान्वित थी। केवल भोगप्रदा देवों और सिद्धों द्वारा वन्द्य स्वर्णदी इसके समक्ष महत्त्वहीन हो गयी थी। वितस्ता ने अपनी पावनता से उसे अतिक्रान्त कर लिया था। भौगोलिक दृष्टि से भी वह

तस्मिन् कुवेरपुरचारिसितांशुमौलि-
सांमुख्यदर्शनविरूढपवित्रभावे ।
वैतस्तरोधसि निवासममुष्य चक्रे
राजा द्विजस्य परिकल्पितभूरिसंपत् ॥ ५२ ॥

तस्यान्वये महति कोऽपि वराहगुप्त-
नामा बभूव भगवान् स्वयमन्तकाले ।
गोर्वाणसिन्धुलहरीकलिताग्रमूर्धा
यस्याकरोत् परमनुग्रहमाग्रहेण ॥ ५३ ॥

हरपिनाक शब्द वाच्य त्रिशूल पर्वत के एक कलांश से अवतरित होने वाली पवित्र सरित् रूप से विश्वविख्यात है। ऐसी यह सर्वातिशायिनी नित्यपूता स्रोतस्विनी वितस्ता काश्मीर भूमि को और प्रवर पुरको अपने अस्तित्व से विभूषित करती है ॥ ५१ ॥

इसी नगरी में वितस्ता के उत्तरी तट पर भगवान् भूतभावन चन्द्रशेखर के मन्दिर में नित्य विराजमान विग्रह के सामने ही साम्मुख्य के कारण नित्य दर्शन के सौविध्य से समुत्पन्न पवित्र भाव से भावित परिवेश में श्री अत्रिगुप्त के निवास की व्यवस्था की गयी। राजा की ओर से ऐसा प्रबन्ध था, जिसमें अभिलषित सारी ऐश्वर्य भोग की सामग्रियाँ समुपलब्ध थीं। ऐसा भूरिसंपत् निवास उन्हें राजा ने अपनी ओर से प्रदान किया था ॥ ५२॥

इसी वंश में, जिसकी ख्याति सारे देश में थी, अन्त में एक महापुरुष अवतरित हुए। उनका नाम भगवान् वराह गुप्त था। आकाश गङ्गा की तरङ्गों से मानो उनके मूर्धा का अग्र भाग सुशोभित था। अर्थात् उनके ललाट पर तीन मोटी रेखायें उनके मूर्धन्य भाव का अभिव्यंजन करती थीं।

तस्यात्मजश्चुखलकेति जने प्रसिद्ध-
श्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः ।
यं सर्वशास्त्ररसमज्जनशुभ्रचित्तं
माहेश्वरी परमलंकुरुते स्म भक्तिः ॥ ५४ ॥
तारुण्यसागरतरङ्गभरानपोह्य
वैराग्यपोतमधिरुह्य दृढं हठेन ।
यो भक्तिरोहणमवाप्य महेशचिन्ता-
रत्नैरलं दलयति स्म भवापदस्ताः ॥ ५५ ॥

उन्होंने आग्रह पूर्वक इस वंश पर परम अनुग्रह किया था। उनसे पूरा वंश और परिवार अनुगृहीत था ॥ ५३ ॥

उन्हीं भगवान् वराहगुप्त के सुपुत्र श्रीमान् नरसिंह गुप्त थे। उनकी धवल धिषणा अर्थात् प्रज्ञापूर चेतना चन्द्रमा के समान अवदात थी। उन्हें प्यार से जनता और परिवार के लोग भी चुखुलक कहा करते थे[1]। समस्त शास्त्रों में समुल्लसित पावन प्रकाश पीयूष का रसमय पान करने के कारण और उसी में निमग्न रहने के कारण इनके चित्त में चेतना का चमत्कार संचित था। इन्हें माहेश्वरी भक्ति ने आत्मसात् कर लिया था। अर्थात् ये भी महामाहेश्वर महापुरुष थे ॥ ५४ ॥

महामाहेश्वर नरसिंह गुप्त अपने यौवन में ही परम विरक्त थे। तारुण्य एक तरह का लहराव भरा अतलान्त महासागर माना जाता है। इसकी भावनात्मक तरङ्गों की उत्तालता अमेय होती है। किन्तु माहेश्वरी भक्ति के महाप्रभाव से भासित नरसिंह गुप्त वैराग्य के पोत पर अधिरोहण कर गये थे। इन्होंने हठपाक प्रयोग द्वारा समस्त मायात्मक सांसारिक

---

१. श्रीत० खण्ड १ आह्निक १ श्लोक १ में उद्धृत।

तस्यात्मजोऽभिनवगुप्त इति प्रसिद्धः
श्रीचन्द्रचूडचरणाब्जपरागपूतः ।
माता व्ययूयुजदमुं किल बाल्य एव
दैवो हि भाविपरिकर्मणि संस्करोति ॥ ५६ ॥

भोगः शरीरम्। निमेषणीति क्षणक्षयिणीत्यर्थः। महीयस्त्वे शास्त्रचक्षुष्ट्वं हेतुः। नामनिरुक्तगोत्र इति अत्रिगोत्र इत्यर्थः। गोत्रनाम श्लिष्टतया निर्दिष्टम्। करैरिति हस्तरश्मिवाचमम्। परमिति अत्यर्थम्। अनेन च श्लोकद्वयेन अत्र निवासयोग्यत्वं दर्शितम्। स्वैर्विभवैर्युनक्तीति अनेन अत्र सर्वविद्याकरस्थानत्वं प्रकाशितम्। शक्तीति सिद्धाचतुष्कम्। तद्धि सितरक्तपीतकृष्णवर्णम्। विशिखव्रात इति शोषणादिः, तस्य हि रागादि कार्यम्। चक्रेति मुख्यानुचक्ररूपेषु। श्यामरक्तैरिति कृष्णापिङ्गलैः। देवीत्रितयेति प्रकरणाद्यौचित्यादुक्तम्। वाग्मीति वृहस्पतिरपि। मसृणगतिः

विपदाओं को ध्वस्त कर दिया था। इनके पास महेश-चिन्तारत्न नामक अमर माणिक्य था। एक तरफ माहेश्वरी भक्ति दूसरी ओर वैराग्य पोत पर आरोह और सबसे बढ़कर महेश चिन्ता-रत्न। इनका अस्तित्व विश्वोत्तीर्ण शिव के महाभाव में समाहित हो चुका था ॥ ५५ ॥

ऐसे महामाहेश्वर के योग्य पिता के योग्य पुत्र महामाहेश्वर श्रीमदभिनव गुप्त थे। अत्रिगुप्त के लगभग दो सौ वर्षों बाद इस वंश में अभिनव गुप्त का जन्म हुआ था। यह विश्वप्रसिद्ध ऐतिहासिक सत्य है। श्रीमदभिनव गुप्त को उत्तराधिकार रूप से श्रीचन्द्रचूड के चरणारविन्द मकरन्द रससुधास्वाद का सौभाग्य प्राप्त था। उमापति-पद-पद्मपरागपूत अभिनवगुप्त जिस समय अभी बाल्यभाव से भावित थे, बचपन में ही माता विमलकला शिववैमल्य में विलीन हो गयीं। बालक को मातृवियोग की व्यथा ने कितना व्यथित किया होगा, यह मेरे सदृश भुक्तभोगी ही जान सकता है। यहाँ एक

शनैश्चरश्च । अङ्गारेति उदानवह्निरपि । ग्रस्तार्केन्दुत्वेन ग्रहणद्वयमपि व्यञ्जितम् । यत् प्रवरसेन इति क्षितीशः पुरं निर्ममे तस्मिन्नमुष्य द्विजस्य ललितादित्यो राजा निवासं चक्रे इति दूरेण सम्बन्धः । व्योमोत्पतन्निति अनेन अत्रापि सिद्धयानुगुण्यं प्रकाशितम् । सेति घण्टा । तैजसेति लोहश्च । भोगापवर्गेति श्लोकद्वयकटाक्षितयोः । पिनाकेति आयुधं त्रिशूलमिति यावत् । कुवेरपुरेति उत्तरा दिक् । व्ययूयुजदिति स्वतो वियुक्तं समपादयत् प्रमोतमातृकोऽभूदिति यावत् ॥ ५६ ॥

अन्तर्निहित सत्य गुप्त रखा गया है। वह यह कि, जन्मदात्री माँ ने मुझे वात्सल्यमयी माहेश्वरी भक्ति रूपी माँ को सौंप दिया था। बालक भौतिक दृष्टि से मातृहीन हो गया था किन्तु अलौकिक दृष्टि में अनन्तशक्तिमती सर्वेश्वरी माँ इसे मिल गयी थी, जिसने अभिनव को अन्वर्थता प्रदान कर दी। इसी बात को अन्तिम पंक्ति भी संकेतित कर रही हैं। दैव भविष्यत् में संपत्स्यमान कर्मराशि का संस्कार स्वयं करता है। दैव ने मातृवियुक्त बालक के भावी परिकर्मों को संस्कार सम्पन्न बनाया— श्रीतन्त्रालोक इसका साक्षी है ॥ ५६ ॥

यहाँ श्लोक ३६ से ५६ तक में प्रयुक्त शब्दार्थ सूची पर ध्यान देना आवश्यक है। श्लोक संख्या के अनुसार यह द्रष्टव्य है—

क्रमाङ्क	श्लोक संख्या	शब्द	अर्थ
१.	३६	भोग	शरीर
२.	३६	निमेषिणी	क्षण भङ्गुर शक्ति
३.	३७	महीयान्	महान् (महत्ता का कारण शास्त्रचक्षुष्कता)
४.	३८	नामनिरुक्त गोत्रः	अत्रिगोत्र (गोत्र का नाम श्लिष्ट है)

५.	३९	करैः	हाथ और रश्मि
६.	४०	परम्	अत्यर्थ, प्रभूत ये दोनों श्लोक कश्मीर की निवास योग्यता के द्योतक हैं।
७.	४१	स्वैर्विभवैर्युनक्ति	सर्वविद्या रूप विभव से युक्त करता है।
८.	४२	शक्ति चतुष्टय	चार सिद्धा शक्तियाँ। ये सित, रक्त, पीत एवं कृष्णवर्ण हैं
९.	४३	विशिखव्रात	पंचबाण के पाँच बाण। इनसे राग आदि विकार होते हैं
१०.	४४	चक्रचर्या	मुख्यचक्र और अनुचक्र दोनों की समन्वित चर्या
११.	४५	श्यामरक्तैः	कृष्ण वर्ण और पिङ्गलवर्णों के समन्वय से सुन्दर पलाश
१२.	४५	देवीत्रितय	तीन रङ्गों के प्रकरण के कारण देवी शक्तित्रितय का
१३.	४६	वाग्मी	उल्लेख वृहस्पति
१४.	४६	मसृणगति	शनैश्चर
१५.	४६	अङ्गार	मङ्गल, लालतप्त अग्नि-गोलक, उदानवह्नि
१६.	४६	ग्रस्तार्केन्दु	सूर्यचन्द्र ग्रहणद्वय
१७.	४७	व्योमोत्पतन्	सिद्धि का आनुगुण्य, आकाशगति पूर्वक

तमेव संस्कारं व्यनक्ति

माता परं बन्धुरिति प्रवादः
स्नेहोऽतिगाढीकुरुते हि पाशान् ।
तन्मूलबन्धे गलिते किलास्य
मन्ये स्थिता जीवत एव मुक्तिः ॥ ५७ ॥

१८.	४८	सा	धूपघण्टा
१९.	४८	तैजस	लौह
२०.	५१	भोगापवर्ग	भोग मोक्ष
२१.	५१	पिनाक	धनुष्, आयुध त्रिशूल
२२.	५२	कुबेरपुर	उत्तरादिक्
२३.	५६	व्ययूयुजत्	भगवान् भरोसे छोड़ देना, मातृवियोग, प्रमीतमातृकता
२४.	५६	दैव	प्रारब्ध, भाग्य ॥ ३६-५६ ॥

श्लोक ५६ में भाग्य द्वारा कर्मसंस्कार की चर्चा है। उसी संस्कार का अभिव्यंजन कर रहे हैं—

एक प्रसिद्ध सूक्ति है कि, 'माता सर्वश्रेष्ठबन्धु होती है। इस प्रवाद एक मोहक पक्ष यह है कि, उसकी वात्सल्य-सुधा से सिक्त स्नेह जागतिक पाशों को और भी प्रगाढ कर देता है। तान्त्रिक दृष्टि से ८ आठ पाश होते हैं। इनमें से एक एक पाश बन्धन प्रद होते हैं। माता का स्नेह इन सभी को इतना प्रगाढ कर देता है कि, उससे शिशु के उबर पाने की और बन्धन विमुक्त होने की सारी आशायें अवरुद्ध हो जाती हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि, इन पाशों के मूल में मातृस्नेह का महान् योगदान है। जब यह मूलबन्ध ही समाप्त हो जाय, तो यह मानने को मन करने लगता है कि,

पित्रा स शब्दगहने कृतसंप्रवेश-
स्तर्कार्णवोर्मिपृषतामलपूतचित्तः ।
साहित्यसान्द्ररसभोगपरो महेश-
भक्त्या स्वयंग्रहणदुर्मदया गृहीतः ॥ ५८ ॥

ऐसे मातृहीन शिशु के लिये जीते ही जीते मुक्ति हस्तामलकवत् हो जाती है। उसकी जीवन्मुक्ति ध्रुव रूप से सिद्ध हो जाती है। इस बात में बड़ी सच्चाई है। इस कथन में मातृशक्ति के अपमान की भी कोई बात नहीं है। कुछ मातायें अपवाद भी होती हैं, जो अपने पुत्र को मुक्त नहीं, वरन् धनी बनाने की ओर अग्रसर करती हैं ॥ ५७ ॥

बालक अभिनव के पालन पोषण का सारा भार पिता के कन्धों पर आ पड़ा। पिता श्री ने इन्हें सर्वप्रथम शब्द-गहन शास्त्र में अर्थात् व्याकरण-शास्त्र की शिक्षा के लिये प्रेरित किया। प्रवेश दिलाया और उसमें पारङ्गत बनाने में योगदान किया। इसके बाद न्यायशास्त्र के महासमुद्र को पार कराया। उसकी तरङ्गों की विप्रुष् राशि से इनमें नैर्मल्य आया और चित्त में शुचिता का संस्कार सम्वर्धित हुआ। इसके बाद यौवन की सोपान परम्परा की प्रथम सीढ़ी पर पैर रखा ही था कि, इन्हें साहित्य शास्त्र के रसास्वाद में प्रवृत्त कर दिया गया। साहित्य शास्त्रीय रसधार के आस्वाद में पूरी तरह रसज्ञ हो जाने पर अकस्मात् एक चमत्कार घटित हो गया। अदृश्य मातृशक्ति ने जागतिक रसास्वाद की प्रवृत्ति को ही अवरुद्ध कर दिया और उसने इस मातृहीन युवा को माहेश्वरी भक्ति की माँ की गोद में ला बिठाया। यह अकारण करुणामयी माँ पराम्बा का अनुग्रह था। अभिनव उससे अनुगृहीत हो गये ॥ ५८ ॥

स तन्मयीभूय न लोकवर्तनी-
मजीगणत् कामपि केवलं पुनः ।
तदीयसंभोगविवृद्धये पुरा
करोति दास्यं गुरुवेश्मसु स्वयम् ॥ ५९ ॥

पुरा करोतीति 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' (३।३।४) इति लटि प्रयोगः । के ते गुरव इत्याशङ्क्य आह

आनन्दसंततिमहार्णवकर्णधारः
सद्देशिकैरकवरात्मजवामनाथः ।
श्रीनाथसंततिमहाम्बरघर्मकान्तिः
श्रीभूतिराजतनयः स्वपितृप्रसादः ॥ ६० ॥

अभिनव की शैवमहाभावमयी माहेश्वरी भक्ति की तन्मयता में इतना आतिशय्य था कि, उस युवा भक्त ने लोकव्यवहार को उसके समक्ष तनिक भी महत्त्व नहीं दिया । भक्ति भावावेश के समक्ष उसने लोक वर्त्तनी की कोई गणना ही नहीं की । भगवत्तादात्म्य जन्य आनन्द के उपभोग के लिये, उसके संभोग संवर्द्धन के उद्देश्य से वह युवा तपस्वी गुरुओं के घर पर ही रहकर उनकी दासता में समय व्यतीत करता रहा । गुरु उनके लिये ब्रह्मा, विष्णु और महेश के सदृश थे । उनके दास्य में उनका तादात्म्य पुलकित होता रहा ॥ ५९ ॥

यहाँ गुरुजनों के सम्बन्ध में अपना श्रद्धाभाव व्यक्त कर रहे हैं। इससे उनके वैदुष्य, उनकी परम्परा और तत्कालीन समाज में विद्वद्वर्ग के समादर भाव पर प्रकाश पड़ रहा है—

१. आनन्दान्त शिष्य-सन्तान-परम्परा रूपी महार्णव के कर्णधार सत्य-कीर्त्ति देशिक शिरोमणि श्रीमान् एरकनाथानन्द नामक परम्परा प्रवर्त्तक महापुरुष थे । उनके आत्मज का नाम वामानन्द नाथ था ।

त्रैयम्बकप्रसरसागरशायिसोमा-

नन्दात्मजोत्पलजलक्ष्मणगुप्तनाथः ।

तुर्याख्यसंततिमहोदधिपूर्णचन्द्रः

श्रीसोमतः सकलवित्किल शंभुनाथः ॥ ६१ ॥

---

२. श्रीनाथ सन्तति रूप उन्मुक्त आकाश मण्डल में सूर्य की कान्ति के सदृश प्रताप पूर्ण अवदात-व्यक्तित्व-विभूषित श्रीभूतिराज नामक पुत्र उत्पन्न हुए। वे अपने पिता के शक्तिपात रूपी प्रसाद से संवलित प्रसाद रूप ही थे ॥ ६० ॥

३. श्री त्रैयम्बक परम्परा के प्रसार को यदि सागर माना जाय, तो उसमें आनन्द पूर्वक शयन करने वाले विष्णु के समान सर्वव्यापक यशस्वी श्री सोमानन्द के पौत्र श्रीलक्ष्मणनाथ उत्पन्न हुए थे। श्रीलक्ष्मणनाथ के पिता का नाम उत्पल था। श्री उत्पल सोमानन्द के पुत्र और शिष्य दोनों थे।

४. इसी तरह तुर्य परम्परा (अर्ध त्र्यम्बक परम्परा) को महोदधि मानने पर उसमें ज्वार की तरह उद्वेलन और तारङ्गिक उल्लास उत्पन्न करने वाले पूर्ण चन्द्रमा के समान शोभमान सर्वज्ञ शिव के समान सर्वशास्त्रपारङ्गत श्रीशंभुनाथ उत्पन्न हुए। उन्होंने सारा स्वाध्याय श्री सोमानन्द से किया था। अतः श्री सोमानन्द उनके गुरु थे और श्री शंभुनाथ उनके पट्टशिष्य थे ॥ ६१ ॥

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य परिवृढ पुरुषों का नाम यहाँ शास्त्रकार दे रहे हैं। इन्हें श्री अभिनव ने मात्र 'महान्त' कहा है। जैसे गुरुकुल में बहुत से शिक्षक होते हैं किन्तु मान्य श्रद्धेय प्रधान गुरु और दीक्षा गुरु ही पूज्य हो होते हैं। उसी तरह श्री शम्भुनाथ इनके अर्थात् शास्त्रकार के प्रधान गुरु थे। उनसे इन्होंने सारे शास्त्रों का स्वाध्याय किया था। साथ ही ये

श्रीचन्द्रशर्मभवभक्तिविलासयोगा-
नन्दाभिनन्दशिवशक्तिविचित्रनाथाः ।
अन्येऽपि धर्मशिववामनकोद्भटश्री-
भूतेशभास्करमुखप्रमुखा महान्तः ॥ ६२ ॥

एते सेवारसविरचितानुग्रहाः शास्त्रसार-
प्रौढादेशप्रकटसुभगं स्वाधिकारं किलास्मै ।
यत् संप्रादुर्यदपि च जनान्नैक्षताक्षेत्रभूतान्
स्वात्मारामस्तदयमनिशं तत्त्वसेवारसोऽभूत् ॥ ६३ ॥

उन्हें साक्षात् शिवरूप मानते थे । इनके अतिरिक्त तत्कालीन महान् गुरु श्रेणी के ऐसे लोग थे, जिनका नामोल्लेख पूर्वक स्मरण शास्त्रकार कर रहे हैं—

१. श्रीचन्द्र शर्म, २. श्रीभवानन्द, ३. श्रीभक्तिविलास ४. श्रीयोगानन्द, ५. श्री अभिनन्द, ६. श्रीशिवशक्तिनाथ, ७. श्रीविचित्रनाथ, ८. श्री धर्मानन्द, ९. श्रीशिवानन्द, १०. श्रीवामननाथ, ११. श्री उद्भटनाथ, १२. श्री भूतेश नाथ और १३. श्री भास्कर और १४. श्रीमुखानन्दनाथ नामक इन चौदह गुरुजनों का वर्चस्व भी तत्कालीन कश्मीर राज्य में था। ये सभी गुरुवर्ग के थे। यह प्रतीत होता है कि, श्री अभिनव के वे पूर्ण सम्पर्क में थे। उनसे इन्होंने विद्या प्राप्ति की है, इसका उल्लेख आगे के श्लोक में है ॥ ६२ ॥

ये सभी श्री अभिनव की सेवा भावना से इतने प्रसन्न थे कि, उन सभी ने सेवाभाव से प्रसन्न होकर इन पर अनुग्रह की वर्षा की। उन्होंने इन्हें शास्त्र के सार रहस्य से परिचित कराया था। इसी का परिणाम था कि, श्री अभिनव भी सर्वशास्त्र पारङ्गत हो सके थे। उन्होंने शास्त्रों के आदेश के अनुसार खुले मन से और प्रकट रूप से अपने अधिकार भी श्री अभिनव

सोऽनुग्रहीतुमथ शांभवभक्तिभाजं
स्वं भ्रातरमखिलशास्त्रविमर्शपूर्णम् ।
यावन्मनः प्रणिदधाति मनोरथाख्यं
तावज्जनः कतिपयस्तमुपाससाद ॥ ६४ ॥

तुर्याख्यसंततीति अर्धत्र्यम्बकाभिख्या । अक्षेत्रभूतानिति अपात्रप्राया-निित्यर्थः । उपाससादेति अन्तेवासितामन्वभूदित्यर्थः ॥ ६४ ॥

को प्रदान कर दिये थे। उनकी यह एक और विशेषता थी कि, वे शास्त्र के परिवेश में समाकर भी जो समरस नहीं हो पाते थे, ऐसे अपात्र लोगों को क्षेत्र में रहते हुए भी अक्षेत्रभूत मानते थे। अपात्रों की ओर उन्होंने कभी भी नहीं देखा। सेवारस से वे निश्चय ही प्रसन्न होते थे। अत एव मैं श्री अभिनव यद्यपि स्वात्माराम हो चुके थे फिर भी गुरुजनों की सेवा में दिन रात लगे रहे। इसके सुफल के भोग का अवसर बाद में मिला। इनमें इन सभी का महान् योगदान शास्त्रकार कृतज्ञता पूर्वक स्वीकार करते हैं ॥ ६३ ॥

गुरुजनों के अनुग्रह से अनुगृहीत अभिनव अपने भविष्य के विषय में सोच रहे थे। इधर शास्त्रों के ज्ञान से समृद्ध, बोध का प्रकाश इन्हें स्वात्मा-राम बना चुका था। उधर सारी परम्परा के सम्वर्धन के उत्तर दायित्व का ऊहापोह था और साथ ही अपने पारिवारिक जनों के प्रति आत्मीयता के सन्दर्भ में सामाजिक उत्कर्ष का भी चिन्तन चल रहा था। इसी में उन्होंने मन ही मन एक संकल्प किया कि, तत्काल मैं अपने प्रिय भाई मनोरथ के यहाँ क्यों न चलकर रहूँ, और वहीं से जीवन के समस्त उत्तर दायित्वों का संचालन करूँ। इसी भाव का अभिव्यञ्जन शास्त्रकार कर रहे हैं—

अभिनव ने अपने भाई को अपने साहचर्य से अनुगृहीत करने की धारणा अपने मानसिक धरातल पर बहुत सोच-विचार के बाद निर्धारित की।

तमेव कतिपयं जनं निर्दिशति

श्रीशौरिसंज्ञतनयः किल कर्णनामा
यो यौवने विदितशांभवतत्त्वसारः ।
देहं त्यजन् प्रथयति स्म जनस्य सत्यं
योगच्युतं प्रति महामुनिकृष्णवाक्यम् ॥ ६५ ॥

उनके भाई का नाम मनोरथ गुप्त था। वे भी शांभव भक्ति से महाभावित रहने वाले सत्पुरुष थे। समस्त शास्त्रों के स्वाध्याय से समुत्पन्न बोध का विमर्श उनकी प्रज्ञा को पुलकित करता था। ऐसे भाई के पास जाने को उनके साथ रहने को आकाङ्क्षा स्वाभाविक हो थी। इस मानसिकता से अभी उबर भी नहीं पाये थे कि, कुछ लोग उनसे मिलने उनके पास आये। सम्भवतः वे नवागन्तुक उनकी प्रसिद्धि से प्रभावित थे और अन्तेवासी बनकर कुछ सीखना चाहते थे ॥ ६४ ॥

उनके पास कौन लोग आये थे, उनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दे रहे हैं—

आने वालों में सर्वप्रथम उल्लेख्य श्री शौरि नामक पिता के पुत्र 'श्री कर्ण' थे। कर्ण सामान्य ज्ञानवान् नहीं थे। युवावस्था में ही शांभव भक्ति योग के समस्त तत्त्वात्मक सार रहस्य का साक्षात्कार उन्हें हो चुका था। उन्हें देखकर महामुनि कृष्ण का वह वाक्य स्मरण पथ में उतर आया कि, यह अवश्य ही योगभ्रष्ट व्यक्ति हैं, जिन्होंने इस जन्म में भो योगसिद्धि प्राप्त कर ली है। वस्तुतः कृष्ण द्वारा गोत श्रीमद्भगवद् गोता की उक्तियाँ विशिष्ट मनुष्य की योगच्युति का सत्य उद्घाटित करती हैं। देह छोड़ता हुआ जोव किस दशा को प्राप्त करता है, इसका उत्तर कृष्ण का वाक्य प्रथित करता है। श्री कर्ण को देखकर यही भाव श्री अभिनव के मन में उदित हुआ ॥ ६५ ॥

तद्बालमित्रमथ मन्त्रिसुतः प्रसिद्धः
श्रीमन्द्र इत्यखिलसारगुणाभिरामः ।
लक्ष्मीसरस्वति समं यमलंचकार
सापत्नकं तिरयते सुभगप्रभावः । ६६ ॥

अन्ये पितृव्यतनयाः शिवशक्तिशुभ्राः
क्षेमोत्पलाभिनवचक्रकपद्मगुप्ताः ।
ये संपदं तृणममंसत शंभुसेवा-
संपूरितं स्वहृदयं हृदि भावयन्तः ॥ ६७ ॥

इन आगन्तुक व्यक्तियों में दूसरा व्यक्ति था 'श्री मन्द्र'। वह बालमित्र था। प्रसिद्ध पुरुष था। उसकी तृतीय विशेषता यह थी कि वह राज्य के मन्त्री का पुत्र था। वह निखिल उत्तम गुणों का आगार था। मनुष्य का वास्तविक सौन्दर्य और उसकी अभिरामता उसके गुणों पर ही निर्भर करती है। उसे लक्ष्मी और सरस्वती दोनों की कृपा प्राप्त थी। मानो दोनों उसके अस्तित्व को अलङ्कृत करती थीं। यह निर्विवाद सत्य है कि, सुभग प्रभाव सपत्नी भाव को समाप्त कर देता है। सपत्नी भाव के कारण ही जहाँ लक्ष्मी रहती हैं, वहाँ सरस्वती नहीं रहती। यहाँ ऐसा नहीं था। श्रीमन्द्र के पुरुषार्थ का यह महत्त्व था ॥ ६६ ॥

आगन्तुकों में अन्य लोगों में पितृव्य पुत्र, १. क्षेम, २. उत्पल, ३. अभिनव, ४. चक्रक और ५. पद्मगुप्त ये सभी गुणज्ञ लोग थे। ये सभी शिवशक्ति भक्ति योग मयी तपस्या से शुभ्र और तेजवन्त थे। इन्होंने सांसारिक सम्पदा और ऐश्वर्य को तृण के समान ही महत्त्व दिया था। शंभु की श्रद्धा से इनका हृदय ओतप्रोत था। इन्होंने स्वात्म संविद् रूप शिव को ही हृदय में भावित कर लिया था ॥ ६७ ॥

षडर्धशास्त्रेषु समस्तमेव
येनाधिजग्मे विधिमण्डलादि ।
स रामगुप्तो गुरुशंभुशास्त्र-
सेवाविधिव्यग्रसमग्रमार्गः ॥ ६८ ॥

अन्योऽपि कश्चन जनः शिवशक्तिपात-
संप्रेरणापरवशस्वकशक्तिसार्थः ।
अभ्यर्थनाविमुखभावमशिक्षितेन
तेनाप्यनुग्रहपदं कृत एष वर्गः ॥ ६९ ॥

आने वालों में एक अन्य महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे—'श्री रामगुप्त'। षडर्ध दर्शन शास्त्रों में जितनी विधियाँ वर्णित हैं, मण्डल आदि के जितने कर्मकाण्ड विहित और निर्दिष्ट हैं, इन्होंने सब में अधिकार प्राप्त कर लिया था। इनके गुरु भी श्रीशंभुनाथ थे। उनसे इन्होंने शास्त्रस्वाध्याय विधि को सीखा था। सीखकर उसके प्रवर्त्तन में व्यग्र रहते थे। इनका समग्र शैवभाव का महामार्ग इनके कर्त्तृत्व से कृतार्थ हो गया था ॥ ६८ ॥

एक और ऐसा व्यक्ति था, जो परिचय के परिवेश में नहीं आता था। उसको देखने से ऐसा प्रतीत होता था कि, यह कोई साधक है। उसके ऊपर परमेश्वर शक्तिपात हो चुका है और शक्तिपात पवित्रित है। उसी शैव समावेशमयी प्रेरणा से ही वह परिचलित है। स्वात्म संवित् शक्ति का मानो वह एकाकी सार्थवाह बना युक्त होकर यन्त्रवत् चल रहा हो। अभ्यर्थनामयी दिखावटी और चापलूसी भरी बातों से वह विमुख था। अथवा अभ्यर्थना अर्थात् प्रार्थना की प्रथा से वैमुख्य अर्थात् पराङ्मुखता में वह अशिक्षित था। अर्थात् बड़ा विनम्र था। प्रतिक्षण प्रार्थना की मुद्रा से समन्वित व्यवहार करता था। लगता था—उसने अपने साथ इन अन्य साथियों को अनुगृहीत ही किया था ॥ ६९ ॥

आचार्यमभ्यर्थयते स्म गाढं
संपूर्णतन्त्राधिगमाय सम्यक् ।
जायेत दैवानुगृहीतबुद्धेः
संपत्प्रबन्धैकरसैव संपत् ॥ ७० ॥
सोऽप्यभ्युपागमदभोप्सितमस्य यद्वा
स्वातोद्यमेव हि निर्नातिषतोऽवतीर्णम् ।
सोऽनुग्रहप्रवण एव हि सद्गुरूणा-
माज्ञावशेन शुभसूतिमहाङ्कुरेण ॥ ७१ ॥

सम्यक् रूप से शास्त्रों के स्वाध्याय और उनके सार स्वात्म रहस्य के उद्देश्य से शिष्य अपने आचार्य को अभ्यर्थना करता है। तन-मन से उनकी सेवा में संलग्न रहता और गाढ श्रद्धा-भाव-मय विनम्र व्यवहार करता है। क्या सभी शिष्यों को उनका मनचाहा मिल जाता है? इच्छा यही होती है कि यह हो! गुरु भी यही कामना करते हैं कि, भाग्य और प्रारब्ध के अनुग्रह से शिष्य की बुद्धि परिष्कृत हो और समस्त संपत्स्वरूप ऐश्वर्य लक्ष्मी के प्रबन्ध की दक्षता के साथ एकरसता अर्थात् एक मात्र आनन्ददायिनी संपत् इसे मिले! यह स्वाभाविक समोहा है। इसी का चित्रण यहाँ शास्त्रकार ने किया है ॥ ७० ॥

यह वर्ग भी यहाँ आया। शास्त्रकार ने सोचा—यह उनका अभीप्सित था। उससे प्रेरित होकर ही विद्वद्वर्ग यहाँ उपस्थित है। उन्होंने अपने मन से पूछा, क्या संकल्पों और विकल्पों का जो बाजा इस वर्ग के मन के झुनझुने में बजा करता है, वही तो यहाँ नहीं अवतीर्ण हो गया है? जैसे नाचने की इच्छा रखने वाले के लिये वाद्य यन्त्र उपस्थित हो जाते हैं? इसी ऊहापोह के वातावरण में इनके बालमित्र मन्त्रीपुत्र श्री मन्द्र ने एक प्रस्ताव इनके सामने प्रस्तुत कर दिया। वह अनुग्रह प्रवण पुरुष था। इनके

विक्षिप्तभावपरिहारमथो चिकीर्षन्
मन्द्रः स्वके पुरवरे स्थितिमस्य वव्रे ।
आबालगोपमपि यत्र महेश्वरस्य
दास्यं जनश्चरति पीठनिवासकल्पे ॥ ७२ ॥

तस्याभवत् किल पितृव्यवधूर्विधात्रा
या निर्ममे गलितसंसृतिचित्रचिन्ता ।

अनुग्रह के प्रति अनुरक्त रहा करता था। इस प्रस्ताव में सद्गुरुजनों की आज्ञा का पुट था। इस प्रस्ताव से यह झलक रहा था कि, यह मात्र प्रस्ताव ही नहीं है, वरन् भविष्य की किसी अदृश्य शक्ति द्वारा किसी अज्ञात सूति का (संरचना के उपक्रम का) यह अङ्कुर है। अदृश्य किसी अज्ञात योजना के उपक्रम के लिये आकुल है, और उसी का संरम्भ कर रहा है। विक्षिप्त की तरह अपने मित्र के वियाग और अलगाव के असह्य होने के भाव का वह परिहार कर रहा था। मन्द्र की यह आकाङ्क्षा थी कि, मेरा शास्त्र सिद्ध मित्र मुझसे अलग न रहे।

इसलिये बड़े विनम्र भाव से उसने कहा—हमारी यह प्रार्थना है और विनम्र अनुरोध है कि, आप हमारे ही पुर में निवास करना स्वकार करें। उसने आगे कहा—मित्र! वह स्थान आपके निवास के योग्य है। वहाँ के आबाल वृद्ध यहाँ तक कि, गोपालक वर्ग भी और सारा जन समुदाय भगवान् महेश्वर की दास्य भक्ति से भावित है। यह कहना असंगत नहीं लगता कि, हमारे पुर का निवास वैसा ही होगा मानो आप किसी पीठ में निवास कर रहे हैं। पीठ निवास में जैसा आचरण होता है, वैसा ही आचरण वहाँ की सारी जनता करती है। वह स्थान सर्वथा आपके अनुकूल है ॥ ७१-७२ ॥

शीतांशुमौलिचरणाब्जपरागमात्र-
भूषाविधिर्विहितवत्सलिकोचिताख्या ॥ ७३ ॥

मूर्ता क्षमेव करुणेव गृहीतदेहा
धारेव विग्रहवती शुभशीलतायाः ।
वैराग्यसारपरिपाककदशेव पूर्णा
तत्त्वार्थरत्नरुचिरस्थितिरोहणोर्वी ॥ ७४ ॥

श्रीमन्द्र की एक पितृव्य बधू थी। विधाता ने उसकी ऐसी रचना की थी, जो अन्य स्त्रियों से नितान्त भिन्न थी। वह अत्यन्त उच्च विचार की साध्वी महिला थी। उसके संसृति के संस्कार विगलित हो गये थे। मोक्ष पर मानो उसका अधिकार स्थापित हो गया था। आवागमन को चित्र विचित्र चिन्ताओं से वह सर्वथा निर्मुक्त थी। शीतांशुचन्द्र जिसके शीर्ष में निवास करते हैं, ऐसे भगवान् चन्द्रशेखर के चरणारविन्द से पावन पराग की भूषा से वह विभूषित थी। परिवारजनों द्वारा दिया हुआ नाम भी उसके सर्वथा अनुकूल था। उस वात्सल्यमयी का नाम भी वत्सलिका ही था ॥ ७३ ॥

वह धर्म की मूर्त्ति थी। करुणा स्वयं मानो वत्सलिका के देह भाव में प्रत्यक्ष हो गयी थी। अर्थात् शरीर धारिणी वह करुणा ही थी। मङ्गल-मयता की मूर्त्ति वह कल्याणी शुभ और शीलता की विग्रहवती धारा थी। वैराग्य के रहस्य का उसमें पूर्ण परिपाक था। यह कहा जा सकता है कि, वह वैराग्य की परिपाक दशा ही थी। विश्व के समस्त तत्त्वों का उत्स ब्रह्मतत्त्व है। इसे शिवतत्त्व भी कहते हैं। इस तत्त्व के अर्थ की जो अर्थवत्ता है, वह एक अनमोल रत्न के समान बहुमूल्य निधि है। उसी में उसकी स्थिति थी। तत्त्वार्थ में आरोहण कर शाश्वत स्थितिमयी उर्वी के समान वह महनीय थी।

भ्रातापि तस्याः शशिशुभ्रमौले-
भंक्त्या परं पावितचित्तवृत्तिः ।
स शौरिरात्तेश्वरमन्त्रिभाव-
स्तत्याज यो भूपतिमन्त्रिभावम् ॥ ७५ ॥
तस्य स्नुषा कर्णवधूर्विधूत-
संसारवृत्तिः सुतमेकमेव ।
यासूत योगेश्वरिदत्तसंज्ञं
नामानुरूपस्फुरदर्थतत्त्वम् ॥ ७६ ॥

इस तत्त्वार्थ के आरोहण और उर्वी भाव को शास्त्रीय दृष्टि से समझना आवश्यक है। तभी यह पंक्ति समझ में आ सकती है। न्याय शास्त्र की अन्वय दृष्टि इस प्रकार व्यवहृत होती है। विद्वद्वर्ग कहता है—जहाँ-जहाँ धृतित्व है, वहाँ-वहाँ धरात्व है क्योंकि पृथ्वी का यह एक महान् गुण है। पृथ्वी सबको धारण करती है। सबको धारण करने का गुण शिव का भी है। वे जगतां निवास जगन्निवास हैं। अर्थात् जैसे धृतित्व गुण उर्वी में है, वही गुण शिव में भी है। अतः धृतित्व की अर्थवत्ता में उर्वी की भी रुचिर स्थिति स्वयं सिद्ध हो जाती है। उसी उर्वी की पार्थिवता से पावन वत्सलिका शिवत्व में समाहित होती थी ॥ ७४ ॥

देवी वत्सलिका जैसी आदर्श महिला थीं, उनके भाई श्री शौरि नामक ऐसे पुरुष थे, जो भगवान् भूतभावन की भक्तिभावना से ओतप्रोत थे। फलतः उनका चित्त अत्यन्त पवित्र हो चुका था। उन्हें राज्य के मन्त्रिपद की प्राप्ति हो चुकी थी। वे इतने निःस्पृह थे कि, उन्होंने उस पद का परित्याग कर दिया था। यह सोचने की बात है कि, जो अपनी तपस्या से ईश्वर का मन्त्री पद पा गया हो, उसे भौतिक मन्त्रित्व कैसे प्रिय लग सकता है? अनवरत ईश्वर के मन्त्र जप में संलग्न रहना ही ईश्वरमन्त्रित्व माना जा सकता है ॥ ७५ ॥

यामग्रगे वयसि भर्तृवियोगदोना-
मन्वग्रहीत् त्रिनयनः स्वयमेव भक्त्या ।
भाविप्रभावरभसेषु जनेष्वनर्थः
सत्यं समाकृषति सोऽर्थपरम्पराणाम् ॥ ७७ ॥
भक्त्युल्लसत्पुलकतां स्फुटमङ्गभूषां
श्रीशंभुनाथनतिमेव ललाटिकां च ।

इनकी स्नुषा (पुत्रवधू) पतोहू कर्णपत्नी एक विरक्त स्वभाव की साध्वी सुचरित्रा नारी थीं। सांसारिक वृत्तियों को उन्होंने अपनी साधना से विध्वस्त कर दिया था। उन्होंने एक ही पुत्र उत्पन्न किया। उसका नाम योगेश्वरिदत्त रखा गया था। सचमुच वह राजराजेश्वरी सर्वयोगेश्वरी का ही दिया हुआ पुत्र था। उसके नाम को अन्वर्थ संज्ञा थी। नाम के अर्थतत्त्व का उसमें साक्षात्कार होता था ॥ ७६ ॥

दुर्भाग्य से आगे चलकर उन पर पहाड़ टूट पड़ा। उनके पति की मृत्यु हो गयी। वे वैधव्य के अभिशाप से अभिशप्त हो गयीं। ऐसी साध्वी को दीनता रूप दुर्दिन का सामना करना पड़ा। किन्तु वे बुरे दिन उनके शुभ्र के आविष्कारक सिद्ध हुए थे। उनकी असामान्य भक्ति के प्रभाव से स्वयं भगवान् शङ्कर का अनुग्रह उन्हें प्राप्त हुआ। भूतभावन ने उसे अपना ही बना लिया। एक गृहस्थ साध्वी अब शिवप्रिया सती बन गयी। यह सत्य तथ्य है कि, जो प्राणी आग्रह पूर्वक अपने भविष्यत् के परिष्कार के लिये प्रवृत्त रहता है, अनर्थ भी उसकी अर्थपरम्परा का स्वयं समाकर्षण करता है ॥ ७७ ॥

भक्ति के उल्लास का पुलक किसी कवीश्वर की सूक्ष्मेक्षिका का विषय बन सकता है। वही जिसके अङ्गों की भूषा हो, जिस ललाट पटली का

शैवश्रुतिं श्रवणभूषणमप्यवाप्य
सौभाग्यमभ्यधिकमुद्वहति स्म यान्तः ॥ ७८ ॥

अम्बाभिधाना किल सा गुरुं तं
स्वं भ्रातरं शंभुदृशाभ्यपश्यत् ।
भाविप्रभावोज्ज्वलभव्यबुद्धिः
सतोऽवजानाति न बन्धुबुद्धया ॥ ७९ ॥

भ्राता तदीयोऽभिनवश्च नाम्ना
न केवलं सच्चरितैरपि स्वैः ।

सच्चरितकृतमेव अभिनवत्व दर्शयति

पीतेन विज्ञानरसेन यस्य
तत्रैव तृष्णा ववृधे निकामम् ॥ ८० ॥

श्रृङ्गार ललाटिका नहीं वरन् शिवनुति से समुत्पन्न घृष्टचर्म चिह्न करते हों और शिवभक्ति सनी सूक्तियाँ ही जिसके श्रवण पुट का श्रृङ्गार करती हों ऐसे भक्तिभावित जीव के लिये यह कहा जा सकता है कि, वह महान् सौभाग्य शाली है। ऐसी भक्ति को पाकर उसका अन्तः स्करण सर्वाधिक सौभाग्य का संवहन करता है ॥ ७८ ॥

उसका नाम 'अम्बा' था। बचपन में इसी नाम से पुकारते थे। अम्बा अपने गुरु भ्राता रूप बड़े भाई को साक्षात् शम्भु ही मानती थी। इतनी उदात्त दृष्टि की वह देवी धन्य थी। भावी प्रभाव से समुज्वल और भव्यता भरी बुद्धि ही किसी सत्य का अनुदर्शन कर सकती है। बन्धुबुद्धि से सर्वात्मक शिवत्व की सत्यानुभूति नहीं हो सकती ॥ ७९ ॥

पितृव्य पुत्रों के चरित्र, उनकी साधना, शिवभक्तियोग सम्पन्नता इत्यादि गुणों के वर्णन प्रसङ्ग में अभिनव का वर्णन शास्त्रकार ने दो श्लोकों

कृष्णवाक्यमिति । यद्गदोतं

'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥
अथवा योगिनामेव जायते धीमतां कुले ।
एतद्धि दुर्लभतरं जन्म लोके यदीदृशम् ॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम् ।
ततो भूयोऽपि यतते संशुद्धौ कुरुनन्दन ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सन् ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥
प्रसङ्गाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥' (६।४७) इति ।

में किया है। श्लोक ८० में उसके सच्चरित्र और विज्ञानवान् होने का उल्लेख है। प्रस्तुत श्लोक में अपने चचेरे स्वनामी भाई के विशिष्ट गुण का उल्लेख कर रहे हैं—

उसके भाई का नाम भी 'अभिनव' था। उसकी प्रसिद्धि उसकी सच्चरित्रता मात्र से ही नहीं, अपितु उसने शैवविज्ञान बोध का पीयूष पान किया था और शिवभक्ति योग सुधा की तृष्णा का आत्यन्तिक संवर्धन कर लिया था। उसी से उसका नाम विश्व में विख्यात हो गया था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, सच्चरित्रता के साथ व्यक्ति का विज्ञानवान् होना भी अनिवार्यतः आवश्यक है ॥ ८० ॥

वे श्लोक जो देहत्याग के अवसर की यथार्थता का चित्रण करते हैं। यहाँ उनके उद्धरण और उनके अर्थ प्रस्तुत हैं—

"देह का परित्याग करने वाला वैराग्यवान् पुरुष अन्य लोकों में जन्म न लेकर ज्ञानवान् योगिवर्ग के कुल में उत्पन्न होता है। इस प्रकार का यह जन्म लोक में अत्यन्त दुर्लभ माना जाता है।"

"जन्म लेकर वह वहाँ पौर्वदेहिक अर्थात् विगत जन्म में क्रियमाण कर्म जो इस जन्म में संचित होकर प्रारब्ध हो जाते हैं, उन्हीं कर्मफलों को

हृदीति विमर्शभुवीत्यर्थः । शक्तिः सामर्थ्यम् । एष वर्गः सम्पूर्णतन्त्राधिगमाय आचार्यमभ्यर्थयते स्मेति सम्बन्धः । अस्येति वर्गस्य । यद्वेति तदभ्यर्थनानवक्लृप्तिद्योतनाय पक्षान्तरनिर्देशः । तस्येति मन्द्रस्य । मन्त्रीति साधकोऽपीति ॥ ६५-८० ॥

बौद्धिक संयोग के साथ प्राप्त करता है। पूर्वजन्म में साधित बुद्धि का संयोग उसे इस जन्म में हो जाता है। इस बुद्धि संयोग को समत्व बुद्धि योग की संज्ञा दी जाती है। भगवान् कृष्ण यहाँ अर्जुन को कुरुनन्दन शब्द से सम्बोधित कर रहे हैं और कह रहे हैं कि, अर्जुन! पूर्व जन्म में सम्पन्न स्तर से आगे बढ़ संसिद्धि के प्रयत्न से वह व्यापृत हो जाता है।"

"यद्यपि वह योग भ्रष्ट जीव विवशता से आक्रान्त रहता है, क्योंकि इस जन्म के संस्कार और पूर्वजन्म के वैषयिक संस्कार उस पर हावी रहते हैं, फिर भी पूर्व जन्म में किये हुए योगाभ्यास और साधना के फलस्वरूप इस जन्म में जो बौद्धिक संस्कार उसे सम्पृक्त करते हैं, उसके फलस्वरूप भगवद्भक्ति की ओर आहृत कर लिया जाता है। वह पूर्वजन्म का योग भ्रष्ट और इस जन्म का जिज्ञासु पूर्वाभ्यास के बल पर ही शब्द ब्रह्म को अतिक्रान्त कर जाता है। शब्द ब्रह्म का कुछ लोग 'वेदोक्त फलवत्ता के निर्देश' अर्थ करते हैं। परिणामतः फलवत्ता को पार कर जाते हैं। त्रिक दृष्टि से शब्दब्रह्म मन्त्ररूप होता है। इसी का अभ्यास जिज्ञासु करता है और मन्त्राभ्यास आदि यौगिक प्रक्रिया को अतिवर्त्तते अर्थात् स्वीकार कर लेता है। यह अर्थ करते हैं। दोनों अर्थों का लक्ष्य एक ही है।"

"इस श्लोक में 'प्रसङ्गात्' शब्द पाठ स्वीकृत किया गया है। पाठान्तर 'प्रयत्नात्' का ही बहुल प्रयोग होता है। प्रसङ्ग का अर्थ पूर्व देह से सम्पन्न योगाभ्यास के संस्कार का सङ्ग होता है। प्रयत्न पक्ष में विशेष रूप से इस जन्म में पूर्व संस्कारवश सामान्य यत्न ही अर्थ हो सकता है। वह तो अनेक जन्म संसिद्ध पहले से ही है। इस जन्म में यदि थोड़ा भी सक्रिय हुआ, तो

वह निश्चित ही संशुद्ध-किल्विष हो जाता हैं। किल्विष जन्म लेने की विवशता रूप पाप हो माना जा सकता है। अर्थात् जोवन्मुक्त भाव में स्थित हो जाता है। परिणामतः उसके बाद वह परां गतिं याति अर्थात् शैव महाभावमयो स्वात्म संविद् सुधा का आधार बन जाता है।"

ये उद्धरण श्री भगवद्गीता के आत्मसंयम योग नामक अध्याय ६।४४-४७ से लिये गये हैं।

यहाँ कुछ ऊपर के मुद्रित श्लोकों में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ पर आचार्य जयरथ विचार कर रहे हैं—

क्रम	श्लोक संख्या	शब्द	अर्थ
१.	६५	कृष्ण वाक्य	श्रीमद्भगवद्गीता के
२.	६७	हृदि	विमर्श भूमि (हृदयकेन्द्र)
३.	६९	शक्तिसार्थः	सामर्थ्य साहित्य
४.	६९	एषवर्गः	वह समुदाय जो तन्त्र की जानकारी के लिये आचार्य की अभ्यर्थना करता है। (श्लोक ७० सम्बद्ध)
५.	७१	अस्य	उस वर्ग का—
६.	७१	यद्वा	पक्षान्तर, अभ्यर्थना की अनवक्लृप्ति द्योतन के लिये प्रयुक्त।
७.	७३	तस्य	मन्द्र का
८.	७५	मन्त्री भाव	साधक भाव ॥ ६५-८० ॥

सोऽन्यश्च शांभवमरीचिचयप्रणश्य-
त्संकोचहार्दनलिनोघटितोज्ज्वलश्रीः ।
तं लुम्पकः परिचचार समुद्यमेषु
साधुः समावहति हन्त करावलम्बम् ॥ ८१ ॥

इत्थं गृहे वत्सलिकावितीर्णे
स्थितः समाधाय मतिं बहूनि ।

शास्त्रकार का नाम भी अभिनव गुप्त और चचेरे भाई का नाम भी अभिनव गुप्त, यह एक भ्रमात्मक स्थिति थी। शास्त्रकार कौन अभिनव हैं, इस ऐतिहासिकता को प्रमाणित करने के लिये शास्त्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि, पितृव्यपुत्र अभिनव अन्य है। वह शास्त्रकार नहीं है। वह मेरा चचेरा भाई है। यद्यपि वह भी महान् साधक है। उसने शांभवसाधना की है। बोध के प्रकाश की मनोज्ञ मरीचियों के पुञ्ज से उसके हृदय पद्म का संकोच नष्ट हो गया है। उसमें विकास आ गया है। हृदयारविन्द खिल उठा है और हृदयपद्मिनी का उज्ज्वल प्रकाश अभिनव शोभा का विस्तार कर रहा है। अर्थात् शैव महाभाव से वह शाश्वत भावित है। बोध के प्रकाश से वह अप्रकाशमान है।

उसके व्यक्तित्व के विकास के अवसरों पर, विशिष्ट समुद्यमों के समारम्भ में लुम्पक ने उसकी बड़ी सेवा की अर्थात् सार्थक योगदान किया। अतः यह कहा जा सकता है कि, उसके उत्कर्ष का लुम्पक अनन्य सहयोगी है। संस्कृत की यह सूक्ति नितान्त सत्य है कि, साधु पुरुष सदा, सभी अवसरों पर सुख और दुःख, संपत् और विपद् सर्वत्र करावलम्ब प्रदान करता है। सहायक बनने के उत्तरदायित्व का संवहन करता है।। ८१ ॥

यह पृष्ठभूमि थी, जिसके फलस्वरूप शास्त्रकार को यह निश्चय करना पड़ा कि, श्लोक ७२ में वर्णित बाल मित्र श्री मन्द्र के अनुरोध स्वीकार्य हैं। यही कह रहे हैं—

पूर्वश्रुतान्याकलयन् स्वबुद्धया
शास्त्राणि तेभ्यः समवाप सारम् ॥ ८२ ॥
स तन्निबन्धं विदधे महार्थं
युक्त्यागमोदीरिततन्त्रतत्त्वम् ।
आलोकमासाद्य यदीयमेष
लोकः सुखं संचरिता क्रियासु ॥ ८३ ॥
सन्तोऽनुगृह्णीत कृतिं तदीयां
गृह्णीत पूर्वं विधिरेष तावत् ।
ततोऽपि गृह्णातु भवन्मतिं सा
सद्योऽनुगृह्णातु च तत्त्वदृष्टचा ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीमन्द्र के अनुरोध को स्वीकार कर श्री अभिनव गुप्त वत्सलिका द्वारा इनके लिये निर्धारित गृह में आकर रहने लगे थे। अपने मन में उठने वाली विविध प्रकार की वृत्तियों का उन्होंने स्वयं ही समाधान किया। साधना-उपासना के क्रम में बहुत सारे पूर्वश्रुत तथ्यों और शास्त्रों का उन्होंने स्वयम् अपनी बुद्धि से आकलन करते हुए उनकी सार रहस्यमयी गहराई में जा पहुँचे। शास्त्रों का गहन विश्लेषण किया। उनके सार रहस्य का आकलन किया, जाना, समझा और उसे अभिनव शैली देकर नये महार्थ निबन्ध को सन्दृब्ध किया। इस महामहिमामय महार्थ निबन्ध में उन्होंने युक्तियों का आश्रय लिया। आगमिक परम्परा में गुरुजनों और स्वयं परमेश्वर द्वारा उदीरित तन्त्र शास्त्रीय तत्त्वव्रात की पुनः स्थापना की। उन्होंने यह सोचा कि, मेरे तन्त्र निबन्ध के आलोक से लाभान्वित होकर यह भारतीय समाज अपने क्रिया कलाप का सुख पूर्वक संचालन कर सकेगा। शास्त्रकार का यह स्वप्न श्रीतन्त्रालोक के अन्वर्थ नाम के अनुरूप साकार हो गया ॥ ८१-८३ ॥

ग्रन्थस्य च अस्य अन्वर्थाभिधत्वं प्रकाशयितुमाह स तन्निबन्ध-मित्यादि। अनुग्रहग्रहणयोश्च व्यत्ययेन स्थितिं दर्शयितुं पूर्वमिति तदपीति च उक्तम् ॥ ८४ ॥

किंवा प्रादेशिकवैदुष्यशालिविद्वज्जनाभ्यर्थनया, शिव एव अत्र श्रोता भविष्यतीत्याह

इदमभिनवगुप्तप्रोम्भितं शास्त्रसारं
शिव निशमय तावत् सर्वतः श्रोत्रतन्त्रः ।
तव किल नुतिरेषा सा हि त्वद्रूपचर्चे-
त्यभिनवपरितुष्टो लोकमात्मीकुरुष्व ॥ ८५ ॥

शास्त्रकार कह रहे हैं कि, सज्जन और सत्य पर दृढ़ता से आरूढ परिवृढ पुरुष इस हृदयवान् तन्त्रवेत्ता की कृति का अवश्य ही समादर करें। शताब्दियों पूर्व से प्रचलित इस भारतीय शास्त्रीय विधि पर विचार करें और इसे अपनायें। इसके बाद यह कृति भी स्वाध्याय शील अध्येताओं की बुद्धि पर अनुग्रह करे। तत्त्व दृष्टि से सारस्वत संरचना का प्रतीक यह श्रीतन्त्रालोक सब को अनुगृहीत करे। श्लोक ८४ में अनुग्रह और ग्रहण तथा बाद में ग्रहण और अनुग्रह के व्यत्यय प्रयोग शैली गत प्रायोगिक वैशिष्ट्य के प्रतीक हैं ॥ ८४ ॥

श्लोक ८४ में अग्रहण ग्रहण के माध्यम से शास्त्रकार ने प्रादेशिक और समग्र राष्ट्र में विभ्राजमान विद्वद्वर्ग का इस बात के लिये आवाहन किया है कि, ये सभी अनुग्रह और ग्रहण के द्वारा सम्मान करे, पढ़े और प्रसार का अवसर प्रदान करे।

यहाँ इस श्लोक द्वारा शास्त्रकार एक बहुत बड़ी दार्शनिक दृष्टि का प्रवर्त्तन करते हुए स्वयं शिव को ही श्रोता बनाकर इस कृति को धन्य बना रहे हैं—

हे परमेश्वर शिव । त्वमिदं भवच्चरणचिन्तनलब्धप्रसिद्धिना अभिनवगुप्तेन सर्वविद्यासतत्त्वगर्भीकारात्मना प्रकर्षेण उम्भितम्, अत एव शास्त्राणां मध्ये सारं निशमय मे श्रोतासीत्यर्थः, यतस्त्वं सर्वतः श्रोत्रतन्त्रः सर्वज्ञ इति यावत् । नहि असर्वज्ञस्य एतदवधारणेऽधिकार एवेति भावः । नच एतदेव अत्र निमित्तमित्याह तव किञ्च नुतिरेषेति । स्तोत्ररूपत्वं च अत्र न अस्तीति न सम्भावनीयमित्याह सा हि त्वद्रूपचर्चेति । सा नुतिर्हि तस्य तव नुत्यस्य रूपचर्चा पौनःपुन्येन स्वरूपपरामर्श इत्यर्थः । सैव च इह प्रतिपदं संविदद्वयात्मनः शिवस्य निरूपितेति अभितः समन्तात् नवे स्तवे नाथ मम

यह श्रीतन्त्रालोक नामक अशेष आगमोनिषद्रूप, शास्त्रों का भी रहस्य रूप शास्त्र है । मैं यह घोषित करते हुए प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ कि, मेरे सदृश अप्रतिम उद्भट तन्त्रवेत्ता विद्वान् जिसे यह वर्त्तमान विश्व अभिनवगुप्त के नाम से जानता है, के द्वारा प्रकर्षपूर्वक यह शास्त्र रहस्य उम्भित अर्थात् पूर्ण किया गया है । इसकी समग्रभाव से पूर्णता के लिये मैंने समस्त शैव शास्त्रों का आलोडन कर उनकी सार सुधा से इसे अभिषिक्त किया है । मैं इसे दूसरे को क्या सुनाऊँ ? मैं चाहता हूँ— सर्व श्रोत्र तन्त्र भगवान् भूतभावन शिव स्वयं सुनें । वे कण कण में व्याप्त हैं । आकाश रूप हैं । आकाश का गुण ही शब्द है । तन्त्रालोक की आलोक रश्मियों का सूक्ष्म शिञ्जन, यह तन्त्रगर्भ स्पन्दनाद उनको श्रुति में समाहित हो जाय । उनको सर्वज्ञता में यह घुल मिल जाय । इस तान्त्रिक विश्वकोष के श्रोता स्वयं विश्वेश्वर शिव हैं, यह इस संरचना का सौभाग्य है । सत्य तो यह है कि, असर्वज्ञ का इसके श्रवण का अधिकार भी नहीं है ।

सकल शब्दमयी शक्ति से शक्तिमन्त परमेश्वर ! 'तव च का किल न स्तुतिः' न्याय के अनुसार यह आपको स्तुति है, विनम्र नुति है, अभिनव की प्रणामाञ्जलि है । इसमें तुम्हारे रूप की चर्चा है । रूप की चर्चा स्तोत्र द्वारा ही स्वाभाविक रूप से की जाती है । अतः यह अन्तर्नाद गर्भ तन्त्र

अभिनवस्य परितुष्टः सन् निखिलं लोकमात्मीकुरुष्व प्रत्यभिज्ञातस्वात्मतया स्वस्वरूपैकरूपं सम्पादय येन सर्वस्यैव एतदधिगमाय अधिकारो भवेदिति शिवम् ॥

एतत्सप्तत्रिंशं किलाह्निकं जयरथेन निरणायि।
आमृशतामियदन्तं सतामिदं सर्वथास्तु शिवम् ॥

गीतिका गौरव रूप तुम्हारे स्तोत्र रूप में ही प्रस्तुत है। यह तुम्हारी नुति है। तुम नुत्य हो। नुत्य की रूप चर्चा में तुम निरूप्य हो। इस तरह इस प्रक्रिया में प्रकान्त अभिनव के शाश्वत अन्तर्विमर्श के हे आराध्य ! तुम्हीं इसके आधार हो। पौनः पुन्येन पदेपदे तुम्हारा स्वरूप-परामर्श ही इसमें पुलकित है। यह संविदद्वयभाव निरूपिका स्तुति अभितः रमणीय है। क्षणे क्षणे नवता को आविष्कृत करने वाली इसे अभिनवा स्तुति से और अभिनव स्तोता रूप इस ग्रन्थकार की कृति से हे नाथ ! परितुष्ट होकर अनुगृहीत करें ॥८५॥

हमारे ऊपर आप का सबसे बड़ा अनुग्रह यही होगा कि, आप परितः प्रसन्न हो जाँय। आप की प्रसन्नता का भी सबसे बड़ा प्रमाण यही होगा भगवन् ! कि, आप इस लोक को, जो आपका ही है, आत्मीयभाव में आलोकित कर दें। सबको स्वात्म का प्रत्यभिज्ञान हो जाय। आप सबके लिये प्रत्यभिज्ञात हो जाँय। इस कृति के अध्येता के परामर्श में प्रत्यभिज्ञा दर्शन उद्रिक्त हो जाय और सभी इस शास्त्र के स्वाध्याय के अधिकारी हो जाँय ! मेरे आराध्य ! सब आपमय हो जाय। नमः शिवायै च नमः शिवायेति शिवम् ॥

सप्तत्रिंश आह्निक विवृति जयरथ की कृति जैत्र।
सर्वविमृश्या, शिवमयी, प्रिया प्राणदा पैत्र ॥

\+ + + +

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य-श्रीमदभिनवगुप्तविरचिते
राजानकजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेते
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलिते
श्रीतन्त्रालोके उपादेयभावादिनिरूपणं नाम
सप्तत्रिंशमाह्निकं समाप्तम् ॥ ३७ ॥

॥ शुभं भूयात् ॥

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

पराकालीसूनुः परमशिवसंमर्शरसिकः
स्वतस्तन्त्रालोकक्रमकुलमतत्रित्वविदयम् ।
गुरून् नत्वा नव्यामकृतमहितां भाष्यरचनां
कृतावन्ते 'हंसः' शिवति चितिमुक्तां विचिनुते ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्त विरचित
राजानक जयरथकृत विवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक
हिन्दीभाषाभाष्य संवलित
श्रीतन्त्रालोक का
उपादेय भावादिनिरूपण नामक सैंतीसवाँ
आह्निक सम्पूर्ण ॥ ३७ ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

॥ इति शिवम् ॥

श्रा० शु० ७।२०५५ वि०

परिशिष्ट-भागः

[अ]

श्रीराजानकजयरथकृत-पद्यप्रसूनप्रबर्हः

यदचकथदमुष्मिन् श्रीमदाचार्यवर्यो
बहुपरिकरवृन्दं सर्वशास्त्रोद्धृतं सत् ।
तदतुलपरियत्नेनैक्ष्य संचिन्त्य सद्भि-
र्हृदयकमलकोशे धार्यमार्यैः शिवाय ॥ १ ॥

परिशिष्ट भाग

[अ]

ग्रन्थप्रशस्तिः

श्रीमन्महामाहेश्वर अशेष आगमोपनिषद् के प्रवर्त्तक आचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्त ने इस महान् तान्त्रिक विश्वकोष में समस्त तात्त्विक वस्तु सत्य के समुच्चयात्मक बोज-कोष में विद्यमान मूलभूत तत्त्वों के विश्लेषणात्मक रूपों और उनकी सिद्धान्तवादिता का भरपूर प्रतिपादन किया है। साथ ही साथ समस्त शैव शास्त्रों के वचनों के सन्दर्भों का भो उल्लेख किया है।

श्री राजानक जयरथ कह रहे हैं कि, मैंने अतुलनीय प्रयत्नों के परिणाम के आधार पर परिपक्व होने के बाद ही उनका सूक्ष्म निरीक्षण किया है। उनका चिन्तन किया है। मैं समस्त आर्ष श्रेणी के विचारकों से, सत्य पथ पर परिनिष्ठित मनीषी सज्जनों से विनम्रता पूर्वक यह कहना

योऽधीती निखिलागमेषु पदविद्यो योगशास्त्रश्रमो
यो वाक्यार्थसमन्वये कृतरतिः श्रीप्रत्यभिज्ञामृते ।
यस्तर्कान्तरविश्रुतश्रुततया द्वैताद्वयज्ञानवित्
सोऽस्मिन् स्यादधिकारवान् कलकलप्रायं परेषां वचः ॥२॥

चाहता हूँ कि, अपनो शिवता को परिष्कृत करने के लिये आप सभी इसे अपने हृदय कमल कोष में अवश्य धारण करें।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि, यह महान् ग्रन्थ समस्त शास्त्रों के रहस्यों का अपने माध्यम से उद्घाटन करने वाला आकर ग्रन्थ है। सभी इसके रहस्यों का दर्शन करें, इनके चिन्तन में लगें और स्वयं इन्हें धारण करें॥ १ ॥

आचार्य राजानक जयरथ ने इस तान्त्रिक विश्वकोष के पीयूष रस के अजस्र आस्वाद से परमानन्द की उपलब्धि की है। वे परम तृप्त हैं। वे जानते हैं कि, इस आकर ग्रन्थ के अध्ययन का अधिकार किस स्तर के व्यक्ति का है। वे कह रहे हैं कि,

१. जिसने समस्त आगमों का बहुआयामी स्वाध्याय किया हो,

२. जिसने वाङ्मय के वर्णों, मन्त्रों और पदों की पूर्ण विद्वत्ता प्राप्त कर ली हो, पद की नैरुक्तिक अर्थ प्रक्रिया में विज्ञता प्राप्त कर ली हो, जो पदवाक्य प्रमाण पारावारीण हो और जो मूलाधार समनान्त एवं अकार से क्षकार तक समस्त मातृकार्थ निष्णात हो,

३. जिसने योग दर्शन की शास्त्रोयता का अमृत मंथन किया हो,

४. जिसने श्रद्धा और आस्था पूर्वक वागर्थ की प्रतिपत्ति में अपने को अर्पित कर दिया हो,

५. जिसने प्रत्यभिज्ञा परामर्श के अतिरिक्त तर्कों और तर्कान्तरीय शास्त्रों के विश्रुत विज्ञान में पूर्ण अभिज्ञता का अर्जन कर द्वैत और अद्वैत के अन्तराल का अमृत पीकर तृप्ति का अनुभव किया हो,

[ऐतिह्यभागः]

यः कर्तुं विश्वमेतत्प्रभवति निखिलं सर्वविस्त्वात् प्रणेता
सर्वेषामागमानामखिलभवभयोच्छेददायी दयालुः ।
तस्येन्द्राद्यर्चिताङ्घ्रेर्गुरुरचलसुतावल्लभस्यापि लोके
सर्वत्रामुत्र तावत्तुहिनगिरिरिति ख्यातिमान् पर्वतेन्द्रः ॥ १ ॥

---

६. सः अर्थात् इन विविध विशेषताओं में विशिष्टता प्राप्त कर ली हो, ऐसा प्रतिभाशाली, लोकोत्तर प्रज्ञा से परिवृढ और विज्ञानवान् पुरुष इस शास्त्र में साधिकार प्रवेश पा सकता है। अन्य लोग जो इन विशेषताओं से विशिष्ट होने का सौभाग्य नहीं प्राप्त कर सके हैं, उनकी एतत्संबन्धिनी वाणी कलकल निनादिनी तो लग सकती है किन्तु गंगा नहीं कही जा सकती ॥ २ ॥

ऐतिह्य भाग

परम शिव निखिल को स्वात्म में ही स्वात्मातिरिक्त इव भासित करने में समर्थ है। वह सर्ववित् है। इच्छा ज्ञान और क्रियाशक्तियों का आधीश्वर वही सर्वज्ञ शिव सर्वज्ञता के प्रभाव से जगत् का और विश्व प्रपञ्च का प्रणेता है। साथ ही सभी आगमों का भी वही सर्ववेत्ता शिव प्रणयन करता है।

जगत् में 'महद् भयं वज्रमुद्यतम्' के अनुसार सबके शिर पर माया की दारुण तलवार लटक रही है। इस भय को अपास्त कर इसका उच्छेदक भी वही सर्वानुग्रहकारी परमोदार दयावान् भूत भावन है। वह जगद् व्याप्त परमेश्वर इतना महान् है कि, समस्त इन्द्र आदि देववृन्द उसके चरणों को नित्य अर्चना करते हैं। वही परमेश्वर पर्वतेश्वर हिमगिरि की पुत्री पार्वती के प्राण वल्लभ हैं। इन विशेषताओं से विशिष्ट शिव के भी गुरु स्वयं हिमगिरि हैं। इस

यद्वादिनामुत्तरदिङ्निवेशादिव श्रयन्ति प्रतिवादिवाचः ।

अनुत्तरत्वं तदनुत्तरर्द्धि श्रीशारदामण्डलमस्ति यत्र ॥ २ ॥

जामात्रेवामृतकरकलाक्लृप्तचूलावचूले-

नादिष्टं द्रागखिलवचसां मानभावं विदित्वा ।

दध्रे शैलः श्रितमधुमतीचन्द्रभागान्तराल

सद्देशत्वाच्छिरसि निखिलैः संश्रितं दर्शनैर्यत् ॥ ३ ॥

लोक में विख्यात हैं। केवल लोक में ही नहीं अमुत्र अर्थात् स्वर्ग में और सर्वत्र अर्थात् त्रिभुवन में वे विश्रुत यशस्क ख्यातिमान् पर्वतेन्द्र हैं। उन्हें तुहिनगिरि संज्ञा से विभूषित करते हैं ॥ १ ॥

हिमालय के इस क्षेत्र में श्री शारदा मण्डल नामक एक पवित्र जनपद विद्यमान है। आत्यन्तिक ऋद्धियों से समृद्ध है वह। उससे बढ़कर अधिक ऋद्धियों की कल्पना अन्यत्र नहीं की जा सकती। इसलिये उसे नास्ति उत्तरं यस्मात् इस अर्थ में अनुत्तर ऋद्धि वाला भू भाग कहते हैं।

चूंकि यह शारदा मण्डल है। इसलिये यहाँ के रहने वाले शारदा कृपास्पद विद्वद्वरेण्य हैं। उत्तर दिशा में ही उनके निवेश हैं, उनके शास्त्रार्थ में भी उत्तर दिक् का ही प्रख्यापन होता है। परिणाम स्वरूप प्रतिवादिभयङ्करों के भी शास्त्रार्थ अनुत्तरत्व का आश्रय लेते हैं अर्थात् उत्तर देने में वे असमर्थ हो जाते हैं। इसका एक सुखद परिणाम यह होता है कि, वे इस क्षेत्र की विद्वत्ता से प्रभावित हो कर अनुत्तर सर्वव्यापक परम शिवतत्त्व का ही आश्रय ग्रहण कर लेने के लिये विवश हो जाते हैं। निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि, यहाँ के शैव दार्शनिक अनुत्तर परम शिव के स्वातन्त्र्यवाद से विश्व को प्रभावित कर लेने में समर्थ हैं ॥ २ ॥

जामाता जाया के सम्बन्ध से होता है। इसके कई अर्थ होते हैं। जायां माति, मिनोति और मिमीते विग्रहों के अनुसार इसे वर्त्तमान भाषा में

बोधस्याप्यात्मभूतं परिकलितवतो यद्विमर्शात्मतत्त्वं
मुख्यत्वेन स्तुतातः प्रभवति विजयेशेन पीठेश्वरेण ।
युक्ता बोधप्रधाना स्थितनिजमहसा शारदा पीठदेवी
विद्यापीठे प्रथीयः प्रथितनिखिलवाग्यत्र कश्मीरनाम्नि ॥४॥

दामाद कहते हैं। स्वामी, शिव और सूरजमुखी के फूल को भी जामाता कहते हैं। प्रस्तुत अर्थ में सभी अर्थ लिये जा सकते हैं। हिमालय के जामाता स्वयं शिव हैं। अमृतवर्षी इन्दु की कला से कलित केशराशि भूषित आचूल आकर्षक साक्षात् विरूपाक्ष ने ही मानो यह आदेश दे रखा है कि, मधुमती और चन्द्रभागा के मध्य बसा यह सुन्दर देश अवश्य ही धारण करने योग्य है। भगवद्वाक्य में सम्मान भाव का होना स्वाभाविक है। अतः स्वयं हिमालय ने उनकी बातों के महत्त्व का आकलन कर शिर पर ही धारण कर रखा है। सभी दर्शनों और दार्शनिकों का आश्रय स्थल यह क्षेत्र कितना महत्त्वपूर्ण है, इससे स्पष्ट हो जाता है ॥ ३ ॥

बोध स्वयं प्रकाशतत्त्व है। फिर भी यह सत्य तथ्य है कि, उसका भी एक आत्मभूत तत्त्व है। उसे 'विमर्श' को संज्ञा से विभूषित करते हैं। विमर्श की आत्मसत्ता की तात्त्विकता का आकलन एक मात्र माता शारदा ही कर सकती है और करती है। इसके इस महत्त्व को आप्त पुरुष अङ्गीकार करते हैं। इसीलिये परमाम्बा शारदा अजस्रभाव से उनसे पूजित, प्रार्थित स्तुत और अर्चित होती है।

माँ शारदा का यह पीठ आचार्य जयरथ के समय में भी विद्यमान था। उसके पीठाधीश्वर 'विजयेश्वर' नामक प्रज्ञापुरुष थे। वे माँ शारदा के उपासक थे। उनकी अनन्य उपासना से उसका साक्षात्कार उन्हें होता था।

ऐसी बोधविमर्शमयी शारदाम्बा जो उस पीठ की अधीश्वरी देवी थी, अपने शाक्त तेजः प्रकर्ष से पूर्णतया प्रकाशमान होकर वहाँ प्रतिष्ठित थीं।

यन्मैरेयं कलयतितरां कस्य नेच्छास्पदत्वं
ज्ञानात्मत्वं प्रथयति परं शारदा यच्च देवी ।
यच्चाधत्ते पटिमघटनां सत्क्रियायां वितस्ता
तद्यत्रैतत् त्रिकमविकलं पोपुषीति प्रशस्तिम् ॥ ५ ॥

काश्मीर के इस शारदापीठ रूपी विद्यापीठ में शारदा नामिका एक ऐसी पीठ देवी के रूप में पूज्यतमा शारदा देवी भी विराजमान थीं, जिनके यशः ऐश्वर्य विश्रुत दिव्य उपदेश वाक्यों से पूरा देश प्रभावित था ॥ ४ ॥

माँ शारदा के मैरेय को प्राप्त करने की समीहा किसे नहीं होती ? उस मैरेय के अमृत आस्वाद की अमेय महिमा का ही यह महा प्रभाव है कि, सभी उसे पीकर तृप्त होना चाहते हैं। मैरेय, आसव और सीधु ये तीनों मद्य इक्षु सदृश मिष्ट वनस्पतियों से निर्मित होते हैं। माँ शारदा का मैरेय उनका अनुग्रह रूप उनका चरणामृत भी माना जाता है। यह आनन्दवाद से आप्लावित इच्छा शक्ति का ही चमत्कार है, जो काश्मीर शारदापीठ में शारदा देवी के माध्यम से अनुभूति में उतर आता है।

इसके अतिरिक्त माँ शारदा जिस अनुत्तर तत्त्व का प्रथन करती है, वह ज्ञानतत्त्व है। बिना इच्छा के ज्ञान का समुद्भव हो ही नहीं सकता। और उसका परम् अर्थात् अत्यर्थ रूप से यहाँ प्रथन हो रहा है, यह सौभाग्य का ही विषय है।

वितस्ता का अजस्र प्रवाह इच्छा और ज्ञान के परम पीयूष को प्रवहमान कर देने की प्रक्रिया का प्रवर्त्तन करता है। यह एक शाक्त नैपुण्य की पटिम घटना है। इसका आधान वितस्ता के माध्यम से हो रहा है।

इन तीनों इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों के उल्लास के कश्मीरोद्यान में जो कुछ भी अभिव्यक्त विकास है, यह वह वरदान है, जिसे हम त्रिक रूप महोत्पल का मकरन्द कह सकते हैं। वह यहाँ की प्रशस्ति का पुष्टि के

तथ्याभिख्यं प्रवरपुरमित्यस्ति तस्मिन् सदेहः
कर्त्ता यस्य प्रवरनृपतिः स्वाभिधाङ्केश्वराग्रात् ।
लेखादेशाद्गणवरसमासावितात् प्राप्तसिद्धिः
शैवं धामामरगृहशिरोभागभेदाववाप ॥ ६ ॥

श्रीसोमानन्दपादप्रभृतिगुरुवरादिष्टसन्नीतिमार्गो
लब्ध्वा यत्रैव सम्यक्पटिमनि घटनामीश्वराद्वैतवादः ।

अमृत से सिञ्चन करता है। त्रिक के अक्रम उल्लास से शारदा पीठ, शारदा देवी और वितस्ता का त्रिक माध्यम बन गया है ॥ ५ ॥

यह तथ्य है कि, प्रवरपुर की जैसी अभिख्या उसमें है, जैसी चमक-दमक है, जास सज्जा और सजावट है, सौन्दर्य, ऐश्वर्य, यश, नाम और आकर्षण हैं, ये सभी उसके अभिधान के अनुरूप ही हैं। जैसा उसका प्रवरपुर नाम वैसा ही प्रवर स्वरूप और वरेण्य प्रभाव ! इस रम्यपुरी के प्रणेता नृपति स्वयं प्रवरसेन थे। वे स्वयं उसी पुरी में ही निवास करते थे।

उन्होंने इस शैवधाम की उपलब्धि की थी। अमर गृह के शिरोभाग के अमर परिवेश को इस देश ने स्वात्मसात् किया था। शैवधाम कहने का यही तात्पर्य है कि, शैव परम्परा में और शैव संस्कृति में विकसित देश था ॥ ६ ॥

यह काश्मीर सदृश अमरगृहशिरोभाग का परिवेश और प्रवरपुर सदृश पुण्य क्षेत्र का ही यह महत्त्व था कि, यहाँ अनेक प्रज्ञा पुरुषों ने जन्म ग्रहण किया। महामाहेश्वर सोमानन्द पाद प्रभृति गुरुवर्यों द्वारा आदिष्ट उपदिष्ट सत्तर्क पूर्ण सिद्धान्तों की यह प्रतिष्ठा भूमि है।

उन्हीं सिद्धान्तों का राद्धान्त सम्प्रदाय-सिद्ध मार्ग ईश्वराद्वयवाद भी शास्त्र चिन्तन के चातुर्य से प्रचित और चैतन्य चमत्कृत संस्कार के कारण ही सम्यक् रूप से यहाँ आकार ग्रहण कर सका। यह पटिम प्रकाश में घटित एक

कश्मीरेभ्यः प्रसृत्य प्रकटपरिमलो रञ्जयन् सर्वदेशान्
देशेऽन्यस्मिन्नदृष्टो घुसृणविसरवत्सर्ववन्द्यत्वमाप ॥ ७ ॥

उद्भूषयन् पुरमधस्कृतधर्मसूनु-
राज्यस्थितिः सदसदर्थविवेचनाभिः ।
श्रीमान् यशस्करनृपः सचिवं समस्त-
धर्म्यस्थितिष्वकृत पूर्णमनोरथाख्यम् ॥ ८ ॥

तत्सूनुरुत्पलः पुत्रं प्रकाशरथमासदत् ।
यद्यशः कौमुदी विश्वं प्रकाशैकात्म्यमानयत् ॥ ९ ॥

घटना थी जा ईश्वराद्वयवाद के नाम से वहाँ विकसित हो सकी। कश्मीर देशस्थ विद्वद्वर्ग द्वारा वह प्रसृत हुई। उसने केशर क्यारियों में विकीर्ण परिमल राशि की तरह अपनी सुरभि से सारे भारतवर्ष और तत्कालीन विश्व को सुरभित कर दिया।

घुसृण विसर अर्थात् केशर को वह हृदयहारिणी सुरभि अन्य किसी भी देश में दृष्ट नहीं होती। विश्व में वहीं एक क्षेत्र है, जहाँ केशर की कलियाँ अपना चमत्कार व्यक्त करती हैं। जैसे यह गन्ध लोकोत्तर है, उसी तरह ईश्वराद्वयवाद भी सर्ववन्द्यत्व युक्त सिद्धान्त है ॥ ७ ॥

श्रीमान् राजेश्वर यशस्कर ने इसी पुरी को अपने व्यक्तित्व और राज्य शासन-संचालन के कौशल से विभूषित किया था। अपने धर्मधारित शासन प्रणाली की उत्कृष्टता और सुचारुता से उन्होंने धर्मराज के शासन को भी अतिक्रान्त कर लिया था। वे शासन में सत्य और असत्य की विवेचना के आधार पर न्याय करते थे। न्यायप्रियता के शिखर पर वे आरूढ थे। सदसद्विवेक नृपति के लिये आवश्यक माना जाता है। नृपति यशस्कर ने समस्त धर्मपूर्ण राज्य शासन के सफल संचालन के लिये पूर्ण मनोरथ नामक धर्मनिष्ठ पुरुष को अपना सचिव नियुक्त किया था ॥ ८ ॥

धर्मोत्तमसूर्यमनोरथान् स पुत्रानजोजनच्चतुरः।
सकलजनहृदयदयितानर्थानैशः प्रसाद इव ॥ १० ॥

हरिरिवभुजैश्चतुर्भिः सूर्यरथः पप्रथे सुतैस्तैस्तु।
लक्ष्म्यालिङ्गननिपुणैरमृतविशिष्टोत्पलज्येष्ठैः ॥ ११ ॥

शालास्थाने वर्तकारे मठे सुकृतकर्मठौ।
तेषूत्पलामृतरथौ चक्राते द्विजसंश्रयौ ॥ १२ ॥

पूर्ण मनोरथ नामक सचिव के पुत्र का नाम उत्पल था। उत्पल के प्रकाशरथ नामक पुत्र रत्न उत्पन्न हुए। प्रकाशरथ बड़ा यशस्वी पुरुष था, उसकी प्रसिद्धि के परिवेश में पूरा विश्व समाहित हो चुका था। अर्थात् उस समय वह विश्वप्रसिद्ध विद्वान् था ॥ ९ ॥

श्री प्रकाशरथ ने धर्मरथ, उत्तमरथ, सूर्यरथ और मनोरथ नामक चार पुत्रों को उत्पन्न किया। जैसे ईश्वर के प्रसाद अर्थात् उनकी प्रसन्नता से चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति हो जाती है, उसी तरह पुरुषार्थवत् इनके हृदय दुलारे चार प्यारे बालक उत्पन्न हुए थे ॥ १० ॥

अमृतरथ, विशिष्ट रथ, उत्पल रथ और ज्येष्ठरथ नाम चार पुत्रों को प्रकाशरथ के तीसरे पुत्र सूर्यरथ ने उत्पन्न किया। इन चारों पुत्रों की योग्यता से सूर्यरथ उसी तरह प्रथित हुए जैसे चार भुजाओं के प्रभाव से विष्णु चतुर्भुज रूप से प्रसिद्ध हैं। मानों ये पुत्र धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चार पुरुषार्थों के ही प्रतीक थे। भगवान् विष्णु की भुजाओं की तरह ये भी लक्ष्मी रूप ऐश्वर्य लक्ष्मी के आलिङ्गन में निपुण थे अर्थात् समृद्धि के आधार थे ॥ ११ ॥

शाला स्थान में वर्त्तकार मठ में सुकृत और कर्मठता के प्रतीक सूर्यरथ के दो पुत्र अमृत रथ और उत्पल रथ द्विज संश्रय में अर्थात् मठ के द्विजों के योग्य आश्रम में निवास करते थे ॥ १२ ॥

त्रैगर्तोर्वीनिवेशा गजमदसलिलैर्लम्बिता म्लानिमानं
　तत्रत्यक्ष्मापकीर्तिप्रसरमलिनतां यस्य संसूचयन्ति ।
तस्यानन्तक्षितीन्दोर्बलबहलदरद्राजविद्रावणस्य
　प्रापत् साचिव्यमाप्योत्पलरथ उचितां पद्धतिं मुक्तिमार्गे ॥ १३ ॥
　नप्ता यद्गञ्जपतेर्लक्ष्मीदत्तस्य कमलदत्तसुतः
　श्रीमान् विभूतिदत्तो व्यधादमुं मातुलः शिष्यम् ॥ १४ ॥

त्रिगर्त्त नरेश से कश्मीर नरेश अनन्तेश्वर का भीषण संग्राम हुआ। त्रिगर्त्त नरेश के सारे निवेश अर्थात् सैन्य शिविर आदि अनन्तेश्वर के गज सैन्य के मदों के जल से म्लान हो गये। ये निवेश यह सूचित करते थे कि, त्रिगर्त्त भूपति की कीर्त्ति का प्रसार भी मलिन हो गया था। अपने महान् सैन्य बल की प्रचुरता और वीरता से शत्रु को विद्रावित करने वाले वीरवर अनन्तेश्वर शत्रु की अपकीर्त्ति रूपी रात में चन्द्रमा की तरह प्रकाशमान थे। यह एक सुयोग ही था कि, उत्पल रथ ने उनके सचिव पद को प्राप्त किया। सचिव पद पर आसीन रहते हुए भी उन्होंने मुक्तिमार्ग की पद्धति ही अपनायी और राजेश्वर को भी मुक्तिमार्ग की ओर मोड़ दिया ॥ १३ ॥

श्लोक १४ से सत्रह तक के श्लोक अत्यन्त उलझे हुए इतिहास की चर्चा में लिखे गये हैं। इन श्लोकों के अन्वय दोष अर्थ को प्रकट करने में असमर्थ हैं। इतिहास को पुराणों ने जिस सरल और मँजी हुई शैली द्वारा व्यक्त किया है, उसका यहाँ सर्वथा अभाव है। तन्त्रालोक के विवेककर्त्ता की गद्य शैली प्रौढ़ है। वहीं पद्य में उसकी श्लथता उलझन से भरी है। श्लोक १४ का अन्वय नितान्त भ्रामक है। इसके चारों प्रथमान्त सम्बन्धों की स्पष्टता नहीं व्यक्त करते हैं। मैंने ऊह के आधार पर इसे लगाया है। विचारक ही इसके प्रमाण हैं।

अध्याप्याखिलसंहिता अपि सुतस्नेहान्निषिक्ते मृते
पुत्रे ज्यायसि देवतापरिहृतासेके दिनैः सप्तभिः ।
वैरस्यान्न कनीयसे स यददाद्बालाय सेकं ततो
देव्या स्वप्नविबोधितोऽस्य तनयस्यैतन्मुखेनास्त्विति ॥ १५॥

श्रीकमल दत्त अनन्त नामक राजा के गञ्जपति अर्थात् कोषाधिकारी श्रीलक्ष्मीदत्त का दामाद था। कमलदत्त के दो पुत्र थे। बड़ा पुत्र विभूति दत्त था। वह श्रीमान् अर्थात् शोभमान और आकर्षक था। विभूतिदत्त इस तरह लक्ष्मीदत्त की पुत्री का पुत्र अर्थात् नप्ता लगता था। लक्ष्मीदत्त के पुत्र का नाम विश्वदत्त था। विभूतिदत्त का मामा (मातुलः) उत्पलरथ था। वह बड़ा विद्वान् था। उसने विभूतिदत्त का अर्थात् अपने भान्जे का पुत्र की तरह पालन किया। अपना पूरा स्नेह दिया। यही नहीं उसे सारी संहिताओं को स्वयं पढ़ा कर एवं दूसरे विद्वानों से अध्यापन कराकर महान् पण्डित बनाने का श्रेयस्कर कार्य सम्पन्न किया।

विभूतिदत्त जब महान् पण्डित बनकर श्रीमानों में श्रेष्ठ कहलाने लगा, उस समय श्रीमान् उत्पलरथ ने उसे पुत्र के समान प्यार देने के कारण और अत्यन्त योग्य मान कर निषिक्त कर लिया अर्थात् दत्तक पुत्र बना लिया किन्तु हन्त! वह दैवी प्रकोप से मर्माहत हो उठा। निषेक और दत्तक पुत्र बनाने की प्रक्रिया पूरी होते ही वह बीमार पड़ा। संयोगवश सातवें दिन ही उसकी मृत्यु हो गयी। वही जेष्ठ था। उसके आसेक अर्थात् जीवन रस को देवताओं ने चूस ही लिया। देवताओं द्वारा परिहृत-आसेक विभूति दत्त यमराज का प्रिय बन गया।

उत्पलरथ के समक्ष अब एक नयी समस्या आ खड़ी हो गयी। अब वह क्या करे। उसका स्वयं का कोई पुत्र नहीं था। विभूतिदत्त का एक छोटा भाई था। उसका नाम चक्रदत्त था। चक्रदत्त से उत्पलरथ के अच्छे सम्बन्ध नहीं थे। वैरस्य के कारण वह उसे गोद नहीं लेना चाहता था।

यन्मेलापमवाप्य लौकिकमहाज्ञानानुबिद्धं महः
शिष्यायैकतमाय　　देयमपुनर्भावार्थमासादितम् ।
श्रीचक्राय ददौ द्विजः स भगवानुर्वोधरोऽस्मिन्नसौ
श्रीचक्रात् स्वपितृक्रमाप्तमखिलं तत्साधिकारं व्यधात् ॥ १६ ॥

अब वह अपने उत्तराधिकारो के रूप में किसका सेक करे ? यह उसकी चिन्ता का एक प्रमुख कारण था।

संयोगवश रात में उसे स्वप्न आया। स्वयम् आराध्या भगवती ही साक्षात् उपस्थित थीं। उन्होंने उत्पलरथ को सम्बोधित किया। उसे यह बुद्धि प्रदान की कि, एतन् अर्थात् यह उत्तराधिकारी के रूप में किया जाने वाला कार्य 'अस्यतनस्य मुखेन अस्तु' अर्थात् चक्रदत्त को ही मुख्य शिष्य मानकर यह प्रक्रिया सम्पन्न करायी जाय। यह एक चमत्कार की तरह उनके जीवन में घटित घटना थी। एक प्रकार से देवी का अपने भक्त के लिये निर्देश था। जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता था। इसके अनुसार उत्पलरथ ने इस दिशा में अपना प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया ॥ १४-१५ ॥

उत्पल रथ ने चक्रदत्त को बुलाया। उससे सारी बातें कीं। उसने अपने मातुल की बात स्वीकार कर ली। अब उत्पल के मन का वैरस्य समाप्त हो गया था। उन्होंने सोचा—'चलो अच्छा ही हुआ। आराध्या की अनुकम्पा ही इस मेलापक में हेतु है। मेरे पास कुल-दर्शन की अनन्त ज्ञान राशि है। कौलिक महाज्ञान का महाप्रकाश है। बोध प्रकाश का महोत्सव मेरे हृदय में अनवरत चल रहा है। मैं इसका साक्षात् द्रष्टा हूँ। इसे अपने शिष्य को ही प्रदान करना चाहिये। अपना एकदम शिष्य आज से चक्रदत्त ही है। इसे भी मैं सर्वशास्त्रपारङ्गत बनाकर उस महाज्ञानमह का महाप्रकाश इसे ही प्रदान कर दूंगा।' यह ऊहापोह उस समय निर्णय में बदल गया, जब उनके मन में यह बात बिजली की तरह कौंध गयी कि, 'यह ज्ञान जो मेरे

अथ स परमधामैकात्म्यमाप्ते गुरौ स्वे
निजगृहमुपनिन्ये तत्सुतं विश्वदत्तम् ।
अकृत सुकृतिमुख्यं संहितापारगं च
प्रथितगुणममुं चाजिग्रहत्स्वाधिकारम् ॥ १७ ॥

द्वारा आसादित है, यह मोक्ष के अन्यतम उद्देश्य की सिद्धि के लिये ही है। इसे चक्रदत्त को देना मेरे लिये श्रेयस्कर कार्य होगा।

यह निर्णय कर उत्पल ने जो महान पुरुष थे, ज्ञानी थे, ऐश्वर्य सम्पन्न थे और साथ ही साथ उर्वीधर भी थे, उन्होंने शिष्य चक्र के हृदय में उस महासारस्वतपीयूष राशि को उडेल दिया। इससे वे बड़े सन्तुष्ट हुए। यही नहीं, श्रीचक्र कमलदत्त का छोटा पुत्र था। कमलदत्त की सारी सम्पत्ति का भी वही उचित अधिकरी था। उस पितृक्रम से प्राप्त सारी सम्पदा को भी उन्होंने श्रीचक्र से जानकर उसके अधिकार में दे दिया।

वस्तुतः झगड़ा यह खड़ा हो गया था कि, अब तो वह उत्पल का दत्तक था। शिष्य भी हो गया था। पिता की सम्पत्ति का अधिकार उसका समाप्त हो गया था। ऐसी दशा में भगवान् उर्वीधर रूप उत्पल ने उसे पैतृक अधिकार भी प्रदान करने की व्यवस्था कर दी। उसे ही पैतृक सम्पत्ति का अधिकार प्रदान कर दिया। यह उनकी एक प्रकार की भगवत्ता ही थी। इसीलिये जयरथ ने उन्हें भगवान् का विशेषण प्रदान किया। इस तरह उनके पुण्य कर्त्तव्यों की अप्रस्तुत प्रशंसा ही की ॥ १६ ॥

तबतक लक्ष्मीदत्त की मृत्यु हो गयी थी। लक्ष्मीदत्त का एक मात्र पुत्र विश्वदत्त था विश्वदत्त को उत्पलरथ अपने घर लाया। पूरे ध्यान के साथ उसने उसे सर्वशास्त्र पारङ्गत करने की व्यवस्था कर दी। संहिताओं का विद्वान् बनवा दिया। यही नहीं, उसे उसके सभी अधिकारों से भी सम्पन्न बना दिया ॥ १७ ॥

श्रीकनकदत्तविरचितदेवगृहाग्रे मठं निवासाय ।
कृत्वा ददौ स तस्मै स्थावरधनकनकसंपूर्णम् ॥ १८ ॥
अतिगहनाशयसरसानवाप शिवशक्रसम्मनन्दिरथान् ।
जलधोनिवैष चतुरो बहुगुणरत्नाकरान् पुत्रान् ॥ १९ ॥
व्यवहारे शर्वभक्तौ चैषां प्रागल्भ्यमीयुषाम् ।
सर्वार्थसेविनां मोक्षसेवां शिवरथोऽग्रहीत् ॥ २० ॥
पित्राहृत्य नृपद्मेन पारिपाल्यं हि सोऽर्पितम् ।
त्यक्त्वार्थदोषविदभूद्रागो निष्परिग्रहः ॥ २१ ॥

उत्पलरथ अबतक पुत्रहीन था। अपनी उदारता के लिये वह प्रसिद्ध था। इस पुण्य कार्य के प्रभाव से उसे चार पुत्र उत्पन्न हुए। इन चारों के नाम क्रमशः शिवरथ, शक्ररथ, सम्मरथ और नन्दिरथ थे। चारों महान् सहृदय, द्रवित हृदय और आनन्दरस से आप्लावित रहने वाले चारों समुद्रों के समान रत्नाकर की खान थे। अत्यन्त गुणज्ञ और गुणि जनों का आदर करने वाले थे ॥ १९ ॥

चारों व्यवहारवाद के सफल संचालक थे। शर्वभक्ति में तो वे चारों ही अग्रगण्य थे। उतने ही प्रगल्भ थे। सामाजिकता के उत्कर्ष में प्रगल्भता ही कारण बनती है। वे सभी सभी के अर्थ अर्थात् अभिलषित उद्देश्य की पूर्त्ति में सेवाभाव से तत्पर रहते थे। इन चारों पुत्रों में सर्वाधिक श्रेष्ठ श्रीमान् शिवरथ सिद्ध पुरुष थे। सब लोगों को प्रेयमार्ग ही प्रिय लगता है किन्तु शिवरथ ने श्रेय का मार्ग अपनाया। उन्होंने मोक्ष सेवा को ही महत्त्व दिया और वीतराग की तरह जीवन व्यतीत करने लगे ॥ २० ॥

पुरुषों में पद्म के उपमान मनीषी शिवरथ ने पिता के माध्यम में मिली सम्पत्ति और परिपालन करने के उत्तरदायित्व का सारा भार अपने भाइयों को अर्पित कर दिया। वे जानते थे कि, सारे विवादों का मूल यह अर्थवाद

अधिकारं ग्राहितः स विद्वानुच्चलभूभुजा ।
कृत्वा धर्म्यां स्थितिं कंचित्कालं तत्याज निःस्पृहः ॥ २२ ॥
भोगापवर्गयोरिव शिवानुगगाद् बभूव सम्मरथात् ।
गुणरथदेवरथाभिधयोर्जनिरखिलस्पृहास्पदयोः ॥ २३ ॥
निर्दग्धमनलदग्धे नगरेऽपि सत्पथप्रथितः ।
अचलश्रीमठमकरोदभिनवमनयोर्गुणरथाख्यः ॥ २४ ॥

ही है। स्वार्थ में ही सारा विश्व सना हुआ है। इस दृष्टि से उन्होंने सर्वार्थ का परित्याग कर दिया। अब निष्परिग्रह वीतराग बनकर आराध्य शिव की उपासना में संलग्न हो गये ॥ २१ ॥

इनकी इस निष्परिग्रहता से प्रभावित नृपेश्वर उच्चल ने इन्हें अपने यहाँ बुलाया। इनको अपनी और अपने क्षेत्र की व्यवस्था के गुरुतर भार के लिये मना लिया। सारा राज्याधिकार इन्हें मिल गया। इन्होंने कुशलता पूर्वक उसका सञ्चालन किया। जब स्थिति सुधर गयी और धर्म के अनुकूल राज्य का संचालन होने लगा, तो उन्होंने यह अनुभव किया कि, अब हमें यहाँ नहीं रहना चाहिये और इसके बाद उन्होंने उस उत्तरदायित्व से अपने को अलग कर लिया। इससे उनकी निःस्पृहता ही प्रमाणित हुई ॥ २२ ॥

श्रीमान् शिवरथ के अनुयायी अनुज श्री सम्मरथ से दो पुत्र उत्पन्न हुए। दोनों भोग और अपवर्ग के प्रतिमान थे। शिव के अनुग्रह से भोग और अपवर्ग समान रूप से प्राप्त होते हैं। शिव के उपासक श्रीसम्मरथ भी थे। उन्हें भी भोग और अपवर्ग के समान देवरथ और गुणरथ नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। वे दोनों अखिल स्पृहास्पद थे। भोग पक्ष में अखिलस्पृहा विश्व-भोग की समीहा और अपवर्ग पक्ष में अखिल में व्याप्त परमेश्वर की स्पृहा के आस्पद वे दोनों पुत्र थे ॥ २३ ॥

इन दोनों में गुणरथ नामक धर्मनिष्ठ पुत्र ने एक बहुत ही महान् और पुण्यप्रद कार्य सम्पन्न किया। संयोगवश उस समय जिस नगर में

लोकद्वयोचित्तौ गुङ्गरथलङ्करथाभिधौ ।
यशोविवेकौ पाण्डित्यमेवासूत सुतौ च सः ॥ २५ ॥
एकं भाव्यद्वितीयत्वप्रथायाः संस्तवादिव ।
सूत्वा सुतं गुङ्गरथो युवैव प्रमयं ययौ ॥ २६ ॥

लोग रहते थे, उसमें भयङ्कर अग्नि काण्ड का अकाण्ड ताण्डव हो गया। उससे प्राय: सारा नगर जल कर राख हो गया था। सत्यमार्ग के प्रसिद्ध साधक श्रीमाम् गुणरथ ने पश्चात्ताप के दग्ध करने वाले भाव से रहित निर्दग्ध रहते हुए श्रीमठ नामक एक अचल मठ का निर्माण कराया। यह इनका एक अभिनव कार्य था ॥ २४ ॥

श्रीमान् गुणरथ के भो दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनके नाम थे—१. गुङ्गरथ और २. लङ्करथ। इहलोक परलोक को दृष्टि से यह उचित भी थे। यह कहा जा सकता था कि, पाण्डित्य ने यश और विवेक नामक दो पुत्रों को उत्पन्न किया था। वास्तविकता भी यहो है कि, यदि पाण्डित्य हो, तो उससे यश मिलता है और जीवन में विवेक का समुदय भो हो जाता है ॥ २५ ॥

अवश्यंभाविनो 'होनी' विधि को भाग्य रेखा को तरह अमिट होती है। वह अद्वितोय प्रथा का प्रथन करती है। यह कहा जा सकता है कि, इसी अद्वितीयत्व प्रथा की संस्तुति श्री गुङ्गरथ ने विधाता से की। उनकी प्रार्थना स्वोकृत हुई। उन्होंने मात्र एक पुत्र उत्पन्न किया और पितृ ऋण से मुक्त हुए। साथ ही जीवन के उत्तरदायित्वों से भो मुक्त हो गये। युवावस्था में ही वे परलोक सिधार गये। उन्होंने अपने पुत्र को भी अकेला छोड़ कर अद्वितीयत्व प्रथा का ही पालन किया ॥ २६ ॥

श्रीगुङ्गरथ के पुत्र का नाम शृङ्गाररथ था। श्री शृङ्गाररथ की माँ के ऊपर वज्रपात ही हो गया था। किन्तु वह साध्वीभार्या अविचलित भाव से अपनी परम्परा के अनुपालन में दत्तावधान थी। वह यज्ञीय हव्य की

यां हव्यकव्यविधिबन्धधियं सिताच्छ-
निर्यन्नखच्छविमिषात्पदधूलिलुब्धा ।
संसेवते स्म सुरसिन्धुरिवावदात-
चारित्रसंचितमहासुकृतप्रपञ्चाम् ॥ २७ ॥

तया स श्रृङ्गाररथाभिधानो बालो
विवृद्धिं गमितो जनन्या ।
सत्त्वाख्यया ख्यातगुणः क्रमेण
श्रीराजराजः सचिवं व्यधाद्यम् ॥ २८ ॥

पूर्ववत् व्यवस्था करती था। देवों और पितरों को निवेदित करने हेतु कव्य-विधि की पूर्त्ति करती थो। इन विधियों के बन्ध रूपी अनुशासन के अनुपालन में वह निरन्तर पवित्र पावन भाव से संलग्न रहती थी। इसमें उसको बुद्धि अविचलित और जागरूक थी।

अत्यन्त अवदात ऊज्वल चरित्र के गुणों से वह सम्पन्न थी। इससे उसने अपार पुण्य निचय का संचय कर लिया था। ऐसी सदाचार सम्पन्न आचार निष्ठ माँ के चरणों की धूलि से मिश्रित चरणोदक पीकर कोई भी पुत्र धन्य हो सकता है। श्रृङ्गाररथ इस दृष्टि से भाग्यशाली पुत्र था।

सुर निम्नगा विष्णुपदजा गङ्गा भी विष्णु चरणनख विनिःसृत शोभमान जल से मिश्रित पदरजमय चरणामृत से नित्य तृप्त रहती है। यह कहा जा सकता है कि, सुरसिन्धु इसके लिये शाश्वत लालायित रहती है। ऐसी लालसा और उत्सुकता अपनी माँ के चरणोदक लेने में श्रृङ्गाररथ की भी रहती थी ॥ २७ ॥

ऐसी साध्वी आचारमयी माँ के द्वारा श्रृङ्गाररथ बाल्यावस्था में लालित पालित हुए और क्रमशः कैशोर और यौवन को पार कर पूर्ण प्रौढ हो गये। अपनी सात्त्विकता के आधार पर उन्होंने समाज में अपना एक स्थान

कल्पान्तोष्णकरद्युतावपि परं यस्य प्रतापानले
म्लायन्माल्यनिधिर्बभूव बत न स्वर्गाङ्गनानां गणः ।
चन्द्रद्रोहियदोयकीर्तिविसरव्यावर्णनाप्रस्रव-
त्पोयूषासमगीतपूरितमहाशोतोपचारक्रमः ॥ २९ ॥

निखिलगुणिनां रोरद्रोग्धा गुणान्तरवित्तया
व्यधित जनतां सर्वां यश्चाधिकं गुणरागिणोम् ।
इह मम गतस्तन्त्रालोके विवेचयतो यतो
निरवधिमभिप्रेतोत्साहः स एव निमित्तताम् ॥ ३० ॥

बना लिया। उनके गुणों की ख्याति चतुर्दिक् फैल गयो। ऐसे यशस्वी शृङ्गार-रथ को श्रीमान् राजराज काश्मीर नरेश ने अपना साचिव्य प्रदान किया अर्थात् राज्य मन्त्री के रूप में उनको नियुक्त किया ॥ २८ ॥

कल्पान्त के प्रचण्ड मार्त्तण्ड को ग्रीष्म ऊष्मा को उद्दीप्ति को अतिक्रान्त करने वाले जिसके प्रतापानल से स्वर्ग को अप्सरायें भी भयभीत रहने लगीं थीं, उनके उदास रहने के कारण शृङ्गार के प्रति उनमें कोई आकर्षण नहीं रह गया था। जहाँ कल्पतरु की कुसुमावली से निर्मित माल्य की वे निधियाँ बन जाती थीं, वहाँ वे उदास बैठीं रहीं। यह एक शोक के वातावरण के ही समान था।

यही दशा उसकी निष्कलङ्क कीर्त्ति से प्रभावित सकलङ्क कलाधर की कीर्त्ति की भी थी। पहले चान्द्र किरणों से जो शीतोपचार होता था, अब काश्मीर राजराजेश्वर को कोर्त्ति को ख्याति से ही पोयूष वर्षा होती थी और उसी से शीतोपचार प्रक्रिया भी पूरी कर लो जाती थो ॥ २९ ॥

विश्व के समस्त गौरवान्वित विशिष्ट स्वभावों से सम्पन्न, ओजस्वी, प्रसाद सम्पन्न और मधुर स्वभाववान् गुणिजनों के गुणों से सारी जनता परिचित थी। उनके गुणों के प्रति उनमें अनुराग था। कभी भी उसके मन में

यस्य त्यागे महिमनि कलास्वाभिजात्ये क्षमायां
गम्भीरत्वे गुणिगणकथास्वन्तरज्ञातृतायाम् ।
शौर्ये कान्तौ किमिह बहुना नास्ति नासीन्न भावी
कोऽपि क्वापि क्षितिपरिवृढः साम्यसंभावनाभूः ॥ ३१ ॥

तस्यात्मनो मन इवान्यमुखार्थलब्धि-
स्वासाद्य साधकतमत्वमरोधचारम् ।

गुणज्ञों को कीर्त्ति के प्रति द्रोह नहीं होता था। वह स्वयं अनन्त गुणों का संवेत्ता था, विशिष्ट गुणान्तरवित् प्रज्ञा पुरुष था।

उसने जनपद की सारी जनता में गुणवत्ता के प्रति राग भर दिया था। सभी गुणज्ञ थे और गुणज्ञों का समादर करते थे। आचार्य जयरथ अपने यशस्वी जीवन की सच्चाई का उद्घाटन करते हुए कह रहे हैं कि, 'श्रीतन्त्रालोक' की विवेक व्याख्या में जो मैं प्रवृत्त हुआ, उसमें निरवधि रूप से अनवरत प्रेरणा और प्रात्साहन देने वाले और निमित्त मेरे परमादरणीय आत्मीय श्री शृङ्गाररथ ही थे ॥ ३० ॥

उनके गुणों का कहाँ तक वर्णन किया जाय? उनके त्याग और बलिदान अनिर्वचनीय थे। उनकी कला के लालित्य, आभिजात्य, क्षमा, गाम्भीर्य, गुणज्ञों की कीर्त्ति के परिज्ञान, शौर्य कान्ति इत्यादि वैशिष्टयों के विषय में कुछ अधिक न कहकर मात्र यही कहा जा सकता है कि, उनके समान काश्मीर में कोई इतना विशिष्ट पुरुष था ही नहीं। वर्त्तमान में भी उनकी उपमा में खरा उतरने वाला कोई पुरुष नहीं है। परिस्थितियों को देखते हुए, यह कहा जा सकता है कि, भविष्य में भी कोई ऐसा महापुरुष अवतरित नहीं हो सकता। केवल काश्मीर में ही नहीं, भूमण्डल में कहीं भी ऐसे महान् भूमिभूषण पुरुष के उत्पन्न होने की सारी संभावनायें मुझे धूमिल ही प्रतीत हो रही हैं ॥ ३१ ॥

साक्षाद्बभार विषयेषु स किञ्च लेद-
र्यादिष्वनन्यविषयेष्वपि भूमिभर्तुः ॥ ३२ ॥

सामन्तसंततिसमाश्रितसर्वमौलपादात-
शस्त्रिनिचयेऽप्यधिकारमाप्य ।
सर्वाधिकारिणि पदे स विभोः सहायः
सेनाभटान् पृथगपि प्रथयांचकार ॥ ३३ ॥

श्री शृङ्गाररथ महान् आत्मा वाले पुरुष थे। महापुरुष का मन भी अनर्थप्रवृत्त नहीं होता, वरन् विश्वसनीय गुप्त सेवक की भाँति आत्मा का अनुचर होता है। उसी तरह राज्य के गुप्तचरों से अर्थलब्धि रूप उद्देश्य परक समाचार-सन्देश उसे अन्य देशों से भी नित्य प्राप्त होते रहते थे। वे गुप्त सन्देश अत्यन्त साधकतम सिद्ध होते थे। परिणामतः उन विषयों अर्थात् जनपदों में इस कुशाग्र बुद्धिनायक ने अनवरुद्ध भाव से गुप्तचरों का जाल-सा बिछा दिया था। इसके अतिरिक्त अपने लेदर्यादि (लेदरी आदि) जनपदों में भी अरोध चार-पद्धति अपनाकर उस राजतन्त्र के नियामक राजपुरुष ने राजराजेश्वर काश्मीर नरेश का महान् उपकार किया थ ा॥ ३२ ॥

काश्मीर नरेश के अधीनस्थ अन्य जितने राजन्य वर्ग थे, जिन्हें शास्त्र सामन्त पदवी से विभूषित करते हैं, उनके पास भी सीमित मात्रा में ही सही रक्षक सेनायें रहती थीं। ऐसे जितने सामन्तों की परम्परा तत्कालीन काश्मीर राज्य में थी, उनके आश्रित पीढ़ियों से सेवा में पदारूढ़ मन्त्रियों और पदाति सेनाओं के सारे के सारे जखीरे को इस दक्ष शासकीय पुरुष ने अपने अधिकार में कर लिया था। इस अन्यतम महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के फलस्वरूप श्री शृङ्गाररथ राजराजेश्वर के अनन्य सहायक और सर्वाधिकारी के पद पर आसीन हो गये थे।

तस्य सर्वजनतोषकारिणः पुष्णतो गुणिगणान् धनर्द्धिभिः ।
साधुसाध्वसमुषः कुलोचिता शर्वभक्तिरतिवल्लभाभवत् ॥ ३४ ॥

श्रीविश्वदत्तपौत्रत्रिभुवनदत्तात्मजः कुलक्रमतः ।
श्रीसुभटदत्त आसीदस्य गुरुर्यो ममाप्यकृत दीक्षाम् ॥ ३५ ॥

केवल सामन्तों की सेना पर ही ये निर्भर नहीं थे। शासन के सफल संचालन और विश्व में अपने प्रभाव विस्तार के उद्देश्य से एक पृथक् महान् सैन्यदल को भी प्रथित और प्रतिष्ठित कर लिया था। इस प्रकार काश्मीर की तत्कालीन सेना विश्व की एक महनीय सेना मानी जाने लगी थी ॥ ३३ ॥

जनपद की समस्त जनता इनसे दक्ष शासक होते हुए भी आत्मीयता प्रदर्शन और सुव्यवस्था के कारण सन्तुष्ट थी। सर्वजन तुष्टि शासक का महान् धर्म है। वे इसी आधार पर सर्वजनतोषकर्त्ता के रूप में प्रसिद्ध थे।

श्री शृङ्गाररथ की दूसरी महती विशेषता थी कि, वे गुणियों का समादर केवल मौखिक रूप से ही नहीं, अपितु धन और सम्पत्ति तथा इसी तरह के सम्मान द्वारा भी करते थे। अर्थात् गुणज्ञों का ससम्मान पोषण होता था।

साधु सज्जन पुरुषों के सभी प्रकार के साध्वसों का अपनोदन कर उन्हें अभय प्रदान करने वाले शृङ्गाररथ एक असाधारण पुरुष थे। उनके कुल में परम्परा से प्रथित शिवोपासना की प्रथा को इन्होंने और भी पुष्ट किया। यह कहा जा सकता है कि, शिव भक्ति का अत्यन्त प्रियता के स्तर पर वे निर्वाह करते थे ॥ ३४ ॥

श्री विश्वदत्त के पौत्र त्रिभुवनदत्त और उनके पुत्र श्री सुभटदत्त थे। वे इनके गुरु थे। उन्होंने ही मुझे भी दीक्षा दी थी ॥ ३५ ॥

अप्यस्य राजतन्त्रे चिन्तयतो राजतन्त्रमास्त गुरुः ।
दाशीराजानकजन्मा श्रीशृङ्गारो ममापि परमगुरुः ॥ ३६ ॥
सावद्यां नवनिर्मितिमालोच्य देशकालदौरात्म्यात् ।
पञ्च महादेवाद्रौ जीर्णोद्धारान् व्यधत्त सुधीः ॥ ३७ ॥
जयरथजयद्रथाख्यौ सकलजनानन्दकौ समगुणर्द्धी ।
अमृतशशिनाविवाब्धेरस्मात्कमलाश्रयादुदितौ ॥ ३८ ॥
व्यधुस्तन्त्रालोके किल सुभटपादा विवरणं
यदर्थं यश्चैभ्यो निखिलशिवशास्त्रार्थविदभूत् ।

राजतन्त्र का शेखर पुरुष राजतन्त्र की बात सोचता हो, यह एक स्वाभाविक तथ्य माना जा सकता है किन्तु दाशी राजानकजन्मा तन्त्रों में सर्व श्रेष्ठ तन्त्रराज शैव दर्शन के चिन्तन में सर्वदा संलग्न रहा करते थे। ये मेरे परम गुरु थे ॥ ३६ ॥

सावद्य अनवद्य रूप सन्यासी द्वारा प्राप्त और देशकाल के दुष्प्रभाव से दुर्दशा ग्रस्त महादेव पर्वत पर प्रतिष्ठित पाँच देवायतनों का इस प्रावृण्य-परिवृढ पुरुष ने जीर्णोद्धार कराया था।

यहाँ सावद्यका दोषपूर्ण नवनिर्मिति अर्थ भी लगाया जा सकता है। अर्थात् नवनिर्मितियाँ ही अभी थीं कि, वे चूँकि दोष पूर्ण थीं और देशकाल के दौरात्म्य का अभिशाप भी उन्हें लग गया था। अतः उनका इस सुधी पुरुष ने जीर्णोद्धार कराया। वे पाँच थीं ॥ ३७ ॥

इन प्रभा-भासमान पुरुष रत्न से दो पुत्र ही उत्पन्न हुए। एक का नाम जयरथ था और दूसरे का नाम जयद्रथ था। ये दोनों पुत्र जनता जनार्दन के बड़े प्रिय थे। दोनों समान रूप से गुणज्ञ और ऋद्धि के आधार थे। मानो लक्ष्मी के आश्रय क्षीर समुद्र से अमृत और पीयूषवर्ष के समान ही ये दोनों विश्व में शान्ति सुधा के प्रसार में सक्षम थे ॥ ३८ ॥

शिवाद्वैतज्ञप्तिप्रकटितमहानन्दविदितं
गुरुं श्रीकल्याणाभिधममुमवाप्यास्तरजसम् ।। ३९ ।।

अधिगतपदविद्यस्त्रीन्मुनीन्योऽधिशेते
प्रथयति च लघुत्वं जैमिनेर्वाक्यबोधे ।

निखिलनयपथेषु प्राप यश्चाधिराज्यं
त्रितयमपि कथानां यत्र पर्याप्तिमेति ।। ४० ।।

श्री तन्त्रालोक लिखने के लिये गहन रहस्य विद्याओं का स्वाध्याय आवश्यक था। यह मेरा सौभाग्य था कि, मुझे इस दिशा में अप्रत्याशित सफलता मिली। एक तरफ मेरे दीक्षा गुरु श्री श्री सुभटदत्त पाद का गौरवपूर्ण अनुग्रह मुझे अनायास प्राप्त हुआ। उन्होंने श्री तन्त्रालोक का पूरा का पूरा विवरण मेरे लिये सुलभ कर दिया।

दूसरी ओर विरजस्क वरेण्य श्री कल्याण नामक मेरे गुरु मेरो श्रेयः-साधना के सोपान रूप में मुझे प्राप्त हुए। उन्होंने शिवाद्वयवाद की ज्ञप्ति से मेरे जीवन में बोध सुधा का समुद्र ही उड़ेल दिया। जिस लक्ष्य को पाना चाहता था, मुझे वह मिल गया। मैं इन गुरुजनों की अकारण कृपा से निखिल शिवशास्त्र के अर्थगर्भ रहस्यों का प्रकाण्ड पण्डित बन गया ।। ३९ ।।

मेरे स्वनामधन्य विश्व विश्रुत सर्वशास्त्र पारङ्गत ऐसे गुरु थे, जिनका यहाँ उल्लेख करना नितान्त आवश्यक है। वे पदवाक्य प्रमाण पारावारोण प्रथित पदविद्य थे। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि, वे पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि नामक तीन मुनियों को भी अतिक्रान्त करने वाले देश के गौरवशाली प्रज्ञा पुरुष थे।

जैमिनि शास्त्र के विमर्श गर्भ सूक्ष्म विषयों पर भो एकाधिकार रखते थे। न्याय दर्शन को सारी पद्धतियों और परम्पराओं के विशेषज्ञ थे। इस

तस्माच्छ्रीसङ्घधरादवाप्तविद्यः कृतो जयरथाख्यः ।
ज्येष्ठोऽनयोरकार्षीतन्त्रालोके विवेकमिमम् ॥ ४१ ॥

विद्यास्थानैरशेषैरपि परिचयतो दुर्गमे शैवशास्त्रे
स्रोतोभिन्नागमार्थप्रकटनविकटे नैव कश्चित्प्रगल्भः ।
तन्त्रालोकेऽत्र यस्मात् स्खलितमपि महत्कुत्रचित्कुत्रचिच्चेत्
स्यान्नूनं ते हि तस्मान्मम न विमुखतां हन्त सन्तः प्रयान्ति ॥४२॥

तरह वे व्याकरण, न्याय और सांख्य दर्शनों के शेवधि ज्ञानेश्वर महापुरुष थे। यह सिद्ध तथ्य है ॥ ४० ॥

ऐसे विज्ञान विज्ञ विद्वान् श्रीमान् सङ्घधर से समस्त विद्याओं को प्राप्त कर अधीतविद्य कृती बन कर शास्त्रों, परम्पराओं की धारा को अग्रसारित करने में जिसने अपना जीवन अर्पित किया, वही दोनों भाइयों में ज्येष्ठ 'जयरथ' नामक यह व्यक्तित्व विश्व में प्रकाशित हो रहा है। इसी ने श्री 'तन्त्रालोक' नामक 'अशेष आगमोनिषद्' इस महान् ग्रन्थ की 'विवेक' वृत्ति की रचना की है। इस श्लोक द्वारा स्वयम् उसने अपनी कृति की उद्घोषणा की है ॥ ४१ ॥

अशेष अर्थात् सम्पूर्ण तात्कालिक वर्त्तमान में प्रचलित जितने विद्या स्थान थे, सब का परिचय देते हुए, शास्त्रीय सैद्धान्तिक मान्यताओं का विवरण प्रस्तुत करते हुए, शैव शास्त्रों के विभिन्न स्रोतों, आगमिक अर्थ गर्भ गतिविधियों और चिन्तन की चमत्कारमयी भूमिकाओं के स्पष्टीकरण में मेरी दृष्टि में ऐसा कोई प्रतिभा सम्पन्न पुरुष नहीं दिखायी देता, जिसका इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये नाम लिया जा सके।

अतः 'श्रीतन्त्रालोक' सदृश आकर ग्रन्थ की व्याख्या के सन्दर्भों में मुझसे भी यदि कोई स्खलिति रह गयी हो, इसकी प्रबल सम्भावना है। ऐसी स्थिति में भी मुझे यह दृढ़तम विश्वास है कि, सज्जन और सहृदय हृदय विद्वद्वर्ग मुझमें दुर्भावमय वैमुख्य व्यक्त नहीं करेगा ॥ ४२ ॥

सत्सु प्रार्थनयानया न किमिह तेषां प्रवृत्तिः स्वतो
दुर्जातिष्वपि चार्थिता अपि यतः कुर्युः प्रवृत्तिं न ते ।
सर्वाकारमिति प्ररोहति मनो न प्रार्थनायां यदि
स्वात्मन्येव तदास्महे परमुखप्रेक्षित्वदैन्येन किम् ॥ ४३ ॥

हंहो देव सदेव मां प्रति कथंकारं पराधीनता-
मायातोऽस्यधुना प्रसीद भगवन्नेकं वचः श्रूयताम् ।

एक मनोवैज्ञानिक तथ्य की ओर भी मैं अध्येताओं का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। वस्तुतः सज्जन पुरुष से इस प्रकार को प्रार्थना का कोई अर्थ इसलिये नहीं होता कि, वे इतने महान् होते हैं कि, स्वतः ऐसे ग्रन्थरत्नों के स्वाध्याय में प्रवृत्त होते हैं। खोज-खोज कर ग्रन्थरत्नों को पढ़ते और पढ़ाते हैं।

वहीं दुर्जनों से भी इस प्रकार की प्रार्थना व्यर्थ हो होती है। इसका स्वाभाविक कारण है कि, वे इस तरह के महान् ग्रन्थों को कौन कहे, विद्योपास्ति में ही उनको प्रवृत्ति नहीं होतो। ऐसो दशा में हम यह सोचने को विवश हैं कि, प्राकृतिक वैवश्य मय वैकल्पिकता में व्याप्त मन यदि प्रार्थना में नहीं पिघलता, प्रार्थना का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, तो मैं क्या करूँ ? अब हमारा यही विचार है कि, स्वात्म में हो शान्त भाव से अपनी सत्ता का संवर्द्धन करूँ। यह एकदम स्पष्ट है कि, परमुखापेक्षिता एक प्रकार की होनतामयो दोनता हो है और यह सर्वथा त्याज्य है ? अर्थात् परमुखापेक्षी होने से काई लाभ नहीं ॥ ४३ ॥

देव को अपनी वेदना का सम्प्रेषण करते हुए जयरथ कह रहे हैं कि, यह खेद का ही विषय है कि, हे विधातः ! मेरे सम्बन्ध में सदैव विवश दोख पड़ते हो। मैं तो कर्म क्षेत्र का एक सक्रिय सदस्य हूँ फिर तुम अनुकूल नहीं रहते। इस ग्रन्थान्त निवेदन के अमूल्य अवसर पर भो तो मेरे ऊपर अपनी

सद्यः कंचन तज्ज्ञमेकमपि तं कुर्याः कृतिं मामकी-
मेतां यः प्रमदोदितासु विभृतश्रोत्रं क्षणं श्रोष्यति ॥ ४४ ॥
वाचस्तत्त्वार्थगर्भाः श्रवसि कृतवतो वल्लकीक्वाणहृद्या
नित्याभ्यासेन सम्यक्परिणतवयसा चिन्तयासेव्यमानान् ।
आश्लिष्यन्ती नवोढा निबिडतरमियं भावना लम्भयिष्य-
त्यानन्दास्रुप्रवाहामलमुखकमलान् सांप्रतं निर्वृतिं नः ॥ ४५ ॥

प्रसन्नता व्यक्त करें भगवन् ! मेरी एक बात तो अवश्य ही सुनने की कृपा करें। वह यह कि, तत्काल एक ही, मात्र एक ही ऐसा तन्त्रज्ञ या आगमज्ञ व्यक्ति यहाँ उपस्थित कर दें, ताकि वह मेरी इस कृति को निभृत श्रोत्र अर्थात् भावविभोर होकर क्षण भर सस्नेह सुन सके। प्रमद अर्थात् शैव समावेश की मङ्गलमयी मुग्धता में ही प्रायः शैवदर्शन की कृतियाँ व्यक्त हुई हैं। मेरी यह कृति भी शैवसमावेश प्रसाद रूप दशा में उक्त है अर्थात् प्रमदोदित कृतियों में एक है। इसका क्षण भर आनन्द तो ले सकें ॥ ४४ ॥

इसकी तत्त्वार्थगर्भ उक्तियाँ वीणा के तारों से झङ्कृत श्रुतिप्रिय स्वर लहरी के समान हृदय को आह्लाद से भर देती हैं। अतः इसे जो नित्य नियमतः श्रवण करता है, जो इसके निर्देशों के अनुसार अभ्यास करता है, अपनी परिपक्व अवस्था में इसका चिन्तन करता है और इसके अनुशासन से अनुशासित रहता है, उसे इसमें निहित शक्तियाँ उस व्यक्ति का उसी तरह आलिङ्गन करती हैं, जैसे कोई नवोढ़ा अपने प्रियतम का आलिङ्गन करती है।

इसमें निहित भव्य भावनायें सदैव भावविभोर करती हैं। घनी और रसमयी हैं। अध्येता उन्हें प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है। उसके आनन्द विगलित आँसुओं से उसकी कपोल पाली आर्द्र हो जाती है। मुख कमल की उससे निर्वृति कहाँ ? निर्वृति होना भी हमारे आनन्द का ही प्रमाण माना जा सकता है ॥ ४५ ॥

निरस्तः संदेहः शममुपगता संसृतिरुजा
विवेकः सोत्सेकः सपदि हृदि गाढं समुदितः ।
अतः संप्राप्तोऽहं निरुपधिचिदद्वैतमयता-
मसामान्यामन्यैः किमिव तदिदानीं व्यवसितैः ॥ ४६ ॥

पदे वाक्ये माने निखिलशिवशास्त्रोपनिषदि
प्रतिष्ठां यातोऽहं यदपि निरवद्यं जयरथः ।
तथाप्यस्यामङ्ग क्वचन भूवि नास्ति त्रिकदृशि
क्रमार्थे वा मत्तः सपदि कुशलः कश्चिदपरः ॥ ४७ ॥

मेरी साधना आज सफल है । मेरे समस्त सन्देह निरस्त हो गये हैं । संसृति आध्यात्मिक दृष्टि से एक असाध्य व्याधि मानी जाती है । मेरा यह सौभाग्य है कि, यह असाध्य रोग भी दूर हो गया है और मैं 'स्व' में स्थित हो गया हूँ । मेरे विवेक पर अनुग्रह का उत्सेक हो रहा है । इस पर कृपा की बौछार हो रही है और मेरे हृदय में उसकी अमृत धार बह रही है । यह कहा जा सकता है कि, मैं निरुपाधिक चेतन्य के तादात्म्य की भावानुभूति से भव्य रूप से भासित हूँ । इसे असाधारणी स्थिति का एकात्मवाद कहा जा सकता है । ऐसी अनन्य चिन्तन की बोधमयी प्रकाशमयता में रहने वाले को सामान्य व्यापारों से क्या लेना देना है ? उसी महाभाव की भव्यता में आप भी भव्य बनें ॥ ४६ ॥

पदबोध में वाक्यों के अनुशीलन में और प्रमाणों की मान्यता में, समग्र शैवशास्त्रों की औपनिषदिक आमर्श में मैंने प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है । आज भौतिक नाम धारक जयरथ रूप व्यक्ति नैरवद्य के उच्च शिखर पर आरूढ़ है । यह कहने में फिर भी कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि, शैवदर्शन की विविध विधाओं में मेरा कोई उपमान विश्व में सुलभ नहीं है । चाहे वह त्रिक (प्रत्यभिज्ञा) का सिद्धान्त हो, चाहे क्रमदर्शन की मान्यता हो अथवा

॥ कृतिः श्रीराजानकमहामाहेश्वराचार्यजयरथस्य ॥

वन्दे गुरुं शिवफलार्थिषु कल्पवृक्षं भेदेन्धनैकदहनं शिवमार्गदीपम् ।
शंभुं जटाप्रकृतभूषणचन्द्रबिम्बं शैवोदधेर्वसुफलप्रदपोतमेतम् ॥

॥ इति शिवम् ॥

महार्थ या कुल आदि दार्शनिक मान्यतायें हैं, इनका रहस्य द्रष्टा इनका पारखी और इनमें नैपुण्य धारण करने वाला कोई भी इस समय मेरे समान नहीं है। मुझसे बढ़कर इन विषयों में अपेक्षित कौशल्य का अन्यत्र नितान्त अभाव है अर्थात् मेरे सदृश वैदुष्य नहीं है ॥ ४७ ॥

"मेरी इस पद्यात्मक संरचना के साथ जिसका ऐतिहासिक महत्त्व भी है, मेरे द्वारा व्यक्त की गयी विवेक व्याख्या यहाँ परिपूर्णता को प्राप्त हो रही है। स्पष्ट रूप से यह उल्लेख करना भी आवश्यक है कि, यह 'विवेक' नामक सम्पूर्ण 'श्रीतन्त्रालोक' पर लिखी गयी कृति श्री राजानक महा-माहेश्वराचार्य श्रीमान् 'जयरथ' का है।"

गुरुवन्दना

शैव महाफलप्रेप्सुजन कल्पवृक्ष गुरुदेव।
दारुण भेदेन्धन दहन दीपक इव स्वयमेव!
सोमशीर्ष शिव सदृश गुरु वन्दनीय आदित्य।
शैवसिन्धुवसुफलद नव पोत सदृश गुरु नित्य॥

महामाहेश्वर राजानक जयरथ विरचित

डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक

भाषा भाष्य संवलित

जयरथ कृतिरूप परिशिष्ट संपूर्ण

॥ इति शिवम् ॥

परिशिष्ट-भागः

[आ]

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलिते

आलोकसारद्वयभिन्ने

तन्त्रोच्चये

प्रथममाह्निकम्

[1]विमलकलाश्रयाभिनवसृष्टिमहाजननी
भरिततनुश्च पञ्चमुखगुप्तरुचिर्जनकः ।

परिशिष्ट भाग

[आ]

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचित

डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर विवेक भाषाभाष्य संवलित

तन्त्रोच्चय

आलोकसारद्वयनिष्कर्षरूपलघुकायतन्त्रग्रन्थ

का

प्रथम आह्निक

विमलकलाश्रया अभिनवसृष्टिमहा जननी
भरिततनु पञ्चमुखगुप्तरुचि जनक और

१. श्रीतन्त्रालोके, 'तन्त्रसारे' पराश्रीशिकाविवरणे 'ऽप्ययमेव' मङ्गलश्लोको वर्तते ।

तदुभययामलस्फुरितभावविसर्गमयं

हृदयमनुत्तरामृतकुलं मम संस्फुरतात् ॥ १ ॥

इन दोनों के यामलस्फुरित भावविसर्गमय मेरा अनुत्तरामृत कुल हृदय स्फुरित हो।

शास्त्रकार महामाहेश्वर श्रीमदभिनव गुप्त त्रिक दर्शन प्रतिपादक शास्त्रों के अर्थरूप रहस्य के साक्षात्कार करने वाले महामनीषी हैं। वे शिव शक्ति सद्भाव के महाभाव में साक्षी बनकर विराजमान हैं। स्वयं स्वतः आशीर्वाद की मुद्रा में श्लेष अलङ्कार के माध्यम से अनुत्तरामृतकुल अपने हृदय के संस्फुरण के भी साक्षी बनने को उत्सुक हैं। यह हृदय उभययामल भाव से स्फुरित भाव विसर्ग रूप ही है। शक्ति रूप परमाम्बा को प्रतीक अपनी माता विमलकला एवं पिता पञ्चमुख गुप्त रूप परमेश्वर शक्तिमन्त शिव रूप इष्ट देवता का भी स्मरण इस श्लोक के माध्यम से कर रहे हैं।

यह श्लोक तन्त्रशास्त्र के विश्वकोष रूप आगमिकोपनिषद् प्रतीक श्री तन्त्रालोक का मङ्गल श्लोक है। प्रथम आह्निक का प्रथम श्लोक यह श्री तन्त्रालोक के सार निष्कर्ष ग्रन्थ तन्त्रसार नाम २२ आह्निकों में अभिव्यक्त और दो खण्डों में मेरे द्वारा लिखित नीरक्षीर विवेक नामक भाष्य के साथ प्रकाशित है। उस तन्त्र ग्रन्थ का भी यही मङ्गल श्लोक है। सौभाग्य से इस तन्त्रोच्चयरूप ग्रन्थ का भी यही मङ्गल श्लोक है और यही परात्रीशिका विवरण ग्रन्थका भी मङ्गल श्लोक है।

इस श्लोक पर १. अभिनव गुप्त पक्ष, २. परिवार पक्ष, ३. त्रिकदर्शन पक्ष, ४. कुल दर्शन पक्ष, ५. क्रमदर्शन पक्ष, ६. मतदर्शन पक्ष और आलङ्कारिक चमत्कार के पक्ष में भी विचार किया जा सकता है। शास्त्रकार का यह अत्यन्त प्रिय और आत्मदर्पण के नैर्मल्य से शाश्वत प्रकाशित श्लोक है।

संक्षेप में इन पक्षों पर विचार किया जा सकता है।

१. अभिनवगुप्त पक्ष—

स्वात्म संविद् के विमर्श से प्राप्त शक्ति की अनुभूति से सम्पन्न श्री अभिनव का 'हृदय' समग्र शैवदर्शन के रहस्यों के उद्घाटन के लिये संस्फुरित हो। इनकी माता का नाम विमलकला और पिता पञ्चमुख अर्थात् नरसिंह गुप्त थे। चर्या में माता पिता की पारस्परिक उन्मुखता ही उभययामल भाव है। इससे पिण्ड सृष्टि रूप विसर्ग होता है। 'हृदय' उसका केन्द्र होता है। श्रीमदभिनव गुप्त का हृदय भी इसी यामल स्फुरण रूप भाव की विसृष्टि का प्रतीक है। अनुत्तर अमृत की कौलिकता से कलित अभिनव का हृदय-केन्द्र अवश्य ही स्फुरित होना चाहिये। इसी उद्देश्य से यह माङ्गलिक श्लोक निर्मित है। यह अभिनव के जीवन दर्शन का बिम्ब है। यह उन्हें अत्यन्त प्रिय है। इसी के परिणाम स्वरूप श्री तन्त्रालोक का त्रिक प्रतीक (माता-पिता-पुत्र) (शक्ति शिव विश्व) यह श्लोक श्री तन्त्रसार से होता हुआ तन्त्रोच्चय की उच्चता को भी चरितार्थ कर रहा है।

२. परिवार पक्ष—

(अ) **पिता—**

पञ्चमुख गुप्त नरसिंह गुप्त अर्थ में प्रयुक्त शब्द है। पञ्चमुख शिव की पाँच चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप शक्तियाँ शैवी मुख कहलाती हैं। इस अर्थ में इन पाँच शक्तियों से गुप्त अर्थात् सुरक्षित और इन्हीं की दीप्ति से दीप्तिमन्त इनके पिता हैं, यह ज्ञात हो जाता है। इस एक शब्द से ही पिता के उदात्तचरित्र, सिंहवत् पराक्रमी और शक्ति के उपासक रूप की अनुभूति हो जाती है। उनका दूसरा विशेषण भरित तनु है। इससे उनके सुडौल शरीर संरचना तथा सौम्य स्वभाव का भी आकलन होता है।

परहितकरणनियुक्तो गुरुभिस्तन्त्रोच्चयमिति ग्रन्थम् ।
अभिनवगुप्तो रचयति मितमभिजनहृदयविनोदि ।। २ ।।

(आ) जननी—

इनकी माता का नाम विमलकला था। माँ प्रत्यक्ष ब्रह्ममयी देवता मानी जाती है। वह अभिनव सदृश पुत्र के मह अर्थात् महोत्सव की उत्स है। ऐसे महामाहेश्वर पुत्र को उत्पन्न करने वाली महिमामयो वात्सल्य मयी जननी है। माता और नृसिंह रूप विद्वन्मूर्धन्य के यामल उल्लास से प्रसूत, अनुत्तर शिव की अनुत्तरता और विश्व प्रसररूपशाक्त प्रसर मय अमृत कुल-कला का प्रतीक यह योगिनी भूःस्वरूप अभिनव गुप्त हैं। ऐसे पुत्र को विमलकला सदृश माँ मिलो है। ऐसी माँ को शतशत प्रणाम।

दर्शन के कुल क्रम मत आदि पक्षों पर श्री तन्त्रालोक प्रथम खण्ड के नीर-क्षीर विवेक भाष्य में विशद विवेचन किया गया है। वहाँ से इनको देखा जा सकता है।

इस श्लोक को क्रिया के वैशिष्टय पर भो स्वभावतः विचारकों का ध्यान जाता है। विधिलिङ् में तातङ् का प्रयोग क्वाचित्क हो दृष्टि गोचर होता है। यहाँ वह उपलब्ध है। हृदय शरीर का मूल केन्द्र माना जाता है। हृत् चक्र मेरुदण्ड में अवस्थित मध्य केन्द्र माना जाता है। यह बिम्ब रूप है। इसी का प्रतिबिम्ब अनाहत चक्र है। अनुत्तरामृत से ओत प्रोत कुलत्व का यह प्रतीक है। इसी के संस्फुरण से यह सुन्दरतम तन्त्रोच्चय प्रक्रिया भो स्फुरित हो रही है ।। १ ।।

तन्त्रोच्चय नामक सूत्र ग्रन्थ द्वारा दूसरों के हित के लिये अथवा चरम परम रूप परात्मक मोक्ष रूप श्रेयः सिद्धि के उद्देश्य के लिये पूर्णरूप से मैं युक्त हूँ अर्थात् यह परम हितकारक ग्रन्थ है। 'ऐसे ग्रन्थ की रचना कर साधकों का परम कल्याण करो' इस आदेश का मैं पालन कर रहा हूँ।

[1]अज्ञानं किल बन्धहेतुरुदितः शास्त्रे

विपरीतविनिश्चयनिमित्तो हि संसारः। तथा हि—

मलं तत्स्मृतम्

में गुरुओं के द्वारा एक तरह से इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये नियुक्त कर दिया गया हूँ। परहित करना ही मेरा पारिश्रमिक है। गुरुजनों के आदेशानुसार इस तन्त्रोच्चय नामक ग्रन्थ की रचना यह अभिनवगुप्त नामक व्यक्ति ही कर रहा है।

यह बहुत बड़ा नहीं है। लघुकाय ग्रन्थ है। इसके स्वाध्याय में बहुत आयास करने की आवश्यकता नहीं। अपेक्षाकृत सरलता से यह अध्ययन का विषय बनाया जा सकता है। यह अभिजन अर्थात् चारों दिशाओं में जिसके महत्त्व और व्यक्तित्व का और गुणों का प्रसार हो गया है, ऐसे व्यक्तियों, कुल और वंश में उत्पन्न श्रेष्ठ पुरुषों के हृदयों का विनोद करने में समर्थ है। अभिजन शब्द पूर्व पुरुषों की उस भूपरिधि को भी व्यक्त करता है, जहाँ वे पहले रह चुके हों अथवा रह रहें होते हैं। वहाँ के प्रतिष्ठित लोगों के हृदय को हर्ष प्रदान करने में भी समर्थ है॥ २॥

शास्त्रों में अज्ञान ही बन्ध का हेतु माना गया है। मनीषियों की जिज्ञासा का यह विषय हमेशा रहा है कि, इस जागतिक बन्ध का कारण क्या है? तन्त्रोच्चय इसका उत्तर दे रहा है कि, बन्ध का एक मात्र कारण अज्ञान है। यह बात शास्त्रों में कही गयी है। इसी के साथ यह प्रश्न भी उठता है कि, बन्ध संसार में ही मिलता है। यह संसार क्या है? इसका स्वयं स्वोपज्ञ उत्तर भी दे रहे हैं कि, 'विपरीत विनिश्चय का निमित्त ही संसार माना जाता है।'

सांसारिकता के व्यामोह में पड़कर जीव विपरीत विनिश्चय करने के लिये विवश हो जाता है। यह विपरीत विनिश्चय है क्या? वस्तुतः जीव

---

१. तन्त्रसार आ० १।४।

अज्ञानमेव हि मलम् । अतश्च—

पूर्णज्ञानकलोदये तदखिलं निर्मूलतां गच्छति ।

अपूर्णे हि ज्ञाने यावत्येव सम्यग् ज्ञातताभावतो विमुक्तिस्तावति ज्ञेयीभूते तावदुत्तीर्णप्रमातृत्वावभासात् । पूर्णे तु ज्ञाने समस्तोत्तीर्णं समस्तात्मभूतं च प्रमातृतत्त्वं शिवरूपमेव भातीति न कुत्रचिदंशभागेऽस्याज्ञानं स्यात् ।

को शिव का आभिमुख्य चाहिये किन्तु वह ऐसा नहीं करता। वह माया के अभिमुख और शिव से पराङ्मुख हो जाता है । यही विपरीत विनिश्चय है। चाहिये यह कि, माया के प्रतीप शैवाभिमुख हो और श्रेयान् की सम्प्राप्ति में संलग्न हो जाय । यह अनुकूल निश्चय माना जाता है ।

दूसरी बात की ओर शास्त्रकार अध्येता का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। उनके अनुसार यह अज्ञान ही 'मल' कहा जाता है। यह सिद्धान्त वाक्य है कि, 'अज्ञान ही मल है।'

इसलिये शास्त्र यह सीख देते हैं कि, पूर्णज्ञान की कला के उदय हो जाने पर इस मल रूपी अज्ञान की जड़ें पूरी तरह उखड़ जाती हैं और यह पेड़ ही सूख जाता है । इसका समूल उन्मूलन हो जाता है। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

शिव जब स्वरूप गोपन कर स्वेच्छा से और स्वातन्त्र्य के कारण पूर्णतया अणुता का वरण कर लेता है, तो उसकी पूर्णता भी अपूर्णता में परिवर्त्तित हो जाती है। उसका ज्ञान भी अपूर्ण हो जाता है। अणुसाधक जितना जितना स्वात्मोत्कर्ष विधि का अभ्यास करता है, उतना उसका ज्ञान परिष्कृत होता जाता है। उसकी ज्ञातृता सम्यक् रूप से प्रस्फुटित होने लगती है । परिणामतः वह विमुक्ति रूप श्रेय की ओर अग्रसर होता है ।

यह विश्व ज्ञेय माना जाता है। यह मेय है और अतएव हेय भी है। ज्यों ज्यों श्रेयकी ओर उन्मुख होता है, उतना ही उतना उसमें उत्तीर्ण

ध्वस्ताशेषमलात्मसंविदुदये मोक्षश्च

न किञ्चिन्मोक्षो नाम, अपि त्वज्ञानकालुष्यापगमे सर्वोत्तीर्णसर्वात्मभूतपूर्णस्वतन्त्र निर्मलसंवितत्त्वप्रकाश एव मोक्षः ।

तेनामुना

शास्त्रेण प्रकटीकरोमि निखिलं यज्ज्ञेयतत्त्वं भवेत् ॥ ३ ॥

प्रमातृता का उत्कर्ष अवभासित होने लगता है। सौभाग्यवश एक ऐसा अनमोल क्षण भी आता है, जब उसकी अपूर्णता उन्मूलित हो जाती है। उसे बुद्धत्व की उपलब्धि हो जाती है। वह पूर्णज्ञानवान् बन जाता है। उस समय वह विश्वमयता को पार कर विश्वोत्तीर्ण हो जाता है। उसका संकोच समाप्त हो जाता है और वह सर्वमय स्तर पर आरूढ हो जाता है। उसका प्रमातृत्व शिवत्व से ओत प्रोत हो जाता है। वह शिव स्वरूप हो अवभासित होने लगता है। निरंश रूप पूर्ण शिवत्व के किसी अंश में अज्ञान का अस्तित्व नहीं रह जाता। यही पूर्णज्ञानकलोदयावस्था मानी जाती है। उसी समय अज्ञान रूपी मल निर्मूल हो जाता है।

अब वह नैर्मल्य का प्रतीक बन जाता है। उसके मल ध्वस्त हो गये होते हैं। उसमें स्वातन्त्र्यमयी संविद् का उदय हो जाता है और इसी शैवी संवित्ति की उदितावस्था को 'मोक्ष' कहते हैं।

वस्तुतः मोक्ष कोई वस्तु नहीं, जिसे कोई जब चाहे हस्तगत कर ले। मोक्ष तो अज्ञानरूपी कलङ्कपङ्क के प्रक्षालन के उपरान्त विश्वोत्तीर्णता की, सर्वमयता को, पूर्ण स्वातन्त्र्य को, शैवनैर्मल्यमयी संवित् शक्ति की तात्त्विकता के उल्लास का ही नाम है।

शास्त्रकार स्वयं अपने स्वात्मोत्कर्ष के सर्वोच्च सिंहासन पर सर्व साक्षी बन कर विराजमान हैं। एक तरह से वह साधिकार उद्घोषित कर रहे हैं कि,

तच्च परमेश्वरेण शास्त्रेष्वेव पूर्वं निरूपितम् । सर्वोत्तीर्णत्वस्य सर्वात्मभूतत्वस्य चाभिधानात् । ननु प्रकाशस्वभावो यद्ययं भगवांस्तत्कस्मादस्याज्ञानप्रकाशात्मकम् ? कथं वा तन्निवर्तते ? आह—

[1]आत्मा प्रकाशवपुरेष शिवः स्वतन्त्रः
स्वातन्त्र्यनर्मरभसेन निजं स्वरूपम् ।
सञ्छाद्य यत्पुनरपि प्रथयेत पूर्णं
तच्च क्रमाक्रमवशादथवा त्रिभेदात् ॥ ४ ॥

मैं इस शास्त्र के माध्यम से उसी रहस्य का उद्घाटन कर रहा हूँ। इसमें निखिल खिल उठेगा। समस्त ज्ञेयतत्त्व रूप विजिज्ञासितव्य का विज्ञान उजागर हो जायेगा ॥ ३ ॥

समस्त शैव शास्त्र सर्वशक्तिमती माता जगदम्बा के रहस्य प्रश्नों के स्वयं शिव द्वारा अविब्याहृत उत्तर हैं। यह सारा ज्ञेयतत्त्व भी परमेश्वर ने शैवशास्त्रों में स्वयं निरूपित किया है। सर्वात्म भूतत्वमयी सार्वात्म्य रूपा विश्वमयता और अचिन्त्य विश्वोत्तीर्णता का भी अभिधान उन्होंने किया है। इसी सन्दर्भ में एक जिज्ञासा का उदय होता है। वह यह कि, यदि परमेश्वर शिव स्वयं प्रकाश स्वभाववान् हैं, तो फिर यह अप्रकाशात्मक अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हो जाता है ? अथवा इसकी निवृत्ति भी किससे और किस प्रकार हो जाती है ? इसी जिज्ञासा को शान्ति का उपक्रम कर रहे हैं—

आत्मा के या शिव के यहाँ दो विशेषण दिये गये हैं।

१. स्वतन्त्रः और २. प्रकाशवपुः। स्वतन्त्र शिव कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ है। वह स्वयं 'स्व' रूप का गोपन करता है। अपने को आच्छादित कर अणु बन जाता है। साथ ही स्वयं स्वात्म का प्रकाशन कर लेता है।

१. त० सा० उपोद्घात।

यस्मात्स्वरूपमाच्छाद्य प्रकटयति तत एवायं परमेश्वरः स्वतन्त्रः । स हि प्रकाशस्वभावः । अत एव केनापि चैकतमेन प्रकारेण न प्रकाशते । तदप्रकाशता तथा स्यादिति सर्वात्मना स प्रकाशत इति प्रकाशतैव स्वस्वतन्त्रताऽस्य । यच्च स्वरूप प्रकाशनम्, तच्चाक्रमात् । देहविलये शिवतैव क्रमवशादथवा त्रिभेदात् शाक्तादिरूपतयेति वक्ष्यामः ।

यह उसका अपना तन्त्र है। इसलिये उसे स्वतन्त्र कहते हैं। स्वातन्त्र्य उसकी आनन्दशक्ति है। इसे विमर्श कहते हैं। इससे शिव समन्वित है। अतः स्वतन्त्र है।

२. वह प्रकाशवपुष् परमेश्वर है। प्रकाश कभी निर्विमर्श नहीं होता। प्रकाश सर्व का परामर्शक होता है। शिव में ये सारे गुण हैं। इसीलिये वह सबका आत्मा भी है। सबका सर्वस्व है, सबका अपना है। अतः सब कुछ शिव ही है।

वह स्वातन्त्र्य निर्भर रस रूप आनन्द से ओतप्रोत अपने स्वरूप का गोपन कर लेता है। अपने को आच्छादित कर स्वयं ही पूर्णत्व को प्रथा का प्रथन करने की प्रक्रिया भी अपना लेता है। यह उसकी ललाम लीला है। इस प्रथित प्रक्रिया में कभी क्रम कभी अक्रम और कभी आणव, शाक्त और शाम्भव रूप तीन भेदों से भी भासित होने के स्वातन्त्र्य का प्रयोग करता है। कोई एक क्रम वह नहीं अपनाता। उसकी प्रकाशमानता भी उसकी स्वतन्त्रता ही है। देह के निलय के उपरान्त शिवत्वोपलब्धि में क्रम, प्रकाशन में अक्रम और शाक्तादि समावेशों में तीन भेद भी स्पष्ट दृष्टि गोचर होते हैं ॥ ४ ॥

एतद्विषयक महामाहेश्वर का प्राकृत श्लोक तन्त्रसार नामक ग्रन्थ के प्रथम आह्निक के उपोद्घात प्रकरण में मुद्रित है। तन्त्रसार के नीर-क्षीर-विवेक भाष्य में तन्त्रोच्चय के सभी संस्कृत व प्राकृत के श्लोक हैं। सभी प्राकृत श्लोकों की संस्कृत छाया मैंने स्वयं लिखी है। कहीं कहीं छाया में

आह च—

मातृकापाठः

एहु पआसऊउ अत्ताणत सच्छन्दउ ढक्कइ णिअऊउ ।
पूणु पअढइ झढि अह् कमवस्व एहुत परमर्थिण शिवरसु ॥ ५ ॥

शोधितः पाठः

एहु पआस-रूउ अत्ताणउ सच्छंदउ ढक्कइ णिअ-रुअउ ।
पुणु(वि) पअडइ झत्ति अह् कम-वसु एहुउ परमत्थिण सिवरसु ॥

संस्कृतच्छाया

एष प्रकाशरूपः आत्मा स्वच्छन्दं छादयति निजरूपम् ।
पुनरपि प्रकटयति झटिति-अथ क्रमवशः एषः परमार्थेन शिवरसः ॥१॥

तन्त्रसार आ० १

॥ इति तन्त्रोच्चये प्रथममाह्निकम् ।

अन्तर भी है। रचयिता ने मातृका पाठ के वस्तु सत्य को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

परमेश्वर शिव रूप परम आत्मा प्रकाशवपुष है। प्रकाश रूप ही है। वह अपने स्वातन्त्र्य की शक्ति से स्वात्मरूप का गोपन कर लेता है। स्वेच्छया उसे तुरत प्रकट भी करने में सर्वथा समर्थ है। स्वात्म के प्रकटीकरण में पारमार्थिक रूप से उसके आनन्द का ही उच्छलन होता है। आनन्द ही शिव का रस है।

मेरे द्वारा निर्मित संस्कृत छाया में छादयति की जगह ढौकयति और शिवरसः के स्थान पर शिवरसम् है। ढक्कइ का छादयति नहीं ढौकयति ही होना चाहिये। इसी तरह शिवरसु में उकार कर्मकारक को व्यक्त करता है। अतः शिवरसम् होना चाहिये।

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तविरचित
डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर विवेक भाषाभाष्य संवलित
तन्त्रोच्चय का प्रथम आह्निक पूर्ण ॥ १ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलिते

तन्त्रोच्चये

द्वितीयमाह्निकम्

तत्र सः परमेश्वरप्रकाशः कस्यचिदविरतप्रबन्धतया पुनरुपायनिर-पेक्षतया भाति। एकवारं गुरुवचनमीदृशं सम्यगवधार्यम्, तद्यथा—

[1]**उपायजालं न शिवं प्रकाशयेत्।**

श्रीमन्महामाहेश्वरचार्याभिनवगुप्तविरचित

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलित

तन्त्रोच्चय

का

द्वितीय आह्निक

साधना के इस उपक्रम में अनवरत और प्रबन्ध भाव से अर्थात् नियमित रूप से संलग्न रहने वाले किन्हीं साधकों को सौभाग्यवश यह परमेश प्रकाश अवभासित हो जाता है। किन्हीं भाग्यशाली भक्तों को वह अनुपाय अर्थात् बिना किसी उपाय का आश्रय लिये ही प्रकाशित होता है। इसे उपाय निरपेक्ष अनुग्रह की स्थिति कह सकते हैं। यह अनुग्रह सत्पात्र पर ही होता है। यों तो परमेश्वर प्रकाश सर्वव्याप्त है किन्तु आवरण के कारण उसकी झलक नहीं मिल पाती।

इसकी उस एक झलक पाने की लालसा भक्तों में होती है। वे गुरु की शरण में जाते हैं। ऐसे लोगों को इस सम्बन्ध में हो बताये गये गुरुदेव के वचनों को सम्यग् रूप से अवधारित करना चाहिये। वे इस प्रकार हैं—

---

१. त० सा०, आ० २ पृ० १९

युक्तं चेतत्, यतः —

घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः ।

अतः शिवप्रसादादेव विश्वं भाति । विश्वमध्ये समस्त उपायवर्गः ।

विवेचयन्नित्थमुदारदर्शनः

स्वयम्प्रकाशं शिवमाविशेत् क्षणात् ॥

'उपायों का समूह भी परमेश्वर शिव को प्रकाशित नहीं कर सकता ।' यह बात सत्य ही क्योंकि,

'क्या घड़े में वह शक्ति है कि, वह सहस्र रश्मि भगवान् भास्कर को प्रकाशित कर सके ?'

अतः यह निश्चित है कि परमेश्वर शिव के अनुग्रह के कारण ही यह विश्व रूप शैव प्रसार आभासित हो सकता है ।' विश्व में ही सारा उपाय संवर्ग भी उल्लसित है ।

'इस प्रकार विचार में अनवरत संलग्न और निरन्तर चिन्तनशील विवेकी पुरुष साधक श्रेणी में आ जाता है । उसका दर्शन भी उदात्त भावों को उत्पन्न करता है । ऐसे उदार दर्शन पुरुष धन्य होते हैं । एक समय ऐसा भी आ जाता है, जब क्षण भर में ही वह अनुग्रह की वर्षा करने वाले स्वयं प्रकाश शिव में प्रवेश पा लेता है ।

निरन्तर विवेचन भक्ति का ही विकसित रूप है । भक्ति से भगवान् में अनुप्रवेश हो जाता है । श्रीमद्भगवद्गीता कहती है—

'भक्त्या त्वनन्यया शक्यमहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप' ॥

अर्थात् अनन्य भक्ति से भगवान् कह रहे हैं कि, मैं जानने योग्य दर्शन योग्य और तात्त्विक रूप से मुझमें प्रवेश योग्य हो जाता हूँ ॥ १ ॥

अनवच्छिन्नविश्वोत्तीर्णविश्वात्मभूतसंविद्रूपतया स्वयं प्रकाशत इति यावत् । आह च—

मा० पा०

[1]जहि जहि फुरण फुरइ सो सअलउ परमेसरु भासइ मइ अमलउ ।
अत्ता नत सो शिचव परमत्थिण इअ जानअ कज्ज परमत्थिण ।।

शो० पा०

जहिं जहिं फुरणु फुरइ सो सअलउ परमेसरु भासइ महु अमलउ ।
अत्ताणउ सो चिय परमत्थिण इउ जाणहु कज्जु परमत्थिण ।।

सं० छाया

यत्र यत्र स्फुरणं स्फुरति स सकलः परमेश्वरः भासते मह्यम् अमलः ।
आत्मा स एव परमार्थेन इदं जानीथ कार्यं परमस्ति न ।। २ ।।

।। इति द्वितीयमाह्निकम् ।।

उक्त कथन का निष्कर्षार्थ यह है कि, निरंशभाव से विश्वव्याप्ति, अनवच्छिन्न रूप से विश्वोत्तीर्णता और विश्वमयी संवित्ति के समुदय रूप से शिव स्वयं प्रकाशित हो जाता है। इस सम्बन्ध में प्राकृत श्लोक कहता है कि,

'जो कुछ जहाँ जहाँ, सर्वत्र जो संस्फुरण हो रहा है, उन सब में आत्यन्तिक रूप से निर्मल परमेश्वर ही हमें भासित हो रहा है। यह निर्धारण कर लेना चाहिये कि, परमार्थ रूप से शिव ही आत्मा है। इसके अतिरिक्त अर्थात् इससे बढ़कर कोई विधि या कार्य नहीं है ।। २ ।।

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचित
डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीरविवेक भाषाभाष्य संवलित
तन्त्रोच्चय का द्वितीय आह्निक पूर्ण ।। २ ।।

१. त० सा०, आ० २ पृ० ३९

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलिते

तन्त्रोच्चये

तृतीयमाह्निकम्

कस्यचित्तु परमेश्वरप्रकाशस्तदायायां स्वातन्त्र्यशक्तौ निज्ञतायां प्रकाशते। यदिदं विश्वं तत् प्रकाशते तावत्। बहिः प्रकाशितमपि तु तदवश्यं परामृश्यते। परामर्शेन विना प्रकाशितमप्यप्रकाशितकल्पम्, यतः परामृश्यते च न बहिः परामर्शावसरेऽन्तर्मुखताल्लासस्य संवेदनात्। अन्तश्चेत् परामृश्यते

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचित

डॉ० परमहंसमिश्र कृत-नीर-क्षीर-विवेक हिन्दी भाष्य संवलित

तन्त्रोच्चय

तृतीय आह्निक

किसी सौभाग्यशाली साधक को परमेश्वर का यह प्रकाश शैवी स्वातन्त्र्य शक्ति से सम्प्रज्ञात हो जाने पर स्वयं प्रकाशित हो जाता है। उसे यह अनुभव होता है कि, यह समस्त विश्व प्रसर प्रकाशित है, या इस रूप में ही परमेश्वर प्रकाशित हो रहा है। यद्यपि यह बाह्य प्रसार है फिर भी यह परामर्श का ही विषय है, सविमर्श है। परामर्श के विना प्रकाशित भी अप्रकाशित कल्प ही है। जो परामृश्य है, उसे बाह्य कैसे कहा जा सकता है। जिस समय परामर्श होता है, उस समय तो अन्तर्मुखता का ही उल्लास रहता है। आन्तर संवेदन अन्तर्मुख स्थिति में ही होता है। ऐसी अवस्था में इसे बाह्य कैसे कहा जाय ?

यदि आन्तर अन्तराल के आकाश में यह विमर्श का विषय बन रहा है, तो यह निश्चित है कि, यह वहाँ स्फुरित हो रहा है। यह इसका

तत्रैवैतत्स्फुरति बहिरपि प्रकाशमानम् । अन्यथा प्रकाशितं न परामृष्टं स्यात्, परामृष्टं च न प्रकाशितं भवेत् । ततश्च प्रकाशपरामर्शत्युभयमाप्यान्ध्यं भवेत् । एवं च प्रकाशपरामर्शस्वभावमेव संवेदनम् । तदभिन्नाश्च भावाः परामर्शबलाद्भिन्ना इव प्रतीयन्ते ।

परामर्शात्मिका च परमेश्वरस्य पञ्चाशद्वर्णदेवतामय्यकृत्रिमा संकेतनिरपेक्षा शक्तिरिति स्वशक्त्यैव ममान्तर्विश्वं भाति । देवदत्तोऽपि नामाहमेव संविद्रूपः । तदीयशरीरसुखदुःखादि तु मदीयवद् घटादिवच्च संवेदनदर्पणान्तर्भातीति सिद्धोऽहं स्वातन्त्र्यशक्तिभासितविश्वाभासः परमेश्वरो विभुरेको नित्य इति मुहुर्मुहुर्भावयन् स एव । यतः —

एक वैशिष्टय ही है कि, अन्तःपरामृश्य होते हुए भी बाह्यभाव से परिदृश्यमान अनुभूत हो रहा है। यह निर्धारित सत्य है कि, विना किसी प्रकाश के प्रकाशित पदार्थ का परामर्श हो ही नहीं सकता । इसी तरह जो परामर्श का विषय है, वह अन्तः स्फुरित ही हो सकता है । वह बाह्य रूप से कैसे प्रकाशित हो सकता है ?

ऐसा होने पर प्रकाश और परामर्श इन दोनों के अस्तित्व पर सन्देह की काली छाया पड़ जायेगी । इस स्थिति में इस वैचारिक निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि, संवेदन का स्वभाव ही प्रकाश और परामर्श संवलितत्व है । इनसे अर्थात् प्रकाश और परामर्श अर्थात् सविमर्श प्रकाश से तादात्म्य भाव से स्फुरित सभी अभिन्न भाव परामर्श शक्ति के बल से ही भिन्न की तरह प्रतीत होते हैं । वस्तुतः वे भिन्न नहीं हैं ।

सारा विश्वश्वाङ्मय पचास वर्णों वाली मातृका और मालिनी शक्ति में ही अन्तः परामृष्ट है । इनके एक-एक वर्ण देवता रूप हैं । इसी तरह मातृका को पञ्चाशत् वर्ण देवतामयी कहते हैं । मालिनी भी ऐसी ही है । यह परमेश्वर शिव की वर्ण देवतामयी अकृत्रिमा अर्थात् स्वाभाविकी शक्ति है ।

[1]अन्तर्विभाति सकलं जगद्,

क्व ?

आत्मनीह

स्वप्रकाशे। कथम् ?

यद्वद्विचित्ररचना मुकुरान्तराले

यह सारी की सारी परपरामर्शमयो मानी जाती है। यह संकेत निरपेक्ष शक्ति सब में है। सर्वत्र है।

स्वात्म शक्ति से ही मेरा अन्तः परामर्श इस विश्व रूप में भासित हो रहा है। बाहर दीख पड़ने वाला देवदत्त देवदत्त नहीं है। वह मैं ही हूँ। मेरी संविद् ही बाहर देवदत्त बनकर भासित हो रही हैं। उसका शरीर, उसके सारे सुख दुःख आदि भोग भी मेरे ही समान अथवा बाह्य अवभासित घड़े के समान संवेदन के दर्पण में अवभासित हो रहे हैं। इससे यह सिद्ध है कि, 'अहं' अर्थात् मैं स्वातन्त्र्य शक्ति के बल पर अवभासित विश्वरूप हूँ। परमेश्वर ही हूँ। सर्वसमर्थ नित्यपरमेश्वर के अतिरिक्त मेरा कोई अस्तित्व नहीं है। इन्हीं विचारों का मुहुर्मुहुः भावन अर्थात् निरन्तर अनवरत चिन्तन करना चाहिये। 'सोहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा' रूप इस तुलसी विनिःसृत मन्त्र का सतत परामर्श ही यह निश्चित अनुभव करा देता है कि, यह सब वही है। क्योंकि कहा गया है कि,

'अखिल विश्वात्मक प्रपञ्च अनुत्तर अन्तःविमर्श शक्ति में भासित है।'

यह पूछने पर कि, यह विमर्श कहाँ सम्पन्न हो रहा है ? शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

स्वयं स्वात्म में ही यह भासित है। पुनः इस जिज्ञासा पर कि, स्वात्म तो प्रकाशमय है। इस स्वात्म प्रकाश में ही क्यों ? इसका उत्तर दे

---

१. त० सा०, आ० ३ पृ० ८७

एतेन ग्राह्य-ग्राहकभावः कार्यकारणभावो नाश्यनाशकभाव आधार्याधारभाव इत्यादि सर्वं तत्रान्तर्भासमानं समर्थितम् । विचित्रावभासस्य मुकुरेऽप्यस्य दृष्टस्य मुकुराद् भेदानुपपत्तेः ।

बोधस्य त्वेष विशेषः —

बोधः परं निजविमर्शरसानुवृत्त्या विश्वं परामृशति

तत एव स्वप्रकाशः स्वतन्त्रश्च ।

नो मुकुरस्तथा तु ॥

अन्यं प्रति हि स प्रकाश्यः परामर्शनीयश्चेति परतन्त्रो जडः । आह च —

रहे हैं—मुकुर के अन्तराल में विचित्र-विचित्र रचनायें अवभासित होती हैं। इस अवभासन का कारण जानना चाहिये।

१. मुकुर में रूप-नैर्मल्य होता है। उसमें रूप का ग्रहण होता है। गन्ध, स्पर्श और शब्द आदि का ग्रहण नहीं होता। शास्त्र यह मानते हैं कि, ग्रहण करने वाला ग्राहक है। बिम्बग्राह्य है। अतः यहाँ ग्राह्य-ग्राहक भाव है। यही बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव भी है।

२. ग्रहण करना एक प्रक्रिया है। प्रतिबिम्ब उसका कार्य है। बिम्ब कारण है। यहाँ कार्यकारण भाव का भी प्रकल्पन हो रहा है। कारण नष्ट होने पर कार्य नष्ट होता है किन्तु कार्य नष्ट होने पर भी कारण नष्ट नहीं होता।

३. नाश होना वस्तु का धर्म है। नाशक कारण होता है। प्रतिबिम्ब नाश्य है। मुकुर में उत्पन्न विचित्र रचनायें नाश्य हैं। बिम्ब का अभाव कर देना या मुकुर उलट देना नाशक है। अतः यहाँ नाश्य नाशक भाव भी है।

४. आधार्याधार भाव भी यहाँ प्रकल्पित है। मुकुर आधार है। आधार पर आधृत बिम्ब का प्रतिबिम्ब है। आधार आत्मा है। उसमें अवभासित सकल जगत् आधार है। अतः आधार्याधार भाव भी है।

मा० पा०

संवेअण निम्मल दप्पणाम्मि सअलं फुरत्त निअसारं ।
आमरिसण रस सरहस विमट्टरूअं सइं भाइ ॥ १ ॥

इअ सुणअ विमलमेणं निज अप्पाणं समत्थवत्थमअं ।
जो जोअय सो परभैरइ वोब्ब परणिव्वइं लहइ ॥ २ ॥

शो० पा०

संवेअण-णिम्मल-दप्पणाम्मि सअलं फुरंत-णिअ-सारं ।
आमरिसण-रस-सरहस्स-विमट्ट रूअं सअं भाइ ॥ १ ॥

ऐसे अन्यान्य जन्यजनक भाव आदिकों के समर्थन भी इस उदाहरण से हो रहे हैं। यह तो मुकुर का नैर्मल्य है, जिसमें रूप भासित होता है। यह रूप नैर्मल्य है। शैवनैर्मल्य रूप स्वात्मदर्पण में रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्द सभी अवभासित होते हैं। यही जगत् का अवभास है। यही स्वात्मप्रकाश का वैशिष्ट्य है कि, इस नैर्मल्य में समग्र विश्व अवभासित हो रहा है। यही कह रहे हैं—

बोध अपने विमर्श रस की अनुवृत्ति अर्थात् शाश्वत परामर्श रूप परमानन्द रसास्वाद के आह्लाद की सतत अनुभूति के कारण या आधार पर विश्व का परामर्श करता रहता है। इसीलिये स्वात्मसंविद्वपुष् परमेश्वर स्वप्रकाश और स्वतन्त्र माना जाता है।

इसी सन्दर्भ को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि,

मुकुर में यह शक्ति नहीं। वह स्वप्रकाश नहीं। वह स्वतन्त्र भी नहीं। पृष्ठभाग के विशेषद्रव्य के लेप में मात्र से रूप-नैर्मल्य वहाँ आ जाता है। इतना होने पर भी बिम्बप्रतिबिम्बवाद का वह एक मुख्य उदाहरण है। वह अन्य के प्रति प्रकाश्य है। वह परामर्शनीय है। इसलिये वह परतन्त्र और जड़ है ॥ १ ॥[1]

---

१. तन्त्रसार आ० ३, पृ० ८७।

इअ सुणिअ विमलमेणं णिअ-अप्पाणं समत्यवत्थुमअं ।
जो जोअइ सो पर-भइरवो व्व पर-णिब्बुइं लहइ ॥ २ ॥

सं० छा०

संवेदन-निर्मल-दर्पणे सकलं स्फुरन्निजसारम् ।
आमर्शनरससरहस्य-विमृष्टरूपं स्वयं भवति ॥ १ ॥

इति श्रुत्वा विमलमेनं निजात्मानं समस्तवस्तुमयम् ।
यः पश्यति स परभैरव इव परनिर्वृतिं लभते ॥ २ ॥

त० सा० ३

॥ इति तृतीयमाह्निकम् ॥

मूल प्राकृत में कहा भी गया है कि,

संवित्तिरूप निर्मल स्वात्मदर्पण में सारा का सारा स्वात्मसार निष्कर्ष रूप विश्वविस्तार स्फुरित हो रहा है। परामर्श का आनन्द-रसास्वाद एक आह्लादात्मक रहस्य है। इस आनन्दवादिता के सन्दर्भ में जो कुछ भी परामृष्ट है, वह सत्य ही है। वही सत्य अवभासित होता है। विश्वात्मकता प्रकाश के प्रसर का वह रूप है, जो निर्मल शिवप्रकाश रूप, स्वात्म में शाश्वत भासित है ॥ १ ॥

इस प्रकार समस्त विश्वमय स्वात्म परामर्श-रहस्यरसानुभूति के द्वारा जो साधक स्वात्मपरात्म में तादात्म्य का अनुसन्धान कर सत्यतत्त्व का दर्शन करता है, वह सबसे श्रेष्ठ आनन्द को उपलब्ध हो जाता है ॥ २ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्त विरचित

डॉ० परमहंस मिश्र कृत नीर-क्षीर-विवेक

हिन्दी भाषाभाष्य संवलित

तन्त्रोच्चय का तृतीय आह्निक पूर्ण ॥ ३ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलिते

तन्त्रोच्चये

चतुर्थमाह्निकम्

यस्य त्वित्ययमविकल्पक समावेशो नोदेति स सविकल्पकभावनया सत्तर्करूपया संस्कुरुते। विकल्पश्च संसारोचितेभ्यो विकल्पेभ्यो विपरीत-स्वभावश्चेत्, प्रबन्धेन प्रवृत्तो भवति, तत्सा पारमेश्वरी शुद्धविद्या शक्तिरेव, न तत्र विकल्पतया शङ्कितव्यम्। तथाहि—

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचित

डॉ० परमहंसमिश्र कृत नीर-क्षीर-विवेक हिन्दी भाष्य संवलित

तन्त्रोच्चय

का

चतुर्थ आह्निक

विकल्पों से समन्वित सोच की स्थिति सविकल्प समावेश दशा मानी जाती है। विकल्पों के समाप्त हो जाने पर अविकल्प या निर्विकल्प समावेश दशा में प्रवेश हो जाता है। शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

जिस साधक में इस सर्वोच्च आनन्दोपलब्धिमय शाम्भव समावेश दशा का उदय नहीं होता है, उसके संस्कार की एक ही विधि है। उसकी सविकल्पक भावना सत्तर्कमयी बन जाय। सत्तर्क सच्चा तर्क होता है। एक तरह का यह संस्कृत विकल्प दुर्भेद्य भेदवाद को काटने वाला कुठार है। जागतिक तर्कों से विलक्षण तर्क ही सत्तर्क है। यह कहा जा सकता है कि,

[1]यो निश्चयः पशुजनस्य जडोऽस्मि

देहमात्रस्वभावोऽहमिति मत्वा, तथा

कर्मसंपाशितोऽस्मि ।

देहव्यतिरिक्तेऽपि सत्यात्मनि । तथा

मलिनोऽस्मि,

यह पशुत्व को नष्ट करने वाली कामधेनु है। पाशबद्धता को ध्वस्त करने वाला वैचारिक वज्र है यह सत्तर्क ।

वस्तुतः इन्हीं गुणों के कारण सत्तर्क संसारोचित विकल्पों के विपरीत माना जाता है। यह विशिष्ट कल्प होता है। यह प्रबन्ध से प्रवृत्त होता है। प्रबन्ध शब्द यहाँ पारिभाषिक अर्थसत्ता से संवलित रूप में प्रयुक्त है। प्र अर्थात् विशिष्ट बन्ध अर्थात् योजना, एक अनुकल्पमय प्रकल्पन । एक प्रकार का योग। गुरु के प्रति जिगमिषा उत्पन्न करने वाला एक भावबोध। इन समस्त संभावनाओं के साथ ही साधक के उत्कर्ष का बीज बन जाता है। यही प्रबन्ध प्रवृत्ति कहलाती है।

सच कहा जाय तो यह वृत्ति पारमेश्वरी कृपा ही होती है। शास्त्रकार इसे शुद्ध विद्या कहते हैं। शुद्धविद्यारूपा एक योग शक्ति! इसमें संसारोचित वैकल्पिकता को आशङ्का शेष नहीं रह जाती। जैसा कि शास्त्र कहता है कि,

आणव मल से आवृत अणु पुरुष को पशु कहते हैं। ये पशुजन कहलाते हैं। इनमें देहभाव का स्वभाव संपुष्ट रहता है। देहाध्यास ग्रस्त ये देह को ही 'अहं' रूप से देखते हैं। यही पशुभावमयी पाशव जडता मानी जाती है। इस जडता से पशुभाव ग्रस्त प्राणी अपने को जड मान लेता है। वह कहता है कि, मैं जड हूँ। पशुजनों की यह सोच उसे ले डूबती है। कभी भी उसके मन में चेतना की लहर नहीं उठती।

---

१. तन्त्रसार आ० ४ पृ० १४७।

क्षोणोऽथ कर्मस्वपि मलयोगात्, तथा,

परेरितोऽस्मि ॥

मल प्रक्षयोऽपि मेऽनादिशिवप्रसादात् । इत्येवं लौकिको वा धार्मिको वा रुद्रभूतो वा सिद्धान्त-दर्शनमुक्तो पशुरेव । स च तथाविधाममुकामुकविकल्प-दार्ढ्यबलात् । अतश्च—

इत्येतदन्यदृढनिश्चयलाभसिद्ध्या
सद्यः पतिर्भवति विश्ववपुश्चिदात्मा ॥ १ ॥

यही दशा कर्म से विपाशित दशा को भी होती है । ऐसा कर्मविपाशा का भाव उसे भ्रान्ति से भर देता है । मुक्ति रूप अनुग्रह कर्त्ता अब संकोच ग्रस्त और कर्म की क्रूर परम्पराओं से अपने को कीलित मान लेता है । उसे अपनी मलिनता तो दीख पड़ती है किन्तु अपना वास्तविक रूप परमेश्वर अदृष्ट ही रह जाता है । कर्म के कला, विद्या, काल, राग और नियति के कर्कश आघात से आहत रहता हुआ मैं दूसरे अननुकूल तत्त्वों से प्रेरित हूँ । इस प्रकार के असंस्कृत विकल्पों से प्रभावित रहकर अपनी सत्ता को विस्मृत कर देता है[1] ।

किन्तु इनके उन्मीलन के क्षणों में अर्थात् संस्कृत विकल्पों के उदित होने पर उसका स्वरूप ही बदल जाता है । इन असंस्कृत विकल्पों से अन्य अर्थात् संस्कृत विकल्पों के उदय होने पर एक नये निश्चय का जन्म हो जाता है । उसे यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि, मैं वह हूँ, यह नहीं हूँ । यह निश्चय ही जडत्व के विपरीत होता है ।

इस निश्चय का लाभ यह होता है कि, साधक वैकल्पिकता की भीषामयी भूमि से ऊपर उठाकर भैरवभाव की भव्यता में विभुता का स्पर्श पा लेता है । अब वह चिदात्मा के चिरन्तन चैतन्य की अर्चियों से रोचिष्मान् बन जाता है । देहाध्यास ग्रस्त अहंकृति का पुतला सा पशु अपनी

---

१. तन्त्रसार आ० ४ ।

नाहं जडः संविन्मात्रस्वभावत्वात् । न मम कर्माणि पाशाः, तानि मम प्रत्युत स्वातन्त्र्यात् क्रियाशक्तिविजृम्भामात्रम् । नाहं मलिनः, मलो हि मम स्वात्मप्रच्छादनात्मिकी क्रीडा । नाहं परेरितः । न मत्तः परः कश्चिदस्ति, पूर्णसंविदेकपरमार्थत्वादित्येव ।

यथा यथा निश्चय ईदृगाप्यते
तथा विधेयं परयोगिना सदा ।
न वस्तुयाथात्म्यविहीनया दृशा
विशङ्कितव्यं शिशुदेशना—गणैः ॥ २ ॥

पशुता से उन्मुक्त होकर तत्क्षण विश्वमयता को उपलब्ध हो जाता है । अब वह पशु से पशुपति कहलाने का अधिकारी हो उठता है ॥ १ ॥

साधना में रत साधक के निश्चय में दृढता का आधान होने लगता है । इस निश्चय में जितनी ही जितनी दृढता आने लगती है, उतनी ही उतनी उसकी परिष्कृति होती जाती है । अब वह गुरु शास्त्रानुशासन के अनुसार ऐसी प्रक्रिया अपनाये, जिससे उसका पथ प्रशस्त हो सके । शास्त्रकार यह विधि क्रिया का प्रयोग कर उसे कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर कर रहे हैं । वे कह रहे हैं कि,

परभाव में युक्त योगी का अवधान सर्वाधार धूर्जटि गङ्गाधर में होना चाहिये । उसकी सांसारिकता के दुष्प्रभाव से उन्मुक्ति होनी चाहिये । उसे सोचना चाहिये कि, विश्ववस्तु का यथातथ स्वरूप क्या है । याथात्म्य-विहीन वस्तु दर्शन पशुता के स्तर पर होता है । कभी भी किसी भी अवस्था में ऐसी हेय दृष्टि को अपना कर वह भेदभूधर के भारतले दबा न रह जाय, उसकी साधना ध्वस्त न हो जाय, इसके लिये उसे सावधान रहना चाहिये । वस्तु के यथास्वरूप शैवी शक्ति के प्रतिबिम्ब भाव का दर्शन अभेद भूमि पर अवस्थित होकर विश्वात्म शिव के सार्वत्रिक उल्लास की अनुभूति से भावित

तेन यत्किञ्चित्कुर्वता ईदृङ्निश्चयलाभेऽवधातव्यम् । आह च—

मा० पा०

जह जह जस्सु जहिं चिव पप्फुरइ अज्जवसाउ ।
तह तह तस्सु तहिं चिव तारिसु होइ पभाउ ॥ ३ ॥

हतं मलिणउ हतं पसु हतं आ
　　अह　सअलभावपडलवत्तिरित्तउ ।
इअ दढनिच्छअ णिअ लिअहिअहह
　　फुरइणामु कह जिस्स परतत्त्वउ ॥ ४ ॥

शो० पा०

जह जह जस्सु जहिं चिय पफुरइ अज्झवसाउ ।
तह तह तस्सु तहिं चिय तारिसु होइ पभाउ ॥ ३ ॥

रहना चाहिये। बालक वही है, जो अबोध है। वस्तु को भेदवादी दृष्टि से देखना सुनना और कहना 'शिशु देशना' कही जाती है। किन्तु साधक को कभी भी भेद बुद्धि के दुष्प्रभाव में आकर किसी प्रकार को शङ्का रूपी कालुष्य कलङ्कपङ्क में पतित नहीं होना चाहिये। वरन् अभेद भूमि पर प्रतिष्ठित होकर आराध्य को अनुदर्शन में अजस्र अग्रसर होना ही दृढ़ निश्चय लाभ को सिद्धि मानी जाती है ॥ २ ॥

इसके बाद प्राकृत के श्लोक की मातृकायें हैं और उनकी संस्कृत छाया है। उनका भाव इस प्रकार है—

अनवरत साधना संलग्नता और समयाचार पालने की प्रखर प्रक्रिया और सक्रियता का नाम ही अध्यवसाय कहलाता है। शास्त्रकार साधक को सावधान करते हुए कह रहे हैं कि, जितनी ही जितनी शैवतादात्म्य भाव की अभिवृद्धि का स्फुरण होता रहता है, उतना ही उतना उसमें शैवमहाभाव विकसित होता जाता है। यहाँ तादृश शब्द रहस्य गर्भ प्रयोग का प्रतीक

हउं मलिणउ हउं पसु हउं आअह
सअल-भाव-पडल-वइरित्तउ ।
इअ दढ-णिच्छअ-णिअलिअ-हिअअह
फुरइ णामु कह जसु परतत्तउ ॥ ४ ॥

सं० छा०

[1]यथा यथा यस्य यत्र एव प्रस्फुरति अध्यवसायः ।
तथा तथा तस्य तत्र एव तादृशः भवति प्रभावः ॥ ३ ॥
अहं मलिनः अहं पशुः अहम् अस्य
सकल-भाव-पटल-व्यतिरिक्तः ।
इति दृढनिश्चय-निगडित-हृदयस्य
स्फुरति नाम कथं यस्य परतत्त्वम् ॥ ४ ॥

बन गया है। वह जिसमें समावेश प्राप्त करना है, अभी प्रत्यक्ष नहीं है, अदृश्य है। अदृश्य उपमा कैसे दी जाय। अतः यहाँ सर्वव्यापी विभु के ही सदृश प्रभाव ही प्रकल्पित करना चाहिये ॥ ३ ॥

मैं मलिन हूँ अर्थात् मल रूप कलादि आवरणों से आवृत अणु पुरुष हूँ। पाशबद्ध जैसे पशु होता है, उसी तरह भेदात्मक अविद्या जन्य विकल्प पाशों जकड़ा हुआ जड़ जीव मात्र ही हूँ और सकल रूप सार्वात्म्य के महाभाव से अलग संकोचों से संकुचित नगण्य प्राणी हूँ; इस प्रकार जडाध्यास रूप दुराग्रह पूर्ण मूढ सोच से जिसका हृदय बुरी तरह प्रभावित हो चुका है, उसके हृदय में परतत्त्व का स्फुरण नहीं हो सकता।

यह पद्य सिद्ध साधक की भूतकालीन अनुभूतियों का चित्रण है। अपनी आज की शिखरारूढ उत्कर्षमयी दशा में अवस्थित उस दशा की स्मृति की कौंध को परिलक्षित कर सोचता है कि, उस समय मेरे हृदय में

१. तं० सा० आ० ४ पृ० १४८।

मा० पा०

पर सिव तरणिकिरण दढ पातरि ।
अमिअ हिअअ कमल रअ महुरि ॥ ५ ॥
अणि अइ सुन्नत परिमल रोणु ।
कमलणि हंत सिरिणु महुणि ॥ ६ ॥
विलसअ तत्तरसुणि अतत्ति विसइ ।
रीहुरि अविपनिपला इअर अणि तच्छवि मुइरि ॥ ७ ॥

शो० पा०

पर-सिव-तरणि-किरण-दढ पत्तरि ।
अमिअ-हिअअ-कमलि रअ-महुअरि ॥ ५ ॥

परतत्त्व क्यों नहीं स्फुरित हो रहा था। आज मैं निरावरण विभु की भैरवभावमयी विभूति का अधिकारी जो बन सका, इसका श्रेय साधना की सतत सक्रियता को जाता है ॥ ४ ॥

कमल पर सूर्य की प्रकाशमयी रश्मियों से जैसे उज्ज्वलता फूट पड़ती है और वह खिल उठता है, उसी तरह परम शिव के दृढशक्तिपात रूपी प्रकाश रश्मियों से अनुत्तर को आत्मसात् करने वाले साधक का हृदय कमल विकसित हो जाता है ॥ ५ ॥

परिणामतः चिदैक्य विमर्श का परिमल रहस्यबोध की रमणीयता बन कर साधक को धन्य बना देता है। प्राकृत के इस श्लोक में तन्त्रसार में उल्लिखित और कश्मीर सिरीज में प्रकाशित प्रति में पर्याप्त अन्तर है। तन्त्रसार में "दृढपात विकासिअ हि अ अकमल सर हस्स फुरि अणिय अ इ सुन्लर परिमल बोहक रमए" पाठ है। वही अर्थ ऊपर लिखित है ॥

इस ग्रन्थ में "ढढ पातरि अमि अहि अअकमलि रअ मभुअरि' आदि पाठ है। इसके अनुसार संस्कृत छाया और भाष्यार्थ में भी अन्तर आ जाना स्वाभाविक है। इसके अनुसार,

जणिअइ सुन्नउ परिमल-रेणु ।
कमलि लिहंत सिरिणं महुणि ॥ ६ ॥
विलसइ तत्त-रसु णिअ-तत्त विसइ ।
पलाअइ रअणिअ लच्छवि मुइरि ॥ ७ ॥

सं० छा०

[1]परशिवतरणिकिरणदृढपत्रे ।
अमृतहृदयकमले रत-मधुकरे ॥ ५ ॥
जन्यते शून्यपरिमलरेणुः ।
कमले स्निह्यत्ति [श्रियं नु] मधुनि ॥ ६ ॥
विलसति तत्त्वरसः निज-तत्त्व-विषये ।
पलायति रजन्यां लक्ष्यते मुञ्चति ॥ ७ ॥

॥ इति चतुर्थमाह्निकम् ॥

साधक का हृदय कमल अमृत से ओतप्रोत है। कमलदलों पर बैठकर मघु पायी मधुकर मधुपान में रत है। इस हृदय कमलदल पर परम शिव रूपी सूर्य की रश्मियों का प्रकाश पड़ता है, जिससे वे दृढ अर्थात् परिपुष्ट और आकर्षक हो गये हैं। उन पर शून्य अर्थात् 'उन्मना' की पावन परिमल की रमणीयता है। वहीं शाक्त अमृत के लेहन का सौविध्य भ्रमर को उपलब्ध हो रहा है ॥ ६ ॥

स्वात्मतत्त्व के सन्दर्भ में ही परतत्त्व विलसित होने लगता है। रजनी के अन्धकार का मालिन्य पलायमान हो जाता है और वह परमात्मतत्त्व को लक्षित कर लेता है। परिणामस्वरूप मुक्ति हस्तामलकवत् हो जाती है ॥ ७ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तविरचित
डॉ० परम हंस मिश्र कृतनीर-क्षीर-विवेक भाष्य
संवलित तन्त्रोच्चय का
चतुर्थ आह्निक सम्पूर्ण ॥ ४ ॥

1. तं० सा० आ० ४ पृ० १५० ।

श्रीमन्महामाहेश्वरचार्याभिनवगुप्तविरचिते
डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलिते

तन्त्रोच्चये

पञ्चममाह्निकम्

एवमनन्तरेण शाक्त उपायो दर्शितः। यस्तु सत्तर्केण न निर्मलस्वभावमासादयति तस्य ध्यानादिकमुच्यते। तत्र—

स्वप्रकाशं समस्तात्मतत्त्वंमात्रादिकं त्रयम्।
अन्तःकृत्य स्थितिं ध्यायेद् हृदयानन्दधामनि॥ १॥

श्री मन्महामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्त विरचित
डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाष्य संवलित

तन्त्रोच्चय

का

पंचम आह्निक

इन विगत आह्निकों में शाक्त उपाय परिभाषित और प्रतिपादित किया गया है। जो साधक सत्तर्क के माध्यम से निर्मल स्वभाव की प्राप्ति नहीं कर पाता अर्थात् उसकी स्वाभाव्य भव्यता का उत्कर्ष नहीं हो पाता, उसके लिये ध्यान आदि की प्रक्रिया का उपदेश कर रहे हैं। इस सन्दर्भ में दो बिन्दुओं पर पहले ध्यान देने की बात कर रहे हैं—

१. स्वप्रकाशमय समस्त आत्मतत्त्व को हृदय के आनन्द धाम में अन्तर्मुखीन होकर ध्यान करे।

२. मात्रादि त्रिक का भी इसी प्रकार ध्यान करना चाहिये।

इन दोनों तथ्यों पर क्रमशः विचार करना चाहिये। शास्त्र यह उद्घोषित करता है कि, शिव स्वतन्त्र और प्रकाशवपुष् परमेश्वर हैं। अतएव स्वयं प्रकाशमान है। उनमें परकर्तृक प्रकाश नहीं वरन् वह स्वयं प्रकाश है। परकर्तृक प्रकाश को उपाधि कहते हैं।[१] वे ही समस्त आत्मतत्त्व रूप में स्वयम् उल्लसित हैं। इसी रहस्य का अनुदर्शन हृदय धाम में साधक करता रहता है। यह ध्यान की पहली प्रक्रिया है, जिसे साधक को सिद्ध करना होता है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया मात्राओं के त्रिक का ध्यान करने की है। मात्रायें क्या हैं? इनका त्रिक क्या है? इसे जानना चाहिये। शास्त्र कहता है कि,

१. प्राण प्रमाण है। अपान मेय और अग्नि शिव प्रमाता है। व्यक्ति सत्ता में ये तीनों मात्रायें रहती हैं।

२. उल्लास ऐक्य और संहृति रूप सृष्टि, स्थिति और संहार को भी तीन मात्रायें ध्यातव्य हैं।

३. छः आनन्दभूमियों का सर्वोच्च आनन्द जगदानन्द है। इस तरह इसकी सात भूमियाँ होती हैं। आनन्द की ये भूमियाँ सात प्रकार की विश्रान्तियाँ हैं। उनका १. प्रथम अनुसन्धान उन्मिषद्रूप होता है। २. उन्मिषित रूप होता है। और ३. तीसरा संघट्टात्मक होता है। ये भी तीन मात्राओं के त्रिक रूप में जानी जाती हैं।

४. अग्नि, सूर्य और सोम की अनुसन्धियों का त्रिक भी ध्यातव्य माना जाता है। देह, प्राण और बुद्धि की मात्रायें ही इनके मूल में अवस्थित हैं।

इस प्रकार समस्त आत्म तत्त्व और इन मात्राओं की स्थिति का ध्यान हृदय धाम में करना चाहिये। ध्यान बुद्धि रूप ही होता है। इस प्रकार बुद्धि में जागृत विवेक द्वारा स्वबोध के महाभाव में प्रवेश प्राप्त हो जाता है॥ १॥

---

१. श्रीत० आ० ३।१०५-१०६

तद् द्वादशमहाशक्तिरश्मिचक्रेश्वरं विभुम् ।
व्योमभिर्निःसरद् बाह्ये ध्यायेत् सृष्टयादिभासकम् ॥ २ ॥

तद् ग्रस्तसर्वबाह्यान्तर्भावमण्डलमात्मनि ।
विश्राम्येत् पुनरप्येवमित्यभ्यासात् प्रथात्मनः ॥ ३ ॥

इति ध्यानमुक्तम् । तच्च बुद्धिलक्षणेनाणुना भेदनिश्चयात्मनैव कृतमित्याणवम् । कश्चित् प्राणोच्चारणक्रमेण स्वरूपलाभमेति, तत्र स्वभावे पूर्वं बाधात्मनि आक्रान्त्यां प्राणस्तिष्ठति । ततोऽसौ प्राण उल्लसति । मेयं पूरयति । तत्रैकीभवति । सोऽयमुपसंहर्तुमारभते । संहृत्य पूर्णीभवति । षडेता आनन्दभूमीरनुसन्धत्ते । इति सप्तविश्रान्तयः । प्रत्येके च न विश्रान्त्यावभासेन । तस्या विश्रान्तेर्यत् तद्रूपं तमुन्मिषद्रूपमुन्मिषितरूपं सङ्घट्टात्मकीभूतमिति त्रित्वम् । तदेव विसर्गत्रयं व्यक्तादिलिङ्गत्रयं च । तत्रापि प्रत्येकं प्रवेशतारतम्यादानन्द

द्वादश महाशक्तियों का उल्लास कालीतत्त्व में होता है । वर्ण रूप में द्वादश उल्लास 'अ' से 'ऐ' तक पूर्ण हो जाता है । 'ऐ'कार वृद्ध त्रिकोण और विश्व को विश्रान्त करने वाला इच्छा प्रधान अनुत्तरतत्त्व है । इसकी कलना का चित्रण तन्त्रसार में द्रष्टव्य है ।[1] इन शक्तियों की रश्मियों से संवलित चक्रेश्वर रूप विभु परमशिव ही अनुत्तरतत्त्व ('अ'कार) रूप परम शिव हैं । इन्हीं से मुख कण्ठ आदि से हम समस्त वाङ्मय को निकलते हुए अनुभव करते हैं, उसी प्रकार यह सारा भाववर्ग परम शिव से ही विनिःसृत होते हुए अनुसन्धान करना चाहिये । इस तरह शाक्त अन्तर्विलास बाह्य विलास रूप में परिणत हो जाता है ॥ २ ॥

यह सर्वदा ध्यातव्य है कि, उसी परमतत्त्व से ग्रस्त यह सारा अन्तर और बाह्य विलासोल्लास भी है । इन सबका स्वात्म में भी नादात्मक अन्तर्गर्भ रूप में ध्यान और अभ्यास करना चाहिये । स्वात्म विश्रान्ति का

१. तन्त्रसार आ० ४ पृ० १३४-१३५ शक्ति प्रकाशन (वाराणसी) १९९

उद्भवः कम्पो निद्रा घूर्णिरित्यवस्थाः, उत्तरोत्तरव्याप्त्युदयात् । अयश्च प्रधानं विसर्गा योगिनीति, हृदयानन्द-सम्प्रदायलभ्या इत्यष्टोत्तरशतभेदेयमुच्चारण-भूमिः । तत्रैव श्रीसृष्टिसंहारबीजोदय इत्यलम् ।

एवं बुद्धिप्राणद्वारेण यः प्रवेशः स आणवः । प्रविष्टस्तु शाक्तशाम्भव-धारामेवाधिशेते । आह च—

मा० पा०

जहु जो णिब्बइ धातु उइ रविससिवहण सउद ।
आहि दे अणुग आणपहि मच्चिअउल्ल मिउद ॥ १ ॥

भावन, योगी साधक को स्वात्म स्वातन्त्र्य की प्रथा से प्रथित कर देता है[1] । यह एक प्रकार बाह्य विलास का उपसंहार भी माना जा सकता है । यह ध्यान की प्रक्रिया का माहात्म्य है । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि, ध्यान समावेश से भी स्वात्मबोधात्मक मुक्ति सम्भव है ॥ ३ ॥

इस प्रकार इन तीनों श्लोकों में ध्यान प्रक्रिया के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है । ध्यान बुद्धि के माध्यम से सम्पन्न होता है अर्थात् बुद्धि रूप आणव लक्षण रूप ध्यान प्रक्रिया भी भेद के निश्चय में ही अपनी शक्ति की वृत्ति को परिलक्षित करती है । इससे यह सिद्ध होता है कि, ध्यान भी आणव भाव है । अधिकांश साधक प्राणोच्चार क्रम से स्वरूप को उपलब्ध हो जाते हैं । प्रश्न उपस्थित होता है कि यह 'स्व' भाव क्या है ? और प्राण कहाँ रहता है ? प्राणोच्चार के पहले प्राण संविद् 'स्व' भाव रूप बोधकी अधिकृत सीमा में अपने परम सूक्ष्म स्पन्द भाव में रहता है । वही बोध की आक्रान्ति मानी जाती है । उसके बाद संविद् स्वयं प्राण रूप से परिणत मानी जाती है । पुनः अपान रूप मेय भाव को संवर्धित करते हैं । वहाँ प्राण अपान का ऐक्य भी हो जाता है । पुनः उपसंहार का

---

१. तन्त्रोच्चय के तृतीय श्लोक में तन्त्रसार से पाठभेद—'विश्राम्यन् भावयेत् योगी स्यादेवं स्वात्मनः प्रथा' तन्त्रसार आ० ५ पृ० १६१

मा० पा०

हिमणिम्म विभाइस आसंहारइज्जि
पुणु अउ अहिपुरो बीसगिआ।
एहु तपसरु पुरो आच्छइणि अबल
पसरइ सोच्चिअ परइ संघट्टा ॥ २ ॥

शो० पा०

जहि जो णिव्वइ धाउ उइ रवि-ससि-दहण-सरूइ ।
आहिंडेविणु गअण-पहि, सु च्चिअ उल्लसि रूइ ॥ १ ॥

आरम्भ होता है अर्थात् पूर्णिमा के बाद अमाकेन्द्र में प्राणापान समाहित होने के लिये ऊर्ध्व की ओर प्रस्थान करते हैं। प्राण उन्मना में पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। ये छः आनन्द की भूमियाँ हैं। इन्हें क्रमशः निजानन्द, निरानन्द, परानन्द, ब्रह्मानन्द, महानन्द और चिदानन्द कहते हैं। सार्वात्म्य की दृष्टि से सातवीं भूमि जगदानन्द की मानी जाती है। यह विश्रान्तिधाम है। प्राणोच्चार साधना की यह मुक्ति प्रक्रिया है, जिस पर चलकर साधक इसी से स्वरूप को उपलब्ध हो जाता है।

साधना की विश्रान्तियों की पड़ाव भूमियाँ अपनी विशिष्टताओं के लिये अपना पृथक् पृथक् महत्त्व रखती हैं। इन्हें तीन दृष्टियों से भी अनुभूत कर सकते हैं। सर्वप्रथम संविद् से प्राण उन्मिषद्रूप में स्पन्दित होता है। दूसरी दशा में उसका उन्मिषित रूप प्राणोच्चारभाव से विश्व जीवन का आधार बनता है। तीसरी अवस्था में इसके समानोदय में पूर्णिमा और अमाकेन्द्रों में संघट्ट होता है। यह प्राणोच्चार की त्रित्वमयी दृष्टि है।

इसके अतिरिक्त व्यक्तादि लिङ्गत्रय की भी एक दृष्टि यहाँ काम करती है। उच्चार जिस समय पर विश्रान्ति दशा में रहता है, उस दशा को गलिताशेष वेद्य दशा कहते हैं। जब प्राण उन्मेष की ओर उन्मुख होता

हि अअम्मि विभासइ उवसंहरइ जि
पुणु णिअरूअहि वरु विसमिअ।
एहु अवसरु वरु अच्छइ णिअबलु
पसरइ सोच्चिअ पूरइ संघट्टइ ॥ २ ॥

सं० छाया

यत्र यो निर्वाति धातुः स रवि-शशि-वहन-स्वरूपे।
आहिण्डच गगनपथे स एव उल्लस्य रूपेण ॥ १ ॥

हैं, उसे उन्मिषद्वेद्य दशा कहते हैं और प्राणोच्चार में यह उन्मिषितवेद्य दशा होती है। इन्हें ही लिङ्गत्रय दशा कहते हैं। यही विसर्ग त्रय दशा भी कहलाती है क्योंकि इसमें स्पन्दमानता को एक एक विश्रान्ति के बाद विसर्ग कला के आश्रय से ही प्राणोच्चार प्रचलित होता है।

इनमें अनुप्रवेश की अनुभूतियों से भी साधक परिचित होता है। जैसे—१. पहले पूर्णता के आश्रय से 'आनन्द' की अनुभूति होती है। २. पश्चात् शरीर रहित अवस्था में आरोह को 'उद्भव' रूप से अनुभूत करते हैं। ३. 'कम्प' की दशा का अनुभव स्वात्मसत्ता में जागरूकता के कारण देहाध्यास की दुष्प्रवृत्तियाँ काँप उठती हैं और शिथिल पड़ जाती हैं।

४र्थ अवस्था में बहिर्मुखता के विलय से जो शान्ति आती है, उसे 'निद्रा' की संज्ञा प्रदान की जाती है। ५वीं दशा 'घूर्णि कहलाती है। यह एक ऐसी विश्रान्ति की अवस्था है, जिसमें अयत्नज व्यापकता आ जाती है। 'स्व' की देहात्म सीमा को समाप्ति के अनन्तर सार्वात्म्य की सर्वमयता में व्याप्त होने का यह आनन्द है। स्व से सर्व में उपलब्ध होने का यह घूर्णन व्यापार है। इसे ही 'घूर्णि' संज्ञा दी गयी है। यह एक महादशा है[1]।

---

१. श्रीत० आ० ५। ९४। १०१-१०८, १११। मा० वि० ११।३५

हृदये विमर्शयति उपसंहरति एव
पुनः निजरूपे वरं विश्रम्य ।
एष अवसरः वरः अस्ति निजबलं
प्रसरति स एव पूरयति संघट्टयति ॥ २ ॥

इस प्रकार आनन्द व्याप्ति से लेकर घूर्णि व्याप्ति तक उत्तरोत्तर व्याप्त्युत्कर्ष अपनी सर्वोच्च दशा में आरूढ हो जाता है। यह ऊर्ध्व कुण्डलिनी अवस्था भी मानी जाती है। इस प्रकार साधक भूत समावेश से उठकर तत्त्व समावेश में पहुँच कर आत्म समावेश का स्पर्श कर लेता हैं। इस प्रक्रिया में एक एक अवस्था का विसर्जन करते हुए ऊपर पहुँचते हैं। अतः इसे विसर्ग कहते हैं।

जहाँ तक 'विसर्ग' का प्रश्न है, यह एक साधन-प्रक्रिया द्वारा उत्तरोत्तर उल्लास का क्रम है। चर्या में विसर्गशक्ति का उल्लास ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है[1]। यह एक पारिभाषिक शब्द है। 'योगिनी' शब्द भी रहस्य गर्भ अवस्था को व्यक्त करता है। अनुत्तर इच्छा और उन्मेष तत्त्व से आनन्द, ईशान और ऊर्मि का उल्लास विसर्ग योगिनी शक्ति द्वारा होता है। चर्या की षडरमुद्रा में 'योनि' भी योगिनी कहलाती है। वहाँ निरंश प्रवृत्ति से विसर्ग का आनन्द उपलब्ध होता है। हृदय में प्रवेश ही हृदयानन्द है। यह भी पारिभाषिक शब्द है[2]। तन्त्रोच्चय नामक इस ग्रन्थ में शब्द संकेत मात्र से साधना प्रक्रिया में प्रवेश की ओर संकेतित किया गया है। सम्प्रदायों में तरह तरह से प्रधानतया 'विसर्ग' का प्रयोग कर रहस्य का उद्घाटन करते हुए विशेष विशेष अनुभूतियों के स्तर प्राप्त करने की प्रक्रिया अपनायी गयी है। उनका स्वाध्याय कर इसे प्रयत्नपूर्वक सिद्ध कर उपलब्ध किया गया है। वस्तुतः तत्त्व समावेश की ही यह प्रक्रिया है। शैवी शक्ति का स्पन्दात्मक उल्लास ही विसर्ग माना जाता है।

---

१. श्रीत० आ० ५।७०-८० २. श्रीत० आ० ५।७१

मा० पा०

आआहि सत्तावर्थहि विलर्ग तति बहुततीहि विपश्चावघटइ ।
हिअअ विसङ्कतए सत अष्टोत्तर सिव भूमिप ॥ ३ ॥
सथ बुद्धि पवण परिसोलणिण पवत्य ।
परिपसिहु भव दुरदलणिण साइत आनन्दभर ॥ ४ ॥

इन वर्णनों से यह स्पष्ट हो गया है कि, उच्चार की १०८ भेदमयो भूमियाँ हैं। इन सब को विशिष्ट स्तरीय अवस्थाओं की अनुभूतियाँ सिद्ध साधक को हो जाती हैं। उच्चार भूमि से ही सृष्टि, स्थिति और संहार नामक तोनों शक्तियों का उल्लास अनुभूत होता है। एक तरह से यह बोजात्मक स्थितियाँ है। यही भाव उच्चार शब्द से भी अभिव्यक्त होता है।

उक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि, बुद्धि के माध्यम से देह और प्राणतत्त्व को आश्रित कर आणव समावेश में अनुप्रवेश हो जाता है। जो व्यक्ति आणव स्तर की साधना में सिद्ध हो जाता है, वह शाक्त और शाम्भव समावेश स्तर को भी उपलब्ध करने में समर्थ हो जाता है। इनमें जिन उपायों का आश्रय लेते हैं, वे आणव, शाक्त और शाम्भव उपाय कहलाते हैं। अणु पुरुषों को श्रेयः सिद्धि के उद्देश्य से सर्वप्रथम आणव उपाय का ही आश्रय ग्रहण कर आगे बढ़ना चाहिये। यह प्रथम सोपान है। इसको पार कर ही ऊपर के सोपानों पर चढने में सौविध्य रहता है।

प्राकृत श्लोकों के माध्यम से इन तथ्यों की ओर अध्येता का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। यहाँ उनको संस्कृत छाया भी दी गयी है।

अग्नि प्रमाता, सूर्य प्रमाण और सोम (शक्ति) प्रमेय तत्त्वों का उल्लास ही यह विश्व विस्तार है। यह विश्वात्मक प्रतिबिम्बात्मक प्रसार विशिष्ट वैचित्र्य के चमत्कारों से ओत प्रोत है। विश्व विस्तार में धरा से सदाशिव पर्यन्त सभी तत्त्व धातु हैं। ये मानो सृष्टि के सोत्कार को हवा में बह रहे हैं। इनके आकाश का आनन्त्य अप्रकल्पनीय है। इसी

शो० पा०

आर्अहिं सत्तात्र्थहिं विसज्जइ तिविहु अ ताहिं वि पंचावत्थहिं ।
हिअअ विसंगत ए सअ-अट्ठोत्तर सिव-भूमिए ।। ३ ।।

सत्थ-बुद्धिए पुणु परिसीर्लणण पसत्थ ।
परिपसिहु भव-दुह-दलणिण मुइउ आणंदभर ।। ४ ।।

सं० छाया

आभिः सप्तावस्थाभिः विसर्जयति
त्रिविधं च ताभिः अपि पञ्चावस्थाभिः ।
हृदयविसङ्गतये शतमष्टोत्तर शिवभूमौ ।। ३ ।।

अनन्त आकाश में नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी समना और उन्मना के आकाशों में और इसके अतिरिक्त चिदाकाश की चिन्मयता में कैसे, किस तरह कहाँ अणु परमाणु सूक्ष्म-स्थूल रूपों में ये तत्त्व रम रहे हैं, यह सब गगन के आहिण्डन से ही ज्ञात होता है ।

गगन का आहिण्डन ही 'अभ्यास' है। अभ्यास के बल पर इस उल्लास के रहस्य का उद्घाटन हो जाता है। इस स्तरीय विज्ञान को उपलब्ध कर साधक 'हृदय' केन्द्र में स्वात्म विमर्श करता है। विमर्श से सृष्टि का सीत्कार प्रारम्भ होता है। विमर्श से ही उपसंहार घटित होता है अर्थात् विश्वात्मकता के आवरण का निराकरण करने के उपरान्त 'निज' रूप में विश्रान्ति का सौभाग्य प्राप्त करता है।

यह जीवन की सार्थकता का क्षण होता है। इसे शास्त्र 'वर अवसर' की संज्ञा प्रदान करता है। इसमें ही स्वात्म को परमात्मा में व्याप्ति होती है। यही स्वात्म के बल का प्रसार माना जाता है। ऐसा साधक ही 'पूर्ण मेवावशिष्यते' के औपनिषदिक न्याय के अनुसार विश्व का सम्पूर्ण प्रपूरण

स्वस्थ-बुद्धया पुनः परिशीलनेन प्रशस्तम् ।
परिपश्य भव-दुःख-दलनेन मुदित आनन्दभरः ॥ ४ ॥

॥ इति पञ्चममाह्निकम् ॥

करता है और अणुओं का संघट्ट कर नया अभिनव सृष्टि संघट्ट करने में समर्थ हो जाता है ॥ १-२ ॥

ध्यान की उक्त सात अवस्थाओं का अभ्यास कर साधक देह प्राण और बुद्धि का भी विसर्जन कर देता है। तदुपरान्त आनन्द, उद्भव, कम्प, निन्द्रा और घूर्णि नामक पाँच अवस्थाओं को पार कर 'हृदय' नामक परमात्म केन्द्र में 'विसङ्गति' अर्थात् विशिष्ट रूप सङ्क्रमन को उपलब्ध हो जाता है। इस तरह ध्यान को १०८ अवस्थाओं का अभ्यास कर शिवभूमि में प्रवेश पा जाता है।

बुद्धि का 'स्वस्थ' विशेषण विशेषरूप से विचारणीय है। 'स्व' में स्थित होकर 'विमर्श' को उपलब्ध होना ही स्वस्थ बुद्धि है। इस शक्ति के द्वारा प्रशस्त परिशोलन होता है।

विश्वात्मक 'सर्व' का, इसके बीज रूप 'स्व' का और सर्व तथा 'स्व' में व्याप्त शिव का साक्षात्कार हो जाता है। यही परिपश्य क्रिया का स्वार्थ है। अब कुछ करना शेष नहीं रह जाता। यह भव जिसे पहले दुःख समझा जाता था—अब उसका निराकरण हो जाता है। यही दुःख का वास्तविक दलन कहलाता है। इसका सुपरिणाम ही 'आनन्द निर्भर' स्वात्म का शैव महाभाव में उपलब्ध होना हैं। वह यहाँ घटित हो जाता है ॥ ४ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्त विरचित

डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषा भाष्य संवलित

श्री तन्त्रोच्चय

का

पञ्चम आह्निक परिपूर्ण ॥ ५ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलिते

तन्त्रोच्चये

षष्ठमाह्निकम्

अधुनेदमभिधीयते—इह द्विविधं वैचित्र्यं लोकस्य भेदभ्रान्तिं करोति, क्रियाकृतं मूर्तिकृतं च। तत एव कालदेशौ भेदकौ प्राहुः। तत्र क्रियाकृतं वैचित्र्यं स्वात्मविजृम्भितमेव पश्यति स्वप्नवत् सङ्कल्पवच्च। तथाहि—

महामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तविरचित

डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलित

तन्त्रोच्चय

का

छठाँ आह्निक

इस आह्निक में शास्त्रकार एक अभिनव दृष्टिकोण का अभिनव अभिव्यञ्जन कर रहे हैं—

इस विश्वात्मक प्रसार में दो ऐसे वैचित्र्य दृष्टिगोचर होते हैं, जो भेदात्मक भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं। ये दोनों वैचित्र्य हैं—१. क्रियाकृत वैचित्र्य और २. मूर्त्तिकृत वैचित्र्य। क्रियाकृत वैचित्र्य से काल भेद की भ्रान्ति होती है। इसी तरह मूर्त्तिकृत वैचित्र्य से देशभेद की भ्रान्ति जन्म लेती है। इन दोनों में क्रियाकृत वैचित्र्य स्वात्म की विजृम्भा मात्र है। स्वात्म विजृम्भा आत्मतत्त्व की जँभाई के समान ही एक स्वतः स्फुरित क्रिया है। खेल भी और क्रीडा भी कोई विकास या फैलाव की प्रक्रिया भी स्वात्म की

संविद्रूपस्यात्मनः प्राणशक्ति
पश्यन् रूपं तत्रगं चापि कालम् ।
साकं सृष्टिस्थेमसंहारचक्रै-
नित्योद्युक्तो भैरवीभावमेति ॥ १ ॥

संविदेव हि प्रसरन्तो प्राणनानुरूपा सस्पन्दा सतो स्पन्दनोच्छलत्वात् कालप्रसारमारभते । इति प्राणशक्तौ सकलं कालं विलापयेत्, तां च संविदीति संविदः स्पन्दितमात्रं यत् तदेव बहिः सृष्टिसंहारानन्त्यवैचित्र्यम् । आह च—

विजृम्भा ही है, परमात्मस्तर पर यह इच्छात्मक स्पन्द है और चर्या स्तर पर मनुष्य की क्रियाशीलता है । इससे अहं की तुष्टि होती है ।

यह दो प्रकार से अनुभूत होने वाला सत्य है । प्रथम स्तर पर यह स्वप्न के सदृश विकसित होता है । दूसरे स्तर पर सङ्कल्पों में अनुभूत होता है । यहाँ परमात्म तत्त्व से विस्फूर्त्त क्रिया और मूर्ति वैचित्र्य सम्बन्धी एक श्लोक द्वारा इस तथ्य का उपबृंहण कर रहे हैं—

साधक संविद् रूप स्वात्म-तत्त्व की प्राण शक्ति के स्वरूप का अनुसन्धान रूप दर्शन या आन्तर अनुभव करता है । साथ ही वहाँ घटित सृष्टि, स्थिति और संहार चक्रों द्वारा अनुभूत काल का भी अनुभव करता है । यह क्रियाकृत काल वैचित्र्य की अनुभूति रूप ही होता है । इस अनुसन्धान या अनुदर्शन में सातत्य अपेक्षित होता है । इस तरह नियमित रूप से निरन्तर उद्युक्तता का साधना में अप्रतिम महत्त्व है । सतत युक्त योगी अवश्य ही भैरवी भाव में उपलब्ध हो जाता है ॥ १ ॥

शास्त्रकार संवित् तत्त्व के समुच्छलन और काल प्रसार के सम्बन्ध में अनुभूत तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

उनका कहना है कि, काल प्रसार की मूल हेतु संविद् शक्ति ही है । 'प्राक् संवित् प्राणे परिणता' सिद्धान्त वाक्य के आधार पर यह स्पष्ट रूप से

मा० पा०

सअल प्रआस रूउ संवेअण
फन्दतरङ्गकलण तहु पाणुर ।
पाणब्भन्तरस्मि परिणिट्ठुउ सअलउ
कालपसरु परिआणु ॥ १ ॥

जह उल्लसइ जइ विण्णिरुज्जइ
पवनसत्ति तह एहु महेसरु ।
सिट्ठिपलअं भासइअ णिमज्जइ
सो अता णउ चित्तह साअरु ॥ २ ॥

तं० सा० आ० ६

कहा जा सकता है कि, इसका सर्वप्रथम प्रसार प्राणना वृत्ति ही है। प्राणना प्राणापानवाह की ही प्रक्रिया है। श्वास में ही सारा जोवन सूत्र निहित है। ऐसी अवस्था में संविद् को 'सस्पन्दा' कहते हैं। स्पन्दात्मक उल्लास या उच्छलन में ही कालतत्त्व निहित है। सस्पन्द उच्छलन की क्षणात्मक अनुभूतियों में काल आकलित होने लगता है।

साधक इस प्रक्रिया का साक्षी होता है। वह जागरूक भाव से काल प्रसर के स्पन्दों का आनन्द ले रहा होता है। वह साधना के क्रम में अब इस कालात्मक प्रसर को प्राणशक्ति में समाहित करने की प्रक्रिया अपनाता है और काल प्रसार को प्राणशक्ति में विलापित करने में समर्थ हो जाता है। विलापन की विधि में उतरे विना इसको सिद्धि नहीं होती। सिद्धि की ओर प्रेरित करने के उद्देश्य से ही शास्त्रकार ने 'विलापयेत्' विधि लिङ् की क्रिया का प्रयोग किया है।

दूसरा सोपान प्राण को संविद् में विलापन की साधना से शुरू होता है। उसके सिद्ध होने पर साधक श्वासजित् हो जाता है। श्वासजित् साधक सर्वदा स्वात्मस्थ रहता है। वह समग्र सृष्टि-संहारात्मक वैचित्र्य को देखकर

शो० पा०

सअल-पआस-रूअ संवेअण

फंद-तरंग-कलण तहु पाणु ।

पाणब्भंतरस्मि परिणिट्ठिउ

सअलउ काल-पसरु परिआणु ।। १ ।।

जह उल्लसइ जह वि णिरुज्झइ

पअणसत्ति तह एहु महेसरु ।

सिट्ठिपलअं भासइ अणिमज्जइ

सो अत्ताणउ चित्तत्त-साअरु ।। २ ।।

त० सा० आ० ६

भ्रान्त नहीं होता वरन् संविद् के स्पन्दित भाव के स्फुरण पर मुग्ध होता है । बाह्य जगत् में भी स्पन्दित वैचित्र्य का अनुदर्शन करता है ।

इस सम्बन्ध में दो प्राकृत स्वोपज्ञ श्लोकों के माध्यम से विषय का और भी उपबृंहण कर रहे हैं—

संवेदना संवित्ति का धर्म है । यह प्रकाशरूपा है । सकल का समग्र और कला सहित दोनों अर्थ यहाँ निहित है । सकल के साकल्य की दृष्टि से यह विश्व व्याप्त है । कला साहित्य की दृष्टि से वह सस्पन्दा है । प्राणना वृत्ति ही संवित्ति की कला है । यह सब प्रकाशरूप है । प्रकाश से प्रतिफलित है और बोध में निर्बाध रूप से प्रकाशित है ।

संवित्ति की स्पन्दात्मक तारङ्गिकता में संवेदना का आकलन होता है और यह ज्ञात हो जाता है कि, उसी से प्राण का भी प्रस्फुरण हो रहा है । शास्त्रकार मानो साधक वृन्द को ही सम्बोधित कर रहे हैं । वे कहते हैं कि, इसे जानो, समझो, गुनो और यह धारणाबद्ध भाव से निर्धारित कर लो कि, सकल कालप्रसर प्राण में ही परिनिष्ठित है । अभ्यन्तर शब्द प्राणस्पन्द को आन्तरिकता की ओर ही संकेत कर रहा है ।। १ ।।

सं० छाया

सकलप्रकाशरूपा संवेदना स्पन्दतरङ्ग-
कलना तस्याः प्राणः ।
प्राणाभ्यन्तरे परिनिष्ठितः सकलः
काल-प्रसरः परिजानीहि ॥ १ ॥

यथा उल्लसति यथा अपि निरुध्यति
पवनशक्तिः तथा एष महेश्वरः ।
सृष्टिप्रलयं भासयित्वा निमज्जयति
स आत्मानं चित्तत्त्वसागरे ॥ २ ॥

पवन शक्ति कभी अपने पूरे उल्लास में प्रभञ्जन की संज्ञा से विभूषित होती है और कभी निरोध की स्थिति में इतनी मन्द हो जाती है कि, सांस लेना भी दूभर हो जाता है। पवनरूपा प्राण शक्ति का भी यही क्रम है। कभी अल्प-अल्प, कभी ऊर्ध्वश्वास और अन्त में हृद्गति का निरोध। यही स्थिति सृष्टि के उत्स स्वरूप महेश्वर ईशान की भी है। महेश्वर संविद्वपुष् परमेश्वर का यह उल्लास शाश्वत वर्त्तमान में घटित शाश्वत सत्य है। 'उल्लसति' क्रिया शाश्वत वर्त्तमान की क्रमिक सक्रियता का संकेत कर रही है।

उसी तरह निरुध्यति क्रिया भी वर्त्तमान कालिक क्रिया है। यह संहार का उपक्रम है। अर्थात् संविद्वपुष् परमेश्वर, सृष्टि रूप से शाश्वत उल्लसित है। वही संहार रूप से शाश्वत निरोधरत भी है। वह सृष्टि को अवभासित करता है और स्वेच्छया निमज्जित भी कर देता है। स्वयम् भी स्वात्म को चित्तत्त्वरूपी चैतन्य के महोदधि में मिलकर आन्दोलित भी होता है। साधक भी पवन शक्ति, प्राणशक्ति और महेश्वर शिव की तरह स्वात्मसत्ता को चैतन्य के महोदधि में मिलाकर शाश्वत वर्त्तमाननिष्ठ हो जाता है ॥ २ ॥

एवं प्रक्षोणकालाशङ्काः कालग्रासं करोति। मूर्तिवैचित्र्यकृतोऽपि योऽयं प्रपञ्चः स एव शरीरात्मना घटपटात्मना च वर्तमानो भोक्तृत्वं भोगोपकरणत्वं कुर्वाणं भेदमवभासयन्नद्वैतभावनां प्रतिहन्तीति स्वात्मन्येव संविद्रूपे एकोभावेन भावनीयः। तथा हि ब्रह्माण्डं प्रकृत्यण्डं चासङ्ख्यभेदं तत्कारणं चैकैकरूपम्। मायाण्डं शक्त्यण्डमित्येतानि चत्वार्यण्डानि निःसङ्ख्यैर्भुवनाधिपतिभिश्च

क्रिया की काल प्रसारमयो विचित्रता को विलापित करने का सामर्थ्य सर्वेश्वर शिव में शाश्वत वर्त्तमान है। साधक भो इस स्तर पर विराजमान होकर काल सम्बन्धी सभो आशङ्काओं का समूल उन्मूलन कर डालता है। इसे कालग्रास का अलंग्रास रस कहते हैं। इस अवस्था में पहुँचने पर क्रिया शक्ति की काल सक्रियता को वह आत्मसात् कर लेता है।

जहाँ तक मूर्त्ति वैचित्र्य का प्रश्न है, इसके भो प्रपञ्चों का आनन्त्य अप्रकल्पित है। इसका पहला प्रतीक स्वयं शरीर है। अन्य प्रतीकों में घट पट, रक्तपीत, खाद्य पेय आदि पदार्थ आते हैं। इन्हें देखकर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि, इनको दो दृष्टियों से विमर्श का विषय बनाया जा सकता है—

१. भोक्तृत्व दृष्टि और २. भोग्यत्व दृष्टि। शरीर धारक भोक्ता होता है और अन्य पदार्थ भोग्य या भोगोपकरण। वह स्वयं भोक्तृत्व का भो आनन्द लेता है और उपकरणों के माध्यम से जोवन का आनन्द लेता है। यह कितना सुखद आश्चर्य है कि, इस तरह वह स्वयं भेद को अवभासित करता है। साथ ही अपनो अद्वैत सत्ता को चुनौती दे डालता है। यह अपने ही विरोध प्रदर्शन को क्रोडा का कौशल्य है। यह भेद वैचित्र्य स्वात्मसंविद् रूप में हो उल्लसित होता है। साधक को चाहिये कि, वह इस भेदाभेद वैचित्र्य का स्वात्मसंविद् से एकोभावमय स्पन्द रूप से भावन करे।

एकी भावमय भावन में पाँचों अण्ड जिन्हें आगम पञ्चपिण्ड भो कहता है, अव्यतिरिक्त हैं, यह दृष्टि अपनायी जातो है। ये पाँचों इस प्रकार हैं—

विचित्रैर्व्याप्तानि स्वात्महृदयदर्पणान्तः—प्रतिबिम्बितानि संपश्यंस्तत्रैव च लीनानि संवेदयमानस्त एव चोल्लसितान्यवलोकयन् विश्वात्मतां विश्वोत्तीर्णत्वं विश्वकर्तृत्वं विश्वव्यापकत्वं विश्वपूर्णत्वमखण्डितत्वं स्वतन्त्रत्वं संविद्रूपत्वं चात्मनो जानात्येव । आह च—

मा० पा०

परमेसरसासणुसुणिरूढ्इउ

सुणिविमलअ अद्धाणउ ।

झहुज्झतिससरिपवणि संवेअ

णिअ पेक्खन्तउ पहुरइ परिउण्णु ॥ ३ ॥

---

१. ब्रह्माण्ड, २. शक्त्यण्ड, ३. मायाण्ड, ४. प्रकृत्यण्ड और ५. पृथ्व्यण्ड । इनमें ब्रह्माण्ड रूप शैवाण्ड में ही सबका अन्तर्भावन किया जाना चाहिये । इसके बाद क्रमशः शक्ति व्याप्ति का क्षेत्र शक्त्यण्ड ब्रह्माण्ड में ही अन्तर्निहित है, यह भावन करना उचित है । शक्त्यण्ड में मायाण्ड, मायाण्ड में प्रकृत्यण्ड, प्रकृत्यण्ड में पृथ्व्यण्ड अन्तर्निहित हैं, यह भावन करते हुए इनमें असंख्य चित्रविचित्र भुवनों और भुवनाधिपतियों से व्याप्त इस अनन्त विस्तार के ऐक्य का भावन करना चाहिये । इसमें पृथ्व्यण्ड से ऊपर की ओर ऐक्यभावन करते हुए शैवाण्ड तक पहुँच कर केवल शैव महाभाव की व्याप्ति का आनन्द योगी प्राप्त करता है । इसलिये शिव को पञ्चपिण्डनाथ भी कहते हैं । इसकी सिद्धि में पञ्चपिण्डनाथ के एकाक्षर मन्त्र का जप भी किया जाता है । यह परात्रीशिका शास्त्र में विशद रूप से व्याख्यायित है ।

एकी भावन में अभी दो बातों की चर्चा शेष रह जाती है । पहली अनुभूति यह है कि, ये पाँचों एक एक अण्ड के कारण हैं । जैसे पृथ्व्यण्ड कर्म का कारण प्रकृत्यण्ड प्रकृत्यण्ड, का कारण मायाण्ड, मायाण्ड का कारण शक्यण्ड और शक्त्यण्ड का कारण शैवाण्ड है । अनन्त भुवनों का अधिष्ठान इनमें है ।

शो० पा०

परमेसरु-सासण-सुणिरूइउ सुणिवि
सअल-अद्धाणउ पुण्णु ।
झत्ति सरीरि पवणि संवेअणि
पेक्खंतउ पफुरइ परिउण्णु ॥ ३ ॥

सं० छाया

परमेश्वरशासनसुनिरूपितः
श्रुत्वा सकलाध्वा पुण्यः ।
झटिति शरीरे पवने संवेदने
प्रेक्षमाणः प्रस्फुरति परिपूर्णः ॥ ३ ॥

तं० सा० आ० ७

॥ इति षष्ठमाह्निकम् ॥

दूसरो बात जिसे जानना साधक के लिये अत्यन्त आवश्यक है, वह यह कि, साधक आसन पर विराजमान होकर स्वात्म का अनुसन्धान करे। उस दशा में अपने हृदय रूपी दर्पण के नैर्मल्य का अनुसन्धान करे। स्वात्म हृदय दर्पण के नैर्मल्य में आपृथ्व्यण्ड शैवाण्ड पर्यन्त संपतित प्रतिबिम्ब का आकलन करते हुए स्वात्म बिस्तार में हो इस अनन्त अनन्त भुवन विस्तार लीनता की संवेदना का आनन्द ले और उनके उल्लास का भी अवलोकन करे।

इससे साधक विश्वात्मा के विश्वमयत्व का विज्ञ बन जाता है। यह प्रत्यक्ष अनुभव करने लगता है कि, मैं शिवरूप हूँ और विश्वोत्तीर्णताविभूषित हूँ। इस प्रपञ्चात्मक विश्व के कर्त्तृत्व, मातृत्व, व्यापकत्व, खण्डात्मक होते हुए भी इसके अखण्डितत्व, इसके स्वातन्त्र्य और सबसे बढ़ कर स्वात्म के संविद्रूपत्व का पूर्ण ज्ञान हो जाता है।

इस सम्बन्ध में प्राकृत श्लोक का प्रणयन कर शास्त्रकार ने उसमें अपने सार्वज्ञबोध को प्रतिबिम्बित कर दिया है—

परमेश्वर शिव का शासन सार्वत्रिक है, यह बद्धमूल धारणा द्वारा साधक सुनिरूपित कर लेता है। आप्तों और गुरुजनों के अनुभूत सत्य-सिद्धान्त वाक्यों को सुनकर कला, तत्त्व, भुवन वर्ण, पद और मन्त्र रूप सभी अध्वा वर्ग के ऐक्यानुभव का पुण्य प्राप्त कर लेता है। उपासना के इस स्तर पर पहुँचकर उसकी साधना धन्य हो जाती है। अब वह इस शरीर को विश्व शरीर रूप में, पवन को विश्व प्राण रूप से और संवेदन को विश्वसंवित्ति रूप से देखता हुआ शैवमहाभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है। लगता है, वह स्वयं सर्वपूर्ण परमेश्वर रूप में प्रस्फुरित हो रहा है ॥ ३ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्त विरचित
डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाष्य संवलित
श्रीतन्त्रोच्चय का
छठाँ आह्निक परिपूर्ण ॥ ६ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते

डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलिते

तन्त्रोच्चये

सप्तममाह्निकम्

तत्र भुवनजातस्य समस्तस्य तत्त्वमात्ररूपत्वं स्वभावः। तानि च षट्त्रिंशद्वेद्यभूमिपतितानि। संविद्रूपं तु सप्तत्रिंशम्। तदप्युपदेशादौ वेद्यमुपचारेणेति सर्वथा यदवेद्यं स्वतन्त्रं तदष्टात्रिंशम्। तान्येतानि सर्वतत्त्वानि सर्वस्थितानि। तथाहि—

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य-श्रीमदभिनवगुप्तविरचित

डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलित

तन्त्रोच्चय

का

सप्तम आह्निक

आणव समावेश के स्थान-प्रकल्पन परिवेश का ही प्रधान अंग भुवनाध्वा है। विश्व के इस अनन्त विस्तार प्रसार में जितने भी भुवन हैं, वस्तुतः उनका 'स्व'भाव तत्त्वात्मक ही है। सभी ३६ वेद्य भूमियों में ही प्रतिष्ठित हैं। इसमें संवित्तत्त्व का परिगणन नहीं है। इसे मनीषी सैंतीसवाँ तत्त्व कहते हैं। कुछ विचारक यह कहते हैं कि, उपदेश की अवस्था में उपचार की दृष्टि से इसमें भी वेद्यत्व की झलक आती है। अतः यह भी अन्तिम तत्त्व नहीं। जो सर्वथा अवेद्य है, जहाँ वेद्यभाव का सर्वथा अभाव है, उस तत्त्व को ही परम तत्त्व कहा जा सकता है। वही स्वतन्त्र तत्त्व होना चाहिये। उसे हम अड़तीसवाँ तत्त्व कह सकते हैं।

देहे यत् कठिनं तद् धरा, यद् द्रवं तदापः, यदुष्णं तत्तेजः, यत् स्पन्दनं तन्मरुत्, यत् सावकाशं तत्र भः । तेष्वेव पञ्चसु सुसूक्ष्मरूपत्वादनुद्भिन्न-विभागा गन्धरसरूपस्पर्शशब्दतन्मात्राणि तद्ग्राहीणि पञ्चेन्द्रियाणि घ्राणं रसना चक्षुः त्वक् श्रोत्रमिति निजनिजं व्यापारं कुर्वन्ति । पञ्च कर्मेन्द्रियाणि विशिष्टेषु स्थानेषु स्फुटानि । तद्यथा—वाक् पाणिः पायुः उपस्थं जल्पनं ग्रहणं गमनम् उत्सर्गो विसर्ग आनन्देन स्वात्मनि विश्रमणमित्येषामसाधारण-व्यापाराः । सङ्कल्पकारि मनः । निश्चयकारिणी विकल्पप्रतिबिम्बधारिणी

ये सभी तत्त्व सर्वत्र अवस्थित हैं । इन पर विचार कर इनका निरूपण और निर्धारण होना चाहिये । शास्त्रकार उसो की एक रूपरेखा प्रस्तुत कर रहे हैं । जैसे—

शरीर में जो घन अंश काठिन्यमयो कलना से आकलित किये जाते हैं, वे धरातत्त्वांश हैं । जो भी द्रवात्मक है, वह जलीय अप् तत्त्वांश है । शरीर में जितना स्पन्दन है, वह मरुत् तत्त्व है । जो अवकाशमय है, वह आकाश है ।

इन्हीं पाँचों में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से अनुद्भिन्न भाव से जो संवलित हैं, वे ही गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द संज्ञक पाँच तन्मात्रायें कहलाती हैं । इनको ग्रहण करने वाली पाँच इन्द्रियाँ, नासिका, रसना, नेत्र, त्वक् और श्रोत्र हैं । ये अपने-अपने व्यापार में व्यापृत रहतो हैं । पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं । इनसे सारे कार्य सम्पादित किये जाते हैं । इन्हें वाक्, प्राण, पायु और उपस्थ कहते हैं । इन पाँचों के काम क्रमशः जल्पन, ग्रहण, गमन, उत्सर्ग और विसर्ग हैं ।

ये स्वात्म में स्वात्म को आनन्दमयो विश्रान्तियाँ हैं । इन्हें इन्द्रियों का असाधारण व्यापार माना जाता है ।

इसके बाद शरीर में अन्तःकरण तत्त्व आते हैं । करण तो ये भो हैं किन्तु इनका आन्तर रूप ही प्रधान है । अतः इन्हें अन्तःकरण कहते हैं । ये तीन हैं । १. मन, २. बुद्धि और ३. अहङ्कार ।

बुद्धिः। एतावत्यभिमानकार्यहङ्कारः। एषां कारणं गुणाः। तेषामाद्यावस्था साम्यावस्था प्रधानम्। तद्व्यतिरिक्तो भोक्ता पुरुषः। तद्विशिष्ट-विषयरञ्जनको रागः। क्वचिद्विषये योजनिका नियतिः। बुद्धि तत्प्रतिबिम्बितं च वस्तु यया पश्यति साऽस्य विद्या। यया किंचित्करणसमर्थो भवति साऽस्य कला। यो भूतभविष्यद्वर्तमानतया स्वंस्वरूपमाकलयन् भावानपि तथा कलयति सोऽस्य कालः। इयतो वेद्यकलापस्याद्यं कारणं माया। ययाऽस्य पुरुषस्य स्वरूपं प्रकाशयितुं प्रारभ्यते साऽस्य शुद्धविद्या। यस्यामवस्थायां स्फुटानेतानर्थान्

---

१. मन—संकल्प करने वाला माना जाता है।

२. बुद्धि—विकल्पों के प्रतिबिम्ब को धारण करती है। साथ ही साथ कार्याकार्य का निर्णय भी करती है।

३. अहंकार—इन सभी व्यापारों का अहङ्कार करने के कारण इसे अहंकार कहते हैं।

इनके कारण तत्त्वों को 'गुण' कहते हैं। ये तीन होते हैं। १. तमस्, २. रजस् और ३. सत्त्व। इनकी आद्यावस्था साम्यावस्था मानी जाती है। इसी साम्यावस्था का नाम 'प्रधान' तत्त्व है। इन सबसे अतिरिक्त और सब का भोक्ता तत्त्व 'पुरुष' तत्त्व माना जाता है।

विषय में अनुराग उत्पन्न करने वाला भोक्तृत्व विशिष्ट, तत्त्व 'राग' कहलाता है। किसी विषय में योजनिका क्रिया द्वारा नियोजित करने वाली 'नियति' तत्त्व मानी जाती है। बुद्धि वृत्ति को तथा बुद्धि द्वारा मस्तिष्क दर्पण में प्रतिबिम्बित वस्तु को जिस तत्त्व द्वारा पुरुष देखता है, वही 'विद्या' तत्त्व है। पुरुष जिस वृत्ति द्वारा कुछ कुछ करने की शक्ति से समर्थ होता है, वही 'कला' तत्त्व है। भूत वर्त्तमान और भविष्यात्मक सृष्टिचक्र की गतिशीलता में स्वात्म रूप और समस्त भाव राशि का जो आकलन करता है, वही 'काल' तत्त्व है। ये सभी वेद्यवर्ग के तत्त्व हैं। इन समस्त तत्त्वों को आदिकारण 'माया' तत्त्व है।

स्वात्मन्यभेदेन पश्यति, अहमेते पदार्था इति, साऽस्येश्वरावस्था । यस्यां तु तानेवं स्फुटीभूतान् प्रध्वंसमानानिवाहमेते इत्यभेदेन पश्यति साऽस्य सदाशिवावस्था । यया स्वरूपेकीभूतांस्तानसद्रूपान् संपन्नान् पश्यति साऽस्य शक्त्यवस्थानाश्रितशून्यातिशून्याख्या । यस्यां तु स्वरूपमेव शुद्धं भाति साऽस्य

यथार्थतः पुरुष का स्वरूप क्या है ? इसके स्वरूप का प्रकाशन कैसे हो ? इस सत्तर्क की ओर जब प्रवृत्ति का उच्छलन होता है, तो मायात्मक वृत्तियों से छुटकारा मिलने लगता है अर्थात् माया की पराङ्मुखता और पुरुष का आभिमुख्य होने लगता है। इस विन्दु से तत्त्वों में शुद्धता आने लगती है। जो ऐसे विशुद्ध तत्त्व हैं, इन्हें शुद्ध अध्वा कहते हैं, उनकी प्रथम तत्त्व रूपा यह 'शुद्धविद्या' तत्त्व है।

एक ऐसी अवस्था भी आती है, जब इस समस्त अर्थराशि को स्वात्म में ही अभेद अद्वयभाव से अनुदर्शन करने लगता है, इस सम्पूर्ण इदन्ता को अहन्ता में आत्मसात् कर अवस्थित होता है और अहन्ता के ऐश्वर्य भाव से सब कुछ स्वात्ममय अनुभूत करता है। इस अवस्था में जिस तत्त्व का उल्लास रहता है, उसे 'ईश्वर' तत्त्व कहते हैं।

जिस अवस्था में इन स्फुटीभूत पदार्थों को प्रध्वंसमान रूप में ही अनुभूत कर मैं ही सब कुछ हूँ, यह अवस्थोकर्ष प्राप्त कर लेता है, उस समय इदन्ता अत्यन्त क्षीण हो जाती है। अहन्ता का ही सार्वत्रिक उल्लास रहता है। उस अवस्था की शाश्वतता में शिवत्व की प्रमुखता के कारण शास्त्रों ने इसका नाम 'सदाशिव' तत्त्व निर्धारित किया है।

अब केवल विमर्श की दशा का प्राधान्य हो जाता है। परामर्शप्रधान इस अवस्था में इस दृश्यादृश्य जगत् का सब कुछ असत् रूप ही भासित होने लगता है। साथ ही स्वात्मैक्यभाव से ही उच्छलित अनुभूत होता है। इस दशा को 'शक्ति' तत्त्व कहते हैं। यह अनाश्रित शून्यातिशून्याख्या अवस्था मानी जाती है।

शिवावस्था। मया समग्रमेतद् वैचित्र्यं परामृश्यते साऽस्य पूर्णावस्थेत्येवं विश्वं सर्वं सर्वतः पूर्णं पश्यन्नद्वय एव भाति। स्वशक्त्या च विश्वं भेदयन् एकमपि घटरूपं पदार्थमसङ्ख्यभेदभिन्नं पश्यति। तद्यथा—घटोऽयं मया ज्ञातः, चैत्रेण चक्षुषा ज्ञातः, सोऽहमस्य ज्ञातः, सोऽन्येन ज्ञातः, एषोऽपि सर्वज्ञैर्ज्ञातः, भगवता

जिस अवस्था में 'स्व' बोध के ही महाप्रकाशोल्लास का नैर्मल्य आभासमान हो वह 'शिव' तत्त्व की सर्वोच्च अवस्था है। इसके द्वारा यह समग्र प्रकाशमय वैचित्र्यचमत्कार परामर्शभूषित होकर सर्वात्मकता में पूर्णावस्था को प्राप्त कर लेता है। श्रुतिका 'पूर्णमदःपूर्णमिदं' का नादात्मक अनुसन्धान इसी दशा में चरितार्थ प्रतीत होता है।

इस प्रकार ३६ तत्त्वात्मक यह सम्प्रसार प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति वृत्तियों के ऐक्य और तादात्म्य भाव में ही समाहित रहता है। सर्वत्र सर्वतोभावेन पूर्णतामयी परमशिवता को अद्वयता ही प्रभासित रहती है। यहाँ भाषा केवल उपचरित रह जाती है।

शिव अपनी शक्ति से विश्व में भेदमयता को भी भासित किये रहता है। एक में अनन्त और अनन्त में एकत्व के अनुदर्शन से प्रसन्न भी होता है। आगम कहता है कि, "स्वात्मफलक पर स्वात्मतूलिका से विश्वचित्र को उकेरता, देखता और पूर्ण प्रसन्न होता है।"

भेदमयता के संप्रीणन में पूर्णता का अनुरणन है घड़ा एक पदार्थ है किन्तु इसमें भी आनन्त्य का अनुदर्शन होता है। जैसे भाषा के इन प्रयोगों में इस भेदमयता को इस तरह जाना जा सकता है—

१. यह घड़ा मेरे द्वारा जाना गया है।

२. चैत्र नामक पुरुष ने इसे अपनी आँखों देखा है।

३. चैत्र द्वारा मैं भी इसका ज्ञान कर सका।

४. यह घट पदार्थ अन्यों द्वारा भी ज्ञात हुआ।

५. यह सर्वज्ञों द्वारा भी ज्ञात है।

६. यह भगवान् परमशिव द्वारा भी विज्ञात है।

परमशिवेन ज्ञातः। एते च वस्तुधर्मा एव तथैवार्थ्यमानत्वाच्चित्रार्थक्रिया-कारिकारित्वाच्च। तस्मादात्माधीनं भेदाभेदावभासवैचित्र्यं पश्यन् आत्मानं सर्वोत्तीर्णं सर्वात्मानं च पश्येत् परमेश्वरीभूतम्। अतश्च—

भूम्यादौ तत्त्वजाले नहि भवति वपुस्तादृशं यत्प्रमातुः
संविद्विश्रान्तिवन्ध्यं स्फुरति स बहुधा मातृभावोऽस्य तस्मात्।
तेनास्मिन् वेद्यजाले क्रमगतकलनां निर्विकल्पामहन्ता-
स्वातन्त्र्यामर्शसारां भुवमधिवसतः प्राप्नुत स्वात्मसत्ताम् ॥१॥

ये उक्त सारी जानकारियाँ किस श्रेणी में आती हैं? इस प्रश्न का उत्तर स्वयं शास्त्रकार ने ही दे दिया है। उनका कहना है कि, ये सभी वस्तु धर्मरूप ही हैं। क्योंकि इनका उसी पदार्थ के रूप में चिन्तन हुआ है। साथ ही साथ यह भी ध्यातव्य है कि, इनकी अर्थसत्ता में इस प्रकार की चित्रार्थकारिता भी विद्यमान है।

चिन्तन की इस आधारशिला पर विराजमान साधक या शक्तिमान् यह देखता है कि, यह सब आत्माधीन है। इसमें भेद वैचित्र्य भी है। अभेदात्मकता का भी इसमें उल्लास है। ऐसी विमर्शात्मकता के स्तर पर स्वात्म को दो स्थितियों में अनुभूत करता है। १. सर्वोत्तीर्ण रूप में और २. सार्वात्म्यभावनाभावित सर्वमय रूप में। तटस्थ दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि, यही पारमेश्वर्य दशा है। इसलिये शास्त्र यह उद्बोधित करते हैं कि,

भूमि से लेकर शिव प्रमाता पर्यन्त जितना भी यह तत्त्ववर्ग है, इसमें प्रमाता का वह सर्वोच्च स्वरूप साक्षात् अनुभूत नहीं होता, इसका एक विशिष्ट हेतु है। शिव प्रमाता शाश्वतरूप से संविद्विश्रान्त होता है। सर्जन के इस प्रस्फार-विस्फार दशा में वह संकोच को स्वीकार कर लेता है। इस अवस्था को संविद्विश्रान्तिवन्ध्य दशा कहते हैं। इस दशा में

आह च—

मा० पा०

सअलउअद्धजालु निअधअणिपरिमरिमेहहरो ।
चेअणुभरिअभरिउ अप्पहमणिसचिअपाणिमणु ॥ १ ॥
माणसपाणपवण धोसामसुपूरितजजिखणु ।
तं जिघडाइ निहलु परभइरवणाहहुहोइतणु ॥ २ ॥
मत्तिदाणुआदाहणु प्रअणुसण्णिहाणुइउ अहिणअउडु ।
सब्बिह अद्धकलण निब्बाहाराएतिलडेचिअएहइतत्त्व ॥ ३ ॥

शो० पा०

सअलउ अद्ध-जालु निअ देअणि परिमरिसेह खणु ।
चेअणु भरिअ-भरिउ अप्पह मणि सोच्चिअ पाणि मणु ॥ १ ॥
माणस-पाण-पवण-वोसास-सुपूरिउ जं जि खणु ।
तं जि घडाइनिहलु(?) पर-भइरव-णाहहु होइ तणु ॥ २ ॥
मंत-दाणु-आवाहणु-आसणु-संनिहाणु इउ अहिणअ-उत्तु ।
छब्बिह-अद्ध-कलण-निब्बाहणु एत्तिलहुच्चिअ एहउ तत्तु ॥ ३॥

संविद्वपुष् परमेश्वर भेदवादी आनन्त्य में प्रस्फुरित होता है। उसका प्रमातृत्व भी उसी का समर्थक बनकर अनन्त रूपों में स्फुरित हो जाता है।

परिणामस्वरूप इस वेद्य विश्वात्मक विस्तार में भ्रान्ति की भीषा को अवकाश मिल जाता है। इसलिये इसमें सावधान रहने की आवश्यकता है। साधक का यह कर्त्तव्य है कि, वह इस धरा के धृतिधाम में निवास करते हुए स्वातन्त्र्यरूप विमर्श रहस्य रूप स्वात्म के निर्विकल्प अहन्ता को समझे और उस स्वात्म सत्ता को प्राप्त कर ले। यही उपदेश है, यही आदेश है और यही साधना ही ईश में अनुप्रवेश का मुख्य द्वार है।

सं० छाया

सकलमध्वजालं निज देहे परिमर्शयत क्षणम् ।
चेतनं भूत्वा-भूत्वा आत्ममनसि स एव··· ॥ १ ॥
मानस-प्राण-पवन-विश्वास-सुपूरितं यदेव क्षणम् ।
तदेव घटते खलु(?) परभैरवनाथस्य भवति तनूः ॥ २ ॥
मन्त्रदानमावाहनमासनं संनिधानमेतदभिनवोक्तम् ।
षड्विधाध्वकल्नानिर्वाहः एतावदेव एतत्तत्त्वम् ॥ ३ ॥

॥ इति सप्तममाह्निकम् ॥

तीन प्राकृत श्लोकों[1] द्वारा इस विषय का उपवृंहण कर रहे हैं—

समस्त अध्वजाल को अर्थात् छः अध्वामय इस प्रपञ्चात्मक विस्तार को अपने शरीर में ही आप सभी परामृष्ट करें। क्षण भर आसन पर बैठें। समय निकालें और कालात्मक स्पन्दात्मक क्षणों का विचार करें। इस चिन्मय चैतन्य प्रसार को स्वात्म में उल्लसित होते अनुभव करें। आप पायेंगे कि, यह देह भी वही है। वही सर्वत्र व्याप्त परम तत्त्व है ॥ १ ॥

अपने मानसिक धरातल पर संकल्पों को निर्विकल्पता के अमृत से अभिषिक्त करें। प्राण स्पन्द में श्वास के क्रम का अवलोकन करें। आस्था और शैवमहाभाव में निष्ठापूर्ण विश्वास से स्वात्म को आपूरित कर दें। वह क्षण आने दें, जब परभैरव आप में उतर आवें। उस समय बुद्धत्व घटित हो जाता है। आप आप नहीं रह जायेंगे वरन् यह शरीर परभैरव प्रमाता का शरीर हो जायेगा और जीवन धन्य हो उठेगा ॥ २ ॥

मन्त्रों के परनादगर्भ रहस्य का भूरिशः प्रतिपादन, हान और आदान मय हेयोपादेयात्मक विज्ञान, आवाहन, आसन विज्ञान और सन्निधान के

---

१. तन्त्रसार आ० १० खण्ड दो पृ० ९४

सम्बन्ध में महामाहेश्वर श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य ने श्रीतन्त्रालोक नामक समस्तागमोपनिषद् रूप तान्त्रिक विश्वकोषात्मक महाग्रन्थ में विशद चर्चा ही नहीं की है, वरन् उनका प्रतिपादन भी किया है। पूरा ग्रन्थ साधक को साधना के पथ को प्रशस्त करता है। षडध्व के निर्वाह की विधि में साधक को संलग्न कर उसे परम नैपुण्य प्रदान करता है। उसे यह बोध हो जाता है कि, यह तत्त्वजाल क्या है और इसमें ओतप्रोत परमतत्त्व क्या है ॥ ३ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तपादविरचित

डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य

संवलित

तन्त्रोच्चय का

सप्तम आह्निक परिपूर्ण ॥ ७ ॥

●

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेकभाषाभाष्यसंवलिते

तन्त्रोच्चये

अष्टममाह्निकम्

एतावद्यदुक्तं तत् कस्यचित् प्रमातुर्गुरुवचनं विनैव स्वयं प्रकाशते, कस्यचिद् गुरुवचसा। कस्यचित्तु ज्ञानयोग्यत्वं न भवति, तथापि चैवंविधाभ्यस्तज्ञानमहिम्नो गुरोः सकाशाद् दीक्षामासाद्य मुक्तिं लभते । एतावति च परमेश्वरस्यैव स्वातन्त्र्यम्। तथा हि—

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य-श्रीमदभिनवगुप्तविरचित
डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलित

तन्त्रोच्चय

का

अष्टम आह्निक

इतना जो कुछ कहा गया, यह किसी संस्कार सम्पन्न साधक प्रमाता के हृदय में गुरु की दीक्षा के विना भी स्वयं प्रकाशमान हो जाता है। स्वबोध का महाप्रकाश स्वयम् उसे प्रकाशमान कर देता है। किसी साधक को गुरु वचनों से अर्थात् शास्त्रों से प्रेरणा मिलती है और उन्हें स्वेच्छानुसार समयाचार पालन से प्रकाश उपलब्ध हो जाता है। बहुत से ऐसे लोग भी होते हैं, जो ज्ञान के योग्य ही नहीं होते। शास्त्रोक्त संज्ञान की दिशा में स्वभ्यस्त ज्ञानवान् और महिमान्वित गुरु के शरण में पहुँच कर यदि कोई दीक्षा प्राप्त कर लेता है और दीक्षानुसार स्वयम् सतत अभ्यास करता है, तो वह भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

यथा निरर्गलो स्वात्मस्वातन्त्र्यात् परमेश्वरः ।
आच्छादयेत् परं धाम तथा विवृणुयादपि ॥ १ ॥

अत एवानपेक्षक एव विचित्रः पारमेश्वरः शक्तिपातः । स्वातन्त्र्यादेव च क्वचित् परमेश्वरो गुरुशास्त्रमन्त्रदीक्षाविषयगर्हाक्रान्तहृदयेऽपि तदनुष्ठानमतिं ददाति, योऽसौ तिरोहित इत्युच्यते । यथाह—

यहाँ तीन प्रकार से ज्ञान प्राप्ति की उद्घोषणा की गयी है । १. स्वतः सम्प्राप्त संज्ञान, २. शास्त्रतः प्राप्त संज्ञान और गुरुतः प्राप्त मुक्ति विज्ञान । इन तीनों में स्वतः प्राप्त ज्ञान को ही प्रमुखता दी गयी है । दूसरे स्थान 'गुरुवचस्' को महत्त्व दिया गया है । परमगुरु स्वयं परमेश्वर शिव हैं । उनकी वाणी रूप ही सारा तन्त्रागमशास्त्र है । तीसरे स्थान पर गुरुतः ज्ञान को रखा गया है । शास्त्र कहते हैं कि 'अज्ञविषया दीक्षा' होती है । यहाँ भी लिखा गया है कि 'कस्यचित्तु ज्ञान योग्यत्वं न भवति आदि । इन विषयों के मूल में परमेश्वर स्वातन्त्र्य का ही श्रेय है । कहा गया है कि[1],

"परमेश्वर सर्वथा अर्गला (बन्ध, मल, अज्ञान, पाश, पारतन्त्र्य, नियन्त्रण) से मुक्त है, रहित है । उसकी सर्वोत्कर्षरूपा शक्ति उसका विमर्श है । उसकी संप्रीणनात्मक क्रीडा है । खेल खेल में ही वह अपने धाम रूप प्रकाश को आच्छादित कर लेता है और जब चाहे उन्मुक्त हो जाता है ॥ १ ॥

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि, शैवशक्तिपात किसी की अपेक्षा नहीं करता । वह वैचित्र्य के चमत्कारों से चैतन्य को रोचिष्णुता प्रदान करता है । स्वातन्त्र्य के प्रभाव से ही वह कहीं गुरुजनों को, शास्त्र लेखन या संपादन की, मन्त्र को सिद्ध करने की प्रेरणा देता है तथा दीक्षा देकर नाम कमाने और विषयाकर्षण रूप लोलुपता की निन्दनीयता से आक्रान्त हृदय वाले लोगों को भी स्वात्म संबोध से शैवमहाभाव में तादात्म्यपूर्वक अनुप्रवेश

---

१. तन्त्रसार भा० ११ द्वितीय खण्ड पृ० ११६

अप्रबुद्धेऽपि वा धाम्नि स्वस्मिन् बुद्धवदाचरेत् ।

सोऽपि च पुनरपि परमेश्वरेणानुगृह्येतापीत्युक्तम्—

भूयो बुद्धचेत वा सोऽयं शक्तिपातोऽनपेक्षकः ॥ २ ॥

आह च—

मा० पा०

जह निअझंउ महेसरू अच्छवि संविरवितह ।

पसरु अत्ति विपर पसरु अच्छ इविमल सरूइ ॥ १ ॥

शो० पा०

जह निअ-रूउ महेसरुअ अच्छइ संवरिवि ।

तह पुणु पअडिवि पर-पसरु अच्छइ विमल-सरूइ ॥ १ ॥

सं० छाया

यथा निजरूपं महेश्वरः आस्ते संवृत्य ।

तथा पुनः प्रकटयित्वा पर-प्रसरः आस्ते विमलस्वरूपे ॥ १ ॥

विधि के अनुष्ठान की सुमति प्रदान करता है। ऐसे लोग तिरोहित कहलाते हैं। उनको भी अनुग्रहोपलब्धि के लिये अनुप्रेरित करता है। जैसा कि, कहा गया है—

तिरोहित पुरुष अप्रबुद्ध रहता या होता है। उसे स्वात्मबोध का का स्पर्श भी नहीं होता। अपने उसी धाम में आडम्बरमय बौद्धिक चातुर्य के कारण प्रबुद्धवत् आचरण करता है। यह उसकी विडम्बना ही है। ऐसा पुरुष भी आभिमुख्य के उल्लास होने पर बोधसुधा से सिक्त हो जाता है। उस पर पारमेश्वर शक्तिपात हो जाता है। भोगवाद में कर्मफल को अपेक्षा रहती है। यह शक्तिपात अनपेक्षक अर्थात् निरपेक्ष होता है।' निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि, ऐसा पुरुष भी परमेश्वर के द्वारा अनुगृहीत होता है। यह निरपेक्ष अनुग्रह माना जाता है ॥ २ ॥

एवं यो भगवच्छक्तिपातेन दीक्षाक्रमेण ज्ञानयोग्यः कृतस्तं प्रति दीक्षा वक्तव्या। तत्र चादौ स्नानमुद्दिष्टम्। स्नानं च कालुष्यस्यासंविद्रूपताभिमानस्य यदपासनं तदेव। तदुपयोगि तु यत्किञ्चिज्जलादिक्षालनं तदपि संविन्नैर्मल्य-लेशहेतुतया भवतु स्नानम्। तदुपयोगित्वेनैव तत्र विधिः।

प्राकृत श्लोकों द्वारा इसी तथ्य का उपवृंहण कर रहे हैं[1]—

जैसे निरर्गल परमेश्वर अपने स्वात्म 'स्व' रूप को स्वातन्त्र्य के बल पर संवृत कर लेता है अर्थात् संकोच को स्वीकार कर अणुता को अङ्गीकार कर लेता है, उसी तरह पुनः आवरण का निराकरण कर अपने रूप को प्रकट भी कर लेता है। ऐसा परप्रसर परमेश्वर अपने नैर्मल्य मनोहर विमल स्वरूप में शाश्वत भासित है ॥ १ ॥

इस प्रकार भगवान् शिव के शक्तिपात से पवित्र व्यक्ति इस शैवी दीक्षा क्रम से ज्ञान योग्य हो जाता है। यह शक्तिपात रूपी दीक्षा का ही प्रभाव होता है। शिवानुग्रह रूप शक्तिपात एक दीक्षा ही है। उससे वह ज्ञान योग्य कर दिया जाता है। जो ऐसी योग्यता प्राप्त कर लेता है, उसी के लिये यह शास्त्रीय दीक्षा का भी विधान लागू होता है। इसमें सर्वप्रथम स्नान का उपदेश दिया जाता है। यहाँ 'स्नान' किसे कहते हैं, यह जानना आवश्यक है। शास्त्रकार कह रहे हैं कि, संवित्तत्त्व के नैर्मल्य के विपरीत असंवित्ति पूर्ण देहाभिमान ही संसार का सबसे बड़ा कालुष्य अर्थात् पाप है। इसका निराकरण कर स्वात्म संज्ञान के अमृत से नहाना ही स्नान माना जाता है। इसी प्रक्रिया में जल आदि से शरीर का प्रक्षालन करना भी चूंकि संविन्नैर्मल्यलेश का हेतु ही होता है। इसलिये इसे भी 'स्नान' कहा जा सकता है। संविन्नैर्मल्य साधना में उपयोगी होने की प्रक्रिया में विधि अपेक्षित है। कहा भी गया है कि,

---

१. तन्त्रसार आ० ११

आह च—

मा० पा०

परमानन्दनिमज्जणु इउपरमत्थिण ह्लाणु ।
तहिं आविट्ठतरत्ति दिणु जाणइ पर अप्पाणु ॥ २ ॥

शो० पा०

परमानन्द-निमज्जणउ इउ परमत्थिण ह्लाणु ।
तहिं आविट्ठउ रत्तिदिणु जाणइ परअप्पाणु ॥ २ ॥

सं० छाया

परमानन्दनिमज्जनम् इदं परमार्थेन स्नानम् ।
तत्र आविष्टः रात्रिन्दिवं जानाति परमात्मानम् ॥ २ ॥

एवं कृतस्नानो यदेव हृदयाह्लाददायि तदेव यागस्थानं गच्छेत् । तत्र स्थण्डिले मण्डले स्वशक्तिगुरुदेहचक्रप्राणान्तरात्मसु वा उक्तातिविस्तरपूर्णत्वोत्तीर्णत्वसंविद्रूपत्वतादात्म्यभावनात्मकानुत्तरसंस्कारसंस्कृतेषु देवताचक्रं वक्ष्य-

---

परमानन्द पीयूष राशि रूप परिधि में निमज्जन ही पारमार्थिक रूप से वास्तविक स्नान[1] माना जाता है। आनन्द में समावेश सिद्ध पुरुष ही उसमें आविष्ट हो पाता है। यह समावेश क्षणिक नहीं होता बरन् रातदिन चारों पहर चौबीसों घंटे अनवरत बना रहता है। ऐसा आनन्द-समावेश-सिद्ध साधक ही परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को जानता है ॥ २ ॥

इस प्रकार के स्नान का व्यसनी पुरुष समाज का आदर्श पुरुष होता है। उसे जो स्थान अच्छा लगे, उसके हृदय में जो आह्लाद उत्पन्न कर दे, उसी स्थान को यागस्थान मान ले। वहाँ जाय। वेदी का निर्माण करावे। मण्डल रचना से उस स्थान को आकर्षक रूप दे दे।

वहाँ किन किन की किस तरह पूजा करनी चाहिये, इसका वर्णन शास्त्रकार कर रहे हैं। उनके अनुसार सर्वप्रथम स्वात्म शक्ति की पूजा होनी

---

१. तन्त्रसार आ० १२ अन्तिम प्राकृत श्लोक ।

माणविधिनाऽर्चयेत् । तत्र शक्तित्रयात्मा योऽसौ परमशिवः सप्तत्रिंशो भैरवस्त-मप्युल्लङ्घ्य तमासनपक्षीकृत्याष्टात्रिंशत्तमीयाऽसौ भगवती परसंविदुक्ता सैव चण्डयोगोश्वर्यात्मिका विश्वग्राससृष्टिचक्रवाहिनो द्वादशभिर्मरीचिरूपाभि-र्देवताभिः सह केवला वा विश्वाविभेदवृत्त्या पूज्या । पूजाविधिस्त्वयं गुरुवचनगम्यो योगिनीहृदयवक्त्रारूढः ।

चाहिये । 'स्व शक्ति' शब्द संविद्भगवती पराभट्टारिका के लिये भो प्रयुक्त किया गया है । इसे उपर्वृहित करते हुए शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

परामशिव तोन आनन्द, इच्छा और उन्मेष शक्तियों से सम्पन्न हैं । इसीलिये उन्हें शक्तित्रयात्मा भी कहते हैं । तत्त्वक्रम में परमशिव सैंतीसवें तत्त्व के रूप में शास्त्रों में प्रतिपादित तत्त्व हैं । इस अवस्था में अधिकांश भक्त उन्हें भैरव संज्ञा से विभूषित करते हैं । इस सैंतीसवें तत्त्व को भी अतिक्रान्त कर, एक तरह से उसे आसन रूप से स्वोकृत कर अष्टत्रिंशत्तमीया अर्थात् अड़तीसवीं परासंविद्भगवती विराजमान है ।

परासंविद् भगवती को शास्त्र चण्डयोगेश्वरी भो कहते हैं । यही पराशक्ति एक ओर विश्व का ग्रास भी करती है और दूसरी ओर सृष्टि चक्र का वहन भी करती है । इस तरह यह सृष्टि और संहार की व्यवस्थापिका शक्ति सिद्ध हो जातो है । यह द्वादशमरीचि रूपा दिव्य काली शक्तियों के साथ ही समर्चनोय होतो है । इसके अतिरिक्त केवल इसी को पूजा भी की जाती है । अपनी आस्था, श्रद्धा और भक्ति के अनुसार इसकी अर्चना सम्पन्न करनी चाहिये । इस पूजा में सर्वदा यह ध्यान रखना चाहिये कि, इससे विश्व का कोई भेद नहीं है । अद्वैत अद्वयभाव से यह विराजमान शक्ति सर्वत्र व्याप्त है । इस तरह स्वशक्ति पूजा पूरी की जाती है ।

दूसरे स्थान पर गुरुदेव का क्रम आता है । गुरु भी परमेश्वर रूप में ही पूजित होते हैं । गुरुपूजा में ही परमेश्वर पूजा भी निहित है ।

[1]शक्तिस्तद्वदभिन्ना कार्यसहोद्भूतिरूपा सा ।
अन्योन्योचितपूजा-पूज्यानन्दान्तिकत्वलाभफलम् ॥ १ ॥
निजनिजभोगाभोगप्रविकासमयस्वरूपपरिमर्शे ।
क्रमशोऽनुचक्रचर्याश्चिचक्रेशं च मध्यमं यान्ति ॥ २ ॥

इसके बाद देह का तीसरा स्थान है। देह परमेश्वर का मन्दिर है। यही विश्वायतन है। यह पिण्ड भी है, ब्रह्माण्ड भी है। अंश भी है, निरंश भी है। इसमें ३८ तत्त्वों का सन्निधान है। यह सर्वमय है। अतः पूज्य है।

चौथे स्थान पर चक्र, पाँचवें स्थान पर प्राण और छठें स्थान पर अन्तरात्मा पूज्य रूप में आकलनीय हैं। इनकी पूजा में सृष्टि के सर्वात्मक विस्तार, इनकी पूर्णता, इनकी सर्वोत्तीर्णता, संविद्रूपता, तादात्म्य भावना रूप अनुत्तर तत्त्व को संस्कार-सम्पन्नता का ध्यान रखना अनिवार्यतः आवश्यक माना जाता है। इन वृत्तियों के संस्कृत होने पर धरा से अन्तरात्मा पर्यन्त तत्त्व प्रतिनिधियों की पूजा की जा सकती है। पूजा की विधि गुरुवचन गम्य, योगिनी हृदय निष्ठ पञ्चवक्त्रनिगूढ शास्त्रों से अवगत करनी चाहिये।

एतद्विषयक नौ आर्याछन्दात्मक श्लोकों में इसका उपबृंहण कर रहे हैं—

शक्ति की परिभाषा का इस श्लोक में विश्लेषण किया गया है। शक्ति शक्तिमान् से अभिन्न है। कारण रूप शक्तिमान् (तद्वान्) से कार्य को उत्पत्ति की साधिका यही तत्त्वरूपिणी शक्ति है। इनकी पूजा के अनन्तर अन्य-अन्य शक्तियों और शक्तिमन्तों की उचित पूजामें पूज्य भाव का एक विलक्षण आनन्द उपलब्ध होता है। यही इनकी पूजा का फल है ॥ १ ॥

---

१. तन्त्रसारे आ० २२ स्थितोपसंहार भागगत ३२ कारिकाणां मूलरूपं संक्षेपरूपं च,

अनुचक्रदेवतात्मकमरीचिसंपूर्णवीर्यमथ युगलम् ।
उच्छलदुन्मुखमनुचक्रमैक्यं समुच्छालयेत् ॥ ३ ॥
इत्थं युगलकमेतद् गलितभिदासंकथं यदा तदैव ।
ध्रुवधामानुत्तरचिद्विसर्गसंघट्ट एष परः ॥ ४ ॥
शान्तोदितविसर्गद्वयमस्मात् सूयतेऽत्र ये द्वितये ।
अनुसंदधति प्राच्यां सत्तां चैतेऽनवच्छिन्नाः ॥ ५ ॥

क्रमशः शरीरस्थ और बाह्य चक्रों को अर्चना को हो जिन लोगों ने अपनी चर्या का विषय बना लिया है, वे महनीय पुरुष माने जाते हैं। वे अपने कर्मविषाक के स्वयं साक्षी बन जाते हैं। वे अपने-अपने जीवन के भोगाभोग के इस प्रविकसित स्वरूप के परामर्श में रत रहते हैं। वे सबके मध्य अर्थात् केन्द्र में प्रतिष्ठित चितिशक्ति के चक्रेश्वर के परम पद पर अधिष्ठित होने में समर्थ हो जाते हैं ॥ २ ॥

देह सत्ता में चक्रों और अनुचक्रों को सत्ता का भी सौहित्य समझने का विषय है। इन सभी अनुचक्रों में दिव्य शक्तियों का अधिष्ठान है। उन्हें देवता भी कहते हैं। उनसे निकलने वाले प्रकाश की रश्मियों से भी शक्ति शक्तिमान् का अभिनन्दन होता रहता है। इस तरह देवतात्मक मरीचियों से अर्चित पूर्णवीर्य युगल रूप शक्ति और शक्तिमान् के साथ अनुचक्रों के साथ उच्छलित सर्वात्मक ऐक्य भाव को पौनः पुन्य भाव से उच्छलित करना चाहिये ॥ ३ ॥

इस तादात्म्यमय समुच्छलन में शक्ति शक्तिमान् में कोई भेद नहीं रह जाता। यह युगल कहने के लिये युगल है किन्तु वस्तुतः वह एक ही होता है। इस गलितभेदमयो अवियुक्तावस्था में हो ध्रुवधाम रूपी अनुत्तर चित् और विसर्ग का संघट्ट अनुभूति का विषय बन जाता है। यह परात्मक धाम ही षोडशतम धाम कहलाता है ॥ ४ ॥

एतत् त्रिविसर्गान्तः विसर्गवीर्योपवृंहिते मन्त्रे ।
तदिदं वक्त्रे कृत्वा तत्तृप्त्या सिद्धिमुक्तिदं चक्रम् ॥ ६ ॥
मध्यस्थनालगुम्फितसरोजयुगघट्टनक्रमादग्नौ ।
मध्यस्थ पूर्णशशधरसुन्दरदिनकरकलौघसंघट्टात् ॥ ७ ॥

शान्त और उदित नामक उभय विसर्ग को सूति, विशिष्ट सम्प्रदाय सिद्ध मान्यता की तरह शास्त्र में स्वोकृत है। इसमें उदित का अनुसन्धान करना स्वाभाविक है किन्तु सिद्ध योगी अनवच्छिन्न रूप से प्राच्य सत्ता अर्थात् शान्त भाव में समाहित रहते हैं ॥ ५ ॥

इस प्रकार चिद्विसर्ग, शान्तविसर्ग और उदित विसर्ग का विसर्गत्रितय शाश्वत उल्लसित है, यह सिद्ध हो जाता है। इस विसर्गात्मक रहस्यगर्भ दशा में मन्त्र सत्ता को अनुभूति वरदान बन कर उतरती है। इस मन्त्र में विसर्ग वोर्य का उपबृंहण होता है। अनुत्तर में अवस्थित साधक इसे स्ववक्त्रस्थ करता है। अपनो समस्त सत्ता को उससे प्रेरित करता और अनुत्तर बना लेता है। इस दशा में परातृप्ति उपलब्ध होतो है। परातृप्ति का एक अप्रत्याशित प्रभाव पड़ता है। ऐसा महनीय साधक एक अप्रकल्पनोय प्रकाश मण्डल के चक्र में स्वयं प्रतिष्ठित हो जाता है। यहाँ उसे सारी सिद्धियाँ और स्वयं मुक्ति भी कृतार्थ कर जातो है। उस चक्र को सिद्धि मुक्ति प्रद संज्ञा से विभूषित करते हैं। योगो इसमें सर्वदा प्रतिष्ठित रहता है ॥ ६ ॥

प्राणापानवाह प्रक्रिया में सिद्ध साधक अश्विनो मुद्रा से मूलकमल को विकसित कर लेता है। इसो क्रम में वह सहस्रदलकमल तक को मंजिल प्राप्त कर लेता है। इन दोनों के मध्य में प्राणदण्ड मध्यनाल का काम करता है। इसी मध्यनाल में दोनों कमल गुम्फित होते हैं। यहाँ प्राणापान का संघट्ट होता है। इस संघट्ट से 'शुचि' नामक अग्नि को निष्पत्ति हो जातो है। जैसे दो वारिद शकल के संघट्ट से सौदामिनो कौंध जातो है। इसी के

सृष्टचादिक्रममन्तः कुर्वंस्तुर्ये स्थितिं लभते ।
एतत् खेचरमुद्रावेशोऽन्योन्यं च शक्तिशक्तिमतोः ॥ ८ ॥
अव्यक्तध्वनिरावस्फोटाख्यतिनादनादान्तैः ।
अव्युच्छिन्नानाहतपरमार्थैर्मन्त्रबीजं तत् ॥ ९ ॥
त्यक्ताशङ्को निराचारो नाहमस्मीति भावयन् ।
कर्णाक्षिमुखनासादिचक्रस्थं देवतागणम् ॥ १० ॥

अन्तराल में पूर्णशशधर रूप अपानचन्द्र (सोमतत्त्व) और सुन्दर दिनकर रूप प्राण अर्क भी संघट्टित होते हैं। इसका स्थान ऊर्ध्व द्वादशान्त होता है। सूर्य के ताप से शशधर द्रवित होता है। एक दिव्य सुधा धारा साधक को अभिषिक्त कर जाती है ॥ ७ ॥

उस समय साधक समस्त उन्मेष क्रम रूप सर्जन सत्ता को आत्मसात् कर लेता है। वह प्रतिष्ठा कला को पार कर तुर्य धाम में प्रतिष्ठित हो हो जाता है। उसकी खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाती है। वह आकाशचारी तो पहले से है किन्तु छः 'ख' के पार प्रतिष्ठित होता है। छः 'ख' इस प्रकार हैं—१. बिन्दु, २. नाद, ३. नादान्त, ४. शक्ति, ५. व्यापिनी और ६. समना। इन छः 'ख' तत्त्वों को पार किये विना खेचरी मुद्रावेश नहीं हो सकता। शक्ति शक्तिमान् का अन्योन्याश्रित भाव यहाँ स्फुरित होकर उसे कृतार्थ करता है ॥ ८ ॥

शक्तिशक्तिमान् के अन्योन्य आत्मसाद्भाव की परा स्थिति में ही मन्त्रबीज स्फुरित होता है। वह एक अव्यक्त ध्वनि की उन्मिषत् अवस्था होती है। उसके अनुगमन के उत्कर्ष क्रम में राव, स्फोट रूप नाद और नादान्त के पड़ाव आते हैं। अव्युच्छिन्न अनाहत पारमार्थिक बिन्दुओं के माहात्म्य में ही मन्त्रबीज विकसित होते हैं ॥ ९ ॥

अन्तःस्थं देवताचक्रं ह्लादोद्वेगादि चिद्घने ।
गृहीतारं सदा पश्यन् खेचर्या सिद्धयति ध्रुवम् ॥ ११ ॥
आर्यानवकश्लोकद्वितयार्थं शम्भुनाथमुखकमला-
दाप्तं समामनन्तः सद्यः स्युर्भैरवा एव ॥ १२ ॥

ये नो आर्या छन्द तन्त्र साधना के शब्द चित्र हैं। इस खेचरी मुद्रा समावेश सिद्धि से साधक धन्य हो जाता है और—

१. समस्त शङ्कातङ्ककलङ्कपङ्क को प्रक्षालित कर लेता है।

२. समस्त समयाचारों को अतिक्रान्त कर निराचार स्थिति को पा लेता है।

३. उसका देहाध्यास ध्वस्त हो जाता है। अब वह 'मैं यह नहीं हूँ, वह हूँ। 'सोहमस्मि' की वृत्ति का अनवरत भावन करता है।

४. कान, आँख, मुख और नासिका आदि चक्रों में प्रतिष्ठित करणेश्वरी देवियों का तथा अन्तःस्थ आत्मदेव का दर्शन करता है।

५. शरीर की अस्तित्वमयी वृत्तियों में आह्लाद और उद्वेग आदि के बुलबुलों का उल्लास होता ही रहता है किन्तु इस साधक के चिदाकाश में घटित ऐसी वृत्तियों का ग्रहीता कौन है ? साधक इसका साक्षी बन जाता है।

६. यह सब खेचरी मुद्रा की सिद्धि के प्रतीक चित्र हैं। इनका वह चितेरा हो जाता है।

७. उक्त छः बिन्दुओं में सिद्धि के जो तत्त्व हैं, उनको वह आत्मसात् कर लेता है।

शास्त्रकार कहते हैं कि, उक्त आर्याओं में आध्यात्मिक साधना के मुख्यार्थ के साथ ही चर्या के भी अर्थ समाहित हैं। हमने इन दोनों अर्थों को समझा है और अपने परमेष्ठि गुरुदेव शम्भुनाथ के मुखारविन्द से मकरन्द रस की तरह निःसृत इस अमृत को मधुपायो की तरह छक कर पिया है। जो साधक

एवमानन्दकार्यकारणेरेव परमेश्वरी सर्वाविभागमयी पूज्या। शक्त्यारूढेन च जप्तव्यम्। अनन्तरं च शिष्यं प्रवेश्य—

अध्वानमालोच्य समस्तमन्तः-
पूर्णं स्वमात्मानमथावलोक्य।
पश्येदनुग्राह्यधिया द्विषट्क-
पर्यन्तमेवं समयी शिशुः स्यात्॥ १३॥

इस अनन्त में प्रवेश पा लेता है, वह तत्काल भैरवीभाव से भूषित हो जाता है॥ १-२-३॥

यहाँ तक का उक्त वर्णन यागस्थान में बने मण्डल में पहले ही गुरु प्रोक्त आनन्दप्रद कार्यकारण भाव में व्याप्त, सर्वाविभागमयी परमेश्वर परमेश्वरी आदि के अर्चाक्रम का उपदेश रूप है। कैसे देवताचक्र को पूजा कैसे चण्ड योगेश्वरी और कैसे विश्वाविभेदवृत्ति से परमशिव की पूजा होती है तथा कैसे जप होता है। यह उपदेश देकर एक तरह से विधि से परिचित करा दिया गया है। शास्त्रकार अब कह रहे हैं कि, अब शिष्य को मण्डल में प्रवेश करा देना चाहिये—

अध्वावर्ग का[1] आन्तर अवलोकन और आलोचन कर और अपने को पूर्ण मान कर यह महाभाव अपनाना चाहिये कि, मेरी यह पूर्णता अभी मलावरण से आवृत है। इस अणुता के निराकरण का अनुग्रह गुरुदेव करेंगे। इस द्वादशान्त पर्यन्त पहुँचने की बुद्धि से शिशु शिष्य समयी हो जाता है॥ ४॥

इसके बाद प्राकृत श्लोक के माध्यम से विषय का उपबृंहण कर रहे हैं—

---

१. तन्त्रसार आ० १२

मा० पा०

सअलभा अर्परि उण्णउ परभैरउ अत्ताणु ।
जाइवि अग्गणि सण्णउ जोअभिमी सत्ताणु ॥ १४ ॥
एहस समयदिक्ख परभइरव जलणि हि मज्जणिण ।
इत्थति लज्जहवन बहुपभवहोइउवाउजिण ॥ १५ ॥

शो० पा०

सअल-भाव-परिउण्णउ परभइरउ अत्ताणु ।
जाइवि अग्गणिसण्णउ जोअभि सोसत्ताणु ॥ १४ ॥

शिष्य इस साधना क्रम से क्रमिक रूप से उत्कर्ष की ओर अग्रसर होता हुआ सकल भावों से अर्थात् शैवमहाभाव से परिपूर्ण हो जाता है। सकल शिव ही होता है। वह अपनी समस्त कलाओं के साथ उल्लसित है। सकलस्वात्म भाव शैवमहाभाव ही होता है। शिष्य इस जानकारी से परिपूर्ण हो जाता है। एक तरह से वह परभैरव रूप ही हो जाता है। वह उत्कर्ष के शिखर पर आरूढ हो जाता है। यही उसका अग्रनिषण्ण होना है। परम सत्ता से स्वात्म सत्ता को संयुक्त कर वह स्वयं शिवरूप हो जाता है ॥ ५ ॥

यह अपनी परम्परा से प्राप्त समय दीक्षा कहलाती है। इसको प्राप्त कर शिष्य परभैरव भाव में समाहित हो जाता है। परभैरवमहाभाव एक शाश्वत सुधाजलधि है। इसमें डूबना बड़े ही सौभाग्य का विषय है। कविवर बिहारी ने लिखा है—

'ज्यों ज्यों डूबे श्याम रंग त्यों त्यों उज्ज्वल होय !' इस महाभाव का निमज्जन भी शैवबोध के तादात्म्यमय महाप्रकाश से प्रकाशमान कर देता है।

जो प्रकाश के महावैश्वानर के प्रज्वाल में स्वात्म संवित्तादाम्यभाव से समाकर परमप्रकाशमय हो चुका है, उसे तिल और आज्य अर्थात् घी

एह स-समय-दिक्ख पर-
भइरव जलणिहि-मज्जणिण ।
इत्थ तिलज्जहवन बहु-परिभव
होइ उवाउ जिण ॥ १५ ॥

सं० छाया

सकलभावपरिपूर्णः परभैरव आत्मा ।
..................अग्रनिषण्णः.................. ॥ १४ ॥

एषा स्वसमयदीक्षा परभैरवजलनिधिमज्जनेन ।
अत्र तिलाज्यहोमे बहु परिभवः भवति उपाय एव न ॥१५॥

समयश्चास्य देवगुरुशास्त्रोपासनादयः स्वयमेव हृदये स्फुरेयुः, विततांश्च विततादवलोक्याः । इत्येषा तन्मन्त्रदेवतासंपत्तिप्रदा समयदीक्षा । पुत्रकदीक्षा तु देहान्तेऽपवर्गप्रदायिनी । तत्र विधिः —

आदि के होम की क्या आवश्यकता ? ऐसे होम नैमित्तिक होते हैं और भेदभाव के पोषक होते हैं । इनसे परिभव ही मिलता है । परिभव शब्द का परितः भूति अर्थ भी लगाया जा सकता है ?

यहाँ पाठभेद की भी समस्या है । इत्थ तिलज्जहवन की जगह काश्मीर सिरोज में लज्जहवन पाठ है । उसका अर्थ भेद से लाजा हवन अर्थ हो सकता है । परिभव का अर्थ प्रभाव भी लगाया जा सकता है ॥ ६ ॥

इस क्रम में यह जानना आवश्यक है कि, समय क्या है ? इसकी जानकारी शास्त्रकार दे रहे हैं । वे कहते हैं कि, आराध्य देव, गुरु और शास्त्र की सरणी और इनकी उपासना आदि की संलग्नता के भाव स्वयम् हृदय में उत्पन्न होते हैं । यह परसंविद्वपुष् परमेश्वर के अनुग्रह से ही सम्भव है । इस क्षेत्र में जो वितत अर्थात् विश्रुत हो चुके हैं, उन्हें उसी विशाल दृष्टि से देखना और उनका आदर्श ग्रहण करना चाहिये । आदर्श

अन्तः समस्ताध्वमयीं स्वसत्तां
बहिश्च संधाय विभेदशून्यः ।
शिष्यस्य धीप्राणतत्त्वं निजासु
तास्वेकतां संगमयेत् प्रबुद्धः ॥ १६ ॥
शिष्यैक-भावं झटिति प्रपद्य
तस्मिन् महानन्दविबोधपूर्णे ।
यावत् स विश्राम्यति तावदेव
शिवात्मभावं पशुरभ्युपैति ॥ १७ ॥

चर्या देवताओं, मन्त्रों आदि की कृपापूर्ण सम्पत्ति प्रदा समय दीक्षा कहलाती है। इसी सन्दर्भ में यह जानना भी आवश्यक है कि, पुत्रक दीक्षा देहान्त के उपरान्त मोक्षप्रदा होती है। इसकी विधि के सम्बन्ध में निर्देश कर रहे हैं—

प्रबुद्ध प्रज्ञापुरुष गुरु को स्वात्मसत्ता की आन्तरिकता में समस्त अध्वामयी रहस्यगर्भा परमात्मसत्ता की तादात्म्यमयी संगति में सिद्ध होना चाहिये। बाह्य जगत् में विभेदशून्य स्वात्म सत्ता का अनुसन्धान अनवरत उल्लसित होना चाहिये। इस उच्च स्वात्मानुभूति सत्ता में शिष्य की बुद्धि की, प्राणतत्त्व को और उसकी अस्तित्वमयी सत्ता की तादात्म्यमयी संगति करनी चाहिये ॥ ७ ॥

इस तरह गुरु-शिष्यैक्य-भाव घटित हो जाता है। गुरुदेव को इस भाव का सम्यक् आपादन कर लेना चाहिये। इस महाभाव में जितना ही गुरुदेव स्वात्म-विश्रान्ति में उपलब्ध रहते हैं, उतना ही शिष्य शिवात्मभाव को संप्राप्त करता है। यह गुरु की सिद्धि और योग्यता पर निर्भर है कि, वह शिष्य की स्वात्मसत्ता का परिष्कार कर उसे इस स्वात्मतादात्म्य विधि के आधार पर उसका उद्धार कर दे ॥ ८ ॥

आह च—

मा० पा०

जे महु एकीभाउलये विणुअच्छइ
एहु विबोइ समुद्द ।
सो पशु भइरवु हो इये विणु
अन्तर्नाविजिउ अस असमुद्द ॥ १८ ॥

शो० पा०

जे सहु एक्कीभाउ लएविणु
अच्छइ एहु विबोह-समुद्दि ।
सो पसु भइरवु होइ लएविणु
अत्ताणउ निउ अमअ-समुद्दि ॥ १८ ॥

सं० छाया

येन सह एकीभावं प्राप्य आस्ते एष विबोध-समुद्रे ।
सः पशु भैरवः भवति प्राप्य आत्मानं यथा अमृत-समुद्रे ॥१८॥

पुनः प्राकृत श्लोक के माध्यम से इसी विषय का उपबृंहण कर रहे हैं। शास्त्रकार की उद्घोषणा है कि, [1]जिस शिष्य के साथ इस प्रकार तादात्म्य भाव से प्रज्ञा पुरुष गुरुदेव बोध महासिन्धु में अवस्थित होते हैं, वह महाभाग्यशाली शिष्य माना जाता है। वह स्वात्म को शैवामृत-महोदधि में निमज्जित अनुभव करता है। उसको पशुता निराकृत हो जाती है और वह भैरवभाव को उपलब्ध हो जाता है ॥ ९ ॥

१. तन्त्रसार आ० १४ अन्तिम श्लोक (पाठभेदपूर्ण) इसके अनुसार गुरु के बिना ही शिष्य स्वात्मबोध के माध्यम से ही भैरवभाव प्राप्त कर लेता हैं।

आसन्नमृत्योरपि शक्तिपातादेवमेव दीक्षां कुर्यात् ।

आह च—

मा० पा०

जं अनु सन्धि विसेसं घेतूण जडन्ति मन्तमुच्चरइ ।
इच्छासत्तिप्पाणो तं तं मंतो करेइ फुडं ॥ १९ ॥

शो० पा०

जं अणुसंधि-विसेसं घेत्तूण झडत्ति मंतमुच्चरइ ।
इच्छा-सत्ति-प्पाणो तं तं मंतो करेइ फुडं ॥ १९ ॥

सं० छाया

यमनुसन्धिविशेषं गृहीत्वा झटिति मन्त्रमुच्चरति ।
इच्छा-शक्ति-प्राणः तं तं मन्त्रः करोति स्फुटम् ॥ १९ ॥

अत एव परोक्षस्य जीवतोऽप्यनुसन्धिबलादेव दीक्षां कुर्यात्, मृतस्य तु जालप्रयोगक्रमेण । तद्विधिः —

गुरुवर्ग के लिये शास्त्रकार का निर्देश है कि, आसन्नमृत्यु (करीबुलमर्ग) शिष्य पर भी इस प्रकार 'शक्तिपात' करे और दीक्षा देकर अनुगृहीत करे।

प्राकृत श्लोक द्वारा कहा गया है कि,

दीक्षा प्रकरणोक्त विशेष अनुसन्धियों को अपनाकर जिन जिन मुक्त्युपयोगी मन्त्रों का महोच्चार गुरु करता है, इच्छाशक्ति से प्राणसत्ता को जागृत करने वाला वह मन्त्र स्वयम् शिष्य को परिष्कृत कर लेता है[1] अर्थात् मुक्ति को उपलब्ध होने योग्य बना देता है। क्योंकि वह मन्त्र भी सिद्ध गुरु की इच्छा शक्ति से प्राणवन्त होता है ॥ १० ॥

---

१. तन्त्रसार आ० १५ अन्तिम श्लोक (पाठभेदपूर्ण)

मूलाधारादुदेत्य प्रसृतसुविताऽनन्तनाडचध्वदण्डं
वीर्येणाक्रम्य नासागगनपरिगतं विक्षिपन् व्याप्तुमीष्टे ।
यावद्धूमाभिरामप्रचिततरशिखाजालकेनाध्वचक्रं
संछाद्याभीष्टजीवानयनमिति महाजालनामा प्रयोगः ॥ २० ॥

इस आदेश उपदेश के अनुसार परोक्ष में अवस्थित जीवित शिष्य को भी दीक्षित करना गुरु का कर्त्तव्य है। मरे हुए मनुष्य को महाजाल नामक प्रयोग[1] द्वारा यह दीक्षा दी जाती है। उसकी विधि का संक्षेप से निर्देश कर रहे हैं—

मरने के उपरान्त जीव कहाँ रहता है, इसका पता किसी को नहीं होता। समुद्र में मछलियों की तरह अज्ञात अवस्थान से इनको पकड़ने के लिये जाल का प्रयोग करते हैं। उसी तरह अनन्त अवकाश में किसी विशेष जीव के आनयन के लिये तान्त्रिक प्रक्रिया में जिस विधि को अपनाया जाता है, उसे जीवानयक महाजाल प्रयोग कहते हैं। यह सिद्ध आचार्य ही सम्पन्न कर सकता है।

इसमें सर्वप्रथम आचार्य मूलाधार को अश्विनी-मुद्रा सिद्धि विधि से परिचालित करते हैं। वहाँ वे कुंडलिनी जागरण की पूरी प्रक्रिया अपनाते हैं। उसमें उत्पन्न स्पन्द के माध्यम से प्राण को ऊपर की ओर प्रसृत करते हैं। सम्यक् प्रकार से विस्तृत अनन्त नाडियों से संपृक्त अध्व संस्कार से संवलित प्राण को दण्ड का आकार देकर उसे ब्रह्मरन्ध्र की ओर न ले जाकर तालुरन्ध्र से नासिका की ओर मोड़ देते हैं। यह मध्य द्वादशान्त के चितिकेन्द्र में प्राण के संप्रेषण की क्रिया कहलाती है।

इस क्रिया में आचार्य अपनी शक्ति को पूरी तरह उत्प्रेरित करता है। आचार्य का प्राण इस समय चेतना केन्द्र में अवस्थित होता है। यह वह

---

१. तन्त्रसार आ० ११६, श्रीतन्त्रालोक आ० २१।२५

येऽप्यधरशासनस्था उत्तमशासनानुष्ठानं चाधमशासनस्थाद् गृहीतवन्तस्ते यदा सम्यक्शक्तिपातबलात् सद्गुरुमुपासते तदा तेषां पूर्वव्रताद्यपास्य समयित्वे पुत्रकत्वे वा प्राग्वदेव योजनमिति लिङ्गोद्धारदीक्षा। यस्तु स्वभ्यस्तज्ञानः स चेत् स्वात्मनः सिद्धि वाञ्छति तत्साधकत्वेऽभिषेक्तव्यः, न चेत्

स्थान है, जहाँ से ब्रह्माण्ड प्रसार का अन्तर्दृष्टि से प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया जा सकता है। वहीं से इस महाव्याप्ति में आचार्य का प्राण प्रक्षिप्त होकर मृतक के जीव का अन्वेषण करता है।

ऐसी शक्तिमत्ता के प्रसार की अवस्था में अष्वचक्र को आच्छादित करना आवश्यक है, क्योंकि इसी में जीव को खोजना होता है। आच्छादित करने के लिये जाल चाहिये। तन्त्रशास्त्र में ऐसे जाल का उल्लेख है। श्री अभिनवगुप्त के गुरुदेव ने उस प्रयोग को इन्हें बताया था। उसी का संकेत मात्र इस श्लोक में है। प्राण प्रकाश की अग्नि ज्वाला में ऊपर धुएँ की श्रृङ्खला का अम्बार दीख पड़ता है। उसके नीचे आग की ज्वाला का अभिराम दृश्य होता है। उसी अग्निशिखा के प्रकाश में वह आच्छादित अष्वचक्र भी प्रकाशित हो जाता है और स्फटिक सी पारदर्शिता से युक्त अभीष्ट जीव पकड़ में आ जाता है। आचार्य अपनी प्राणसत्ता के आसूत्रण में उसे आसूत्रित कर दीक्षा के यागस्थान पर ला देता है। इसी प्रयोग को जीवानयक महाजाल प्रयोग कहते हैं ॥ ११ ॥

उक्त दीक्षा को मृतोद्धारी दीक्षा भी कहते हैं। अब अधर शासन में अवस्थित व्यक्तियों की दीक्षा कैसे दी जाती है, उसी लिङ्गोद्धारी दीक्षा का उल्लेख कर रहे हैं—

कुछ ऐसे गुरु अधरस्थ लोग होते हैं, जो उत्तम शासनों में निर्धारित सिद्धान्तों की दीक्षा भी स्वयं ही देने से नहीं हिचकते। यह जानने पर वह अधरशासनस्थ शिष्य उत्तमशासन में पुनः दीक्षित होना चाहता है। उस पर भगवत् शक्तिपात-मयी कृपा का यह लक्षण है। इससे प्रभावित होकर वह सद्गुरु की शरण में जाता है। गुरुदेव उसके ऊपर अनुग्रह करते हैं। उसके

परार्थसंपादनातिरिक्तकर्तव्यताभावादाचार्यत्वे नियोक्तव्यः । तत्र सर्वार्पण-विश्वाध्वपूर्णमन्त्रदेवतासंविद्रसपूर्णकलशाभिषेकः । इहैतज्ज्ञानानुग्रहीतानाम-न्त्येष्टिश्राद्धादिकं नोपयुज्यत इति, तन्मरणदिनं परं तन्सन्तानिनां पर्वदिन-मिति । तत्र विशेषतः पूजा चक्रतर्पणं च यथाविभवमविकल्प्यम् । एवं परमेश्वरेच्छैव मोचिकेति तदधिष्ठित आचार्यः । शक्तिपाताधिष्ठिते तत एव निर्विचिकित्सारूढिभाजने शिष्य एवं प्रकारैरभोष्टसिद्धि वितरेत् । यतः —

अधरशासन स्वोकृत पूर्वव्रतों के प्रभाव को समाप्त कर उसको उत्तमशासनस्थ नियमों से परिचित कराकर उसकी इच्छा और योग्यतानुसार समयदीक्षा या पुत्रक दीक्षा के अधिकार प्राप्त करने के लिये योजित करते हैं। यह लिङ्गोद्धार दीक्षा कही जाती है।

जो साधक स्वभ्यस्त ज्ञानवान् होता है, वह यदि स्वात्म-सिद्धि की आकाङ्क्षा करता है, तो गुरु का यह कर्त्तव्य है कि, वह उसे भी उस पथ पर आगे बढ़ने के लिये अभिषिक्त कर दे। यदि यह सम्भव न हो, तो परार्थ सम्पादन के अतिरिक्त कर्त्तव्यता को सम्पन्न करने के उद्देश्य से आचार्यत्व पर ही नियोजित कर दे। इस प्रक्रिया में सर्वात्मना सर्वस्व के अर्पण के लिये तत्पर इस ज्ञानी को विश्वात्मक अध्ववर्ग में पूर्णतया व्याप्त मन्त्रों, देवताओं और संवित्ति सुधा से पूर्ण कलश से अभिषिक्त करने की क्रिया अपनाये।

ऐसे स्वभ्यस्त ज्ञानवान् साधक बोधात्म प्रकाशरूपपरमेश्वर से अनुगृहीत माने जाते हैं। इनकी अन्त्येष्टि या श्राद्ध आदि करने की कोई औपचारिकता पूरी करने की आवश्यकता नहीं होती। ऐसे लोगों का मरण दिवस उनके कुटुम्बियों और अनुयायियों के लिये पर्व दिवस सदृश होता है। उस दिन विशेष रूप से पूजा चक्रतर्पण आदि अपने विभव के अनुसार सम्पन्न करना चाहिये। इसमें वित्तशाठ्य नहीं करना चाहिये। न कोई विकल्प ही अपनाना चाहिये न आलस्य और प्रमाद ही करना चाहिये।

अनुग्रहपरः शिवो वशितयाऽनुगृह्णाति यं
स एव परमेश्वरीभवति तत्र किंवाद्भुतम् ।
उपायपरिकल्पना ननु तदीशनामात्रकं
विदन्निति न शङ्कते परिमितोऽप्युपाये बुधः ॥ २१ ॥

आह च—

मा० पा०

एहु सरीरु सअलु अह भवसरु
इच्छामित्तणजेण विचित्ति उ ।
सोच्चिअ सोक्खदेयि परमेसरु
इअजानन्त उरूढिपविति उ ॥ २२ ॥

इस प्रसङ्ग को आगे बढ़ाते हुए शास्त्रकार कह रहे हैं कि, इस प्रकार के विशिष्ट उत्कर्षों के मूल में परमेश्वर की इच्छा ही काम करती है। वही मोचिका मानी जाती है। आचार्य इन समस्त विशिष्टताओं से परिचित होता है। शक्तिपात से अधिष्ठित ऐसे ज्ञानवान् और निर्विकल्पता के शिखर पर आरूढ शिष्य में आचार्य विशिष्ट अभीष्ट सिद्धियों का वरदान दे कर उसे और भी महत्त्वपूर्ण बना सकता है। क्योंकि कहा गया है कि, साधना और भक्ति से भगवान् भी वशीभूत हो, जाते हैं। इस तरह स्वयं वशी भगवान् शिव जिस साधक को अनुगृहीत करता है, वह भी परमेश्वर भाव से भरित हो जाता है। इसमें किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं होता चाहिये। परमेश्वर को पाने के उद्देश्य से उपाय के परिकल्पन की कोई आवश्यकता नहीं होती। फिर भी यदि अधरसाधक उपाय परिकल्पन करता ही है, तो इसे मात्र ईश के ऐश्वर्य को स्वात्मसात् करने के उद्देश्य से करता है। यह सोच कर सुबुद्ध पुरुष परिमित पुरुष के इस आचरण को निन्दा नहीं करता, न कोई शङ्का ही करता है ॥ १२ ॥

प्राकृत श्लोक के माध्यम से इस आह्निक का उपसंहार कर रहे हैं—

शो० पा०

एहु सरीरु सअलु अह भवसरु इच्छा-मित्तिण जेण वि चिंत्तिउ ।
सो च्चिअ सोक्खु देह परमेसरु इअ जाणं रूढि-पवित्तिउ ॥२२॥

सं० छाया

एतत् शरीरं सकलम् अथ भवसरः इच्छामात्रेण येन अपि चिन्तितम् ।
स एव सौख्यं ददाति परमेश्वरः इति जानन् रूढि-पवित्रितः ॥२२॥

॥ इत्यष्टममाह्निकम् ॥

यह सारा शरीर देखने में स्थूल पिण्ड है। ऐसा ही यह विश्व शरीर और इसका सूक्ष्म स्थूल विस्तार सभी अत्यन्त रहस्यात्मक है। यह संसार तो सच पूछा जाय, तो यह एक समुद्र ही है। सभी इसी में निमज्जित दीख रहे हैं। बिरले ही इससे उबर पाते हैं। भगवत्कृपा से इन्हें जानने की इच्छा मात्र का उत्पन्न होना शक्तिपात का ही लक्षण है। जो इसको क्षण मात्र भी अपने चिन्तन का विषय बनाता है, उसका उत्कर्ष अवश्यंभावी है।

विश्व के इस विलक्षण आकलन के साथ मन में ये विचार भी उठने लगे कि, यहाँ प्राणी को जो कुछ प्रीतिकर लगता है, जितना भी सुख और आनन्द का अनुभव होता है और यह सारा सौख्य सभी कुछ वही परमेश्वर ही प्रदान करता है। वही सर्वैश्वर्य सम्पन्न सर्वाराध्य भगवान् सबको जीवन का आनन्द दे रहा है, यह ज्ञान हो जाने पर साधना की ओर अग्रसर परमात्मा के प्रति आरोह भाव के कारण पवित्रित हो जाता है। इस श्लोक में चिन्तन और ज्ञान रूप उपासना के दो बिन्दुओं का महत्त्व प्रतिपादित है ॥१३॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेकभाष्यसंवलित

श्री तन्त्रोच्चय का
आठवाँ आह्निक परिपूर्ण ॥ ८ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते

डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्य संवलिते

तन्त्रोच्चये

नवममाह्निकम्

लब्धदीक्षाको ज्ञातसिद्ध्यपवर्गरूढिलाभनिमित्तं नित्यं नैमित्तिकं चोपासीत्। स्वभ्यस्तज्ञानोऽपि, ज्ञानाभ्यासतारतम्याय तत्रास्य परार्थम्, स्वयं तु दृढप्रतिपत्तिमात्रेणैव कृतार्थत्वात्। तत्र नित्यं सन्ध्योपासनपूजनजपस्वाध्यायगुरुसेवादिकम्, नैमित्तिकं तु पर्वपूजादिकं पवित्रकादिविधिश्च। नैमित्तिके मुख्यः

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचित

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलित

तन्त्रोच्चय

का

नवाँ आह्निक

दीक्षित शिष्य का यह कर्त्तव्य है कि, वह ज्ञान को सिद्धि और अपवर्ग के परमोच्च शिखर पर आरूढ होने हेतु नित्य और नैमित्तिक कर्मों की उपेक्षा न करे वरन् इनके द्वारा ही उपासना में लगा रहे। स्वबोध सिद्ध ज्ञानयोग निपुण साधक भी ज्ञानाभ्यास के तारतम्य के लिये इस दृश्यादृश्य विश्व के रहस्यों का सतत आकलन करता रहे। स्वयं साधक इस स्वात्मपरमात्म की दृढ़ प्रतिपत्तिमात्र से ही कृतार्थ हो जाता है।

इस प्रक्रिया में नित्य सन्ध्योपासना, पूजा, जप, स्वाध्याय और गुरु सेवा ये पाँच आवश्यक नित्यकर्म हैं। इनका परित्याग कभी नहीं करना चाहिये।

कल्पः शाक्तमर्घपात्रं प्रतिवर्ष जन्म मध्येऽपि वा चर्यापूरणाय। अपूर्णचर्या मोक्षे विघ्नः । तत्र पर्वदिनानि—प्रतिमासं प्रथमपञ्चमदिने, विषुवति, चैत्रशुक्लत्रयोदशी दिनमध्यम्, विशेषतस्तु बुधपूर्वफल्गुनीयोगः, वैशाखकृष्णाष्टमी दिनमध्यं बुधश्रवणयोगः, ज्येष्ठकृष्णनवमी, मध्यन्दिनं चन्द्रशतभिषग्योगः, आषाढ़कृष्णप्रतिपन्मध्यन्दिनमादित्यमूलयोगः, श्रावणकृष्णैकादशी

इनके करते रहने अक्षुण्ण रूप से अपने स्तर पर उपासक आरूढ रहता है। यही पुण्य है। न करने से गिर सकता है। यही पाप है। गिरना हो अर्थात् अपने शिखर से पतन ही पाप है। इसलिये नित्य कर्म अनवरत करते रहना चाहिये।

नैमित्तिक कर्म पर्वों आदि को पूजा, मनौतियों को पूर्त्ति और पवित्रक विधि की प्रक्रिया के निर्वाह के रूप में सम्पन्न किये जाते हैं। नैमित्तिक कर्म का मुख्य कल्प, शाक्त समावेश सिद्धि के लिये अर्घपात्र आदि प्रक्रिया, प्रतिवर्ष जन्मदिन मनाने की परम्परा और बीच-बीच में भी विशेष चर्या का सम्पन्न करना आदि माना जाता है। एक तरह से पूरी जीवनचर्या मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करने के उद्देश्य से सम्पन्न की जाती है। चर्या की प्रक्रिया को पूरा न करना मोक्ष मार्ग का विघ्न माना जाता है।

पर्व दिनों के सम्बन्ध में जो दिन परिगणित हैं, उनका उल्लेख कर रहे हैं—१.प्रतिमास प्रथम और पाँचवाँ दिन। २. विषुवत् दिन, ३. चैत्रशुक्ल त्रयोदशी का मध्य दिन, विशेष रूप से बुध और पूर्वाफाल्गुनी का संयोग यदि त्रयोदशी के दिन हो, ४. वैशाख कृष्ण अष्टमी दिन का मध्य समय। यदि बुधि और श्रवण नक्षत्र का योग हो।

५. ज्येष्ठ कृष्ण नवमी, मध्य दिन, आदित्य मूल योग।

६. आषाढ कृष्ण प्रतिपदा, मध्यदिन, आदित्य मूल योग।

७. श्रावण कृष्ण एकादशी, पूर्वाह्न, शुक्ररोहिणी योग,

८. भाद्रपद शुक्ल षष्ठी मध्यदिन, वृहस्पति बिशाखा योग।

पूर्वाह्णः शुक्ररोहिणीयोगः, भाद्रपदशुक्लषष्ठी दिनमध्यं बृहस्पतिविशाखायोगः, आश्वयुक्शुक्लनवमीदिनं सर्वं नात्रयोगः, कार्तिकशुक्लनवम्यां रात्रेः प्रथमो भागः आदित्योत्तरफल्गुनीयोगः, पौषकृष्णनवम्यां रात्रिमध्यं चन्द्रचित्रायोगः, माघशुक्लपञ्चदश्यां रात्रिमध्यं बृहस्पतिमघायोगः, फाल्गुनशुक्लद्वादश्यां मध्यन्दिनं चन्द्रतिष्ययोगः । अग्रतिथिवेधस्त्वत्र विशेषतरः । त्रिधा दिनं रात्रिं च कृत्वा पूर्वमध्यापरभागो यागकालः । योगसंहिते विशेषतः पूजाचक्रयाग-तर्पणम् । भागशो विशेषसम्भवे भागभागपूजायागयजनं भवति । योगलाभे वेलाया असम्भवे योगो बलीयान् । अनुयागकाललाभश्च मुख्य इत्येवं पर्वविधिः ।

---

९. आश्विन शुक्ल नवमी, सारा दिन, योग अनपेक्षित ।

१०. कार्त्तिक शुक्ल नवमी रात्रि का पहला पहर, अथवा आदित्यवार में उत्तराफल्गुनी नक्षत्र का योग ।

११. पौष कृष्ण नवमी, रात्रि मध्य, सोमवार चित्रा योग ।

१२. माघशुक्ल पूर्णिमा रात्रिमध्य बृहस्पति मघा योग ।

१३. फाल्गुन शुक्ल द्वादशी मध्यदिन चन्द्र पुष्प योग । इसमें अग्रतिथि का वेध होने पर यह और भी महत्त्वपूर्ण पर्व हो जाता है ।

१४. दिन और रात्रि मान को तीन-तीन भागों में विभक्त करने पर पहला, बिचला और अधर भाग याग काल होता है । यदि कोई योग इसमें आये, तो इन समयों में और भी वैशिष्ट्य आ जाता है । इसमें पूजा और चक्र-याग करने से विशेष लाभ होता है । भाग-भाग में विशेष योग की दशा में विशेष याग या पूजा करने पर भी यज्ञ का पूरा फल मिलता है । योग हो किन्तु वेला न भी मिले, तो उस समय योग को बलीयान् मानकर पर्वपूजा करनी चाहिये । इसमें अनुयाग का समय भी मिल जाता है । यह एक मुख्य लाभ माना जाता है । इस प्रकार संक्षिप्त रूप से पर्वविधि का वर्णन यहां किया गया है ।

अन्यान्यपि नैमित्तिकानि । यथा—गुरोर्गृहागमनं तद्वर्ग्यस्य च, शास्त्रज्ञानलाभो । देवतादर्शनादिश्चेति ।

अथ पवित्रकविधिः । स च विधिः पूरकश्चेति अवश्यमेव कर्तव्यः । स चाषाढ़शुक्लात् कार्तिकान्तं कर्तव्यः । माघान्ते दक्षिणायनेऽपि वा क्वचिदुक्तः । तद्विधिस्तु यथासम्भवं सौवर्णपट्टसूत्रपवित्रकादारभ्य दार्भमपि पवित्रकं वित्तशाठ्यपरिहारेणाध्वसंख्यकग्रन्थिकं सर्वाध्वपरिपूर्णं भावयित्वा गुरुरर्पये-

---

अन्य कुछ और भी नैमित्तिक कार्य माने जाते हैं। जैसे गुरुदेव यदि शिष्य के घर आ जाँय, तो वह मुख्य नैमित्तिक पर्व होता है। गुरु स्तरीय या गुरु के कौटुम्बिक सदस्य आये हों तो भी नैमित्तिक की तरह ही यह कर्मपर्व होता है।

किसी दिन यदि किसी विशेष शास्त्र की उपलब्धि हो या रहस्य ज्ञान का उद्घाटन हो जाय, तो वह भी पर्व सदृश ही माना जाता है। किसी विशिष्ट देवता का स्वप्न तथा प्रत्यक्ष दर्शन भी नैमित्तिक पर्व की तरह ही होता है।

यहाँ से पवित्रक विधि का वर्णन कर रहे हैं—

यह विधि पूरक विधि है। इसलिये इसे अवश्य करना चाहिये। पाठ भेद में इसको परमेश्वर के आदेश का पूरक माना गया है। यह आषाढ़ शुक्ल पक्ष से प्रारम्भ कर कार्त्तिक पर्यन्त पूरित किया जाना चाहिये। कहीं किसी शास्त्र में यह भी लिखा है कि, माघ के अन्त में भी इसे सम्पन्न करना चाहिये। दक्षिणायन में भी इसे किया जा सकता है। यथा सम्भव सौवर्ण सूत्र व रेशम सूत्र से प्रारम्भ कर कुशनिर्मित सूत्र से भी पवित्रक बनाया जाता है। इस प्रक्रिया में कृपणता नहीं अपनानी चाहिये। पवित्रक में गाँठें भी दी जाती हैं। अध्वा के आधार छः गाँठों का प्रचलन भी पहले था। इससे अधिक ग्रन्थियों का विधान भी पवित्रक विधि में है। अध्वानुसारी ग्रन्थि के आधार पर पवित्रक को सर्वाध्व परिपूर्ण भावन करना चाहिये। इस प्रकार

च्छिष्यार्थे। ततो विशेषपूजनतर्पणदक्षिणादीन्येवं नित्यनैमित्तिकं कुर्वाणस्या-विलुप्तोत्साहस्य विनापि प्रमुखज्ञानयोगाचारया चर्यामात्रान्मुक्तिः। आह च—

मा० पा०

सिवणाहु सच्छन्दु हत्त्वकोणविअप्प इच्छ।
चरि आमित्ति णजिणजण हुकिअ भवरोअ चिइच्छ॥ १॥

शो० पा०

सिव-णाउ सच्छं उहु(?)
को णवि अप्प इच्छ(?)।
चारिआ-मित्तिण जिण
जणहुकिअ भव-रोअ-चिइच्छ॥ १॥

भावनकर गुरु इसे शिष्य को अर्पित करे। इसके बाद शास्त्र के आदेशानुसार विशेष पूजन तर्पण और दक्षिणा आदि के सभी विधान जो नित्य और नैमित्तिक श्रेणी में आते हैं, पूरे किये जाने चाहिये। शिष्य का उत्साह इस प्रक्रिया में बराबर बना रहता है। उत्साह के विलुप्त हो जाने पर कोई कार्य विधि-पूर्वक सम्पन्न नहीं हो सकता। इसलिये उत्साह सम्पन्न शिष्य को प्रमुखतया ज्ञान योग और समयाचार पालन के विना भी चर्यामात्र से मुक्ति उपलब्ध हो जाती है।

प्राकृत श्लोक के माध्यम से इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं—

शिवनाथ का सबसे उत्तम गुण उनका स्वातन्त्र्य है। अतः उन्हें 'स्वच्छन्द' संज्ञा से विभूषित किया जाता है। मातृका पाठ के अनुसार 'शिवनाथ' शब्द ही 'सिवणाहु' का संस्कृत शब्द माना जा सकता है। शोधित पाठ 'शिवणाउ' का संस्कृत शिवनाद शब्द दिया गया है। इसका अर्थ

सं० छाया

शिवनादः स्वच्छन्दः पश्यत(?)

कः, नापि अल्पा इच्छा ।

चर्यामात्रेण येन जनस्य

कृता भवरोगचिकित्सा ॥ १ ॥

॥ इति नवममाह्निकम् ॥

द्रविड प्राणायाम कर निकाला जा सकता है। इसके अनुसार शिवनाद का अर्थ 'चिद्विमर्श' हो सकता है। वस्तुतः शिवनाद भी स्वच्छन्द तत्त्व ही है।

उस परम तत्त्व का अनुसन्धान किये बिना उसके दर्शन नहीं हो सकते। जो उस पथ पर अग्रसर है, वह तो उसका साक्षात्कार करना चाहता ही है। एतद्विषयक उसकी इच्छा स्वल्प कैसे हो सकती है। प्रबल इच्छा शक्ति से ही यह सम्भव है। वह परम अनुग्रह करने वाला शिवनाथ चर्या मात्र में लगे भक्त शिष्य के भव रोग की चिकित्सा कर देता है अर्थात् माया के आभिमुख्य का निराकरण शैवाभिमुख्य का महाभाव शिष्य में भर देता है ॥ १ ॥

श्रीमन्महमाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तपाद विरचित
डॉ० परम हंसमिश्रकृत नीर,क्षीर विवेक हिन्दी भाष्य संवलित
तन्त्रोच्चय का
नवाँ आह्निक परिपूर्ण ॥ ९ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते

डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेकभाषाभाष्यसंवलिते

दशममाह्निकम्

इत्येवं गुरुवचनादधिगम्य सर्वथा गुरुर्भगवान् पूजनीयः। तत्र सुवर्ण-पूर्णपृथिवीदानेनापि न गुरावनृणो भवति, इत्युक्तं तत्र तत्र श्रुत्यन्तसिद्धान्त-तन्त्रोत्तीर्णादिषु, किन्तु सत्राह्याभ्यन्तरमात्मपर्यन्तमर्पणं कृत्वा तत्रानृणीभवति। यावच्च गुरावनृणी न सम्पन्नस्तावदधिकारबन्धोऽस्य न निवर्तते। तस्मात्

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तपाद विरचिते

डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक हिन्दीभाष्यसंवलित

तन्त्रोच्चय

का

दसवाँ आह्निक

तन्त्रोच्चय में अब तक उक्त समस्त ज्ञान विज्ञान सार रहस्य का गुरु से अधिगम कर ऐसे परम ज्ञानवान् गुरु को भगवान् मानकर अर्चित करना चाहिये। वह जगत् में भगवान् रूप से ही अवतरित है। अतएव परमपूज्य है। ऐसे गुरु को दक्षिणारूप में सुवर्ण अथवा गुरु आकाङ्क्षा पूरक पृथ्वी का भी दान करना चाहिये। इस तरह गुरु के ऋण से उद्धार होता है और शिष्य अनृणी हो जाता है। यह उपदेश यत्र तत्र शास्त्रों में वेदान्त ग्रन्थों में सिद्धान्त आदि शासन में और अन्य शासनों तन्त्रों में और विश्वोत्तीर्ण विज्ञान आदि में भी दिया गया है।

किन्तु इससे बढ़ कर एक दूसरी प्रक्रिया भी अनृणी होने की है। वह यह कि, गुरु के चरणों में बाह्याभ्यन्तर युक्त आत्मतत्त्वात्मक स्वात्मसत्ता

सर्वथा दान्तेन वित्तशाठ्यविरहितेन सर्वस्वकलत्रात्मनिवेदनान्ततया गुरुः पूज्यो वन्द्यः परितोष्यः ।

येन येन प्रकारेण गुरुः सन्तोषमेत्यसौ ।
[कार्यः प्र] कारस्तेनासौ प्रसोदेद्देवतागणः ॥ १ ॥

का ही अर्पण कर दे । जबतक गुरु ऋण को शिष्य नहीं उतार पाता, तब तक शिष्य के ऊपर उसके द्वारा ज्ञानवान् बनाकर सर्वविज्ञ बनाने के कर्तृत्व का उसका अधिकारबन्ध समाप्त नहीं होता। गुरु के गुरुत्वाधिकार की निवृत्ति नहीं होती ।

इसलिये सर्वथा दान्त अर्थात् अत्यन्त उदात्त और उदार भाव से, वित्तशाठ्य का परित्याग कर और सर्वस्व, यहाँ तक कि, स्त्री पुत्र स्वात्म सबका ही श्रद्धाभाव से निवेदन कर गुरु का अर्चन और वन्दन करना चाहिये। यद्यपि कुछ लोग आस्था, श्रद्धा और सामाजिक मर्यादा को अति क्रान्त कर कलत्र आदि के अर्पण को बात शिवोक्त नहीं मानते तथा सुवर्ण और पृथ्वी आदि गुरु को देकर उसे माया में फँसाने की बात को भी शास्त्रीय सिद्धान्तवाद के अनुकूल नहीं मानते। ज्ञानवान् गुरु यह कुछ नहीं चाहता। फिर भी गुरु को जिससे ज्ञान सदृश अमूल्य निधि प्राप्त होती है, उसको अवश्य भगवत् सदृश मान कर उसे तृप्त और सन्तुष्ट करना चाहिये, यह सर्वोत्तम पक्ष है । इसीलिये शास्त्र कहता है कि,

'जिस किसी प्रकार से गुरुदेव को सन्तुष्ट करना शिष्य का परम कर्त्तव्य है। इसी आदेश के अनुपालन से शिष्य पर स्वयं गुरु और सभी देवता भी आशीर्वाद और कृपा की वर्षा करते हैं अर्थात् प्रसन्न होते हैं ॥

श्लोक 'कार्यः प्रकारः' यह पाठ भेद है। कोष्ठक में बन्द इस अंश से छन्द पूरा नहीं हो सकता। अतः मूल पाण्डुलिपि के खण्डित हो जाने पर किसी ने इसे भर दिया भवेन्निर्विकारः पाठ भी हो सकता है। यह सब विज्ञ और स्वाध्याय शील अध्येता के विचार करने योग्य स्थल हैं ॥ १ ॥

प्रकारादौ तदिदमुक्तं वक्तव्यं यत् सर्वोत्तीर्णशास्त्राणां साररहस्यभूतम-भिधेयम् ।

अहमभिनवगुप्तः प्रार्थये सद्विवेकान्
प्रणयिवचनभङ्गं तेऽपि नालं विदध्युः ।
किमपि किमपि यद्वत्सारमालोकयध्वं
परमिदमपि तद्वद् [वस्तु]भं वेत्थ पश्चात् ।। २ ।।

इसमें प्रकार के साथ उक्तं वक्तव्यं पाठ भी शास्त्रस्तरीयभाषा का उदाहरण नहीं है। इस श्लोक के अनुसार गुरु के उपदेश प्रकार की चर्चा शास्त्रकार कर रहे हैं कि, गुरु ऐसा ही उपदेश दे, जिसमें समस्त शास्त्रों के सर्वोत्तीर्ण शास्त्रों के सार रहस्य का बोध शिष्य को हो जाय। वही तत्त्वोपदेश सार्थक होता है।

यहाँ महामाहेश्वर स्वात्मनामाभिधान पूर्वक विवेकशील पुरुषों के प्रति यह निवेदन ही नहीं, वरन् विनम्रता पूर्वक अनुरोध ही कर रहे हैं कि, ऐ मेरे प्रिय सद्विवेक सम्पन सजन्नो ! जीवन में कभो भी प्रणयी के प्रेम पूर्ण पवित्रभावापन्न वचनों का भङ्ग आप न करें। नालं, शब्द अपनी समस्त बलवत्ता के साथ यहाँ प्रयुक्त है। वस्तुतः वचन भङ्ग एक प्रकार का आध्यात्मिक अपराध होता है। इससे आत्मा टूट जाती है। ऐसा आघात स्निग्धस्नेही जनों को कभी नहीं देना चाहिये।

जैसे जैसे व्यक्ति शास्त्र का स्वाध्याय करता है, वह उसके सार तत्त्व का ही उसमें दर्शन करता है। उसी तरह जीवन के इस शैव वरदान रूप में प्राप्त परिमित समय में केवल जो कुछ सारतत्त्व है, जो गुण है, उसी का दर्शन करे किन्तु यह भी ध्यान रखे कि, उसी तरह विश्व व्याप्त वस्तुसत् तत्त्व को भी विचारोपरान्त अच्छी तरह वेद्यता का विषय बना ले, उसे पूरी तरह जाने। श्लोक में खण्डितपाठ 'वस्तुभं' के स्थान पर परमाराध्य शिव

संवित्प्रकाशपरमार्थतया यथैव
भात्यामृशत्यपि तथेति विवेचयन्तः ।
सन्तः समस्तमथचित्प्रतिभाविमर्शसारं
समाश्रयत शास्त्रमनुत्तरात्म ॥ ३ ॥

तन्त्रसार आ० २१

के लिये प्रयुक्त 'वल्लभ' शब्द भी हो सकता है। इससे सबके पश्चात् वल्लभ शिव को जानने का भाव स्पष्ट हो जाता है। परमवल्लभ शिव सर्वसाक्षी हैं। वे किसी के द्वारा किये वचनभङ्ग रूप अकार्य के भी साक्षी होते हैं और उसकी दण्डात्मक या भोगात्मक प्रक्रिया की व्यवस्था भी करते हैं। अतः सावधान रहे ॥ २ ॥

शास्त्रकार इस अनुत्तर शास्त्र के समाश्रयण के लिये अध्येतावर्ग का आवाहन कर रहे हैं—

'संवित् विमर्श रूपा शक्ति मानी जाती है। इसी तरह प्रकाश स्वयं परमेश्वर परमशिव ही है। इस दृष्टि से देखने पर यह समग्रविश्वविस्तार, यह सारा दृश्यादृश्य उल्लास वस्तुतः संवित् प्रकाशपरामर्श रूप में ही भासित हो रहा है। जिस तरह यह भासित है, उसी तरह प्रकाशमय स्वात्म में शाश्वत रूप से संविद्रूप आमर्श भी कर रहा है'।

उक्त परमार्थसत् का विवेचन सत्पुरुषों का स्वभाव होता है। इस स्वभाव में कभी शैथिल्य न आने पाये, इसलिये विवेचयन्तः में शास्त्रकार ने शतृ प्रत्यय के प्रायोगिक वर्त्तन में शश्वद्वर्त्तमान का प्रयोग किया है। क्रिया में भी लोट् मध्यम पुरुष बहुवचन का प्रयोग कर अपने प्रिय शश्वद्वर्त्तमान सत्पुरुषों से १. विधिक २. निमन्त्रण, ३. आमन्त्रण, ४. अधीष्ट, ५. संप्रश्न और ६. प्रार्थना रूप से भी यह अपेक्षा करते हुए आमने सामने कीं तरह कह रहे हैं कि,

आह च—

मा० पा०

जिस्स बढपसिद्धिघडिए व्यवहारे
सोइ अस्मि णीसंको।
तह होहि जहुत्तिण
पसिद्धिरूढिए परमसिवो ॥ ४ ॥

तन्त्रसार आ० २१

शो० पा०

जस्स दढ-पसिद्धि-घडिए व्यवहारे
लोउ अत्थि णीसंको ।
तह होइ जणुत्तिण-प्पसिद्धि-
रूढिए परमसिवो ॥ ४ ॥

सं० छाया

यस्य दृढप्रसिद्धिघटिते व्यवहारे
लोकः अस्ति निःशङ्कः ।
तथा भवति जनोत्तीर्ण-
प्रसिद्धिरूढया परमशिवः ॥ ४ ॥

मेरे प्रिय मनीषियों और विचारको, इस चित्प्रतिभाविमर्श-सार शास्त्र का आप सतत समाश्रयण करो। यह अनुत्तर तत्त्व का प्रकाशक अनुत्तर शास्त्र है। इसके स्वाध्याय से अनुत्तर को देखो, समझो और उसमें प्रवेश पा जाओ ॥ ३ ॥[1]

प्रसिद्धि को 'आगम' कहते हैं। प्रवृत्ति में दृढता आवश्यक होती है। दृढ़ता के साथ आगमानुकूल व्यवहार ही समयाचार कहलाता है। इस प्रकार के घटित व्यवहार से लोक निःशङ्क शान्ति पूर्ण जीवन यापन करता है।

१. तन्त्रसार आ० २१

[श्रीशम्भुप्रोक्तानि षडर्धं] तन्त्रराद्धान्त
शास्त्राण्यधिगम्य सम्यक् ।
श्रीशम्भुपादाब्जनिषेवणेन
नियुक्तचित्तोऽभिनवप्रधानः ॥ ५ ॥

चित्रा... ... ...
... ... ।
आलोकसारद्वयभिन्नमेतत् तन्त्रं त्रिधा
व्याकुरुतेऽस्म गुप्तम् (प्तः) ॥ ६ ॥

ऐसे व्यवहार से लोक के वे स्वयम् आदर्श हो जाते हैं। वे विश्वमय न रह कर विश्वोत्तीर्ण हो जाते हैं। प्रसिद्धि के शिखर पर आरूढ होने के कारण वे साक्षात् परमशिव ही हो जाते हैं ॥ ४ ॥

मानवसंवर्ग में तन्त्रसार के वर्त्तमान रूप के प्रवर्त्तक साक्षात् शम्भुरूप श्री शम्भुनाथ ने कला, तत्त्व, भुवन, वर्ण, पद और मन्त्र रूप छः अध्वाओं का शास्त्र तन्त्रशास्त्र प्रवर्त्तित किया। उनसे ही इन समस्त राद्धान्त तत्त्वों का अध्ययन और सम्यक् अधिगम कर मेरा यह नाम हुआ जिसमें 'अभिनव' प्रधान शब्द हो गया। इससे यह प्रतीत होता है कि, इनका नाम कुछ दूसरा रहा होगा। इनका उपनाम अभिनव रहा होगा। प्रसिद्धि के कारण अभिनव प्रधान नाम ही शास्त्र में भी प्रचलित हो गया। जो कुछ हो, कोई शम्भु के चरण का यदि चञ्चरीक हो जाय, तो वह अवश्य ही 'नियुक्तचित्त' हो सकता है। श्री गीताशास्त्र में नियुक्तचित्त को ही 'स्थित प्रज्ञ' कहा गया है। स्थितप्रज्ञता ही जीवन का लक्ष्य है। वह प्राप्त हो जाती है। ऐसे मनीषी 'अभिनव' के विचारों के अनुकूल होने से प्राधान्य प्राप्त कर शिवसांन्निध्य भी प्राप्त कर लेते हैं ॥ ५ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तपादविरचिते

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेकभाषाभाष्यसंवलिते

॥ तन्त्रोच्चये दशममाह्निकम् परिपूर्णम् ॥

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

॥ इति शिवम् ॥

इस श्लोक के बाद एक खण्डित श्लोक मुद्रित है। इसके अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि,

यह कृति 'चित्रा' कृति है। यह 'आलोक' अर्थात् 'तन्त्रालोक' और 'सार' अर्थात् तन्त्रालोक सार 'तन्त्रसार' नामक दो तन्त्र ग्रन्थों से ही भिन्न अर्थात् सम्मिलित सम्बन्ध युक्त यह तन्त्रोच्चय नामक ग्रन्थ जो गुप्त था, उसको 'गुप्त' अर्थात् 'अभिनव गुप्त' स्वयम् व्यक्त कर विश्वपुरुष को अर्पित कर रहे हैं। यहाँ गुप्तं तन्त्रं भूतकालिक प्रयोग को 'स्म' अंश प्रतिपादित कर रहा है और 'व्याकुरुते' शश्वद् वर्त्तमान को प्रतिपादित करते हुए 'गुप्तः' के साथ अन्वित हो रहा है ॥ ६ ॥

तन्त्रोच्चये तन्त्रपरम्परायां
संक्षिप्तरूपेऽभिनवोयनिष्के ।
प्रावीण्यपूर्णेन पराकृपातः
हंसेन भाष्यं विहितं वरेण्यम् ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित

डॉ० श्रीपरमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक हिन्दीभाष्यसंवलित

श्री तन्त्रोच्चय का

दशवाँ आह्निक परिपूर्ण

[समाप्तोऽयंलघुग्रन्थः]

॥ इति शिवम् ॥ १० ॥

परिशिष्ट-भाग: [इ]

[१]

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचित

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलित

देहस्थदेवताचक्रस्तोत्रम्

देहो देवालयः प्रोक्तः स्वात्मा देवः सनातनः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहं भावेन पूजयेत् ॥ १ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तविरचित

डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलित

देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र

यह शरीर मात्र भौतिक पिण्ड नहीं है वरन् यह महत्त्व पूर्ण देवालय है। प्रावीण्य-पूर्ण एक कलाकार की कृति है। यह सनातन स्वात्मशिवदेव का शाश्वत निवास है। शिव के निर्माल्य का परित्याग करने का शास्त्रीय विधान है।

गोस्वामी तुलसीदास ने शरीर के सम्बन्ध में लिखा है—

'क्षिति जल पावक गगन समीरा।
पंचरचित यह अधम शरीरा॥'

शरीर की अधमता की प्रतिपादक एक मनीषी रचनाकार की यह दृष्टि है। इसके विपरीत शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

तन्त्र शास्त्र शरीर का शाश्वत तत्त्व के रूप में देखता है। वह कहता है कि, शरीर शिवदेव का अधिष्ठान है। सनातन परमेश्वर का

ॐ असुरसुरवृन्दवन्दितमभिमतवरवितरणे निरतम् ।
दर्शनशताग्र्यपूज्यं प्राणतनुं गणपतिं वन्दे ॥ २ ॥
वरवीरयोगिनीगणसिद्धावलिपूजिताङ्घ्रियुगलम् ।
अपहृतविनयिजनार्तिं वटुकमपानाभिधं वन्दे ॥ ३ ॥

यह मन्दिर है। वह शिवदेव दूसरा कोई नहीं वरन् स्वयं स्वात्म देव ही हैं। इन पर चढ़े हुए अज्ञान रूपी निर्माल्य का परित्याग कर देना चाहिये। शास्त्र निर्माल्य को छोड़ने का आदेश उपदेश करता है[1]। इसलिये अज्ञान रूप निर्माल्य का निराकरण स्वात्म देव की एकनिष्ठ पूजा के लिये आवश्यक है। एक निष्ठ पूजा 'वह' मैं ही हूँ, इस भाव से करनी चाहिये। यह अनुभूत सत्य सबको समझना चाहिये। यह देह तो नश्वर है। शाश्वत सत्य आत्मदेह ही है। वही मैं हूँ, यह महाभाव है। इसी महाभाव में रहना पूजा हो जाती है ॥ १ ॥

मैं साधनानिष्ठ साधक प्राण रूप शरीर धारण कर प्राणापानवाह प्रक्रिया से जो विश्व को प्राणवान् बना रहे हैं, ऐसे गणपति की वन्दना करता हूँ। ये ॐकार रूप परब्रह्म परमेश्वर हैं। राक्षसवर्ग और देववर्ग से भी वन्दित प्राण-गणपति विश्व को जीवन का अविरल वरदान देने में निरत हैं। शताधिक दर्शनों अर्थात् शास्त्रीय शासनों द्वारा ये अग्रपूज्य घोषित हैं। इससे यह सिद्ध है कि, प्राण ही गणपति हैं। शरीरस्थ समस्त इन्द्रियादि तत्त्ववर्ग के गणरूप समूह के स्वामी प्राण ही माने जाते हैं। साँस छोड़ने पर सूँड़ की तरह वह निकलती है। वही गणेश का शुण्डादण्ड है। साँस लेने पर पेट फूलता है। यह उनका लम्बोदर रूप है। अतः प्राण ही गणपति हैं। मैं उनकी वन्दना करता हूँ ॥ २ ॥

श्रेष्ठ वीरशैव योग सिद्ध योगी ही वीर कहलाते हैं। शास्त्र में ६४ योगिनियाँ प्रसिद्ध हैं। शरीर में भी सन्धियों को जोड़ने वाली क्रिया शक्ति

---

१. शिवपुराण, विद्येश्वरसंहिता अ० २२।२०

यद्धीबलेन विश्वं भक्तानां शिवपथं भाति ।
तमहमवधानरूपं सद्गुरुममलं सदा वन्दे ॥ ४ ॥
आत्मीयविषयभोगैरिन्द्रियदेव्यः सदा हृदम्भोजे ।
अभिपूजयन्ति यं तं चिन्मयमानन्दभैरवं वन्दे ॥ ५ ॥
उदयावभासचर्वणलीलां विश्वस्य या करोत्यनिशम् ।
आन्दभैरवीं तां विमर्शरूपामहं वन्दे ॥ ६ ॥

को योगिनी कहते हैं। इनके अतिरिक्त सिद्धों आदि के द्वारा जिनके चरणाविन्दों की वन्दना की जाती है, वे प्रणत शरणागत सज्जनों की पीड़ा का सदा निराकरण करते हैं। ऐसे वटुक देव की मैं वन्दना करता हूँ। शरीर में अपान ही वटुक रूप से अवस्थित है ॥ ३ ॥

मैं शरीर में अवस्थित निर्मल सद्गुरु की वन्दना करता हूँ। उन्हीं के धीबल अर्थात् बुद्धिवैभव के प्रभाव से भक्तजन विश्व की शिवात्मकलक्ष्य-प्राप्ति के लिये प्रशस्त पथ के रूप में स्वाकार करते हैं। इस प्रकार को विशेषता से विशिष्ट 'अवधान' रूप में ही मैं अपने सद्गुरु का दर्शन करता हूँ ॥ ४ ॥

देहस्थ देवताओं में चिन्मय चेतन्य रूप से अवस्थित आनन्दभैरव भगवान् की मैं वन्दना करता हूँ। सारी इन्द्रियाँ अपने विषय भोग रूप पञ्चतन्मात्रक सामग्रियों से हृदयारविन्द मन्दिर में ही अनवरत इनकी अर्चना करती रहती हैं। परमेश्वर शिव के दो सर्वातिशायी गुण हैं। १. चित् और २. आनन्द। आनन्द स्वयं चिन्मय होता है। इस ज्ञान के भावावेश में आविष्ट साधक जितने विषयों का भोग करता है, उनसे मिलने वाले सुखों में वह आनन्दभैरव का दर्शन करता है। आप भो ऐसा करें, एतदर्थ यह श्लोक आपका मौन आवाहन कर रहा है ॥ ५ ॥

आनन्दभैरव की शक्ति ही आनन्दभैरवी देवी है। वह भी इस देह में प्रतिष्ठित है। इसे मैं परविमर्श रूप में अनुभूत करता हूँ। यह विमर्श

अर्चयति भैरवं या निश्चयकुसुमैः सुरेशपत्रस्था ।
प्रणमामि बुद्धिरूपां ब्रह्माणीं तामहं सततम्[1] ॥ ७ ॥
कुरुते भैरवपूजामनलदलस्थाभिमानकुसुमैर्या ।
नित्यमहङ्कृतिरूपां वन्दे तां शाङ्करीमम्बाम् ॥ ८ ॥

शक्ति ही इस विश्वात्मक उल्लास के उदय में सृष्टि के सर्जन सत्त्व का दर्शन कराती है। अवभास में स्थिति की निरीहता को ही निहार रही होती है और चर्वण अर्थात् संहार में परमेश्वर में विलीन होने की लीला का अवलोकन कर प्रसन्न होती है। यह क्रिया अविश्रान्त भाव से इसी आनन्द भैरवी द्वारा हो रही है। ऐसी विमर्श रूपा इस देवी को मैं अभिनवगुप्त प्रणाम करता हूँ ॥ ६ ॥

इनके अतिरिक्त शरीर में आठों मातृकायें भी आजीवन उल्लसित हैं। सर्वप्रथम ब्रह्माणी को वन्दना कर रहे हैं—

१. **ब्रह्माणी**—यह शरीर एक वृक्ष है। इसमें प्राणतत्त्व के पत्र हैं। समस्त देवों के ईश्वर इन्द्र हैं। इनकी दिक् पूर्वादिक् है। इस दिक् को शरीरवृक्ष का प्राण-पत्र मानें, तो उन्हीं प्राण के पत्रों पर बुद्धिरूपा देवी विहार करती है। इस वृक्ष पर प्राण पत्रों के साथ निश्चय के फूल खिलते हैं। उन्हीं कुसुमों से बुद्धिदेवी आनन्दभैरव की अर्चना करती है। यही बुद्धि देवी 'ब्रह्माणी' कहलाती है। मैं उसे निरन्तर प्रणाम अर्पित करता हूँ ॥ ७ ॥

२. **शाङ्करी**—शरीर अवस्थित अहङ्कार तत्त्व रूपा अहंकृति शक्ति ही शाङ्करी देवी मातृका है। यह अनल रूप अग्निकोणीय प्राण दलों पर निवास करती है। अग्नितत्त्व के अनल दलों के साथ अभिमान के कुसुम खिलते हैं। इन्हीं से यह भगवान् भैरव की पूजा अनवरत सम्पन्न करती है। मैं इसकी वन्दना करता हूँ ॥ ८ ॥

1. वन्दे-पा० ।

विदधाति भैरवार्चां दक्षिणदलगा विशेष[1]कुसुमैर्या ।
नित्यं मनःस्वरूपां कौमारीं तामहं वन्दे ॥ ९ ॥
नैर्ऋतदलगा भैरवमर्चयते शब्दकुसुमैर्या ।
प्रणमामि [2]श्रुतिरूपां नित्यां तां वैष्णवीं शक्तिम् ॥ १० ॥
पश्चिमदिग्दलसंस्था हृदयहरैः स्पर्शकुसुमैर्या ।
तोषयति भैरवं तां त्वद्रूपधरां नमामि वाराहीम् ॥ ११ ॥
वरतररूपविशेषैर्मारुतदिग्दलनिषण्णदेहा या ।
पूजयति भैरवं तामिन्द्राणीं दृक्तनुं वन्दे ॥ १२ ॥

---

३. कौमारी—शरीर वृक्ष के दक्षिण प्राण पत्रों के साथ 'विशेष' रूप विकल्पों के फूल खिलते हैं । इन्हीं फूलों से दक्षिण दलगा कौमारी देवी भैरवार्चा का विधान करती है । यह मनः स्वरूपा मानी जाती है । मैं इसको अपने विनम्र प्रणाम अर्पित कर रहा हूँ ॥ ९ ॥

४. वैष्णवी—वैष्णवी श्रुतिरूपा देवी मानी जाती है । यह निॠति कोणीय दल पर निवास करती है । यह शब्द सुमनावली द्वारा भैरव को नित्य पूजा करती है । मैं इसे विनम्र प्रणाम करता हूँ ॥ १० ॥

५. बाराही—त्वक् रूप से शरीर को आवृत कर वर्त्तमान 'वाराही' देवी को मैं प्रणाम करता हूँ । जो निरन्तर भैरव रूप स्वात्मदेव की आराधना में संलग्न रहती है । यह पश्चिम दिग्दल में अधिष्ठित मातृका शक्ति है । यह स्पर्श रूप कुसुमों से भैरव की पूजा सम्पन्न करती है । स्पर्श के कुसुम सर्वातिशायी सुमन माने जाते हैं । ये अपने आकर्षण से सबके हृदयों के हरण करने में समर्थ होते हैं ॥ ११ ॥

६. इन्द्राणी—इन्द्राणी देवी वायव्य कोणीय दिग्दल में अधिष्ठित मानी जाती है । इसका अत्यन्त आकर्षक रूप अपने वैशिष्टय के लिये प्रसिद्ध

---

१. विकल्प-पा० । २. शब्द-पा० ।

धनपतिकिसलयनिलया या नित्यं विविधषड्रसाहारैः।
पूजयति भैरवं तां जिह्वाभिख्यां नमामि चामुण्डाम् ॥ १३ ॥
ईशदलस्था भैरवमर्चयते परिमलैर्विचित्रैर्या।
प्रणमामि सर्वदा तां घ्राणाभिख्यां महालक्ष्मीम् ॥ १४ ॥
षड्दर्शनेषु पूज्यं षट्त्रिंशत्तत्त्वसंवलितम्।
आत्माभिख्यं सततं क्षेत्रपतिं सिद्धिदं नौमि[1] ॥ १५ ॥
स्फुरदनुभवसारं सर्वान्तः सततसन्निहितम्।
नौमि सदोदितमित्थं निजदेहगदेवताचक्रम् ॥ १६ ॥

॥ इति देहस्थदेवताचक्रस्तोत्रम् ॥

हैं। इन्द्राणी दृक् तनु अर्थात् ज्ञान स्वरूपिणी मानी जाती है। मैं उसे प्रणाम करता हूँ ॥ १२ ॥

७. **चामुण्डा**—धनपति कुबेर को कहते हैं। कुबेर की दिशा उत्तरादिग् है। यह कुबेर की दिशा में अवस्थित मानी जाती है। रसना कुबेर दिक् तत्त्व का ही अङ्ग है। इसे छः रस अत्यन्त प्रिय हैं। इसोलिये इसे षड् रस व्यञ्जनों का अर्पण किया जाता है। मैं इसे प्रणाम करता हूँ ॥ १३ ॥

८. **महालक्ष्मी**—ईशान दिग्दल भाग में अवस्थित मातृका महालक्ष्मी दिव्य परिमलों से भैरव की अर्चना पूरी करती है। यह घ्राणेन्द्रिय रूपिणी माँ नित्य समर्चनीय है। मैं इसे विनम्र प्रणाम करता हूँ ॥ १४ ॥

९. **क्षेत्रपति**—भारतोय वाङ्मय में छः दर्शन प्रसिद्ध हैं। कर्म मोमांसा दर्शन को लेकर इनकी संख्या ७ सात हो जातो है। इन सभी दर्शन शास्त्रों द्वारा पूज्य रूप से उद्घोषित ओर ३६ तत्त्वात्मक शैव दर्शन तत्त्वों से संवलित आत्मतत्त्व रूपी सतत सिद्धि प्रदान करने वाले क्षेत्रपति देवता को मैं नमन करता हूँ ॥ १५ ॥

---

१. बन्दे-पा०।

१०. **देहस्थ देवता चक्र**—इस तरह देह में अवस्थित समस्त देववर्ग का मैं अभिनन्दन करता हूँ। ये सदा उदित अर्थात् आजीवन उल्लसित दिव्य देव हैं। ये नित्य स्फुरित रहस्यात्मक अनुभूतियों के प्रतीक हैं। ये सब हृदय के आन्तर अन्तराल में सतत सन्निहित रहते हुए सबकी रक्षा करते हैं। मैं इनका नित्य नमन करता हूँ ॥ १६ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तविरचित
डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर विवेक भाषाभाष्य संवलित
देहस्थ देवताचक्र स्तोत्र सम्पन्न
॥ इति शिवम् ॥

[२]

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचितम्
डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलितम्

पञ्चश्लोकीस्तोत्रम्

यत्सत्यं तु मया कृतं मम विभो कृत्यं तु नातः परं
यन्मन्मानसमैशपादकमले भक्त्या मयैवार्पितम् ।
सर्वस्वंह्यत एवमेतदितरन्नास्त्येव जानाम्यत-
स्त्यक्त्वा क्षिप्रमनाथनाथ करुणासिन्धो प्रसन्नो भव ॥ १ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित
डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेकभाषाभाष्यसंवलित

पञ्चश्लोकीस्तोत्र

मेरे सर्वसमर्थ आराध्य देव ! यत् सत्यं जानामि, जो वास्तविक सत्य का स्वरूप है, जिसे मैं स्वयं जानता हूँ, मया कृतं, वह मेरे द्वारा क्रिया रूप रूप में परिणत कर दिया गया। अर्थात् चिदानन्दमय परमेश्वर की इच्छा से समुल्लसित इस विश्वोल्लास के ज्ञान को क्रिया रूप में प्रवर्त्तित कर मैंने चित् आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप आराध्य परमशिव के पाँचों गुणों को जीवन में चरितार्थ करने का ही पावन कार्य सम्पादित किया है।

अतः परं कृत्यं न जानामि, जीवन में इन पाँचों गुणों को स्वात्मसात् कर उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान करने के अतिरिक्त कोई अन्य भी करणीय कृत्य

महेश त्वद्द्वारि स्फुरतु रुचिरा वागतितरां
ममैषा निर्दोषं जय जय महेशेति सततम् ।
शिवा सैषा वाणी भवतु शिवदा मह्यमनिशं
महेशानाथं मां शरणद सनाथं कुरु विभो ॥ २ ॥

है, मैं यह नहीं जानता। विमर्श के इस स्तर पर मनःस्वरूपा कौमारी मातृका वृत्ति को परमाराध्य परमेश्वर शिव के पादारविन्द में अनन्य भक्तिपूर्वक अर्पित कर दिया है। सर्वस्वम् अत एवम्, अपने मन को परमेश्वर के चरणों में अर्पण रूपकृत्य ही मेरा इस प्रकार का सर्वस्व अर्थात् सर्वरूप में समर्पित कृत्य ही अपना सब कुछ है।

एतदितरन्नास्त्येव (इति) जानामि, इससे बढ़कर इसके अतिरिक्त मैं कुछ भी नहीं जानता। तुम्हारा तुझे अर्पित है मेरे आराध्य! इसके अतिरिक्त मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं है। यह मेरी जानकारी और मेरी न जानकारी रूप अज्ञता इन बातों को त्यक्त्वा अर्थात् छोड़कर हे करुणा-वरुणालय! हे अनाथों के नाथ परमेश्वर मेरे इस अस्तित्व पर प्रसन्नता की वर्षा कर दो। इसमें अब विलम्ब का कोई कारण नहीं है ॥ १ ॥

हे महेश! विराट् विश्वेश्वर तुम्हारे द्वार पर एक अणु पुरुष की 'जय महेश' रूप आत्यन्तिक रुचिकरी विमला वाक् अनवरत स्फुरित होती रहे। अर्थात् विश्वात्मिका यह अणुतामयी इदन्ता, अहन्ता के तादात्म्य के लिये साधना उपासनारत रहे, यही मेरा अभिलाष है।

यह कल्याणी कवितामयी मेरी वाणी मेरे लिये अनिश अर्थात् निरन्तर कल्याण प्रदा हो। हे शरणागत वत्सल महेश! इस अनाथ को अपने अनुग्रह रूप वात्सल्य की महिमा से सनाथ कर दो! हे सर्व समर्थ परमेश्वर विभु! आपकी जय हो ॥ २ ॥

ब्रूषे नोत्तरमङ्ग पश्यसि न मामेतादृशं दुःखितं
विज्ञप्तिं बहुधा कृतां न शृणुषे नायासि मन्मानसे ।
संसारार्णवगर्तमध्यपतितं प्रायेण नालम्बसे
वाक्चक्षुः श्रवणाङ्घ्रिपाणिरहितं त्वामाह सत्यं श्रुतिः ॥३॥

गुरोर्वाक्याद् युक्तिप्रचयरचनोन्मार्जनवशात्
समाश्वासाच्छास्त्रं प्रति समुचिताद्वापि कथितम् ।
विलीने शङ्काभ्रे हृदयगगनोद्भासि महसः
प्रभोः सूर्यस्येव स्पृशतु चरणान् ध्वान्तजयिनः ॥ ४ ॥

भगवन् ! अनाथ आराधक भक्त आप से करुण प्रार्थना करते थक रहा है, पर यह क्या ? आप तो कुछ बोलते ही नहीं, कोई उत्तर ही नहीं देते । इतने दुःखी दयापात्र दीन की ओर आप की कृपा दृष्टि के कोई लक्षण ही नहीं दीखते । इतने भीगे भाव से की गयी करुण पुकार आप सुनते ही नहीं। मेरे मन में आप उतरते ही नहीं । यह बेसहारा संसार सागर की गहराई में इस गर्त्त में डूब रहा है प्रभो ! पर आप इसे सहारा भी नहीं दे रहे ! प्रभो ! वेद कहता है कि, परमेश्वर वाक्, आँख, कान, पैर और हाथ आदि से रहित हैं । लगता है कि, यह श्रुति की उक्ति सर्वथा सत्य है ॥ ३ ॥

परम श्रद्धेय गुरु की अमृतमयी उपदेशरूप उच्चरित उक्तियों से, युक्तियों और सत्तर्कों को कसौटी पर खरी उतरने वाली रचना के उद्बोध से, शैव शास्त्रों के प्रति समुचित समाश्वासविश्वासमयी श्रद्धा से, शङ्का के मँडराते सोच के आकाश के घने बादल अब छँट चुके हैं । हृदयाकाश एक अप्रतिम तेजस्विता से उद्भासित हो रहा है । अन्धकार रूप ध्वान्त को ध्वस्त करने वाली किरणें उससे विनिःसृत हो रही हैं । वे सांसारिक अज्ञानान्धकार को दूर करने वाले आप रूप प्रभु का स्पर्श कर धन्य हो जाँय । सूर्य की किरणें भी प्रभु के चरणों का स्पर्श करती ही हैं । उसी तरह मेरे हृदय गगन में

यातस्त्वत्सहवासतो बहुतरः कालो बतास्मिन् क्षणे
किं किं वा न कृतं त्वया वरगुरूपासानिमित्तेन मे ।
वारं वारमहं पुनर्निरुपमां दिव्यं भुवं प्रासुव-
त्कायस्त्वां किल विस्मरामि यदतः स्थेयं न भूयस्त्वया ॥ ५ ॥

॥ इति पञ्चश्लोकीस्तोत्रम् ॥

उद्भासित किरणें भी आराध्य के चरण स्पर्श से धन्य हो जांय। यह ध्वान्तजयिनः विशेषण महस्, सूर्य और प्रभु तीनों के लिये प्रयुक्त है ॥ ४ ॥

परमाराध्य! आराधना साधना में तुम्हारे साथ रहने का मुझे सौभाग्य मिला। साधनावधि का कालखण्ड अब समाप्त हो गया। वर्त्तमान के इस सद्भाव में भी भगवन्! श्रेष्ठ ज्ञानवान् गुरु की उपासना के निमित्त से मेरे श्रेय के उत्कर्ष के लिये आपने क्या क्या नहीं किया? बारम्बार अनुपमेय दिव्य शरीर प्राप्त करता हुआ मैं तुम्हें आज भूल रहा हूँ, (यह अच्छा नहीं है)। इसलिये मेरी यह प्रार्थना है कि, मेरे आराध्य अब मुझे तादात्म्य में आत्मसात् कर लो। अवभास की स्थेयता को समाप्त कर दो। मेरी संसृति-यात्रा को कीलित कर दो प्रभु! यह मेरो प्रार्थना है ॥ ५ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तविरचित
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीरविवेकभाष्यसंवलित
पञ्चश्लोकी स्तोत्र परिपूर्ण
॥ इति शिवम् ॥

[३]

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिता

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलिता

परमाद्वयद्वादशिका

तथ्यातथ्यमकल्पमल्पशयनैर्जल्पक्रमं संहर-
स्तत्संहारक्रमे न किं कथमिदं [1]कोऽस्मीति माचीक्लृपः ।
भावाभावविभागभासकतया यद्भात्यभग्नक्रमं
तच्छून्यं शिवधाम वस्तुपरमं ब्रह्मात्र कोऽर्थग्रहः ॥ १ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित

डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेकभाषाभाष्यसंवलित

परमाद्वयद्वादशिका

जगत् में अथवा इस दृश्यादृश्य विश्व विस्तार में क्या तथ्य है, क्या अतथ्य है ? विना सोये या स्वल्पशयन किये अर्थात् अवबोध से प्रभावित रहते हुए अनवरत इस अप्रकल्प्य विषय के इस प्रजल्पन क्रम का परित्याग करना ही श्रेयस्कर है। यह एक प्रकार से अपने अहङ्कार का संहार ही है। इसी संहारक्रम में 'यह अस्तित्व का असत्य है क्या ? कैसे यह हो गया है ? अर्थात् इसकी उत्पत्ति का मूल उत्स क्या है ? स्वयं मैं कौन हूँ ?' इत्यादि इस प्रकार की बातों में अपनी सामर्थ्य को व्यर्थ न करो।

अपने मन के समस्त विकल्पों का परित्याग कर यह दृढ़ निश्चय कर लो कि, यह भाव अर्थात् यह विश्वात्मक विस्तार का अभिव्यंजन और अभाव अर्थात् विनाश लीलामय संतत संहार, इन दो रूपों में अर्थात् सृष्टि और संहार के विभाग का यहाँ जो अवभास हो रहा है, और जो अभग्नक्रम अर्थात् अविरल

१. कोऽसी-पा० ।

यद्यतत्त्वपरिहारपूर्वकं तत्त्वमेषि यदतत्त्वमेव हि ।
यद्यतत्त्वमथ तत्त्वमेव वा तत्त्वमेव ननु तत्त्वमीदृशम् ॥ २ ॥
यद्यद्भाति न भानतः पृथगिदं भेदोऽपि भातोति चेद्
भाने सोऽपि नभाति किंजहिततस्तद्भङ्गिभङ्गग्रहम् ।
स्वप्ने स्वप्नतया प्रथां गतवति क्रीडैव नो भीतिकृत्
शस्त्राघात-जलावपात-हुतभुङ्निर्घात-बन्धादिकम् ॥ ३ ॥

भाव से भासमान प्रतीत हो रहा है, यह शून्य है और शून्य ही शिव का परमधाम है। यही परमब्रह्म है ? इस अनुपम और दिव्य अर्थग्रह के अतिरिक्त विश्वात्मक अर्थग्रह का क्या प्रयोजन ? ॥ १ ॥

साधक तत्त्वविषयक चिन्तन करता ही है। किसी साधक शिष्य ने महामाहेश्वर से तत्त्वों के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा प्रकट की। उसीं पर उन्होंने कहा—वत्स ! तुम तत्त्वों का चिन्तन करते हो। जिन जिन तत्त्वों को तुम सोचते हो, उन्हें छोड़कर दूसरे को और उसे भी छोड़कर अन्य को और पुनः अन्य का भी परिहार कर देते हो। फिर एक अभिनव तत्त्व के चिन्तन स्तर पर पहुँचते हो। किन्तु वत्स ! यह याद रखो कि, वह भी अतात्त्विक ही है।

मान लो कि, वह अतात्त्विक हो तो भी वह तत्त्वमय ही है। तत्त्व का तो यही अर्थ है कि 'तत्' ब्रह्म का ही भाव अर्थात् उल्लास है। यही और ऐसी ही तत्त्व की अन्वर्थता है ॥ २ ॥

इस भेदभरे संसार में जो कुछ भी भासित हो रहा है, वह इदन्ता का ही उल्लास है। वह भान के अतिरिक्त नहीं है। भान प्रकाश का धर्म है। यह भेदावभास भी तो भासित ही हो रहा है। प्रकाश शिव और विमर्श शक्ति मानी जाती है। किसी प्रकार के भान में क्या वह शिव ही भासित नहीं हो रहा है। अर्थात् अवश्य ही वही भासित हो रहा है।

ध्यानक्रियाकलनपूर्वकमध्यवस्येद्-
यद्यद्भवान् कथय कोऽस्य जडाद्विशेषः ।
स्फूर्जञ्जडोऽपि न किमद्वयबोधधाम
निस्सीमनित्यनिरवग्रहसत्यरूपम् ॥ ४ ॥

इसलिये भेद से भासित हो रहा है, इस विचार भङ्गिमा का परित्याग कर देना चाहिये ।

हम स्वप्न देखते हैं । उसमें कभी यह स्पष्ट भासित होता है कि, किसी ने हथियारों की चोट मुझे दी, कभी यह लगता है कि, स्वप्न द्रष्टा समुद्र में डूब रहा है । कभी भयङ्कर आग लग गयी और उससे हम झुलस गये । कभी निगडबन्धन सदृश बन्ध ही आ पड़ा । यह सब क्या है ? यह किसकी क्रीडा है ? यह हम नहीं जान पाते । इधर हमारा ध्यान ही नहीं जाता । उल्टे इन स्वप्नों से हम डर भी जाते हैं । अतः स्वप्न की तरह ही इस अवभास को भी लेना चाहिये । इस भेद बुद्धि का परित्याग कर अभेद अद्वय उपासना और साधना में अपने को समाहित करना ही श्रेयस्कर है ॥ ३ ॥

ध्यान की प्रक्रिया में अनवरत निरत रहते हुए और उसके आकलन में स्वात्म उत्कर्ष का मापन करत हुए अपनी साधना का अध्यवसाय निर्वाध भाव से चलना चाहिये । इस अध्यवसाय क्रम में साधक निःस्पन्द शान्ति का अनुभव करता है । शास्त्रकार पूछ रहे हैं कि, कहिये इस निस्पन्दता में और जड़ता में क्या अन्तर है ? क्या बिशेष है ? जड़ भी निष्पन्द और ध्यानस्थ साधक भी निःष्पन्द ! और यह स्फूर्जन जड़ में ही उन्मिषित होता हुआ प्रतीत होता है । स्फूर्जित यह जड भी अद्वय महाभाव का अधिष्ठान है, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है । इस प्रकार सीमारहित आनन्त्य में अभिव्यक्त नित्य और निरवग्रहरूप सत्य स्वयं सुस्पप्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

भावानामवभासकोऽसि यदि [1]तैर्मालिन्यमातन्यते
किं ते तद्यदि भाति हन्त भवतस्तत्राप्यखण्डं महः ।
नो चेन्नास्ति तदेवमप्युभयथा निर्व्याजनिर्यन्त्रणा
त्रुटयद्विभ्रमनित्यतृप्तिमहिमा नित्यप्रबुद्धोऽसि भोः ॥ ५ ॥

दृष्टिं बहिः प्रहिणु [2]लक्ष्यमथान्तरित्थं
स्याद्भैरवानुकरणं बत वञ्चनेयम् ।
निर्द्वन्द्वबोधगगनस्य न बाह्यमस्ति
नाभ्यन्तरं निरवकाशविकासधाम्नः ॥ ६ ॥

साधक शिष्य को सम्बोधित और उद्बोधित करते हुए शास्त्रकार कह रहे हैं कि, प्रियवर ! तुम अपने हृदय में इस बद्धमूल धारणा को अधिष्ठित कर लो कि, मैं नित्य प्रबुद्ध हूँ। तुम अपनी विभिन्न अवस्थितियों और प्रवृत्तियों का आकलन करो । तुम स्वयं विभिन्न भावों के अवभासक हो। तुम यह भी देखते हो कि, इन भावों और व्यापारों से मालिन्य का ही आतन्वन हो रहा है। इससे तुम्हें क्या ? यदि तुमसे किसी भाव का अवभास हो रहा है, तो यह भी सोचो कि, इससे भी या इसमें भी एक अखण्ड अद्वय भाव का प्रकाशन हो रहा है। यदि तुमसे नहीं हो रहा है, तो न हो, इससे भी तुम्हें क्या? इन दोनों प्रकार की ऊहापोहमयी जीवन की गतिशीलता में कोई अन्तर पड़ने वाला नहीं । यह एक निर्व्याज निर्यन्त्रणा का ही उद्बोधक है। इसी से विश्वात्मकता के विविध अवभासों के प्रति मोहभङ्ग ही होता है। इस अनुभूति से नित्यतृप्ति होती है और नित्य तृप्ति का महत्त्व साधक का सर्वस्व है ॥ ५ ॥

एक उक्ति है—'अन्तर्लक्ष्योबहिर्दृष्टिः'। साधक का यह कर्त्तव्य है कि, वह बाहर की ओर दृष्टि निक्षेप कर शैव विस्फार का दर्शन कर कृतार्थ

१. तैर्मोहः कि-पा० । २. पथातिरिक्तं-पा० ।

वासनाप्रसरविभ्रमोदये यद्यदुल्लसति तत्तदीक्ष्यताम् ।
आदिमध्यनिधनेषु तत्र चेद्भासि भासि तव लीयतेऽखिलम् ॥७॥

होता रहे। साथ ही लक्ष्य को अन्तर्दृष्टि से आकलित करे, जिससे भैरवभाव का अनुदर्शन सम्भव हो। शास्त्रकार कह रहे हैं कि, तात्त्विक रूप से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि, यह अनुभूति भी एक तरह की वञ्चना ही है। शाश्वत सत्य है कि, उस निर्द्वन्द्व बोधगगन का बाह्य होता ही नहीं।

श्लोक की चतुर्थ पंक्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रयुक्त 'नाभि' शब्द अनन्त रहस्य गर्भ अर्थों को आत्मसात् कर रहा है। इसके अन्तर्भाग के विकास का आकलन करने पर यह ज्ञात होता है कि, इस शाश्वत केन्द्र में विकास के लिये कोई अवकाश ही नहीं है। नाभि शब्द केन्द्र अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह मणिपूरक केन्द्र कहलाता है। इसे राका केन्द्र और मातृकेन्द्र भी कहते हैं। शिशु का नाल मातृ नाल से मिला रहता है। इसी नाल के माध्यम से गर्भस्थ अर्भक में प्राण का प्रवेश होता है। शरीर का यह अंग शरीर का महत्त्वपूर्ण केन्द्र माना धाता है।

श्लोक में प्रयुक्त बोधगगन रूपी अहन्ता के मध्य को ही नाभि कहते हैं। उस मध्य केन्द्र की शाश्वत एकरूपता का आकलन शास्त्रकार सदृश कोई सिद्ध योगिनी भूः साधक योगी ही कर सकता है। इसीलिये उसे निरवकाश विकास धाम की संज्ञा इन्होंने प्रदान की है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि, 'अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः' की उक्ति का स्वतः खण्डन हो जाता है। बाह्य है ही नहीं, तो दृष्टि जायेगी कहाँ। इस महाभाव में योगी निरन्तर शैव तादात्म्य का आनन्द अनुभव करता है ॥ ६ ॥

वासना के प्रसर को विभ्रम मानना ही उचित है। इसके उदित होने की अवस्था में भेदमय अनन्त वस्तु सत्ता का उल्लास परिलक्षित हो रहा होता है। साधक को उसका साक्षीभाव से दर्शन करना चाहिये।

मोहो दुःखवितर्कतर्कणघनो हेतुप्रथानन्तर-
प्रोद्यद्विभ्रमशृङ्खलातिबहलो गन्धर्वपूस्सन्निभः ।
द्वैताद्वैतविकल्पनाश्रयपदे चिद्व्योम्नि नाभाति चेत्
कुत्रान्यत्र चकास्तु कास्तु परमा निष्ठाप्यनेकात्मना ॥ ८ ॥
स्वप्ने तावदसत्यमेव मरणं सौषुम्नधाम्निप्रथा
नैवास्यास्ति तदुत्तरे निरुपधौ चिद्व्योम्नि कोऽस्य ग्रहः ।
जाग्रत्येव घटावभासवदथ स्याच्चेत्क्षणे कुत्रचि-
दारोप्यापि तदत्यये पृथगिदं तत्रापि का खण्डना ॥ ९ ॥

उनके आदि, मध्य और अन्त के रहस्य का अवगम करते हुए वहाँ यदि तुम स्वयं प्रकाश बन कर भासमान हो रहे हो, तो तुम्हें साधुवाद! वस्तुतः तुम शाश्वत प्रकाशसत्ता से ऐकात्म्य स्थापित कर भासमान भास्कर की तरह प्रकाशित हो रहे हो। इस तरह तुम्हारे निखिल आन्तर आणव, कार्म और मायीय संस्कार विलीन हो जाते हैं ॥ ७ ॥

मोह क्या है? इस पर विचार करो। सारे सांसारिक उपद्रवों का आसक्तियों और आत्मविस्मृति का यह प्रधान हेतु है। दुःख, वितर्क और कुतर्कों के मूल में मोह ही प्रधान कारण होता है। इसका परिणाम बड़ा भयानक होता है। विभ्रम की भ्रान्तिपूर्ण शृङ्खला का यह मानदण्ड है। यह भ्रान्तिभरी गन्धर्व नगरी की भाँति भ्रान्ति में ही भासित होता है। साधक को संबन्धों में सावधान रहना चाहिये। उसे इस बात को सजग भाव से आकलन करते हुए जानना चाहिये कि, द्वैत प्रसार और अद्वय उल्लास रूपी विकल्प के आश्रय चिदाकाश में ही यदि यह अवभासित न हो तो अन्यत्र कहा उल्लसित हो? परमा परमात्मनिष्ठा भी अनेकात्मना भासित न हो तो क्या हो? ऐकात्म्य अवभास का ही आख्यान अनतिरिक्त रहते हुए भी अतिरिक्त की तरह भासित होना है। इसे आनन्द के चमत्कार की तरह ही मानना चाहिये ॥ ८ ॥

ये ये केऽपि प्रकाशा मयि सति परमव्योम्नि लब्धावकाशाः
क्वाशामेतेषु यद्वे महिमनि मयि भोः निर्विभागं विभान्ति ।
सोहं निर्व्याजनित्यप्रतिहतकलनानन्तसत्यस्वतन्त्र-
ध्वस्तद्वैताद्वयादि द्वयमयतिमिरापारबोधप्रकाशः ॥ १० ॥

सपने की मृत्यु भी असत्य है। यह सुषुप्ति की अवस्था की एक प्रथा मात्र है। इसके अस्तित्व का आधार ही असत् है। इससे उत्तर को तुर्य और तुर्यातीत निरुपाधि अवस्थाओं के चिदाकाश में इसका प्रकल्पन भी नहीं होता, इसके ग्रहण की तो कोई बात ही नहीं।

घट आदि पदार्थों का अवभास जाग्रत् अवस्था का अभिशाप है। इसी तरह यदि किसी स्थान पर किसी समय कोई अवभास हो ही जाय, तो उस क्षण के व्यतीत हो जाने पर उसका अत्यय भी अवश्यम्भावी ही होता है, ऐसी अवस्था में इसके खण्डन का भी कोई महत्त्व नहीं रह जाता ॥ ९ ॥

मेरी अहन्तामयी शाश्वत सत्ता रूप परमव्योम के पराकाश में यदि कुछ प्रकाश स्फुलिङ्ग चमक उठते हैं, तो इससे क्या अन्तर पड़ता है ? वे तो लब्धावकाश मात्र प्रकाश हैं। इस मेरे महिमामय अन्तहीन प्रसार में यदि ये अनतिरिक्त रहते हुए भी निर्विभाग भिन्न से कौंध जाते हैं, तो इनके विषय में कुछ सोचने से भी क्या लाभ ? इनके निराकरण की भी क्या चिन्ता ?

मेरा यह स्वात्म स्वरूप बोध प्रकाश मात्र है। इसमें बिना किसी व्याज के, नित्य ऐकात्म्य उल्लसित है। द्वयमयी कलनायें यहाँ निरन्तर प्रतिहत होती रहती हैं। यहाँ अनन्त सत्य का साम्राज्य है। यह अनुभूति का विषय है। इसमें स्वातन्त्र्य नित्य स्फुरित है। यहाँ द्वैताद्वैत के विकल्प ध्वस्त हो चुके हैं। द्वैतान्धकारकलङ्कपङ्क का प्रक्षालन हो चुका है। इस बोध प्रकाश में सोऽहंभाव का ही उल्लास है ॥ १० ॥

कालः संकलयन् कलाः कलयतु स्रष्टा सृजत्वादराद्-
आज्ञायाः परतन्त्रतामुपगतो मथ्नातु वा मन्मथः ।
क्रीडाडम्बरमम्बराश्रयमिव स्वे लेखरेखाक्रमं
देहाद्याश्रयमस्तु वैकृतिमहामोहो न पश्यामि किम् ॥ ११ ॥

कः कोऽत्र भोऽहं कवलीकरोमि
कः कोऽत्र भोऽहं सहसानिडन्मि ।
कः कोऽत्र भोऽहं परबोधधाम
सञ्चर्वणोन्मत्ततनुः पिबामि ॥ १२ ॥

काल का संकलन करते हुए कलाओं का कलन प्रेमपूर्वक वृष्टिकर्त्ता सृजन के क्षणों में करते रहें, मन्मथ मेरे आदेश से बँधा मनों का मन्थन करता रहे, व्योम चित्रावली में चित्र-विचित्र गन्धर्व नगरी की क्रीडामयी आडम्बरान्विता लेखरेखओं के क्रम को स्वात्मफलक पर ही मैं क्यों नहीं देखूँ। यह वैकृतिमय महामोह देह के आश्रय के वैवश्य में विनशता रहे। मैं तो साक्षी भाव से तटस्थ सत्ता को स्वात्मसत्ता में ही आत्मसात् कर रहा हूँ ॥ ११ ॥

यह मैं हूँ। मैं यह उद्घोषणा कर रहा हूँ कि, मैं ही इसका संहार रूप से ग्रास बना रहा हूँ। यहाँ कौन है मेरे अतिरिक्त। अर्थात् कोई नहीं। मेरा यह प्रश्न विश्व को सम्बोधित है। कोई तो उत्तर दे। यहाँ कौन है ? कौन है यहाँ मैं हो सहसा यह मैं ही विश्व को निमज्जित कर रहा हूँ। परबोधधाम रूप अपनी दिव्यता से व्याप्त दीप्ति से ऊर्जस्वल हो रहा हूँ। स्वयं वही हूँ। विश्वसंहार रूपी चर्वण प्रक्रिया में मेरी काया लगता है, उन्मत्त सी हो गयी है। मैं इस चर्वण के अनन्तर प्राणापान संघट्ट से स्रवित पीयूष राशि का पान कर प्रसन्न हो रहा हूँ ॥ १२ ॥

भवोत्थभयभञ्जदं गदश्रृगालविद्रावणं
प्रबोधधुरिधोमतामपि सकृद्यदुद्दोपयन् ।
स्वधामगहनाटवीविहरणातितृप्त्युद्रमाद्-
विभेवहरिवृंहितं व्यधित रम्यदेवो हरः ॥ १३ ॥

परमाद्वयद्वादशिका सम्पूर्णा
॥ इति शिवम् ॥

संसार की सांसारिकता से समुदित होने वाली भीषा को ध्वस्त करने में सक्षम, योग रूपी श्रृगालों को विद्रावित करने में समर्थ, प्रबोध की धुरा पर शुद्धबुद्ध प्रबुद्ध साधकों को भो उद्दीप्त करते हुए, अपने परमधाम रूपी अत्यन्त गहन अटवो रूपी अरण्य में बिहार करने से पूरी तरह सन्तुष्ट और तृप्ति के उद्‌गम से प्रसन्न भगवान् भूतभावन हर अपनी पूर्ण रमणीयता से विभूषित हैं। उन्होंने ही इस द्वैतप्रसारात्म हरि रूप बिष्णु को व्यापकता को उपवृंहित किया है। यह सर्वप्रसार उन्हीं का अनुग्रह है ॥ १३ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तविरचित
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक हिन्दीभाष्यसंवलित
'परमाद्वयद्वादशिका' सम्पूर्ण
॥ इति शिवम् ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचितः

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलितः

बिम्बप्रतिबिम्बवादः

प्रकाशमात्रं यत्प्रोक्तं भैरवीयं परं महः ।
तत्र स्वतन्त्रतामात्रमधिकं प्रविविच्यते ॥ १ ॥

यः प्रकाशः स विश्वस्य प्रकाशत्वं प्रयच्छति ।
न च तद्व्यतिरेक्यस्ति विश्वं सद्वाऽवभासते ॥ २ ॥

श्री मन्महामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्त विरचित

डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाष्य संवलित

बिम्बप्रतिबिम्बवादः

शास्त्रों और मनीषियों द्वारा प्रकाश मात्र रूप भैरवदेव का प्रकाश मात्र में ही उल्लसित परम उत्सवात्मक तेज साधकों को अनुभूति का विषय है। उसमें स्वातन्त्र्य शक्ति का अधिक और अतिरिक्त महत्त्व है। उसका विवेचन और विश्लेषण यहाँ किया जाना अपेक्षित है। शास्त्रकार इसी विषय का उपवृंहण कर रहे हैं ॥ १ ॥

यह परम प्रकाश ही विश्व को प्रकाशित कर रहा है[1]। प्रकाश का कोई व्यतिरेको नहीं होता। अथवा विश्व सद्रूप है और सद्रूप में ही अवभासित है। सत् अर्थात् चित् तत्त्व का अस्तित्व ही विश्व रूप में अवभासित है। वा शब्द संसार के अस्तित्व विषयक विकल्प का प्रकल्पन कर रहा है। व्यतिरेक न्याय शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द है। शब्दार्थ विग्रह वाक्यों द्वारा अभिव्यक्त होता

---

१. श्रीतन्त्रालोक आ० ३।२,

अतोऽसौ परमेशानः स्वात्मव्योमन्यनर्गलः ।
इयतः सृष्टिसंहाराडम्बरस्य प्रवर्तकः ॥ ३ ॥
निर्मले मुकुरे यद्वद्भान्ति भूमिजलादयः ।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः ॥ ४ ॥
सदृशं भाति नयनदर्पणाम्बरवारिषु ।
तथाहि निर्मले रूपे रूपमेवावभासते ॥ ५ ॥
प्रच्छन्नरागिणीकान्तप्रतिबिम्बितसुन्दरम् ।
दर्पणं कुचकुम्भाभ्यां स्पृशन्नपि न तृप्यति ॥ ६ ॥

है। कभी अन्वय से उसे जानते हैं और कभी व्यतिरेक दृष्टि से विचार करते हैं। जैसे प्रकाश नहीं तो विश्व का अवभास नहीं। इस व्यतिरेक दृष्टि में प्रकाश स्थानीय किसी अन्य तत्त्व का प्रकल्पन नहीं किया जा सकता। क्योंकि एकमात्र प्रकाश में ही स्वातन्त्र्य का उल्लास है ॥ २ ॥

इसलिये यह कहा जा सकता हैं कि, वह परम ईशान परमेश्वर स्वात्म व्योम रूप चिदाकाश में निरर्गल अर्थात् सर्वतन्त्र स्वतन्त्र प्रकाश रूप से उल्लसित है। वही परमतत्त्व शिव है। अपने व्यापकत्व में सृष्टि, स्थिति और संहार के आडम्बर[1] का वह स्वयं प्रवर्त्तन करता है ॥ ३ ॥

निर्मल[2] दर्पण में जैसे भूमि जल आदि पदार्थों के पृथक् पृथक् सदृश रूप भासित होते हैं, उसी तरह चित् के चैतन्य फलक रूप प्रकाश दर्पण में समस्त विश्व की वृत्तियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं ॥ ४ ॥

[3]नयन, दर्पण, अम्बर और वारि में जेसे रूप का अवभास होता है, उसी तरह जहाँ जैसे नैर्मल्य हैं, उनमें उसी प्रकार के रूप अवभासित होते हैं ॥ ५ ॥

१. श्रीत० आ० ३।३ २. श्रीतन्त्रालोक आ० ३।४, ३. श्रीत० आ० ३।५

न हि स्पर्शोऽस्य विमलो रूपमेव तथा यतः ।
वैमल्यं चातिनिबिडमजातीयैकसङ्गतिः ॥ ७ ॥
स्वस्मिन्नभेदाद्भिन्नस्य दर्शनक्षमतैव या ।
अत्यक्तस्वप्रकाशस्य नैर्मल्यं तद्गुरूदितम् ॥ ८ ॥

[1]गुप्त रूप से अभिसारिका नायिका ही अपने प्रिय से प्रेम करती है। यदि कभी उसके गुरुजन भी वहाँ हों और प्रिय भी संयोगवश वहाँ आ गया हो, तो संकोचवश उसे प्रत्यक्ष नहीं मिल सकती। वहीं लगे दर्पण में उसका प्रतिबिम्ब देख कर वह दर्पण को अपने हृदय से लगा लेती है। यह सत्य है कि, साक्षात् आलिङ्गन की तरह उसे आनन्द की उपलब्धि नहीं होती। अपने कुम्भ सदृश स्तनों में दबा कर भी, पूर्ण स्पर्श पर भी वह तृप्ति नहीं मिलती क्योंकि स्पर्श का प्रतिबिम्ब दर्पण में नहीं होता। इसलिये तृप्ति का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता ॥ ६ ॥

दर्पण में केवल एक रूप नैर्मल्य का गुण होता है। अतः उसमें केवल रूप मात्र ही प्रतिबिम्बित होता है। उसमें स्पर्श का नैर्मल्य नहीं होता। प्रश्न किया जा सकता है कि, यह नैर्मल्य क्या पदार्थ है ? इसी का उत्तर शास्त्रकार श्लोक की दूसरी अर्धाली में दे रहे हैं। उनका कहना है कि, अतिनिबिड अर्थात् अत्यन्त पारस्परिक सांनिध्य से घनत्व युक्त, सजातीय परमाणुओं को एक संगति अर्थात् पारस्परिक स्वच्छता को नैर्मल्य कहते हैं। यह जहाँ होगा अर्थात् इतनी स्वच्छता जहाँ होगी, वहाँ उसका सजातीय गुण प्रतिबिम्बित होगा अन्यथा नहीं होगा।

दर्पण में रूप की स्वच्छता है। अतः रूपमात्र ही प्रतिबिम्बित होता है। इसे अन्वय दृष्टि कहते हैं। नहीं तो नहीं यह व्यतिरेक दृष्टि है ॥ ७ ॥

इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में व्यक्त करते हुए शास्त्रकार कह रहे हैं कि, स्वात्म में अभेद रूप से अभिन्न को स्वात्म से प्रतिबिम्बित कर देखने-

१. श्रीतन्त्रालोक आ० ३।६

नैर्मल्यं मुख्यमेतस्य संविन्नाथस्य सर्वतः ।
अंशांशिकातः क्वाप्यन्यद्विमलं तत्तदिच्छया ॥ ९ ॥
भावानां यत्प्रतीघाति वपुर्मायात्मके हि तत् ।
तेषामेवास्ति सद्विद्यामयं त्वप्रतिघातकम् ॥ १० ॥

दिखाने की क्षमता, जिसमें स्वात्म का प्रकाश ज्यों का त्यों झलकता हो, कहीं वह छूट न गया हो, त्यक्त प्रकाश न हो, तो इस क्षमता को ही गुरुवर्ग नैर्मल्य कहता है। निर्मल के भाव को ही 'नैर्मल्य' गुण कहते हैं॥ ८॥

संवित् तत्त्व परमेश्वर से अभिन्न तत्त्व है। इसीलिये परमेश्वर को संविद्वपुष् या संविन्नाथ शब्द से विभूषित करते हैं। इस शब्द में भारतीय सांस्कृतिक निष्ठा भी प्रतिभासित है। संवित् साध्वी अभिन्नांगमयी स्त्री शक्ति और उसके पतिपरमेश्वर शिव ही संविन्नाथ हो सकते हैं। यही शिव की मुख्य गुणवत्ता है। वे संवित् प्रकाश की अतिनिबिड सजातीयता को प्रतिभासित करने करने की क्षमता रखने वाले मुख्य नैर्मल्य से संवलित हैं। उसमें सब गुणों के अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन पाँचों गुणों को अंशांशिक रूप से या सर्व रूप से प्रतिबिम्बित करने की क्षमता है। अंश अंश में प्रतिबिम्बित करने की क्षमता अमुख्य नैर्मल्य है। सबके प्रकाशित करने की क्षमता मुख्य नैर्मल्य है। सबका प्रतिबिम्ब ग्रहण करना भी परमेश्वर की इच्छा पर ही निर्भर करता है॥ ९॥

प्रतिघात करने वाला प्रतिघाती होता है। जैसे गेंद टकराती है, तो मिलती नहीं पीछे हटने को बाध्य होती है। दो ढेलों के टकराव में विजातीयता के कारण दोनों भिन्न ही रहते हैं। जितने भी भाव पदार्थ होते हैं, सभी प्रतिघाती होते हैं। स्थूल होते हैं। अतएव मायात्मक होते हैं। उनका शरीर अर्थात् उनकी संरचना मायामय होती है। सभी यह जानते हैं कि, पारमेश्वरी क्रिया शक्ति का नाम ही माया है। यह भी निश्चय है कि, स्थूल पदार्थों

तदेवमुभयाकारमवभासं प्रकाशयन् ।
विभाति वरदो बिम्बप्रतिबिम्बतयाऽखिले ॥ ११ ॥

यस्त्वाह नेत्रतेजांसि स्वच्छात्प्रतिफलन्त्यलम् ।
विपर्यस्य स्वकं वक्त्रं गृह्णन्तीति स पृच्छ्यते ॥ १२ ॥

देहादन्यत्र यत्तेजस्तदधिष्ठातुरात्मनः ।
तेनैव तेजसा ज्ञत्वे कोर्थः स्याद्दर्पणेन तु ॥ १३ ॥

के संघट्ट में परस्पर अनुप्रवेश नहीं होता। अतः प्रतिबिम्बन भी नहीं होता। दोनों में निर्मलता का अत्यन्त अभाव है। ये स्वयं प्रतिबिम्ब मात्र हो होते हैं।

जहाँ अप्रतिघात होता है। मायात्मक क्रिया शक्ति का स्थौल्य नहीं होता पर ज्ञान शक्ति का ही स्वभाव होता है, उनका शरीर प्रकाशप्रधान अर्थात् सद्विद्यामय होता है। यहाँ प्रतिघात नहीं होता। इस दशा में ही प्रतिबिम्बग्रहण की सहिष्णुता होती है॥ १०॥

इन दोनों प्रकार के अर्थात् क्रियाशक्ति प्रधान मायात्मक और ज्ञान शक्ति प्रधान सद्विद्यात्मक पदार्थों के अवभासों का प्रकाशन करते हुए परमेश्वर शिव विश्व पर वरदानों को वर्षा कर रहे हैं। वे इस अखिल विश्व प्रसार में बिम्ब प्रतिबिम्ब की क्षमता से विभासमान हैं। यह सारा अवभास परमेश्वर स्वातन्त्र्य का निदर्शन है। यही उभयाकार अवभास है। इसके अवभासन में परमेश्वर की लीला का लालित्य उल्लसित है॥ ११॥

नैयायिक सिद्धान्तवादिता के अनुसार कुछ लोग यह कहते हैं कि, नेत्र के तेज स्वच्छ दर्पण में पड़ते और वहीं से प्रतिफलित होते हैं। दर्पण से विपर्यस्त होकर स्वात्ममुख का ग्रहण करते हैं। इस मतवाद के मानने वाले लोगों से इस सम्बन्ध में कुछ प्रश्न किये जा सकते हैं। इन प्रश्नों के उत्तर के बाद ही इस पर विचार करना चाहिये॥ १२॥

विपर्यस्तैस्तु तेजोभिर्ग्राहकात्मत्वमागतैः ।
रूपं दृश्येत वदने निजे न मुकुरान्तरे ॥ १४ ॥
स्वमुखे स्पर्शवच्चैतद्रूपं भायान्ममेत्यलम् ।
न त्वस्य स्पृश्यभिन्नस्य वेद्यैकान्तस्वरूपिणः ॥ १५ ॥

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, नेत्र खोलने पर प्रमाता के नेत्र तेज बाहर जाते हैं। उसी तेज में विपर्यस्त होने पर यदि अपने मुख के ग्रहण की शक्ति आता है और उसी तेज से ज्ञत्व होता है, तो दर्पण की क्या आवश्यकता ? तेज तो दीवाल से भी विपर्यस्त होकर अवश्य आ जायेगा और मुख का ग्रहण हो जायेगा।

यदि आप यह मानें कि, दर्पण से ही लौटी किरणों से मुख ग्रहण होगा, तो यह मानना तो मनमानी बात हो जायेगी। यदि आप यह कहें कि, दर्पण की स्वच्छता से नेत्र तेज टकरा कर लौटता है, यह बात भी निराधार है। क्योंकि, स्वच्छता प्रतिघात में कारण नहीं होती। अतः यह तर्क उचित नहीं वरन् इसे निष्प्रयोजन ही मानना चाहिये ॥ १३ ॥

एक सिद्धान्त शास्त्रों में प्रतिपादित है कि, ग्राहक ग्राह्य का ग्रहण अपने स्थान पर रहकर ही कर सकता है। नीलत्व नील देश को छोड़ कर अन्यत्र से गृहीत नहीं होता। इसी तरह प्रतिघात से लौटा हुआ तेज ग्राहक बनकर अपने ही वदन में अपने मुख को देख सकता है, किसी दर्पण आदि में नहीं ॥ १४ ॥

अपने मुख में मुख को देखना तो बिम्ब दर्शन ही कहा जा सकता है। यह भान स्पर्शवान् होना चाहिये। स्पर्श रूप से पृथक् हो ही नहीं सकता। यह मेरा रूप है, इस प्रयोग में रूप अहन्ता से ही सम्बन्धित है। वास्तविकता यह है कि, 'मेरा मुख ही यहाँ प्रतिबिम्बित है' इस प्रयोग में रूपवद् मुख अन्यत्र प्रतिबिम्बित हो रहा है। यह बिम्ब से विलक्षण प्रतिबिम्ब एक

रूपसंस्थानमात्रं तत् स्पर्शगन्धरसादिभिः ।
न्यग्भूतैरेव तद्युक्तं वस्तु तत्प्रतिबिम्बितम् ॥ १६ ॥

न्यग्भावो ग्राह्यताभावात् तद्भावोऽप्रमाणतः ।
स चार्थसङ्गमाभावात् सोऽप्यादर्शेऽनवस्थितेः ॥ १७ ॥

अत एव गुरुत्वादिधर्मो नैतस्य भासते ।
नह्यादर्शे संस्थितोऽसौ तद्दृष्टौ स उपायकः ॥ १८ ॥

वस्त्वन्तर ग्राह्य का निर्भ्रान्त ग्रहण है। प्रतिबिम्ब स्पृश्य भिन्न वेद्य है। नैयायिक मतानुसार नेत्रतेज का प्रतिघात नहीं होता ॥ १५ ॥

किसी तरह इसे भ्रान्ति नहीं कह सकते। यह स्पर्श आदि से रहित रूप संस्थान मात्र है। इसलिये यह बिम्ब के अतिरिक्त दर्पण में भासित प्रतिबिम्ब है। बिम्ब ही दर्पण में प्रतिबिम्ब बन कर तीसरे स्थान पर अनुभूति का विषय बनता है। यही सिद्धान्त सत्य के निकष पर खरा उतर रहा है ॥ १६ ॥

बिम्ब का ही प्रतिबिम्ब होता है। यहाँ दर्पण में जब स्पर्श आदि का न्यग्भाव हो जाता है और केवल रूप ही उसमें रह जाता है, तो उसे सभी प्रतिबिम्ब कहते हैं क्योंकि रूप ही प्रतिबिम्बित होता है। आप यह पूछ सकते हैं कि, न्यग्भाव क्या है? शास्त्रकार कहते हैं कि, ग्राह्यता का अभाव ही न्यग्भाव है। स्पर्श आदि दर्पण में ग्राह्य नहीं होते। स्पर्शादि का अभाव होता है। इन्द्रियाँ उनका ग्रहण नहीं करतीं। ग्रहण में इन्द्रियाँ ही प्रमाण मानी जाती है। यहाँ प्रमाणाभाव भी है। इन्द्रियों के सन्निकर्ष से इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है। वहीं प्रमाण होता है। यहाँ आदर्श में अर्थात् दर्पण में उनकी अनवस्थिति स्पष्ट है ॥ १७ ॥

इसीलिये गुरुत्वादि धर्म अर्थात् शरीर आदि का भारीपन भी दर्पण में नहीं आता। न कभी परिलक्षित होता है। यदि रूप के साथ रहने वाले

तस्मात्तु नैष भेदेन यद् भाति तत उच्यते ।
आधारस्तत्र रूपाया दीपदृक्संविदः क्रमात् ।। १९ ।।

दीपचक्षुर्विबोधानां काठिन्याभावतः परम् ।
सर्वतश्चापि नैर्मल्यान्न विभादर्शवत्पृथक् ।। २० ।।

स्पर्श और गुरुत्व आदि भी प्रतिबिम्बित होते, तो दर्पण में स्पर्श और गुरुत्व आदि भी अवश्य परिलक्षित होते। आदर्श में वे धर्म कभी नहीं आते। दर्पण में पर्वत आता है। यदि कहीं गुरुत्व भी आ जाय तो दर्पण भी पहाड़ बन जाय और उठाये न उठे। दर्पण रूप दर्शन में ही उपाय होता है। इस लिये दर्पण में रूप की ही स्वच्छता है। रूप भी इतना स्वच्छ है कि, वह दर्पण में प्रतिबिम्बित हो पाता है। दर्पण रूप दर्शन का ही साधन है। स्पर्श आदि का कभी नहीं ।। १८ ।।

रूप भेद से भासित नहीं होता है। दर्पण में अभेद भाव से उसका भान होता है। इस भान में आलोक को कारण माना जा सकता है और दर्पण को आधार। तिल में तैल है। तैल का आधार तिल है। उसी तरह दर्पण भी रूप के प्रतिबिम्ब का आधार है। आलोक आदि उपाय मात्र हैं। दीप से आलोक मिलता है। प्रतिबिम्ब प्रकाश में ही दीखता है। अन्धकार में भी वह पड़ता होगा पर आलोक के बिना दीख नहीं सकता। दीपदृक् संविद् से अवभासन की ज्ञप्ति होती है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि, 'अवभासन मात्रसारमयता में ही प्रतिबिम्ब की सार्थकता है' ।। १९ ।।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, आँख में भी रूप की स्वच्छता है और दीप में भी है। अतः इन दोनों में प्रतिबिम्ब ग्रहण की सहिष्णुता है। किन्तु एक ऐसा गुण दर्पण में है, जिससे अतिरिक्त न रहते हुए भी अतिरिक्त की तरह प्रतिबिम्ब उसमें भासित हो जाता है। वह गुण है उसका काठिन्य। काठिन्य की वजह से प्रतिबिम्ब को स्थैर्य मिल जाता है। दीप में वह

एतच्च देवदेवेन दर्शितं बोधवृद्धये ।
मूढानां वस्तु भवति ततोऽप्यन्यत्र नाप्यलम् ॥ २१ ॥

प्रतीघाति स्वतन्त्रं नो न स्थाय्यस्थायि चापि न ।
स्वच्छस्यैवाथ कस्यापि महिमेति कृपालुना ॥ २२ ॥

काठिन्य नहीं बरन् उसका अभाव है। इसी तरह पृथ्वी में भी काठिन्य है किन्तु स्वच्छता नहीं है। जल, आग और आकाश में भा प्रतिबिम्ब सहिष्णुता है किन्तु दीप को तरह नहीं। क्योंकि दीप के पोछे मलिन भाग है। उसके आगे ही रूप प्रतिबिम्बित हो सकता है। सब में नैर्मल्य रहने पर भी आदर्श की तरह विभामयो स्थिरता के अभाव के कारण सर्वत्र प्रतिबिम्व ग्रहण नहीं हो पाता ॥ २० ॥

शास्त्रकार कह रहे हैं कि, परमकृपालु देवदेव परमेश्वर ने ही स्थान स्थान पर शास्त्रों में उक्त तथ्य स्वयं प्रदर्शित किया है। इससे अबोध व्यक्तियों में भी बोध का बींजारोपण होता है और पुनः उसमें वृद्धि भी हो जाती है। उनकी बुद्धि के दर्पण में ज्ञान प्रतिबिम्बित हो जाता है।

प्रतिबिम्ब एक वस्तु होता है। क्योंकि यह प्रतिभासमान होता है। फिर भी यह अन्य वस्तुओं की तरह नहीं होता। अन्य वस्तु इधर से उधर ले जाये जा सकते हैं। यह नहीं। दर्पण के अतिरिक्त इसको अन्यत्र नहीं ले जाया जा सकता। साथ ही इसमें रूप मात्र के प्रतिभास के कारण स्पर्श आदि सम्भव नहीं होते ॥ २१ ॥

बाह्य वस्तु प्रतिघाती होते हैं। यह प्रतिघाती नहीं होता। बाह्य वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। यह दर्पण से परतन्त्र है। दर्पण है तो प्रतिविम्ब है। नहीं है तो नहीं। इसे न स्थायो कह सकते न अस्थायी। यह वस्त्वन्तर जातीय नहीं होता। यह ऐसा पदार्थ है, जो मात्र नैर्मल्य पर निर्भर करता है। उसी की महिमा की यह मनोज्ञता मात्र है ॥ २२ ॥

न देशो नो रूपं न च समययोगो न परिमा
न चान्योन्यासङ्गो न च तदपहानिर्न घटना ।
न चावस्तुत्वं स्यान्न च किमपि सारं निजमिति
ध्रुवं मोहः शाम्येदिति निरदिशद्दर्पणविधिम् ॥ २३ ॥

॥ इति बिम्बप्रतिबिम्बवादः ॥

प्रतिबिम्ब का दर्पण के अतिरिक्त कोई देश नहीं होता। प्रतिबिम्ब का जो रूप दिखायी पड़ता है, वह उसका नहीं वरन् बिम्ब का होता है। इसका कोई समय योग भी निर्धारित नहीं। यह स्वयं घनवस्तु का परिमाण है। अतः इसको कोई परिमा नहीं होती। इसका अन्योन्यासंग भी नहीं होता। अर्थात् जितने पदार्थ दर्पण में प्रतिभासित होते हैं। उनसे इसका कोई लगाव नहीं होता। न सङ्ग की अपहानि ही मानी जाती है क्योंकि सभी पृथक् अनासक्त भाव से प्रतिभासित होते हैं। अन्य पदार्थों की उत्पत्ति रचनात्मक होती है। इसमें कोई घटना नहीं घटित होती। यह अवस्तु भी नहीं होता। इसका कोई निजो सार-निष्कर्ष भी नहीं। इस प्रतिबिम्ब की तरह विश्व को भी प्रतिबिम्बात्मक मानने पर इसके प्रति मायात्मक ममत्व का शमन हो जाता है। इसीलिये शास्त्रकार ने इसका निर्देश संक्षेप रूप से इस प्रकार किया है ॥ २३ ॥

बिम्बप्रतिबिम्बवाद के ये सभी श्लोक श्रीतन्त्रालोक तृतीयाह्निक में इसी क्रम में अर्थात् १ से २३ तक दिये गये हैं। वहाँ इसका विशद विस्तृत भाष्य उपलब्ध है। वहाँ भी देखना चाहिये।

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्त विरचित
डॉ० परमहंसमिश्रनीर-क्षीर-विवेक हिन्दीभाष्यसंवलित
बिम्बप्रतिबिम्बवाद सम्पूर्ण

॥ इति शिवम् ॥

[५]

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिता

डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलिता

बोधपञ्चदशिका

अनस्तमितभारूपस्तेजसां तमसामपि ।
य एकोऽन्तर्यदन्तश्च तेजांसि च तमांसि च ।। १ ।।

स एव सर्वभावानां स्वभावः परमेश्वरः ।
भावजातं हि तस्यैव शक्तिर्येश्वरतामयी ।। २ ।।

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तविरचिता

डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक हिन्दीभाष्यसंवलिता

बोधपञ्चदशिका

एक अलौकिक अप्रकल्पनीय ऐसा तत्त्व है, जिसे हम अनस्तमित अर्थात् शाश्वत उदित और उल्लसित प्रकाश कहते हैं। जागतिक प्रकाश अग्नि, सूर्य, चन्द्र, तारक और दीप पर निर्भर है। खद्योत और विद्युत् के भी क्षणिक प्रकाश परिदृश्यमान होते हैं। पर यह शाश्वत है। यह कभी अस्तमित नहीं होता।

यह तेजस्तत्त्व को भी और तमस्तत्त्व को भी अपने अन्तस् में ही अधिष्ठित करता है। इन दोनों का यही एक रहस्यमय अधिष्ठान है। इस विरोधाभास के साथ यह अपनी प्रकाशमयता के साथ शाश्वत उद्दीप्त है ॥१॥

परमेश्वर शिव ही वह तत्त्व है। वह समस्त भावों का स्वभाव है। भाव, व्यापार, पदार्थ और क्रिया को भी कहते हैं। इन सबमें परमेश्वर की स्वभाव भव्यता भरी हुई है। सारा भाववर्ग उसी परमेश्वर का ही है। यह सारी ऐश्वर्यमयी शक्ति भी उसी की है ॥ २ ॥

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति ।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहतयोरिव ॥ ३ ॥
स एव भैरवो देवो जगद्भरणलक्षणः ।
स्वात्मादर्शे समग्रं हि यच्छक्त्या प्रतिबिम्बितम् ॥ ४ ॥
तस्यैवैषा परा देवी स्वरूपामर्शनोत्सुका ।
पूर्णत्वं सर्वभावेषु यस्या नाल्पं न चाधिकम् ॥ ५ ॥
एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः ।
विचित्रान् सृष्टिसंहारान् विधत्ते युगपत्प्रभुः ॥ ६ ॥

ऐश्वर्य का यह विपुल विस्तार उसकी शक्ति का चमत्कार है। वह स्वयं शक्तिमद् रूप है। शक्ति कभी शक्तिमान् रूप से व्यतिरेक की आकांक्षा नहीं करती। इनका शाश्वत तादात्म्य है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। आग में दाहकता शक्ति ओतप्रोत है। दाहकता निकाल देने पर आग आग नहीं रहती। शिव से शक्ति को अलग कर वह शव रह जाता है॥ ३॥

देवदेवेश्वर भैरव वही है। वह जगद् का भरण पोषण करता है। उसी के स्वात्मफलक पर यह विश्वचित्र उसी की शक्ति से प्रतिबिम्बित है॥ ४॥

शाश्वत रूप से स्वरूपपरामर्श में समुत्सुक परा देवी उसी की दिव्य शक्ति है। यह समस्त भाव व्यापार या वस्तु सत्त्व में पूर्णरूप से व्याप्त है। अतः प्रत्येक वस्तु पूर्ण है। इस पूर्णता में न तो कभी कमी होती है और न ही कभी आधिक्य का उल्लास होता है। पूर्णमदः पूर्णमिदं की चरितार्थता उसी में है॥ ५॥

यह शक्ति शक्तिमान् की पारस्परिक शृङ्गार लीला है। देव ही देवी के साथ क्रीडा का आनन्द-रसास्वाद ले रहा है। सर्व समर्थ प्रभु परमेश्वर के

अतिदुर्घटकारित्वमस्यानुत्तरमेव यत् ।
एतदेव स्वतन्त्रत्वमैश्वर्यं बोधरूपता ॥ ७ ॥
परिच्छिन्नप्रकाशत्वं जडस्य किल लक्षणम् ।
जडाद्विलक्षणो बोधो यत्तेन परिमीयते ॥ ८ ॥
एवमस्य स्वतन्त्रस्य निजशक्त्युपभोगिनः ।
स्वात्मगाः सृष्टिसंहाराः स्वरूपत्वेन संस्थिताः ॥ ९ ॥

स्वातन्त्र्य का ही यह विचित्र अभिव्यञ्जन है कि सृष्टि और सहार को एक साथ ही सम्पन्न कर रहा है ॥ ६ ॥

जिससे उत्तर कुछ हो ही नहीं सकता, ऐसा यह अनुत्तर परमेश्वर है। इसके व्यापार भी अनुत्तर हैं। जिसे सोचा भी नहीं जा सकता, ऐसी अप्रत्याशित अपघटित दुर्घट घटनायें यह कर दिखाता है। यह इसका स्वातन्त्र्य है। यह इसके ऐश्वर्य का एक उपमान है और यह इसकी सर्वज्ञता का प्रमाण है ॥ ७ ॥

जड किसे कहते हैं? उसका लक्षण क्या है? इसका एकमात्र उत्तर है कि, जड परिच्छिन्न प्रकाश होता है। जड में परतन्त्रता होती है और वह परप्रकाश्य होता है। जड से विलक्षण बोध अर्थात् शाश्वत प्रकाश का परिज्ञान सौभाग्य का विषय है। उसी के द्वारा यह प्रमा का विषय बनता है ॥ ८ ॥

ऐसे सर्वैश्वर्य सम्पन्न परमेश्वर की स्वतन्त्रता उसकी आनन्द शक्ति का चमत्कार है। वह स्वतन्त्र है। अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से शाश्वत रसास्वाद ले रहा और सृष्टि का उपभोग कर रहा है। ये सृष्टि और संहार उसके स्वात्मफलक में ही गतिशील हैं। उसके 'स्व'रूप में ही उल्लसित हैं ॥ ९ ॥

तेषु वैचित्र्यमत्यन्तमुच्चाधस्तिर्यगेव यत् ।
भुवनानि तदीशाश्च सुखदुःखमितिर्भवः ॥ १० ॥

यदेतस्यापरिज्ञानं तत्स्वातन्त्र्यं हि वर्णितम् ।
स एव खलु संसारे जडानां यो (या) विभीषिका ॥ ११ ॥

तत्प्रसादवशादेव गुर्वागमत एव वा ।
शास्त्राद्वा परमेशस्य यस्मात्कस्मादुपायतः ॥ १२ ॥

इस विश्व प्रसार के वैचित्र्य का ही चमत्कार कहीं हिमाचल की सर्वोच्चता में चरितार्थ है। कहीं अतलान्त गहराई में निहित है। वक्रतामय तिर्यग् भाव में उन्मिषित है। ये भुवन और ये भुवनेश्वर ये सुख और विविध प्रकार की दुःखात्मक प्रतिकूल अनुभूतियाँ सब उसी में खिल रही हैं। जैसे गुलाब में ये फूल और वे काँटें साथ खिल रहे हैं। इसका मापन करेंगे तो आप पायेंगे कि, यह सब ही 'भव' है। यह हुआ है। जिसमें यह सब अभिव्यक्त है। यही भव है और भव की भवितव्यता है, वही भैरव है ॥१०॥

यह कहा जा चुका है कि, इसका परिज्ञान न होना भी उसकी स्वतन्त्रता पर ही निर्भर है। यही संसारी जीवों की विभीषिका है अर्थात् अज्ञता ही जडता है और जड़ता से बढ़कर कोई अभिशाप नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

यह निश्चित आगमिक सिद्धान्त है कि, ज्ञान तीन प्रकार से होता है। १. परमेश्वर की कृपा से उनके प्रसादरूप अनुग्रह से यह बुद्धि उत्पन्न होती है कि, हमें ज्ञान प्राप्ति के लिये सद्गुरु के शरण में जाना चाहिये। गुरु मिलता है और उससे ज्ञान हो जाता है। २. आगम से ज्ञान होता है। आगम प्रसिद्धि और शास्त्र दोनों होते हैं। इनके अभ्यास पूर्ण स्वाध्याय से ज्ञान होता है। ३. तीसरा उपाय साधक पर निर्भर करता है। वह जिस किसी उपाय (आणव, शाक्त और शाम्भव) उपायों का आश्रय लेकर स्वतः ज्ञान

यत्तत् तस्य परिज्ञानं स मोक्षः परमेशता ।
तत्पूर्णत्वं प्रबुद्धानां जीवन्मुक्तिश्च सा स्मृता ॥ १३ ॥
एतौ बन्धविमोक्षौ च परमेशस्वरूपतः ।
न भिद्येते न भेदो हि तत्त्वतः परमेश्वरे ॥ १४ ॥
इत्थमिच्छाकलाज्ञानशक्तिशूलाम्बुजाश्रितः ।
भैरवः सर्वभावानां स्वभावः परिशील्यते ॥ १५ ॥

प्राप्त कर लेता है। किसी तरह ज्ञान होना चाहिये। ज्ञान से बोध प्रकाश परमेश्वर का बोध हो सकता है ॥ १२ ॥

उसका परिज्ञान ही उसका तत्त्वज्ञान ही 'तद्' ब्रह्म का परिज्ञान है। उसका परिज्ञान ही मोक्ष है। इससे ही परमेश्वरता का तादात्म्य उपलब्ध हो सकता है। यही प्रबुद्ध साधकों की पूर्णता है। इसे ही जीवन्मुक्ति कहते हैं। जिसे यह परिज्ञान हो जाता है, वही जीवन्मुक्त कहा जा सकता है ॥ १३ ॥

ये बन्ध और मोक्ष परमेश्वर के स्वरूप के अतिरिक्त नहीं माने जा सकते। उसका संकोच का स्वीकार करना बन्ध का वज्र बनकर अणुओं पर गिर पड़ता है और उसके ज्ञान की उसी के द्वारा वर्षा मोक्ष बनकर साधकों का उद्धार कर देती है। इसलिये यह सब उसकी लीला का ही लालित्य है। इनको भेद की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये। यह तथ्यतः सत्य वचन है कि, परमेश्वर में भेद का प्रकल्पन नहीं किया जा सकता ॥ १४ ॥

इस तरह इच्छा, कला, ज्ञान (अज्ञान), शक्ति और शूलाम्बुजों के आश्रय में या आश्रय से अभिव्यक्त भैरव सभी भावों के स्वभाव के रूप में परिशीलित होते हैं। इस श्लोक में प्रयुक्त इच्छादि शूलाम्बुज पर्यन्त सभी शब्द पारिभाषिक शब्द हैं। इनके व्यापक अर्थ होते हैं। स्वाध्याय द्वारा इन्हें जानना चाहिये। संक्षेप में इन्हें इस तरह जाना जा सकता है—

मुक्तभारमतीन् शिष्यान् प्रबोधयितुमञ्जसा ।
इमेऽभिनवगुप्तेन श्लोकाः पञ्चदशेरिताः ॥ १६ ॥

॥ इति बोधपञ्चदशिका ॥

---

१. **इच्छा**—परमेश्वर के पाँच गुण और शक्तियाँ हैं। वह १. चित् स्वरूप है। वह २. आनन्दमय है। ३. इच्छा उसकी सूक्ष्म सिसृक्षा है, उसका विमर्श। इच्छा में विश्रान्ति से परमेश्वर का ऐश्वर्य उल्लसित होता है।

४. उन्मेष (ज्ञान) का प्रकाश। स्वबोध का अङ्कुर।

५. क्रिया—विश्व प्रसार। यह तीसरी शक्ति है मूलशक्ति इच्छा है।

२. कला—माया के अविद्या, कला राग, काल और नियति ये पाँच आवरण हैं। माया को लेकर ये छः होते हैं। कला इसमें दूसरे विन्दु पर आती है। कला अणुत्व प्रदान करने वाली आवरणमयी लीला है।

३. ज्ञान—मोक्ष का एकमात्र कारण है। और अज्ञान-बन्धन का एकमात्र कारण है।

४. शक्ति—परमेश्वर का स्वातन्त्र्य, उसका सामर्थ्य।

५. शूलाम्बुज—शूल कमल परा, परापरा और अपरा देवियों के आश्रय रूप आसन माने जाते हैं। ये 'उन्मना' के क्षेत्र की साधना में जाने जाते हैं।

इन सब में भैरव महाभाव का अभिव्यंजन साधना से अनुभूत होता है ॥ १५ ॥

गुरु की शरण में जाने वाले शिष्य को मुक्तभार कहते हैं। इनको आनन फानन में ज्ञान देने की इच्छा गुरु में होती है। इसी उद्देश्य से महामाहेश्वर अभिनव गुप्त ने इन पन्द्रह श्लोकों की रचना की। जो इनका अनुशीलन करेगा, वह अवश्य ज्ञानवान् होगा—यह निश्चय है ॥ १६ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्त विरचित
डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलित
बोधपञ्चदशिका सम्पूर्ण
॥ इति शिवम् ॥

[६]

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचितम्

डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलितम्

भैरवस्तोत्रम्

ॐव्याप्तचराचरभावविशेषं चिन्मयमेकमनन्तमनादिम् ।
भैरवनाथमनाथशरण्यं त्वन्मयचित्ततया हृदि वन्दे ॥ १ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित

डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक हिन्दीभाष्यसंवलित

भैरव स्तोत्र

ॐकार एकाक्षर ब्रह्म का प्रतीक बीज मन्त्र है। आगमिक दृष्टि के अनुसार यह त्रयोदश धाम है। समस्त उन्मिषित वस्तुवर्ग इसी के रहस्य गर्भ में आकलित होता है। आज्ञा चक्र का यह मूल है। शरीर के 'स्वः' भाग का यह प्रथम सोपान है। यहीं से उन्मना तक की साधना यात्रा शुरू होती है। अखण्ड महा योग में प्रवेश का यह मुख्य द्वार है।

शास्त्रकार कह रहे हैं कि, ॐकार की व्याप्ति का मैं चराचर विश्वसत्ता में अनुभव करता हूँ। यह एक भावविशेष है। भैरवनाथ भी इसी भावविशेष में उल्लसित दिव्य देवेश्वर हैं। मैं नाथ को अपनी चेतना के संकोच से अवारूढ चिति सत्ता के प्रतीक चित्त में तादात्म्य भाव से प्रणाम कर रहा हूँ।

वे चिन्मय हैं। एक, अनन्त और अनादि देव हैं। अनाथों के शरणागत वत्सल नाथ हैं। अतः पूर्णतया प्रणम्य हैं ॥ १ ॥

त्वन्मयमेतदशेषमिदानीं भाति मम त्वदनुग्रहशक्त्या ।
त्वं च महेश सदैव ममात्मा स्वात्ममयं मम तेन समस्तम् ॥२॥
स्वात्मनि विश्वगते त्वयि नाथे तेन न संसृति भीतिकथास्ति ।
सत्स्वपि दुर्धरदुःखविमोहत्रासविधायिषु कर्मगणेषु ॥ ३ ॥
अन्तक मां प्रति मा दृशमेनां क्रोधकरालतमां विनिधेहि ।
शङ्करसेवनचिन्तनधीरो भीषणभैरवशक्तिमयोऽस्मि ॥ ४ ॥

स्तोत्रकार से उनका साक्षात्कार हो गया है। लगता है, देवेश्वर आराध्य के समक्ष वे हाथ जोड़े खड़े हैं। उन्हीं को सम्बोधित कर रहे हैं—

मेरे आराध्य ! मुझे तो इस समय यह सारा विश्वप्रसार त्वन्मय दीख रहा है। अर्थात् इसके पहले जिसे मैं सृष्टि के स्थूल प्रपञ्चरूप में देखता था, यह प्रसार तुम्हारे रूप में अब प्रत्यक्ष हो रहा है। अब तुम हो, यह जगत् नहीं है। यह तुम्हारी अनुग्रह शक्ति का ही सुपरिणाम है। हे महेश्वर महादेव ! तुम सदैव मेरे स्वात्म में उल्लसित हो रहे हो अर्थात् आत्मा भी तुम्हीं हो। इससे मुझे यह सत्यप्रतीति हो रही है कि, यह समस्त विश्वप्रसार स्वात्ममय ही है ॥ २ ॥

स्वात्ममय विश्व में व्याप्त और विराजमान हे नाथ ! अब संसृति रूप आवागमन की भीति समाप्त हो गयी है। दुर्धर दुःखों और मोहासक्ति भयत्रास की प्रक्रिया को प्रारम्भ करने वाले कर्मजाल यद्यपि हैं, फिर भी ये मेरे लिये भुने हुए बीज के समान हो गये हैं ॥ ३ ॥

हे विश्व को संहार की नींद सुलाने में नियुक्त मृत्युदेव ! अब मेरी ओर क्रोध से कराल अराल आँखों से न देखें। आप की क्रुद्ध दृष्टि का निक्षेप मेरे ऊपर न हो। इस समय मैं शङ्कर की सेवा में और उनके चिन्तन में धीरतापूर्वक लगा हुआ हूँ। मैं स्वयं भीषण भैरव की शक्ति से शक्तिमन्त हो गया हूँ। अतः आपको सावधान कर रहा हूँ ॥ ४ ॥

इत्यमुपोढभवन्मयसंविद्दीधितिदारितभूरितमिस्रः ।
मृत्युयमान्तककर्मपिशाचैर्नाथ नमोऽस्तु न जातु बिभेमि ॥ ५ ॥
प्रोदितसत्यविरोधमरीचिः प्रोक्षितविश्वपदार्थसतत्त्वः ।
भावपरामृतनिर्भरपूर्णे त्वय्यहमात्मनि निर्वृतिमेमि ॥ ६ ॥
मानसगोचरमेति यदैव क्लेशदशा तनुतापविधात्री ।
नाथ तदैव मम त्वदभेदस्तोत्रपरामृतवृष्टिरुदेति ॥ ७ ॥

हे आराध्य देवाधिदेव ! मैं सश्रद्ध आराधना से आपके संविद्रूप शिखर पर आरूढ हो गया हूँ। आपके अभिनव प्रकाश के आभामण्डल का मङ्गल आलोक विश्व को आलोकित कर रहा है। उससे निःसृत रश्मियों ने मेरे सारे अज्ञानमय तामिस्र मण्डल को ध्वस्त कर दिया है। हे नाथ ! मैं आपको विनम्र प्रणाम अर्पित कर रहा हूँ। अब मैं, मृत्यु से, मृत्यु के अधिष्ठाता यमराज से और कर्मविपाक रूप पिशाचों से तनिक भी भयभीत नहीं हूँ। आप मेरी रक्षा करें ॥ ५ ॥

सत्य में विशिष्ट रूप से अवरोध के कारण उसी में निरुद्ध हो गया हूँ। मेरे अस्तित्व से प्रकाश की रश्मियाँ फूट रही हैं। विश्व की वस्तु सत्ता को मैंने अपने आनन्द के अमृत से प्रोक्षित कर दिया है। भगवन् ! आपके शाश्वत अस्तित्व के महाभाव के परम अमृत सिन्धु में तरङ्गायित अहमात्मक आप में समाहित होकर मैं परम निर्वृति का अनुभव कर रहा हूँ।

इस श्लोक के प्रथमार्द्ध में सत्यविरोधमरीचि शब्द अणु पुरुष की असत् स्थिति की ओर भी इंगित कर रहा है। ऊपर लिखित अर्थ द्रविड प्राणायम की तरह का है। अणु पुरुष में ही सत्य के विरोध की असन्मरीचियों की झूठी चमक होती है। मैं ऐसा ही था। मैंने अपनी, सत्य सत्ता के विरोध का अध्यासमय जीवन अपना रखा था। मैं सांसारिक वस्तु सत्ता को ही सत्य समझ रहा था। अब भगवान् भैरव में समाहित हो गया हूँ। उसी परामृत में परम आनन्द का अनुभव कर सुखी हो रहा हूँ। यह व्याख्या भी उचित है ॥ ६ ॥

शङ्कर सत्यमिदं व्रतदानस्नानतपोभवतापविदारि ।
तावकशास्त्रपरामृतचिन्ता स्यन्दति चेतसि निर्वृतिधाराम् ॥८॥
नृत्यति गायति हृष्यति गाढं संविदियं मम भैरवनाथ ।
त्वां प्रियमाप्य सुदर्शनमेकं दुर्लभमन्यजनैः समयज्ञम् ॥ ९ ॥

शरीर के आवरण में जबतक अणु पुरुष आवृत है, उसके साथ त्रिविधताप देने वाली क्लेश दशा का उल्लास अवश्यंभावी है। इस तथ्य की ओर माया के आभिमुख्य में जी रहे प्राणी का ध्यान नहीं जाता। भगवत्कृपा से ज्यों ही इधर गहरी दृष्टि पड़ती है, चमत्कार हो जाता है और सत्य पर पड़ा पर्दा उठ जाता है। मन सच्चाई का स्पर्शकर लेता है और शुभ्र का जागरण हो जाता है। तुरत भगवान् का आभिमुख्य मिलता है। माया वहीं तिरोहित हो जाती है। उसी समय तुम्हारे और मेरे बीच पड़ी भेदवादिता की दीवार ध्वस्त हो जाती है अस्तित्व अद्वयतादात्म्य का घन स्तोत्रगान करने लगता है और आनन्द अमृत की वर्षा होने लगती है ॥ ७ ॥

भगवन् भूतभावन ! यह सत्य है कि, व्रत आदि समयाचार पालन की निष्ठा, दान, स्नान और तपस्या आदि शुभ अनुष्ठान सांसारिक तापों का विदारण करते हैं। किन्तु उनमें परनिर्वृति की सुधावृष्टि का सामर्थ्य नहीं है। तुम्हारी कृपा से ही प्रवर्त्तित शैवशास्त्रों के चिन्तनपूर्ण स्वाध्याय से चेतना के संकुचित रूप चित्त में परमानन्दपीयूष की एक ऐसी धार बह जाती है, जो सारे संकोचों को दूर कर चित्त को चिति की चिन्मयता से चमत्कृत कर देती है। साधक को परनिर्वृति मिल जाती है ॥ ८ ॥

भगवान् भैरवनाथ ! मेरी स्वात्म संवित् अब आनन्द से भीग रही है। नृत्य मुद्रा के आवेश से नाचने ही लगी है। तुम्हारे गुण गा रही है और अपार हर्ष का अनुभव कर रही है। तुम्हारे सदृश अप्रतिम पति प्राप्त कर, ऐसे सुदर्शन रूप को निहार कर वह निहाल हो रही है। समयाचार विशेषज्ञ अन्य अधूरे साधकों के लिये यह परमदुर्लभ प्राप्य उसे प्राप्त हो

वसुरसपौषे कृष्णदशम्यामभिनवगुप्तः स्तवमिममकरोत् ।
येन विभुर्भवमरुसन्तापं शमयति झटिति जनस्य दयालुः ॥१०॥

॥ इति भैरवस्तोत्रम् ॥

गया है । इसी खुशी में उसका नाचना गाना और आनन्द में झूम झूम उठना स्वाभाविक ही है ॥ ९ ॥

कश्मीर में तत्कालीन प्रचलित सप्तर्षि संवत् अड़सठ पौष कृष्ण दशमी के पावन पर्वदिन पर अभिनव गुप्त ने इस भैरवस्तोत्र की रचना की । इसके मनन, चिन्तन और पाठ से भगवान् विभु प्रसन्न होते हैं । संसार के रेगिस्तानी ताप का शमन करते हैं । इसमें तनिक भी विलम्ब वे नहीं करते । शास्त्र यह उद्घोषित करते हैं कि, परम कृपालु परम शिव संतत सुधा रूप अनुग्रह की वर्षा करते हैं ॥ १० ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक हिन्दीभाष्यसंवलित
भैरवस्तोत्र परिपूर्ण
॥ इति शिवम् ॥

[७]

महामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तविरचिता
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलिता

महोपदेशविंशतिका

प्रपञ्चोत्तीर्णरूपाय नमस्ते विश्वमूर्तये ।
सदा दिव्यप्रकाशाय स्वात्मनेऽनन्तशक्तये ॥ १ ॥

त्वमेवाहमेवाहं त्वमेवास्मि न चास्म्यहम् ।
अहं त्वमित्युभौ न स्तो यत्र तस्मै नमो नमः ॥ २ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित
डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलित

महोपदेशविंशतिका

विश्वात्मक प्रपञ्चों से उत्तीर्ण और जो विश्वमूर्त्ति रूप भी है, ऐसे विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय शिव का मैं प्रणाम कर रहा हूँ। वे सदा सर्वदा दिव्यता का या दिव्य आनन्द का प्रकाशन करते हैं अर्थात् दिव्य प्रकाश रूप ही हैं। सिद्ध साधकों और भक्तों के लिये वे स्वात्म रूप ही हैं। वे अनन्त शक्ति सम्पन्न परमेश्वर हैं। ऐसे विश्वप्रकाश, स्वात्मस्वरूप अनन्त शक्ति-सम्पन्न परमेश्वर के लिये मेरे शतशत प्रणाम ॥ १ ॥

तुम तुम्हीं हो। हम हमीं हैं। यह सामान्य अनुभूति है। इससे उच्च स्तर की अनुभूति है—मैं तुम ही हूँ। मैं कुछ भी नहीं हूँ। इससे भी आगे बढ़कर साधक यह अनुभव करता है कि, ये तुम और मैं के शब्दार्थ भेदमयता को प्रश्रय देते हैं। अद्वय स्तर पर यह मैं और तुम की भेदमयता अपास्त हो जाती है। उस सर्वोच्च विमर्श स्तर पर विराजमान प्रकाश को शतशत नमन ॥ २ ॥

अन्तर्देहे मया नित्यं त्वमात्मा च गवेषितः ।
न दृष्टस्त्वं न चैवात्मा यच्च दृष्टं त्वमेव तत् ॥ ३ ॥

भवद्भक्तस्य सञ्जातभवद्रूपस्य मे पुनः ।
त्वामात्मरूपं संप्रेक्ष्य तुभ्यं मह्यं नमो नमः ॥ ४ ॥

एतद्वचननैपुण्यं यत्कर्तव्येतिमूलया ।
भवन्मायात्मनस्तस्य केन कस्मिन् कुतो लयः ॥ ५ ॥

मैंने देह के रहस्य के उद्घाटन कर लिये हैं । इसमें मैंने तुम्हें ही पाया है । मेरी यह गवेषणा सत्य की कसौटी पर कसी गयी है । तुम्हीं यह आत्मा हो । मैं साधना में स्वात्मविमर्श के आवेश में पहुँचता हूँ, तो वहाँ न तुम्हें पाता हूँ और न आत्मा ही वहाँ होती है । जो कुछ वहाँ बोध में उतरता है, वह क्या है ? उसे क्या कहूँ ? वह तुम ही हो यही मानता हूँ ॥ ३ ॥

यह आप का भक्त है । दुनियाँ के लोग भेद दृष्टि से इसे तुम्हारा भक्त कहते हैं । उन्हें क्या पता है कि, इसने भक्तिसाधना से अद्वय महाभाव में समाहित होकर तुम्हारा ही रूप प्राप्त कर लिया है । भक्त ही भगवान् हो गया है ।

वह मैं हूँ पर इस मैंपन में तुम्हें ही देखकर तुम्हें ही प्रणाम करता हूँ, पर यह तुम्हारे प्रति किया गया प्रणाम मेरे लिये भी हो जाता है । इस चमत्कार को समझ कर सबको स्वात्म में प्रवेश के आनन्द का अनुभव करना चाहिये ॥ ४ ॥

विश्व में मनुष्य का कर्त्तव्य क्या है ? इस जिज्ञासा के मूल में प्रवेश करने से इस प्रकार की वाणी का नैपुण्य समझ में आता है । आपका और आपकी संकोचमयी माया शक्ति के आकर्षण से ग्रस्त जीव का किस शक्ति से किसमें कहाँ किस प्रकार लय होता है; यह अनुसन्धान का विषय है ॥ ५ ॥

अहं त्वं त्वमहं चेति भिन्नता नावयोः क्वचित् ।
समाधिग्रहणेच्छाया भेदस्यावस्थितिर्ह्यसौ ॥ ६ ॥
त्वमहं सोऽयमित्यादि सोऽनन्तानि सदा त्वयि ।
न लभन्ते चावकाशं वचनानि कुतो जगत् ॥ ७ ॥
अलं भेदानुकथया त्वद्भक्तिरसचर्वणात् ।
सर्वमेकमिदं शान्तमिति वक्तुं न लज्जते ॥ ८ ॥
त्वत्स्वरूपे जृम्भमाणे त्वं चाहं चाखिलं जगत् ।
जाते तस्य तिरोधाने न त्वं नाहं न वै जगत् ॥ ९ ॥

मैं ही तुम हो। तुम मैं रूप से अभिव्यक्त हो। इस प्रकार की हमारी भिन्नता का कोई अस्तित्व ही नहीं है। तुम में समाहित होने की इच्छा की प्रारम्भिक भेदमयी क्षणिक वैचारिकता भी भेद की कौंध मात्र है॥ ६ ॥

तुम, मैं, और वह ये तीन पुरुष भेद व्याकरण में प्रसिद्ध हैं। यह पुरुष भेद और इसका आनन्त्य सदा तुझमें ही उन्मिषित है। वागात्मक रहस्य मय वर्ण, पद और मन्त्र मय वचन भी इसमें प्रवेश कर अवकाश नहीं प्राप्त कर पाते। जगत् या जागतिक लोग इस रहस्य को क्या समझेंगे ? ॥ ७ ॥

भेद की चर्चा से बस! बन्द करें हम इस भेदमयी व्यर्थ की चर्चा। अब भक्ति के रस का ही चर्वण करने के आनन्द में निमग्न हों, यह अच्छा है। शास्त्र कहते हैं कि, यह सारा प्रसार एक ही है। सर्वत्र परम शान्त सत्ता व्याप्त है। यही शान्ति की चरम अनुभूति है। इसके अर्थात् इस रहस्य को अभिव्यक्त करने में कभी संकोच नहीं होना चाहिये ॥ ८ ॥

भगवन्! यह तुम्हारे स्वरूप के विजृम्भण का ही प्रभाव है कि, तुम मैं और यह, इन रूपों में अभिव्यक्त यह जगत् का भेदात्मक उल्लास उल्लसित है। इस भेदमयता की समाप्ति पर अर्थात् तिरोधान हो जाने पर यह तुम, मैं और यह रूप जागतिक भेदमयता समाप्त हो जाती है ॥ ९ ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याद्या धारयंश्च निजाः कलाः ।
स्वेच्छया भासि नटवन्निष्कलोऽसि च तत्त्वतः ॥ १० ॥

त्वत्प्रबोधात् प्रबोधोऽस्य त्वन्निद्रातो लयोऽस्य यत् ।
अतस्त्वदात्मकं सर्वं विश्वं सदसदात्मकम् ॥ ११ ॥

जिह्वा श्रान्ता भवन्नाम्नि मनः श्रान्तं भवत्स्मृतौ ।
अरूपस्य कुतो ध्यानं निर्गुणस्य च नाम किम् ॥ १२ ॥

भगवन् ! वस्तुतः तात्त्विक रूप से आप निष्कल परमेश्वर हैं। ऐसा होते हुए भी स्वेच्छा पूर्वक आप जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति एवं निवृत्ति आदि कलाओं को धारण करने की क्रीडा स्वयं करते हैं। इस प्रकार सकल रूप में व्यक्त हैं। ये सारी आपकी कलायें हैं आपकी हैं, आप से हैं और आप में आप के द्वारा ही सतत धारण की जाती हैं। इस प्रकार नाटकीय क्रीडा में आप स्वयं इतने कुशल हैं कि, आप को 'नटराज' की संज्ञा भी प्रदान की जा सकती है ॥ १० ॥

विश्व की वास्तविकता का कुछ विचित्र स्वरूप है। यह भगवत् तत्त्व पर पूरी तरह निर्भर है। आप परमात्मन् के प्रबोध पर ही इसका प्रबोध निर्भर है। आपकी संहार निद्रा पर ही इसकी भी नींद निर्भर है। अर्थात् यह सर्जनोत्सव और संहार का उपद्रव परमात्म तत्त्व पर ही निर्भर है। वह है तो यह है। नहीं है तो नहीं इस अन्वय व्यतिरेक दृष्टि से यह सिद्ध है कि, भगवन् यह सारा प्रसार त्वदात्मक ही है। सत् असत् विश्व का यही रहस्य है ॥ ११ ॥

भगवन् ! मेरी रसना आप के नाम के अमृत का रसास्वाद अश्रान्त लेते हुये भी श्रान्त हो रही है। मेरा मन भी अनवरत आप की स्मृति में विश्रान्त हो रहा है। ये दोनों कार्य अर्थात् नाम जप और आप की स्मृतियाँ भी भेदवाद को दृढ़ता प्रदान करते रहे। आप निर्गुण हैं। आप के नाम का

पूर्णस्यावाहनं कुत्र सर्वाधारस्य चासनम् ।
स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यं च शुद्धस्याचमनं कुतः ॥ १३ ॥
निर्मलस्य कुतः स्नानं वस्त्रं विश्वोदरस्य च ।
निर्लेपस्य कुतो गन्धो रम्यस्याभरणं कुतः ॥ १४ ॥
निरालम्बस्योपवीतं पुष्पं निर्वासनस्य च ।
अघ्राणस्य कुतो धूपश्चक्षुर्हीनस्य दीपकः ॥ १५ ॥
नित्यतृप्तस्य नैवेद्यं ताम्बूलं च कुतो विभोः ।
प्रदक्षिणमनन्तस्याऽद्वितीयस्य कुतो नतिः ॥ १६ ॥

तो कोई अर्थ नहीं हुआ। इसी तरह जो अरूप है, उसकी स्मृति या उसके ध्यान कैसे किये जा सकते हैं ? ॥ १२ ॥

आप पूर्ण हैं। पूर्ण सर्वत्र व्याप्त होता है। सर्वत्र व्याप्त का आवाहन भी कैसे और कहाँ किया जा सकता है। जो सबका स्वयम् आधार है, उसे आसन कैसे दिया जा सकता है ? स्वयं परम स्वच्छ और नैर्मल्य से विभूषित है, उसे पाद्य और अर्घ्य प्रदान करना तथा जो शुद्ध है, उसे आचमन से शुद्ध करने की प्रक्रिया भी अद्वयवाद की अनुभूतियों के एकदम विपरीत है ॥ १३ ॥

निर्मल का स्नान, विश्व ही जिसके उदर में हो, उसे वस्त्र का अर्पण, निर्लेप को गन्ध और जो स्वयं परमरम्य है, उसको आभरण का अर्पण, यह सब अबोधता का ही द्योतक है ॥ १४ ॥

इसी तरह जो निराकार है, उसे उपवीत, जिसे वासित नहीं किया जा सकता, उसे पुष्पवासित करना, इन्द्रियातीत और अघ्राण को धूप अर्पित करना, तथा अचक्षुष्क को दीप दिखलाना क्या अर्थ रखता है अर्थात् इन उपचारों द्वारा अर्चन अद्वयबोध के अनुकूल नहीं कहा जा सकता ॥ १५ ॥

स्वयं प्रकाशमानस्य कुतो नीराजनं विभोः ।
वेदवाचामवेद्यस्य कुतः स्तोत्रं विधीयते ॥ १७ ॥
अन्तर्बहिश्च पूर्णस्य कथमुद्वासनं भवेत् ।
भेदहीनस्य विश्वेऽत्र कथं च हवनं भवेत् ॥ १८ ॥
पूर्णस्य दक्षिणा कुत्र नित्यतृप्तस्य तर्पणम् ।
विसर्जनं व्यापकस्याप्रत्यक्षस्य क्षमापणम् ॥ १९ ॥
एवमेव परा पूजा सर्वावस्थासु सर्वदा ।
ऐक्यबुद्धया तु सर्वेशे मनो देवे नियोजयेत् ॥ २० ॥

॥ इति महोपदेशविंशिका ॥

जो नित्य तृप्त, सर्वसमर्थ, अनन्त और अद्वितीय है, उसे नैवेद्य, ताम्बूल, प्रदक्षिणा और नमस्कार अर्पित करना अपनी मति में जडता का समावेश करने के समान है ॥ १६ ॥

स्वयं प्रकाशमान की आरती, अवेद्य को वेद स्तुति श्रवण कराना और स्तोत्र पाठ की प्रक्रिया से पूजित करना आगमिक अद्वय उपासना और साधना के समक्ष नितान्त महत्त्वहीन है ॥ १७ ॥

जो सर्वव्यापक परमेश्वर भीतर और बाहर सर्वत्र परिपूर्णरूप से उल्लसित है, उसका विसर्जन करना बाल बुद्धि के अतिरिक्त कुछ नहीं है। हवन भी उसके लिये जो अभेद अद्वय भाव से सबमें समाया हुआ है। कैसे किया जाय ? देवों को आहुतियाँ प्रदान करने में भी भेदवाद को ही आश्रय प्रदान करना है ॥ १८ ॥

जो पूर्ण है, उसे दक्षिणा अर्पित करना, जो नित्य तृप्त है, उसका तर्पण करना, जो सर्वत्र व्यापक है, उसे विसर्जित करना और जो अप्रत्यक्ष हैं, उससे क्षमा मांगना भी अबोधता का ही परिचायक हैं ॥ १९ ॥

तब क्या किया जाय ? क्या पूजा शब्द को शब्दकोष से निकाल

दिया जाय ? आदि तर्कों का शास्त्रकार उत्तर दे रहे हैं कि, नहीं। पूजा को परा पूजा रूप से सम्पन्न करना ही सर्वथा उचित है। इसके लिये किसी उपचार की कोई आवश्यकता नहीं। देखना यह है कि, इस पार्थक्य प्रथा का, इस भेदबुद्धि का उदय कहाँ से हो रहा है। इस अनुसंधित्सा और जिज्ञासा के क्रम में यह ज्ञात होता है कि, मन ही सारे उपद्रवों की जड़ है। बस, यह ज्ञात होते ही इसको वैकल्पिकता को विषमयता का परित्याग कर मनको उसी शाश्वत प्रकाशमान परमात्मभाव में तादात्म्यबुद्धि से नियोजित कर देना चाहिये। सर्वेश्वर में मन को 'एवमेव' अर्थात् इसी प्रकार नियोजित करके ही परम पूजा सम्पन्न करनी चाहिये ॥ २० ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक हिन्दीभाष्यसंवलित
महोपदेशविंशतिका
॥ इति शिवम् ॥

[८]

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिता

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलिता

रहस्यपञ्चदशिका

ब्राह्मे मुहूर्ते भगवत्प्रपत्तिः

ततः समाधिर्नियमोऽथ सान्ध्यः ।

यामौ जपार्चादि ततोऽन्यसत्रं

शेषस्तु कालः शिवशेषवृत्तिः ॥ १ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य-श्रीमदभिनवगुप्तविरचित

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलित

रहस्य पञ्चदशिका

ब्राह्म मुहूर्त्त में शयन का परित्याग कर शरणागत वत्सल भगवान् को शरण में श्रद्धाभाव से स्वात्म का समर्पण करना उचित है। तदुपरान्त कुछ समय ऐसा निकाले, जिसमें अवस्थित होकर समाहित होने का अभ्यास करे और शून्य में समा जाय। फिर शयन का परित्याग नित्य नियम से निवृत्त होकर सान्ध्यविधि का सम्पादन करे। दो पहर तक जप और पूजा आदि पूरी करे। इसके बाद अन्य सत्र अर्थात् परोपकार के काम करे। यह उपकार याग होता है। इसमें नित्य दान की क्रिया की जाती है। शेष दिन का सारा समय शेषवृत्ति रूप से करणीय कार्यों में लगाना चाहिये। यही आदर्श दिनचर्या मानी जाती है ॥ १ ॥

आदिमुखा कादिकरा टादिपदा
पादिपार्श्वयुङ्मध्या ।
यादिहृदया भगवती संविद्रूपा
सरस्वती जयति ॥ २ ॥

फलन्ति चिन्तामणिकामधेनुकल्पद्रुमाः
कांक्षितमेव पुंसाम् ।
अप्रार्थितानप्रचितान् पुमर्थान्
पुष्णातु मे मातुरुदार भावः ॥ ३ ॥

भगवती सरस्वती के शरीर का परिकल्पन मातृका के माध्यम से करते हुए संविद्रूपा माँ की प्रार्थना कर रहे हैं—

माँ शारदे ! समस्त स्वर ही तुम्हारे मुख हैं। अ से लेकर अन्तिम विसर्ग तक के १६ स्वर होते हैं। ये स्वरवर्ण ही तुम्हारे मुख हैं। कवर्ग और चवर्ग तुम्हारे दोनों हाथ है। टवर्ग और तवर्ग ये दोनों तुम्हारे दो चरणारविन्द हैं। पवर्ग तुम्हारा मेरुदण्ड है। पफ, बभ यह दोनो पार्श्व हैं मध्य में स्थित सौषुम्न मार्ग का आधार 'म' है। 'य' से लेकर 'क्ष' पर्यन्त यवर्ग तुम्हारा हृदय रूप है। इस तरह 'मातृका' में अभिव्यक्त तुम्हारा शरीर विश्व वाङ्मय का प्रतीक है ! परमाराध्य माँ तुम्हारी जय हो ॥ २ ॥

मेरी इच्छायें अवश्य पूरी हों, मैं जो कुछ चाहूँ उसकी पूर्त्ति हो जाये। विश्व में जीव मात्र का यह स्वभाव होता है। इसके लिये वह कामधेनु की उपासना करता है। वह चाहता है कि, मुझे कल्पवृक्ष की छाया ही मिल जाये। उसकी छाया में मैं जो कुछ चाहूँगा, वह अवश्य पूरा होगा। बहुत से लोग चिन्तामणि की चाह करते हैं। शास्त्रकार कहते हैं कि, ये तीनों अर्थात् चिन्तामणि, कामधेनु और कल्पवृक्ष कामार्थी मनुष्यों की चाह पूरी करते हैं। यह प्रसिद्धि है। शास्त्रों में उल्लिखित है। इससे यह भी स्पष्ट हो

यया विना नैव करोति किञ्चिन्
न वेत्ति नापीच्छति संविदीशः ।
तस्मै परस्यै जगतां जनन्यै
नमः शिवायै शिववल्लभायै ॥ ४ ॥

सदोदिते भगवति सर्वमङ्गले
शिवप्रदे शिवहृदयस्थिते शिवे ।
भजन्मनः कुमुदविकाशचन्द्रिके
द्विजन्मनः कुरु मम खे गतिं परे ॥ ५ ॥

जाता है कि, वे अप्रार्थित वस्तुओं की पूर्त्ति नहीं करते। शास्त्रकार यह प्रार्थना करते हैं कि, वात्सल्यमयी माँ तुम्हारी अप्रतिम उदारता मेरे सभी पुमर्थों अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मुक्ति रूप चारों अप्रार्थित और अप्रचित पुरुषार्थों की समापत्ति से मुझे कृतार्थ कर दे ॥ ३ ॥

संवित्तत्त्व के अधीश्वर संविद्वपुष् परमेश्वर शिव भी जिसके बिना कुछ भी नहीं करते, जिसके विना न कुछ जानने में ही समर्थ होते हैं और न तो अपनी इच्छा व्यक्त करते हैं, उस जगन्मङ्गलकारिणी परमाम्बा परारूपिणी भगवती शिवप्रिया जगन्माता शिवा को शाश्वतिक प्रणाम ॥ ४ ॥

इस श्लोक में माँ भगवती परमाम्बा शिवा के सात विशेषण शब्द उसी को सम्बोधित कर लिखे गये हैं। उनको इस प्रकार समझना चाहिये—

१. **सदोदिते !**—हे माँ ! तुम सदा उदित हो अर्थात् शाश्वत रूप से उल्लसित हो।

२. **भगवति !**—तुम ऐश्वर्यमयी हो। भ प्रकाश और भैरवभाव का बीज है। उस रहस्य में गति-मति प्रदान करने की तुम कृपा करती हो।

३. **सर्वमङ्गले**—सारे विश्व प्रसार में मङ्गलमयता की तुम प्रतीक हो।

४. **शिवप्रदे**—शिव कल्याण को कहते हैं और साक्षात् परमेश्वर भी

प्रसीद सर्वमङ्गले शिवेशिवस्य वल्लभे ।
उमे रमे सरस्वति त्वमेवदेवता परा ॥ ६ ॥
अमे अम्बिके अस्वरूपे अनाख्ये उमे
रौद्रि वामे महालक्ष्मि माये ।
परे देवते पञ्चकृत्यैकलोले शिवे
भैरवि श्रीमति त्वां प्रपद्ये ॥ ७ ॥

शिव हैं। तुम कल्याणकारिणी हो और कृपाकर शिवता की उपलब्धि के लिये साधक के श्रेयःपथ को प्रशस्त कर देती हो।

५. शिव हृदयस्थिते—मां तुम परमेश्वर के हृदय देश में अवस्थित हो। हृदय केन्द्र बिन्दु होता है। तुम्हीं शिवत्व के रहस्य रूप में प्रतिष्ठित हो।

६. शिवे—साक्षात् शिवमयी माँ तुम शिव रूप ही हो।

७. भजन्मनः कुमुद चन्द्रिके—भक्त तुम्हारो भक्ति में लगा रहता है। इससे उसके मनरूपी कुमुद के लिये तुम चाँदनी के समान हो।

इन विशेषणों से विशिष्ट वात्सल्यमयी मेरी माँ तुम **परस्पचिदाकाश** में मुझे गतिशील बना दे। योग शास्त्र में नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना केन्द्रों को भी आकाश कहते हैं। साधक प्रार्थना करता है कि, माँ मेरी चक्र साधना पूरी कर दे और पर आकाश अर्थात् उन्मना में पहुँचाने की कृपा कर दे, जिससे मेरा परम कल्याण सिद्ध हो जाय ॥ ५ ॥

विश्व में मङ्गल का प्रसार करने वाली हे माँ शिवे! तुम मेरे परमाराध्य की प्रिया हो। तुम्हीं उमा, रमा और ब्रह्माणी सरस्वती हो। तुम्हीं परा देवता हो। तुम्हारी जय हो ॥ ६ ॥

अमा प्राणापानवाह की वह वेला कहलाती है, जहाँ प्राण सूर्य अपानचन्द्र दोनों अस्त हो जाते हैं। वह एक केन्द्र बिन्दु होता है, जिसे

माये विद्ये मातृके मानिनि त्वं
काये काये स्पन्दसे चित्कलात्मा ।
ध्यायेयं तां त्वां कथं स्वस्फुरत्तां
ध्यायेयं त्वां वाचमन्तर्नंदन्तीम् ॥ ८ ॥

मध्यद्वादशान्त केन्द्र कहते हैं। वहाँ अमानित्या का निवास होता है। वह अमा वही माँ पराम्बा है। उसी के सम्बोधन में शास्त्रकार ने अमे शब्द का प्रयोग किया है। वही अम्बिका शक्ति है। यह अङ्गुलियों में निवास करती है और आकुञ्चन विकोचन की आधार है। अनुत्तर अकार को यह वह शक्ति है, जिसके आश्रित वामा, रौद्री और ज्येष्ठा शक्तियाँ भी उल्लसित होती हैं। अम्बिके इसी शक्ति का सम्बोधन है। वह पराम्बा अकार स्वरूप है। अनाख्य है। वही उमा है, रौद्री है, वामा है, ज्येष्ठामयी महालक्ष्मी है। वही माया रूप से विश्व को आत्मसात् करती है। वही परा शक्तिमती देवता है। शिव के सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह ये पाँच कृत्य हैं। इन कृत्यों में एक मात्र कारणता इसी शक्तितत्त्व की स्पन्दनमयी क्रियाकारिता का लोलीभाव है। हे इन विविध शाक्त रूपों में उल्लसित शिवे, हे भैरवि! हे समस्त श्रीऐश्वर्य की स्वामिनि माँ मैं तुम्हारे शरण में आ गया हूँ। मेरी रक्षा करो माँ! मेरी शरणागति स्वीकार करो ॥ ७ ॥

मायामयी, विद्यामयी मातृकारूपिणी, समस्त स्वाभिमान की स्वामिनी माँ तुम्हीं प्रति शरीर में चित्कलामयी बनकर अभिव्यक्त हो। तुम्हीं मेरी स्फुरत्ता में भी स्फुरित होकर प्राक् संवित् प्राणे परिणता के अनुसार प्राणवन्त बना रही हो। मैं यह नहीं समझ पा रहा हूँ माँ! कि, मैं तुम्हारा ध्यान करूँ तो कैसे करूँ? मैं तुम्हें परनादगर्भ वाक्तत्त्व के रूप में भीतर ही भीतर स्वात्मतत्त्व के केन्द्र में अन्तर्वदन्ती शक्ति रूप में ध्यान करूँ—यही मेरे लिये श्रेयस्कर है ॥ ८ ॥

त्वग्रुधिरमांसमेदोमज्जास्थिमये सदामये काये ।
माये मज्जयसि त्वं माहात्म्यं ते जनानजानानान् ॥ ९ ॥

लोहालेख्यस्थापितान् वीक्ष्य देवान्
हा हा हन्तेत्याहुरेकेऽकृतार्थाः ।
देहाहन्ताशालिनां देहभाजां
मोहावेशं कं न माया प्रसूते ॥ १० ॥

मायाविलासोदितबुद्धिशून्यकायाद्यहन्ताजनितादशेषात् ।
आयासकादात्मविमर्शरूपात् पायादपायात् परदेवता माम् ॥११॥

शरीर की संरचना में त्वक्, रुधिर, मांस, मेदस्, मज्जा और अस्थिरूप भौतिक सामग्रियों का संयोजन तुम्हारी ही कृपा पर निर्भर करता है। यह सदा आमयमयी काया आत्मा को आधार बनती है किन्तु हे मायारूपिणी माँ तुम तो उन्हें ले डूबती हो, जो अजानान हैं अर्थात् जो आत्मतत्त्व से अपरिचित आत्मविस्मृत मनुष्य हैं, वे तुम्हारा माहात्म्य भी नहीं समझते। उन्हें तुम मायात्मकता में निमज्जित करती हो। यह भी तुम्हारा माहात्म्य ही है ॥ ९ ॥

लोहे की छेनी से प्रस्तर शिला पर बनाये गये और मन्दिरों में प्रतिष्ठापित देवताओं को देखकर कुछ नास्तिक श्रेणी के अकृतार्थ लोग अपनी विप्रतिपत्ति का प्रदर्शन करते हैं। यहाँ इस हा हा और हन्त के बावजूद उनमें अपनी अवस्थिति का अहङ्कार नहीं है। यह एक अच्छाई है। किन्तु ऐसे लोगों के विषय में क्या कहा जाय, जो आत्मतत्त्व से नितान्त अपरिचित रहते हुए देह के अध्यास में और देह को ही अहं मानकर जीवन गवाँ रहे हैं। ऐसे आत्महन व्यक्ति के लिये माया किन-किन आवेशों का लबादा उन पर लादती है, यह भगवान् ही जानता है ॥ १० ॥

घोरात्मिकां घोरतमामघोरां परापराख्यामपरां परां च।
विचित्ररूपां शिवयोर्विभूतिं विलोकयन् विस्मयमान आस्ते ॥१२॥

परापरापरापरामरीचिमध्यवर्तिनो ।
न मेऽभिदाभिदाभिदाभिदासु कश्चिदाग्रहः । १३ ॥

स्फुरति यत्तव रूपमनुत्तरं यदपरं च जगन्मयमम्बिके ।
उभयमेतदनुस्मरतां सतामभयदे वरदे परदेवते ॥ १४ ॥

माया के विलास के उदित और उल्लसित होने का दुष्परिणाम बुद्धि की शून्यता है। उस अवस्था में काया में ही अहन्ता का भाव उत्पन्न हो जाता है। ऐसे भाव पूर्णरूप से अपाय अर्थात् विघ्न रूप और विनाश के प्रतीक होते हैं। देह को अहं मानने वाले अशेष अर्थात् सारे भाव देहात्मवादी विमर्श रूप होते हैं। ये अपाय रूप हैं और आयासप्रद हैं। साधक विनम्र प्रार्थना करता है कि, हे परा देवतामयी पराम्बा इनसे मेरी रक्षा कर ॥ ११ ॥

तीन शक्तियां आगम में प्रसिद्ध हैं। इनमें पहली शक्ति १. परापरा है। यह घोरात्मिका शक्ति मानी जाती है। दूसरी २. अपरा है। यह घोरतमा शक्ति कहलाती है। तीसरी शक्ति ३. पराशक्ति है। यह अघोर शक्ति मानी जाती है। ये तीनों शिबा और शिव की विभूतियाँ हैं। इनके वैचित्र्य का अन्त नहीं। इनके अन्तहीन वैचित्र्य को देखकर तटस्थ भक्त विस्मय विमुग्ध हो रहता है ॥ १२ ॥

परापरा, अपरा, और परा देवियों से ऊर्जा का प्रवाह विश्व में प्रवाहित होता है। इनसे भेदाभेद, विशुद्ध भेद और अभेद अद्वय की जो रश्मियाँ निकलती हैं, मैं उनमें साक्षी भाव से अवस्थित हूँ। भक्त साधक कहता है कि, इनमें किसी में मेरी कोई आसक्ति या आग्रह नहीं है ॥ १३ ॥

हे माँ जगदम्बिके तुम्हारे अनुत्तर रूप के स्फुरण का मैं स्वयं स्मरण कर रहा हूँ। तुम्हारा जो अपर रूप स्फुरित हो रहा है, मैं उसे भी साक्षी

परमेश्वरि पञ्चकृत्यलीले परसंविन्मयि पार्वति प्रसीद ।
पतितं पशुपाशमुद्धरेमं शिशुमाश्वासय शीतलैः कटाक्षैः ॥१५॥
पूर्वसिद्धान् गुरून् देवान् देवीं नत्वाथ योगिनः ।
इमेऽभिनवगुप्तेन श्लोकाः पञ्चदशेरिताः ॥ १६ ॥

भाव से देख रहा हूँ । तुम्हारे अनुगत स्वजन और सुजान सुजन भी उनका अर्थात् अनुत्तर और अपर इन दोनों रूपों का सदैव अनुस्मरण करते हैं। ऐसे लोगों को हे वरदायिनी परदेवता तुम अभयदान दे देती हो। अर्थात् साक्षी भाव से इन दोनों स्फुरणों को देखते हुए जो भक्त अपनी साधना पूरी करता है, उसे तुम्हारी कृपा अवश्य मिलती है ॥ १४ ॥

हे पञ्चकृत्य की लीला करने वाली माँ पराम्बा, हे परसंविन्मयी भगवती चितिरूपिणी पार्वती, तुम मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाओ ! मैं तो इस विश्वगर्त्त में गिर गया हूँ। इसका तुम इस गर्त्त से उद्धार कर ले। माँ मैं मलों से आवृत पाशबद्ध पशु हो गया हूँ। तुम मेरे पाशों को छिन्न-भिन्न कर दे। इस अबोध और तुम्हारी ओर दयार्द्र भाव से एकटक निहारते शिशु को अपने शीतल कटाक्षों से कृतार्थ कर दे माँ ! तुम्हारी जय हो ॥ १५ ॥

शास्त्रों में जिनकी चर्चा होती है, ऐसे पूर्ववर्त्ती समस्त सिद्ध पुरुषों को, अपनी गुरु परम्परा को, देवों, देवियों और योगियों को मैं प्रणाम करने के बाद उनका पावन स्मरण करते हुए पञ्चदश संख्या में रचित इन श्लोकों का लोकार्पण कर रहा हूँ। मुझ अभिनवगुप्त नामक मातृभक्त द्वारा ये श्लोक रहस्यपञ्चदशिका के रूप में रचित और प्रवर्त्तित हैं ॥ १६ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्त विरचित
डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलित

रहस्य पञ्चदशिका

परिपूर्ण

॥ इति शिवम् ॥

[१]

क्रमस्तोत्रम्

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचितम्
डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलितम्

अयं दुःखव्रातव्रतपरिगमे पारणविधि-
र्महासौख्यासारप्रसरणरसे दुर्दिनमिदम् ।
यदन्यन्यक्कृत्या विषमविशिखप्लोषणगुरो-
र्विभोः स्तोत्रे शश्वत्प्रतिफलति चेतो गतभयम् ॥ १ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य-श्रीमदभिनवगुप्तविरचित
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलित

क्रमस्तोत्र

'व्रतान्ते पारणम्' यह एक लोकोक्ति है। संसृति चक्र में पाशबद्ध पशु की तरह मायात्मक व्यामोह में अणु पुरुष बँधा हुआ है। ऐसी अवस्था में भी आत्मविस्मरण के कारण जागतिकता को व्रत की तरह निभाने में लगा हुआ है। सच पूछा जाय, तो इससे बड़ा कोई दुःख नहीं हो सकता है। विपत्ति ही दुःख है। कुन्ती ने विपत्ति की परिभाषा करते हुए कहा था—'विपद् विस्मरणं विष्णोः' विष्णु का विस्मरण ही सबसे बड़ी विपत्ति है। लोक में भी प्राणी आत्मविस्मरण के अभिशाप से ग्रस्त है पर उसी में रमा हुआ है। यही दुःख है।

क्रमस्तोत्रकार कहते हैं, इससे बढ़कर दुःखों का व्रात अर्थात् उनकी असंख्यता क्या हो सकती है? आज साधक को यह परिज्ञात हो गया है। उस मायाव्रत का आज अन्त आ गया है। इसके बाद पारणा आवश्यक है। यह व्रतान्त की विधि है। आज विस्मृति की नींद टूट गयी है। अपनी पहचान हो गयी है। आज महोत्सव का पर्व मनाना है।

विमृश्य स्वात्मानं विमृशति पुनः स्तुत्यचरितम्
तथा स्तोता स्तोत्रे प्रकटयति भेदैकविषये ।
विमृष्टश्च स्वात्मा निखिलविषयज्ञानसमये
तदित्थं त्वत्स्तोत्रेऽहमिह सततं यत्नरहितः ॥ २ ॥

इसमें महासौख्यपूर्वक अपूर्व प्रसन्नता के संभार स्वप्न पूरे करने हैं। आनन्द के इस उल्लास के क्षणों को रससिक्त करने के लिये आस्था का आसार उमड़ पड़ा है। रस वर्षा की झड़ा-सी लगी हुई हैं। काले घने भुभुआरे बादलों की जल भरी धाराओं का सम्पात ही हो रहा है। मेघों से आछन्न आकाश के दुर्दिन रूप अर्थ के साथ ही साथ दुःखों के अन्त के कारण माया के लिये भो आज दुर्दिन आ गया है।

आज अन्य वैकल्पिकताओं को तिरस्कृत कर मेरा चेतस काम के पञ्चबाणों को भी भस्म करने में समर्थ सर्वव्यापक परमेश्वर शिव की स्तुति में निर्णय भाव से नित्य प्रवृत्त हो गया है। यह मेरे लिये परम सौभाग्य का ही विषय है ॥ १ ॥

स्वात्मतत्त्व का विमर्श उपासक का स्वाभाविक धर्म है। इसमें लगे रहने वाला साधक आराध्य का भी विमर्श करने में समर्थ होता है। आराध्य का चरित्र सर्वदास्तुति के योग्य होता है। स्तुति कर्त्ता उपासक स्तोत्र के माध्यम से भेदात्मकता को ही व्यक्त करता है। यह स्तुतिकर्त्ता को वह स्थिति होती है, जिसमें स्तुत्य और स्तोता को पार्थक्य प्रथा का प्रथन होता रहता है।

इससे भी ऊँची और विशुद्ध स्थिति दूसरो होती है। उस समय सारे विषयों के तात्त्विक ज्ञान के हो जाने पर आत्मा विमृष्ट होता है। सबके बाद स्वात्मविमर्श की दशा आतो है। अब केवल स्वात्मविमर्श का ही उल्लास रह जाता है। इस अवस्था में किया गया स्तोत्रगान यत्नसाध्य

अनामृष्टः स्वात्मा न हि भवति भावप्रमितिभाक्
अनामृष्टः स्वात्मेत्यपि हि न विनाऽऽमर्शनविधेः ।
शिवश्चासौ स्वात्मा स्फुरदखिलभावैकसरस-
स्ततोऽहं स्वत्स्तोत्रे प्रवणहृदयो नित्यसुखितः ॥ ३ ॥

नहीं रह जाता है। वह अयत्नज हो जाता है। उस स्तुति में स्वात्मरूप अहंता ही स्वभावतः व्यक्त होती है। मैं उसी अयत्नज स्थिति में हूँ। प्रभो! तुम्हारे स्तोत्र में यत्नरहित अहं तत्त्व ही व्यक्त है ॥ २ ॥

आत्मा यदि विमर्श का विषय नहीं बन सका, तो साधना असिद्ध ही रह गयी, यह कहा जा सकता है। इस स्थिति में भाव की प्रमितियों से वह अमेय ही बना रह जाता है। यह भी सत्य है कि, जो व्यक्ति विमर्श की विधि में उतरा ही नहीं, उसे तो यह अनुभूति भी नहीं हो पाती कि, आत्मा अभी अनामृष्ट ही रह गया। अभी तो वह तिरोहित अवस्था में अभिशप्त जीवन जीने के लिये विवश रहता है। श्रुति के अनुसार उसे 'आत्महन' कहते हैं।

स्वात्म की विमर्श सिद्धि के उपरान्त यह दृढता हो जाती है कि, स्वात्मा ही शिव है और शिव ही स्वात्मतत्त्व है। इसी के नैर्मल्य में निखिल रूप, रस, गन्ध स्पर्श और शब्द रूप विषय प्रतिबिम्बित हैं। बिम्ब शिव से अनतिरिक्त रहते हुए अतिरिक्त की तरह भासित है। आनन्दामृतमयी रस की वर्षा की फुहार शिवैक्य के शैव महाभाव में ही सम्भव है। ऐसा वह स्वात्म शिव है। ऐसा वह विमर्श है। इस विमर्श दशा में यह तुम्हारा स्वाभाविक प्रवाहमय स्तोत्र सिन्धु शिव द्वारा स्वात्मसात् किया जा रहा है। मेरा हृदय इसमें प्रवण बना हुआ है। मैं शाश्वत सुख का अनुभव कर रहा हूँ ॥ ३ ॥

विचित्रैर्जात्यादिभ्रमणपरिपाटीपरिकरै-
रवाप्तं सार्वज्ञं हृदय यदयत्नेन भवता ।
तदन्तस्त्वद्बोधप्रसरसरणीभूतमहसि
स्फुटं वाचि प्राप्य प्रकटय विभोः स्तोत्रमधुना ॥ ४ ॥

प्रस्तुत पद्य हृदय को सम्बोधित है। हृदय शिव की उस महासत्तामयी स्फुरत्ता को कहते हैं, जो सोऽहं के मध्य केन्द्र में शाश्वत समुल्लसित है। इसे शास्त्रकार ने अनुत्तरामृतकुल संज्ञा से विभूषित किया है। यह सभी प्राणियों का भावकेन्द्र माना जाता है। प्राणी जब चेतना की खण्डित अवस्था में अणुता से ग्रस्त होता है, तो उसे संस्कारों के अनुसार विभिन्न जन्म ग्रहण करने पड़ते हैं। इसे जन्मान्तरवादी लोग मानते हैं। उन उन जन्मों में हृदय भी विकल्प संकल्प जन्य संस्कारों से प्रभावित रहते हैं। इस समग्र अनुभूत्यात्मक इतिहास का परिचय शास्त्रकार ने 'विचित्र जात्यादि परिभ्रमण परिपाटी परिकर' शब्द के माध्यम से दिया है।

इन सारी बातों के विवेचन से साधक का हृदय परमेश्वर के हृदय स्पन्द से ऐकात्म्य स्थापित करने के कारण सार्वज्ञ से विभूषित हो जाता है। अब उसे सर्वज्ञ कहा जा सकता है क्योंकि अब वह विमर्श रूप हो गया है और विमर्श प्रकाश का ही धर्म है। कभी निर्विमर्श प्रकाश की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

ऐसे हृदय को संबोधित करते हुए स्तोत्रकार कह रहे हैं कि, हृदय! तुमने जो सर्वज्ञता प्राप्त कर ली है, तो अब ऐसा करो कि, तुम स्वाभाविक रूप से शैव रहस्य के अन्तराल में उल्लसित महासत्तामयी स्फुरता के बोध की अनन्त सन्तन्यमान परम्परा में परिव्याप्त प्रकाशरूप मह के माहात्म्य को मेरी वाणी की वर्णमयी हारावली में पिरो दिया करो। विभु की विभुता का वैभव इस स्तोत्र से व्यक्त हो—इतना अनुग्रह करो। मेरे मित्र! अब मुझे तुमसे इस विषय में कुछ कहना न पड़े ॥ ४ ॥

विधुन्वानो वन्धाभिमतभवमार्गस्थितिमिमां
रसीकृत्यानन्तस्तुतिहुतवहप्लोषितभिदाम् ।
विचित्रस्वस्फारस्फुरितमहिमारम्भरभसात्
पिबन् भावानेतान् वरद मदमत्तोस्मि सुखितः ॥ ५ ॥

भवप्राज्यैश्वर्यप्रथितबहुशक्तेर्भगवतो
विचित्रं चारित्रं हृदयमधिशेते यदि ततः ।
कथं स्तोत्रं कुर्यादथ च कुरुते तेन सहसा
शिवैकात्म्यप्राप्तौ शिवनतिरुपायः प्रथमकः ॥ ६ ॥

भवरूप संसार की यह सरणी भी भव अर्थात् शिव को ही मार्गमयी स्थिति है । इस तथ्य के भूल जाने पर यह बन्ध के अभिमत मार्ग में बदल जाती है । अणुता के आणव समावेश में, पशुता के पाशव व्यामोह में पतित प्राणी बन्धन से ग्रस्त हो जाता है । इसीलिये इसे विधूनित और विध्वस्त करने का महाप्रयत्न साधक करता है । इसे शैव महाभाव की संभूतियों से उत्पन्न अमृत रस से सराबोर कर देता है । इसके लिये अनन्त स्तुति वचनों की शीतल ज्वाला में सारी भेदवादिता की आहुति देकर उसे प्लोषित करता है अर्थात् जला डालता है ।

अनुग्रह का वरदान देने वाले मेरे परमाराध्य ! आश्चर्यमय इस स्वात्मस्फार को रसमयी अनुभूतियों से स्फुरित तुम्हारी महिमा की मनोज्ञता के आस्वाद का मैं आग्रही बन गया हूँ । मैं इन भावों के परमपेय को अनवरत पी रहा हूँ । इस अप्रतिम पेय में एक मादकता है । इससे मैं मदमत्त हो रहा हूँ । मुझसे बढ़कर कोई सुखी नहीं है ॥ ५ ॥

भग शब्द ऐश्वर्य का पर्याय है । भगवान् सर्वैश्वर्य सम्पन्न परमेश्वर हैं । इनके अनुग्रह से समस्त सांसारिक ऐश्वर्यों की प्राप्ति सहज रूप से हो जाती है । ऐसी प्रथित अनन्त शक्तियों से परमेश्वर संवलित हैं । उनके ऐसे

ज्वलद्रूपं भास्वत्पचनमथ दाहं प्रकटनम्
विमुच्यान्यद्वह्नेः किमपि घटते नैव हि वपुः ।
स्तुवे संविद्रश्मीन् यदि निजनिजांस्तेन स नुतो
भवेन्नान्यः कश्चिद् भवति परमेशस्य विभवः ॥ ७ ॥

अनन्त विचित्र चरित्र हैं, जिनकी अनुभूतियाँ इस हृदय में शाश्वत रूप से उल्लसित हैं।

स्तोत्रकार का हृदय स्वयम् उनसे पूछ बैठता है—भगवन् ! आप तो भक्तिरसभावित सिद्ध शिवरूप ही हैं। आपको इस स्तोत्र रचना की क्या आवश्यकता ?' किन्तु स्वयं यह अनुभव भी व्यक्त करता है कि, इस तरह कोई उपासक यदि स्तोत्र संरचना की प्रक्रिया अपनाता ही है, तो इससे यह सिद्ध हो जाता है कि, शिवनुतिरूप स्तोत्र रचना ही शिवैक्य संप्राप्ति का सर्वोत्तम और प्रधान उपाय है ॥ ६ ॥

अग्नि की शरीर संरचना के सम्बन्ध में विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि, इसमें दो गुण प्रधान हैं। १. दाहकत्व और २. पाचकत्व। महाकवि कालिदास ने अग्नि के ऊर्ध्वज्वलन धर्म का भी आख्यान किया है। दाहकत्व में ऊर्ध्व ज्वलन और प्रकाशत्व एवं धूमत्व सभी निहित हैं। शास्त्रकार कह रहे हैं कि, यदि इन दोनों धर्मों को अग्नि से अलग कर दिया जाय तो अग्नि अग्नि ही नहीं रह जायेगा। जैसे इन गुणों के बिना अग्नि के शरीर के रूप की कल्पना ही घटित नहीं हो सकती, उसी तरह संवित्तत्त्व के अभाव में परमेश्वर के विभव की कोई कल्पना भी नहीं की जा सकती। परमेश्वर संविद्वपुष् माने जाते हैं। संविद् रश्मियाँ ही विश्व शरीर की सर्जक और विश्व देह का आधायक होतीं हैं। मैं इन मङ्गल मरीचियों का स्तवन कर रहा हूँ। ये उनकी निजात्मकता की प्रतीक है। स्वात्म के 'स्व' रूप की पहचान हैं। मैं यदि इनकी स्तुति कर रहा हूँ, तो यह निश्चय है कि, इस नुति स्तुति से वे भी नुत और स्तुत हो रहे हैं ॥ ७ ॥

विचित्रारम्भत्वे गलितनियमे यः किल रसः
परिच्छेदाभावात् परमपरिपूर्णत्वमसमम् ।
स्वयं भासां योगः सकलभवभावैकमयता
विरुद्धैर्धर्मौघैः परचितिरनर्घोचितगुणा ॥ ८ ॥

इतीदृक्षै रूपैर्वरद विविधं ते किल वपु-
र्विभाति स्वांशेऽस्मिन् जगति गतभेदं भगवतः ।
तदेवैतत्स्तोतुं हृदयमथ गीर्बाह्यकरण-
प्रबन्धाश्च स्युर्मे सततमपरित्यक्तरभसः ॥ ९ ॥

परमेश्वर शिव अखिल अद्भुतों के उद्भव के आधार हैं। विचित्रताओं से भरा यह भवारम्भ विस्मयविमुग्ध करने वाला है। इसके आरम्भ का कोई नियम नहीं है। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र परमेश्वर कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुं समर्थ हैं। यह सब उनकी इच्छा शक्ति पर ही निर्भर है। फिर भी इस निर्मिति में अपरिमेय रस भरा हुआ है। जहाँ सत् का सृजन भाव है, वहाँ आनन्द का उच्छलन भी स्वाभाविक है। अपरिच्छिन्नता के कारण परम पूर्णता का ललित उल्लास है इसमें फिर भी यह असम है। इसमें स्वयं प्रकाशत्व योग है। पर प्रकाश्य पदार्थों का प्रकाशन परमेश्वर प्रकाश से ही सम्भव है। इस तरह वैविक्त्य का विभाजन भी है और समस्त भवात्मक भावों का ऐकात्म्य भी है। इस तरह इसमें विरुद्ध विरुद्ध विभिन्न धर्मों को धारकता है, एक विचित्र विरोधाभास है।

उत्पत्ति और अनियम, परमपरिपूर्णता भी और वैषम्य भी, विभिन्न आभासों का उल्लास भी और भावैक्य भी तथा अनियमितता में आनन्द भी यह सब पराचिति शक्ति का ही चमत्कार है। ये उसके अनर्घ अमूल्य गुणों का ही जगदानन्दमय उद्गान है ॥ ८ ॥

शास्त्रकार कह रहे हैं कि, हे मेरे वरदायक आराध्य ! विश्ववैचित्र्य

तवैवैकस्यान्तः स्फुरितमहसो बोधजलधे-
र्विचित्रोर्मिव्रातप्रसरणरसो यः स्वरसतः ।
त एवामी सृष्टिस्थितिनिलयमयस्फूर्जितरुचां
शशांकार्काग्नीनां युगपदुदयापायविभवाः ॥ १० ॥

के इस प्रकार के आनन्द में उल्लसित 'रूपं रूपं प्रति रूपं बभूव' सदृश औपनिषदिक उक्ति के अनुसार आप का विविध रूप भासित हो रहा है। शास्त्र यह स्वीकार करते हैं कि, यह जगत् आपका ही अंश मात्र है। अंश अंशी से भिन्न नहीं होता। भगवन् ! आप से इसके भेद का प्रकल्पन हो ही नहीं सकता।

ऐसी अवस्था में आपकी स्तुति में प्रवण मेरा यह हृदय, मेरी वाग्देवी, मेरे समस्त अन्तर्बाह्यकरण और इसमें प्रयोज्य इन्द्रिय प्रबन्ध अनवरत सक्रिय रूप से संलग्न रहें। इनकी सक्रियता के सामर्थ्य में कोई कमी न आने पाये। अपनी शक्ति की प्रचण्डता का कभी परित्याग ये न कर सकें ॥ ९ ॥

मेरे आराध्य ! मैं आन्तर अनुप्रवेश प्रक्रिया में तुम्हारी ही अनुकम्पा से प्रगति पथ का स्पर्श कर चुका हूँ। तुम्हारे अन्तर में स्फुरित महिमामय बोध जलधि की चित्र विचित्र तारङ्गिकता में लहराने का स्वारस्यमय अनुदर्शन कर रहा हूँ। मुझे यह स्पष्ट अनुभव हो रहा है भगवन् ! कि, उसी ऊर्मिप्रसर में यह सृष्टि, यह स्थिति और ये लयमय संहार भी स्फूर्जित हो रहे हैं। यह चैतन्य की रोचिष्णुता का ही चमत्कार है। इसी में अग्नि प्रमाता, सूर्य प्रमाण और सोम रूप प्रमेय राशि की एक साथ ही उदय और अपायमयी विभुता भी उल्लसित हो रही है। स्वात्मबोध रूप प्रकाशवह्नि के साथ इसी में प्राण सूर्य और अपान चन्द्र का युगपद् संघट्ट भी घटित हो रहा है। भगवन् ! यह सब आप की लीला का ही लालित्य है ॥ १० ॥

अतश्चित्राचित्रक्रमतदितरादिस्थितिजुषो
विभोः शक्तिः शश्वद् व्रजति न विभेदं कथमपि ।
तदेत्तस्यां भूमावकुलमिति ते यत्किल पदम्
तदेकाग्रीभूयान्मम हृदयभूर्भैरव विभो ॥ ११ ॥

अमुष्मात् सम्पूर्णात् वत रसमहोल्लाससरसा-
न्निजां शक्तिं भेदं गमयसि निजेच्छाप्रसरतः ।
अनर्घं स्वातंत्र्यं तव तदिदमत्यद्भुतमयीम्
भवच्छक्ति स्तुन्वन् विगलितभयोहं शिवमयः ॥ १२ ॥

मुझे इसमें एक क्रम का भी अनुदर्शन हो रहा है । इसमें चित्र विचित्र उल्लास के साथ एक अचित्र अर्थात् सामान्योदय का विलास भी उन्मिषित अनुभूत हो रहा है । इसके अतिरिक्त भी इसमें आदि अनादि उल्लासों का उत्स भी झलकता दृष्टिगोचर हो रहा है । फिर भी यह विस्मय का ही विषय है कि, इन अनन्त स्फुरत्ताओं के बावजूद हे प्रभु ! तुम्हारी शक्ति शाश्वत रूप से उसी ऐकात्म्य के साथ उल्लसित है । भेद की गन्ध भी यहाँ नहीं है ।

अनुभूति के इस स्तर पर, भावात्मकता की इस भावमयी भूमि पर तुम्हारे अकुल रूप परमपद से मेरी हृदय रूपी अनुत्तर भूमि एकाग्र भाव से अर्थात् ऐकान्तिक रूप से पुलकित रहे । सारे ऐश्वर्यों के आधार हे मेरे आराध्य तुम्हारी कुल प्रथनशालिनी कौलिकी शक्ति मेरे ऊपर यही कृपा करे ॥ ११ ॥

प्रभो ! तुम्हारे अनुग्रह की अमृत वर्षा हो रही है । रस का महोत्सव ही यह सृष्टि मना सी रही है । इस सरस महोल्लास की सम्पूर्णता सर्वत्र व्याप्त है । मुझे यह स्पष्ट आभास हो रहा है कि, तुम अपनी इच्छा शक्ति के प्रसार से भेदमयता का भाण्डागार भर रहे हो । इसमें हे चिन्मय ! तुम्हारे

इदन्तावद्रूपं तव भगवतः शक्तिसरसं
क्रमाभावादेव प्रसभविगलन्कालकलनम् ।
मनःशक्त्या वाचाप्यथ करणचक्रैर्बहिरथो
घटाद्यैस्तद्रूपं युगपदधितिष्ठेयमनिशम् ॥ १३ ॥
क्रमोल्लासं तस्यां भुवि विरचयन् भेदकलनाम्
स्वशक्तीनां देवं प्रथयसि सदा स्वात्मनि ततः ।
क्रियाज्ञानेच्छाख्यां स्थितिलयमहासृष्टिविभवां
त्रिरूपां भूयासं समधिशयितुं व्यग्रहृदयः ॥ १४ ॥

आनन्द का भी उल्लास है। यही तुम्हारा स्वातन्त्र्य है। यह तुम्हारी स्वतन्त्रता कितनी अनर्घ है? इसे वाणी का विषय नहीं बनाया जा सकता। मैं भावविभोर हूँ भगवन्! तुम्हारी अप्रतिरुद्ध शक्ति की मैं स्तुति कर रहा हूँ। इसी के प्रभाव से यह कहा जा सकता है कि, मैं विगत भय हो गया है। मेरे उपर लटका महद्वज्र का भय भाग खड़ा हुआ है। सचमुच मैं साक्षात् शिवमय ही हो गया हूँ ॥ १२ ॥

भगवन्! आपका यह रूप शक्ति की सुधा से सिंचित होने के कारण शक्ति सरस अनुभूत हो रहा है। इसका शाश्वत सत्ता में क्रमिकता का प्रकलन नहीं किया जा सकता। क्रमिकता तो कालका धर्म है। तुम्हारी शाश्वत वर्त्तमान सत्ता में हठपूर्वक विगलित हो रहे कालको कलन योगिवर्यों को निरन्तर अनुभूति का विषय है।

आश्चर्य तो यह है कि, प्रसभ विगलित कालकलना को अनुभूति के साथ ही विश्वात्मक क्रमिक उल्लास भी तुम्हारे ही स्वात्म-फलक पर हो रहा है। उसमें भेदमयता का आकलन भी अनवरत किया जा रहा है। यह आपकी विचित्र रचना का ही चमत्कार है। मनसा, वाचा और इन्द्रियों द्वारा आन्तरिक रूप से तथा बाह्य अभिव्यक्त वेद्यात्मक विश्वोल्लास में घट पट नील-पीत आदि पदार्थों द्वारा भी यह तुम्हारा विस्मयजनक रूप मैं सतत

परा सृष्टिर्लीना हुतवहमयी यात्र विलसत्-
परोल्लासौन्मुख्यं व्रजति शशिसंस्पर्शसुभगा ।
हुताशेन्दुस्फारोभयविभवभाग् भैरवविभो
तवेयं सृष्टयाख्या मम मनसि नित्यं विलसतात् ॥ १५ ॥

निहार रहा हूँ। प्रभो ! इन आन्तर और बाह्य अनुभूतियों के आनन्दोन्मेष में अजस्त्ररूप से अवस्थित रहूँ, यही कृपा करो।

इच्छा, क्रिया और ज्ञान रूप आपकी शक्तियों से भगवन् ! इस महासृष्टि का प्रवर्त्तन होता है। स्थितिसत्ता में यह आभासित होती है और अन्त में इसका संहार भी परिलक्षित होता है। यह सब आप की विभुता का ही विभावन है। तुम्हारी त्रिरूपता की इस अद्भुत उद्‌भूति में विशिष्ट रूप से अग्रसर मेरा हृदय उद्विग्नता का अपहस्तन कर अनुद्विग्न बना रहे। मैं इसमें अधिशयित होने का आनन्द लेता रहूँ। यही कृपा करो ॥ १३-१४ ॥

'अग्निषोमात्मकं जगत्' यह औपनिषदिक सत्य है। तन्त्र सूर्य सोमात्मक जगत् मानता है किन्तु अग्नि को परप्रमाता भी मानता है। श्रुति अग्नि को ब्रह्मवर्चस् रूप में स्वीकार करती है और कहती है कि, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। इस अग्नि को प्रथम पुरुष के रूप में देखती है। इसलिये कहती है कि, कुतोऽयमग्नि ? 'अयम्' अर्थात् दो पाषाण खण्डों के संघट्ट से समुत्पन्न स्थूल अग्नि।

शास्त्रकार यहाँ परप्रमातामयी हुतवहात्मिका अग्नि शक्ति को सर्वत्र संल्लीन मानकर यह कहते हैं कि, वह तत्त्वमय रूप में लीन है अर्थात् अव्यक्त रूप से सर्वत्र व्याप्त है। बाह्य रूप से वह परोल्लास रूप से उल्लसित है। इसमें सोमतत्त्व की सुधा का संस्पर्शात्मक सौन्दर्यमय आकर्षण है।

इसलिये यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है, कि, यह सारा स्फार हुताश अग्नि और इन्दु अर्थाद् अमृतवर्षी सोम के उभय वैभव से विभूषित है। भैरवीय विभुता के धाम सर्वेश्वर ! तुम्हारी सृष्टि का यह चमत्कार मेरे मन में सदा उल्लसित रहे ॥ १५ ॥

विसृष्टे भावांशे बहिरतिशयास्वादविरसे
　　यदा तत्रैव त्वं भजसि रभसाद् रक्तिमयताम् ।
तदा रक्ता देवी तव सकलभावेषु ननु माम्
　　क्रियाद्रक्तापानक्रमघटितगोष्ठीगतघृणम् ॥ १६ ॥
वहिर्वृत्तिं हातुं चितिभुवमुदारां निवसितुं
　　यदा भावाभेदं प्रथयसि विनष्टोर्मिचपलः ।
स्थितेर्नाशं देवी कलयति तथा सा तव विभो
　　स्थितेः सांसारिक्याः कलयतु विनाशं मम सदा ॥ १७ ॥

सृष्टि को शास्त्र विसृष्टि कहते हैं । वस्तुतः अव्यक्त का ही यह व्यक्त विसर्ग विश्व है । जो विसृष्ट हो गया, उसमें विरसता स्वाभाविक है । साथ ही यह भी सत्य है कि, यह सृष्टि भूतभावन भगवान् भव की ही भावांश है, जो बाहर कर दी गयी है । इसमें आस्वाद सुख की कल्पना भी नहीं की जा सकती ।

यह आश्चर्य का विषय ही है भगवन् ! कि, आपका इसमें परानुराग परिलक्षित होता है । तुम्हारी रभस शक्तिमयता का मुझे पूरा अनुभव है । जब आप की ही यह अनुरागमयी ऐसी प्रवृत्ति है, तो ऐसी अवस्था में मैं ललित लालसामयी रक्ता देवी (तादात्म्य भाव से सतत अनुरक्त) से यही विनम्र प्रार्थना कर रहा हूँ कि, वह माँ ! मुझे तुम्हारे सभी भावों में लालिमा से ललित आपानक के आस्वाद के लिये इकट्ठी गोष्ठियों में अनुरक्त कर दे !

यहाँ रक्ता शब्द से रक्ता संज्ञक देवी विश्वानुरागमयी शक्ति और शराब तीनों अर्थ लिये जा सकते हैं । स्तोत्रकार ने कश्मीरी मद्य (अंगूरी लाल) का मोहक वर्णन श्रीतन्त्रालोक में किया है । गोष्ठियों में गतघृण होने की व्यंजना का अभिव्यञ्जन भी विशिष्ट अर्थ की ओर संकेत करता है ॥ १६ ॥

जगत्संहारेण प्रशमयितुकामः स्वरभसात्
स्वशङ्कातङ्काख्यं विधिमथ निषेधं प्रथयसि ।
इमं सृष्ट्वेत्थं त्वं पुनरपि च शङ्कां विदलयन्
महादेवी सेयं मम भवभयं संदलयतात् ।। १८ ।।

बाह्य दृष्टि की प्रमुखता से छुटकारा मिलने पर ही व्यक्ति अन्तर्लक्ष्य हो सकता है। अतः जागतिक आकर्षणों के प्रति अपनी उन्मुखता को छोड़ना आवश्यक है। साधक के लिये यह पहली आवश्यकता मानी जाती है। दूसरी मुख्य बात उदार चिति की चैतन्यमयी आन्तर भूमि में निवास है। इन दानों में अवस्थिति के लिये प्रभो ! तुम्हीं भाव में अभेदमयी अद्वय प्रथा का प्रथन करते हो। उस समय मन की सारी विरस उर्मियाँ विनष्ट हो जाती हैं। मेरा चाञ्चल्य चूर हो जाता है और मैं शान्ति का अनुभव करता हूँ।

प्रतीत होता है कि, स्थिति का रूप ही बदल गया है। देहाध्यासमयी स्थिति का नाश हो गया है। मातृ सद्भावशक्ति उसी का कलन कर रही है। ऐसी दशा में विभो ! मैं असमञ्जसता का अनुभव करता हूँ। मेरे मन में तुम्हारी विश्वमयता के संस्कार भरे हुए हैं। देहाध्यासमयी स्थिति का नाश होने पर तुम इतनी करो प्रभु कि, इस सांसारिकी स्थितिशीलता का भी नाश कर दो, जिससे मैं तुम्हारी विश्वोत्तीर्णता की तादात्म्य की परमानुभूति में रमा रहूँ ॥ १७ ॥

मेरे मन में अनेक प्रकार की शङ्काओं का आतङ्क है। तुम तो भगवन् विश्व की व्यवस्था में विधि और निषेध की प्रथा का प्रथन करते हो। इससे शङ्का को और बल मिलता है। मैं इसका प्रशमन करना चाहता हूँ। मैं जानता हूँ—सारी शङ्काओं के मूल में यह जगत् ही है। इसके संहार से ही शङ्काओं का नाश भी अवश्यं भावी है।

तुम्हारी विचित्र लीला है। सृष्टि का सर्जन भी करते हो। शङ्काओं को सन्दर्भ भी देते हो और इनका उन्मूलन भी करते हो। ऐसी अवस्था में

विलीने शङ्कौघे सपदि परिपूर्णे च विभवे
गते लोकाचारे गलितविभवे शास्त्रनियमे ।
अनन्तं भोग्यौघं ग्रसितुमभितो लंपटरसा
विभो संसाराख्या मम हृदि भिदांशं प्रहरतु ॥ १९ ॥
तदित्थं देवोभिः सपदि दलिते भेदविभवे
विकल्पप्राणासौ प्रविलसति मातृस्थितिरलम् ।
अतः संसारांशं निजहृदि विमृश्य स्थितिमयी
प्रसन्ना स्वान्मृत्युप्रलयकरणी मे भगवती ॥ २० ॥

मैं महादेवी परासंविद्भगवती से प्रार्थना करता हूँ कि, माँ अब तुम्हीं इस भवभोति को संदलित कर सकती हो। तुम्हीं इस दारुणता का दलन करो॥ १८॥

शङ्कायें समाप्त हो गयी हैं। शैवमहाभाव का वैभव मेरे अस्तित्व को पूर्णता प्रदान कर रहा है। लोकाचार के विधि निषेधात्मक अधर स्तर से मैं ऊपर स्वानुभूति सुधा से सिक्त हो रहा हूँ। भवात्मक विभव विगलित हो गये हैं। शास्त्रकार को 'समय' सोमा को मैं पार कर चुका हूँ। अनन्तानन्त भोग्यराशिके ग्रास का आस्वाद लेने वाली संसाराख्या देवी मेरे हृदय में घर कर गयी भेदवादितामयी दुष्पवृत्ति पर प्रहार कर इसे ध्वस्त कर दे—यही मेरी प्रार्थना है॥ १९॥

द्वादश कालिका देवियों की मेरे ऊपर कृपा हो गयो है। परिणामतः यह भेदवादो द्वैत भाव का वैभव पूरी तरह समाप्त हो गया है। अब लग रहा है कि, केवल वैकल्पिकता में कल्लोल करने वाली लीलामयी माँ की सद्भाव संभूति ही चारों ओर व्याप्त है।

माँ शक्ति की महास्फुरत्ता में संसार के सृष्टि अणु तादात्म्य रूप से तल्लीन रहते ही हैं। उनका स्वात्म केन्द्र रूप हृदय में परामर्श कर सृष्टि,

तदित्थं ते तिस्रो निजविभवविस्फारणवशा-
दवाप्ताः षट्चक्रं क्रमकृतपदं शक्तय इमाः ।
क्रमादुन्मेषेण प्रविदधति चित्रां भुवि दशा-
मिमाभ्यो देवीभ्यः प्रवणहृदयः स्यां गतभयः ॥ २१ ॥
इमां रुन्धे भूमिं भवभयभिदातङ्ककरणीम्
इमां बोधैकान्तद्रुतिरसमयीं चापि विदधे ।
तदित्थं संबोधद्रुतिमथ विलुप्याशुभततो-
र्यथेष्टं चाचारं भजति लसतात् सा मम हृदि ॥ २२ ॥

स्थिति और संहार में समर्थ सर्वैश्वर्यमयी भगवती मेरे ऊपर सदा प्रसन्न रहे—यही मेरी विनम्र प्रार्थना है ॥ २० ॥

इस प्रकार सृष्टि काली, स्थिति काली और संहार कालिका रूप तीन देवियों कृपा से मैं कृतार्थ हो रहा हूँ। सृष्टि, स्थिति और संहार उनके विभव के विस्फार मात्र हैं। इन देवियों की कृपा से मैंने मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा रूप छः चक्रों में इनकी लीला का आकलन कर लिया है। क्रम दर्शन के मान्य सिद्धान्तों के अनुसार ही क्रमिक उन्मेष के पथ पर अग्रसर मैं अनुभूति के इस स्तर पर आ गया हूँ। मेरी यह प्रार्थना है कि, मैं निर्भयभाव से निःशङ्क इनके लिये आजीवन प्रवण हृदय बना रहूँ ॥ २१ ॥

मैंने इनकी कृपा से भवभीति उत्पन्न करने वाले आतङ्कों को अवरुद्ध कर दिया है। इन्हीं की कृपा से स्वात्मबोध की ऐकान्तिक तादात्म्यमयी एवं रसमयी भूमिका में अधिष्ठित हो गया हूँ। इससे मेरे हृदय में संबोध का प्रकाश ही प्रकाश प्रसरित है। मेरे अशुभ के आनन्त्य का अन्त हो गया है। यही मेरा आध्यात्मिक स्वरूप है। इसी में प्रकाश अपने आचार संचार का आश्रय कर प्रसन्न हो रहा है। इस अवस्था में वह अचिन्त्य महिमामयी माँ मेरे हृदय में सदाविहार करे, यही प्रार्थना है ॥ २२ ॥

क्रियाबुद्ध्यक्षादेः परिमितपदे मानपदवी-
मवाप्तस्य स्फारं निजनिजरुचा संहरति या ।
इयं मार्तण्डस्य स्थितिपदयुजः सारमखिलम्
हठादाकर्षन्तो कृषतु मम भेदं भवभयात् ॥ २३ ॥
समग्रामक्षालीं क्रमविरहितामात्मनि मुहु-
र्निवेश्यानन्तान्तर्बहलितमहारश्मिनिवहा ।
परा दिव्यानन्दं कलयितुमुदारादरवती
प्रसन्ना मे भूयात् हृदयपदवीं भूषयतु च ॥ २४ ॥

सक्रियता की प्रतीक कर्मेन्द्रियाँ और प्रकाश का प्रातिनिध्य करने वाली ज्ञानेन्द्रियाँ अपनी सीमा में सक्रिय हैं, वे नितान्त परिमित हैं। मिति में मानपदवी को प्राप्त करना सृष्टि प्रक्रिया का अपना विधान है। आगम सूर्य को प्रमाण मानता है। सूर्य प्राण और सोम प्रमेय चन्द्र रूप अपान माना जाता है। प्राण के स्फार को अपनी अपनी किरण शक्तियों से संहृत करने वाली काल की कलनामयी शक्तियाँ हैं। प्राण स्थिर है, तो जीवन भी स्थिर है। अन्यथा संहार अवश्यंभावी है। प्राण के सार का हठात् समाकर्षण करने वाली संविद् भगवती मेरे ऊपर अवश्य कृपा करे। वह कृपामयी भवभीतियों को उत्पन्न करने वाली भेदवादिता को भी आकृष्ट करने का अनुग्रह करे, जिससे मैं अद्वय अनुत्तरतत्त्व में अनुप्रवेश प्राप्त कर सकूँ॥ २३ ॥

समस्त इन्द्रियवर्ग को अक्रमभाव से स्वात्म में सन्निविष्ट कर विश्वात्मक विस्फार के अन्तर और वाह्य को अर्थात् इस दृश्यादृश्य जगत् को चिन्मय मरीचियों से रोचिष्णुता प्रदान कर रही हो। ऐसी ऐश्वर्यमयी माँ पराकालिके ! दिव्य आनन्द के आकलन में उदार परा भट्टारिके ! तुम मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाओ। मेरे हृदयारविन्द को आसन बना कर अपने विग्रह से उसे विभूषित कर हमें कृतार्थ कर दो॥ २४ ॥

प्रमाणे संलीने शिवपदलसद्वैभववशा-
च्छरीरं प्राणादिर्मितकृतकमातृस्थितिमयः ।
यदा कालोपाधिः प्रलयपदमासादयति ते
तदा देवी यासौ लसति मम सा स्तार्च्छिवमयी ॥ २५ ॥
प्रकाशाख्या संवित् क्रमविरहिता शून्यपदतो
बहिर्लीनात्यन्तं प्रसरति समाच्छादकतया ।
ततोऽप्यन्तःसारे गलितरभसादक्रमतया
महाकाली सेयं मम कलयतां कालमखिलम् ॥ २६ ॥

प्रमाण के प्रलीन हो जाने पर प्रमाता रूप शिवतत्त्व के समुल्लास की वैभवमयी विभुता का तादात्म्य उपलब्ध होना सौभाग्य का विषय है। साधक इस दशा में शरीर में रहते हुए भी प्राणवत्ता की परिमा में भी अशरीर और अमर प्रमातापद पर अवस्थित हो जाता है। उस समय उसका शरीर, उसका प्राण उसका नहीं रह जाता। उसकी साधना सफल हो जाती है। अब उसकी परिमिति समाप्त हो जाती है और प्रमातृत्व उल्लसित हो जाता है।

जिस समय काल की उपाधि अपनी निरवधि क्रमिकता का परित्याग कर प्रलय पदवी में समाहित हो जाती है, उस समय भी संवित्ति भट्टारिका सर्वत्र समुल्लसित रहती है। वह मेरे कल्याण के लिये अनुग्रहवती बन कर मेरे ऊपर वात्सल्य की वर्षा करे ॥ २५ ॥

महा प्रकाश रूपा परा संविद्भट्टारिका अक्रम भाव से ही अपनी शून्यसाक्षिणी पदवी से महास्फुरत्ता के द्वारा बाह्य प्रसार रूपी विश्वात्मक विस्फार में लीन रहती हुई भी सर्व को सर्वात्मना आच्छादित कर रही है। इस प्रकार शाश्वत प्रसरित हो रही है।

इतना होने पर परम अनुकम्पामयी परमाम्बा महाकाली मेरे हृदयारविन्द की कोशकर्णिका में अधिष्ठित रह कर मेरे अस्तित्व को धन्य बनाने की कृपा करती है। उसका अवरोध रहित रभस शान्त हो जाता है।

ततो देव्यां यस्यां परमपरिपूर्णस्थितिजुषि
क्रमं विच्छिद्याशु स्थितिमतिरसात्संविदधति ।
प्रमाणं मातारं मितिमथ समग्रं जगदिदम्
स्थितां क्रोडीकृत्य श्रयति मम चित्तं चितिमिमाम् ॥ २७ ॥

अनर्गलस्वात्ममये महेशे तिष्ठन्ति यस्मिन् विभुशक्तयस्ताः ।
तं शक्तिमन्तं प्रणमामि देवं मन्थानसंज्ञं जगदेकसारम् ॥ २८ ॥

इत्थं स्वशक्तिकिरणौघनुतिप्रबन्धान्
आकर्ण्य देव यदि मे व्रजसि प्रसादम् ।
तेनाशु सर्वजनतां निजशासनांशु-
संशान्तिताखिलतमःपटलां विधेयाः ॥ २९ ॥

अक्रम कलनामयी महाकाली मेरे अस्तित्व के आकलनपूर्वक मेरे जीवन को धन्य बना दे ॥ २६ ॥

देवी परा भट्टारिका कालसंकर्षिणी रूप से भी प्रसिद्ध है। उसी परा परम परिपूर्ण स्थितिमयी सत्ता में कालसंकर्षिणी अपने क्रमिक आकलन का परित्याग कर स्थिति काली के रूप में उल्लसित होने की अनुकम्पा करती है। प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति के प्रपञ्च में प्रसरित इस समग्र विश्वात्मक विस्तार को स्वात्म में ही समाहित कर मेरे हृदय में ही उल्लसित है। इस प्रकार मेरी चिति में भी चिन्मयता का चमत्कार बनकर वही समुल्लसित है ॥ २७ ॥

मेरा स्वात्म रूप शिव ही परम महेश्वर है। इसकी कोई सीमा नहीं, कोई अवरोध और यन्त्रण का तन्त्रण इस पर नहीं। इसमें ही सारी विभुतामयी शक्तियाँ समाहित रहती हैं। इस विश्व के एक मात्र सार रहस्य रूप परम शक्तिमन्त मन्थान संज्ञक देवाधिदेव को मैं विनम्र प्रणाम कर रहा हूँ ॥ २८ ॥

षट्षष्ठिनामके वर्षे नवम्यामसितेऽहनिः ।
मयाऽभिनवगुप्तेन मार्गशीर्षे स्तुतः शिवः ॥ ३० ॥

॥ श्रीअभिनवगुप्तपादाचार्यकृतं क्रमस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

स्तोत्रकार करुणा से द्रवित हैं। श्रद्धा की सुधा से सिक्त होकर उनकी सरस्वती इस श्लोक में उतरती सी प्रतीत हो रही है। वे कह रहे हैं—देवाधिदेव ! अपनी शक्ति की रश्मियों की राशि राशि इस सारस्वत प्रत्यग्र प्रयास रूपी स्तुति में वर्ण रूप से व्यक्त है। आप इसे सुन रहे हैं। इसे सुनकर हे परम कृपालु यदि आप मेरे ऊपर प्रसन्न हो रहे हैं, तो भगवन् मेरी यह विनम्र प्रार्थना है कि, आप अपने शासनों (शास्त्रों के सन्देश) द्वारा सारी जनता को ऐसी बना दें कि, उसके समस्त अज्ञानान्धकार का ध्वंस हो जाये और उसे परम शान्ति का लाभ तत्काल मिल जाये ॥ २९ ॥

महामाहेश्वर ने इस क्रम स्तोत्र द्वारा शिव की कब और किस समय स्तुति की थी, उन्हें इस रचना का समाश्रावण किया था, इस श्लोक में यही व्यक्त कर रहे हैं—

उनके अनुसार तत्कालीन प्रचलित कश्मीर सम्वत् का वह छाछठवाँ संवत्सर था। नवमी तिथि थी। कृष्णपक्ष था और दिन का सुहाना समय था। मार्गशीर्ष का महीना था। अर्थात् मार्गशीर्ष कृष्ण नवमी संवत् ६६ में इस स्तोत्र की रचना महामाहेश्वर आचार्यवर्य श्री अभिनव गुप्त ने की थी। इसे स्वयं शिव को सुनाया था। स्तुतः शिवः से यह स्पष्ट प्रतीति हो रही है कि, चन्द्रमौलि के मन्दिर में इसे स्वयं सुनाया था ॥ ३० ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित
डॉ॰ परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक हिन्दीभाष्यसंवलित
कमस्तोत्र परिपूर्ण

॥ इति शिवम् ॥

[१०]

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिता

डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेकभाषाभाष्यसंवलिता

अनुत्तराष्टिका

संक्रामोत्र न भावना न च कथायुक्तिर्न चर्चा न च
ध्यानं वा न च धारणा न च जपाभ्यासप्रयासो न च।
तत्किं नाम सुनिश्चितं वद परं सत्यं च तच्छ्रूयतां
न त्यागी न परिग्रही भज सुखं सर्वं यथावस्थितः ॥ १ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यं श्रीमदभिनवगुप्तविरचिता

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलिता

अनुत्तराष्टिका

सांसारिक सामाजिक मर्यादाओं के व्यावहारिक यथार्थ का परिवेश अपना अलग महत्त्व रखता है। जहाँ तक साधना और उपासना का परिवेश है, इसमें उससे कोई समानता नहीं होती। एक साधक क्या करे, कैसे अपने पथ को प्रशस्त करे, कैसे अनुत्तर में अनुप्रवेश पा सके, इस सत्य को समझाने के लिये स्तोत्रकार साधकों को समझा रहे हैं—

साधक किसी के प्रभाव में आकर अपनी बुद्धि को वैचारिक संक्रमण का शिकार न बनने दे। भावना के प्रवाह में न बहे, किसी कथा कहानी या युक्तिवाद से प्रभावित न हो, किसी चर्चा में न रहे, किसी भेदवर्द्धक मुख, शरीर या चरण आदि का तथा किसी घटना आदि का ध्यान न करे, किसी धारणा के बन्धन में न पड़े, जप और योगाभ्यास आदि के प्रयास में अपना समय न बिताये।

संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्तैव का
बन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्तिक्रिया ।
मिथ्यामोहकृदेष रज्जुभुजगच्छायापिशाचभ्रमो
मा किंचित्त्यज मा गृहाण विलस स्वस्थो यथावस्थितः ॥ २ ॥

इतना सुनने के बाद एक जिज्ञासु से रहा नहीं गया। उसने पूछा, भगवन् ! यदि इन उक्त बातों से अलग रहना ही साधना के लिये आवश्यक है, तो उसे किसी सुनिश्चित मार्ग का उपदेश करें। वह क्या करे और कैसे रहे। जीवन का सर्वोच्च सत्य क्या है ? इसे समझाने की कृपा करें गुरुदेव !

इतना सुन कर उन्होंने आदर के साथ कहा वत्स ! सुनो। मैं वही बताने जा रहा हूँ—जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण विज्ञान है—हेयोपादेय विज्ञान। यह हेय है, इसका त्याग करना चाहिये, यह उपादेय है, इसको ग्रहण करना चाहिये, ये दोनों विचार भेदवाद को जन्म देते हैं। आप न तो किसी को हेय मानकर उसका त्याग करो और न उपादेय मानकर उसका ग्रहण करो। इन दोनों व्यावहारिकताओं से अलग जैसे निरपेक्ष रूप से अवस्थित हो, वैसे ही तटस्थ साक्षीभाव में रहो और निर्विकल्प में लय होने का ही भजन करो ॥ १ ॥

लोग प्राणियों के बन्धन की बात करते हैं। उनसे एक उपासक पूछ रहा है कि, भाइयो ! सारे शास्त्र संसार को असत्य कहते हैं। जब संसार है ही नहीं, तो बन्धन का प्रश्न ही नहीं उठता ? उसकी बात ही क्या करनी, जिसका अस्तित्व ही सन्दिग्ध है।

दूसरी विचारणीय बात यह भी है कि, जिसका बन्ध ही असिद्ध है, उसकी मुक्ति प्रक्रिया के विषय में क्या चिन्ता ? यह नितान्त व्यर्थ बात है। लोक में ओट में पड़ी रस्सी या अन्धकार में पड़ी रस्सी पर पैर पड़ जाने पर साँप को भ्रान्ति से भय होना पाया जाया है। इसे रज्जु भुजगन्याय

पूजापूजकपूज्यभेदसरणिः केयं यथानुत्तरे
संक्रामः किल कस्य केन विदधे को वा प्रवेशक्रमः ।
मायेयं न चिदद्वयात्परतरा भिन्नाप्यहो वर्तते
सर्वं स्वानुभवस्वभावविमलं चिन्तां वृथा मा कृथाः ॥ ३ ॥

कहते हैं। इसी तरह कभी छाया में भी पिशाच का भ्रम उत्पन्न हो जाता है। ये दोनों स्थितियाँ भ्रामक हैं और मिथ्या भाव से भावित कर व्यक्ति को मोह-मुग्ध कर देने वाली मानी जाती हैं। इसलिये सबके लिये एक ही राजमार्ग है, जिस पर चल कर श्रेयस् को पाया जा सकता है। वह मार्ग है—संसार में सर्वत्र शिव की व्याप्ति के आधार पर किसी पदार्थ के त्याग की बात नहीं करनी चाहिये। इसी तरह किसी में ग्रहण की आसक्ति भी नहीं होनी चाहिये। स्वात्मभाव में जैसे स्वाभाविक रूप से रहते हो, रहो और सर्वदा स्वात्म शिवत्व का अनुसन्धान कर उल्लसित अर्थात् प्रसन्न रहो ॥ २ ॥

आप पूजा कर रहे हैं। यह एक काम अलग है। पूजा कर रहे हैं, तो आप पूजक हैं। आप जिसकी पूजा कर रहे हैं, वह पूज्य है। इस तरह यह एक भेदवादी पद्धति को ही आप पुष्ट कर रहे हैं। अनुत्तर मार्ग में इसके लिये कोई स्थान नहीं होता। जब प्रवेश क्रम को ही मान्यता नहीं दी जा सकती, तो यह संक्राम की प्रक्रिया कहाँ, किसके द्वारा और किस उद्देश्य से मानी जा सकती है।

चैतन्यमय अद्वय भाव की व्याप्ति के अतिरिक्त इस माया के पृथक् अस्तित्व की कल्पना कैसे की जा सकती है। यह उससे भिन्न नहीं मानी जा सकती। इसलिये निश्चय रूप से यह दृढ़ता अपने मन में आनी चाहिये कि, यह सारा का सारा वैचारिक अवान्तर रूप स्वानुभव स्वभाववान् है। इसलिये इसे विमल रखना ही श्रेयस्कर है। व्यर्थ की चिन्ता करने की कोई

आनन्दोऽत्र न वित्तमद्यमदवन्नैवाङ्गनासङ्गवत्
दीपार्केन्दुकृतप्रभाप्रकरवन् नैव प्रकाशोदयः ।
हर्षः संभृतभेदमुक्तिसुखभूर्भारावतारोपमः
सर्वाद्वैतपदस्य विस्मृतनिधेः प्राप्तिः प्रकाशोदयः ॥ ४ ॥

रागद्वेषसुखासुखोदयलयाहङ्कारदैन्यादयो
ये भावाः प्रविभान्ति विश्ववपुषो भिन्नस्वभावा न ते ।
व्यक्तिं पश्यसि यस्य यस्य सहसा तत्तत्तदेकात्मता-
संविद्रूपमवेक्ष्य किं न रमसे तद्भावनानिर्भरः ॥ ५ ॥

आवश्यकता नहीं । शर्त यही है कि, सर्वदा चैतन्य के चिन्मय अद्वय भाव में अवस्थित रहना चाहिये ॥ ३ ॥

संसार में कई प्रकार के आनन्द का अनुभव संसारी लोग करते हैं। योगियों द्वारा अनुभूत आनन्द तो कुछ दूसरा ही है। न वह धन प्राप्ति के सुख की तरह है। न मद्यपान के नशे को तरह है। न कामानन्द की तरह है और न ही किसी अङ्गना के संसर्ग जैसा ही है। इससे समुन्मिषित प्रकाश की परिभाषा भी विचित्र है। न वह दीप की तरह का है, न सूर्य के प्रकाश की तरह है। उस चैतन्य का प्रकाश एक अद्भुत और इनसे व्यतिरिक्त प्रकाश होता है। इसमें भुक्ति और मुक्ति के सुखों का सामरस्य है। सांसारिक संसृतिरूपा भेदमयता की मुक्ति से उत्पन्न महान् हर्ष को वह पावन भूमि है। इसके समुदय हो जाने पर मानो संसार का भार ही मिट जाता है। भार ढोने वाला भार उतार देने पर जो आनन्द पाता और जिस राहत में सुख की साँस लेता है, उसी के समान संसृति के भार के समाप्त हो जाने पर यह उपलब्ध हो जाता है। लोगों को अद्वैततत्त्वमय सार्वात्म्यबोध रूप निधि खो गयी है। खोई हुई विस्मृति निधि के मिलने का जो सुख होता है, वही आनन्द इस प्रकाश के उदय में उल्लसित होता है ॥ ४ ॥

पूर्वाभावभवक्रिया हि सहसा भावाः सदाऽस्मिन्भवे
मध्याकारविकारसङ्करवतां तेषां कुतः सत्यता ।
निःसत्ये चपले प्रपञ्चनिचये स्वप्नभ्रमे पेशले
शङ्कातङ्ककलङ्कयुक्तिकलनातीतः प्रबुद्धो भव ॥ ६ ॥

राग-द्वेष, सुख-दुःख, उदय-लय, अहङ्कार-दैन्य आदि जितने प्रकार के भावोल्लास इस विश्व में अनुभूत किये जाते हैं, ये सभी विश्व शरीर परमेश्वर से भिन्न नहीं हैं। इन्हें शिव भिन्न स्वभाववान् नहीं कहा जा सकता। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न प्रकार के उन संवाद स्वभावों को देख कर आप के मन में यह निश्चय हो जाना चाहिये कि, हमें केवल शैव महाभाव में ही रमण करना चाहिये ॥ ५ ॥

गीता का २।२८ श्लोक है—अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव, तत्र का परिदेवना ? ॥ अर्थात् पहले नहीं था। अन्त में भी नहीं रहेगा। मात्र यह व्यक्त मध्य जगत् है। न्यायदर्शन इसे अत्यन्ताभाव अभाव आदि शब्दों से व्यक्त करता है। आगम इसे पूर्वाभाव भवक्रिया मानता है। यह पूर्वाभाव मयूराण्डरसन्यास के अनुसार शैवसद्भाव में स्फुरित रहता है। यही पूर्वाभाव की भवक्रिया है।

संसार की उत्पत्ति के समय ये जादू की पिटारी से निःसृत विचित्र वस्तुओं की तरह पृथक्-पृथक् रूपों में सहसा रूपायित हो जाते हैं। इनका यह मध्याकार होता है। इनमें फिर विकार आता है। फिर से लय होते, उदित होते और मध्याकार ग्रहण करते हैं। इससे संसृति चक्र के लयोदय से इनमें सांकर्य आ जाता है। ऐसी दशा में इनकी सत्यता कहाँ रह गयी। ये रूपान्तरित होने वाले, इसी दृष्टि से असत्, चपल, प्रपञ्चमय और आकर्षक स्वप्न की तरह व्यक्ति को व्यामोह में डालते रहते हैं। इसका साधक को सदा आकलन करना चाहिये। स्तोत्रकार सबको उद्‌बोधित कर रहे हैं कि, प्रिय आत्मन् ! आप शङ्काओं से भरे और शङ्काओं के आतङ्क से कलङ्कित

भावानां न समुद्भवोऽस्ति सहजस्त्वद्भाविता भान्त्यमी
निःसत्या अपि सत्यतामनुभवभ्रान्त्या भजन्ति क्षणम् ।
त्वत्संकल्पज एष विश्वमहिमा नास्त्यस्य जन्मान्यतः
तस्मात्त्वं विभवेन भासि भुवनेष्वेकोप्यनेकात्मकः ॥ ७ ॥

यत्सत्यं यदसत्यमल्पबहुलं नित्यं न नित्यं च यत्
यन्मायामलिनं यदात्मविमलं चिद्दर्पणे राजते ।
तत्सर्वं स्वविमर्शसंविदुदयाद् रूपप्रकाशात्मकं
ज्ञात्वा स्वानुभवाधिरूढमहिमा विश्वेश्वरत्वं भज ॥ ८ ॥

युक्तियों की कलना को अतिक्रान्त कर सर्वातीत स्वरूप को उपलब्ध हो जाओ। आप स्वयं प्रबुद्धत्व को प्राप्त करो ॥ ६ ॥

भावों की उत्पत्ति यह प्रयोग ही निराधार है। भाव तुझमें ही सहज रूप से शाश्वत स्फुरित हैं। तुझसे भावित रहते हुए ये आभासित हो रहे हैं। इनकी सत्यता के सम्बन्ध में क्या कहा जाय ? मनीषी वृन्द कहता है कि, इनकी सत्यता अनुभव जन्य भ्रान्ति पर ही आधृत हैं। ये क्षणिक वर्त्तमान में अवस्थित भात होते हैं। विश्व का सारा का सारा समुद्भव तुम्हारे संकल्प से ही होता है। इसमें किसी प्रकार के जन्म आदि का प्रकल्पन भी असत्य कल्पन ही है। इन तथ्यों पर विचार करने के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि, तुम स्वयम् स्वात्मवैभव से ही अकेले भासित हो रहे हो। तुम यद्यपि एक ही हो किन्तु इस अनेकात्मकता में भी तुम्हीं भासित हो ॥ ७ ॥

इस विश्व वैचित्र्य का अनुदर्शन करते रहना चाहिये। जो यहाँ सत्य है या जो असत्य है, यहाँ जो अल्प है या असंख्य या अनन्त है, जो नित्य है या अनित्य है, सब इसी विचित्रता के प्रतीक है। इसमें कुछ पदार्थ माया से मलिन और कुछ अत्यन्त निर्मल हैं। यह सब चिन्मय चैतन्य के दर्पण में

ही शोभित हो रहा है। इतना उद्बोधित कर स्तोत्रकार उपासक जगत् को सावधान कर रहे हैं कि, प्रिय आत्मन्! इस विस्मय भरे संसार को समझो इसे गुनो और इसके रहस्य का उद्धार करने में समर्थ हो जाओ। स्वानुभव में निरूढ़ रहने के माहात्म्य का अनुसन्धान कर और स्वयं को वैश्वात्म्य-विलसित सर्वेश्वर समझ कर अपने जीवन को धन्य बना लो ॥ ८॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तविरचित
डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर विवेक भाषाभाष्य संवलित
अनुराष्टिका
परिपूर्णं
॥ इति शिवम् ॥

[११]

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिता

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलिता

परमार्थचर्चा

अर्केन्दुदीपाद्यवभासभिन्नं नाभात्यतिव्याप्ततया ततश्च ।
प्रकाशरूपं तदियत् प्रकाश्यप्रकाशताख्या व्यवहार एव ॥ १ ॥

ज्ञानाद्विभिन्नो न हि कश्चिदर्थंस्तत्तत्कृतः संविदि नास्ति भेदः ।
स्वयंप्रकाशाच्छतमैकधाम्नि प्रातिस्विकी नापिविभेदितास्यात् ॥२॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यंवर्याभिनवगुप्तविरचित

डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्य संवलित

परमार्थचर्चा

विश्व में सूर्य प्रकाशमान प्रत्यक्ष ब्रह्म माना जाता है। इसके प्रकाश में ही विश्व जीवन का रहस्य निहित है। दूसरा प्रकाशमान स्वरूप चन्द्र का है। इसके शीतल प्रकाश से विश्व का आप्यायन होता है। तीसरा मुख्य प्रकाश दीपक प्रदान करता है। किन्तु वह पारमार्थिक प्रकाश इन प्रकाशों को अतिक्रान्त कर अवस्थित है। सर्वत्रव्याप्त होने से उसका प्रकाश अनुभूति का विषय बन जाता है। साथ ही यह तथ्य भी ज्ञात हो जाता है कि, जिसे प्रकाश मान रहे हैं, जिससे पदार्थ प्रकाश्य हैं और उससे जिस प्रकाशता का लाभ मिल रहा है, यह सब मात्र व्यवहार ही है। इससे व्यावहारिकता का निर्वाह मात्र ही सम्भव है ॥ १ ॥

कोई अर्थ ज्ञान से भिन्न नहीं होता। पदार्थ अनन्त होते हैं। इस आनन्त्य में भेद भी अनुभूत होते हैं। यह भेद बुद्धि सत्य नहीं है। संवित्

इत्थं स्वसंविद्धन एक एव शिवः स विश्वस्य परः प्रकाशः
तत्रापि भात्येव विचित्रशक्तौ ग्राह्य-गृहीतृ-प्रविभाग भेदः ॥३॥
भेदः स चायं न ततो विभिन्नः स्वच्छन्दसुस्वच्छतमैकधाम्नः ।
प्रसादहस्त्यश्वपयोदसिन्धुगिर्यादि यद्वन्मणिदर्पणादेः ॥ ४ ॥

तत्त्व में भेद नहीं होता । ये अनन्त भेद केवल ऊपर से दीख पड़ते है। आन्तरिक रूप से सब एक हैं। परमेश्वर स्वयं प्रकाश तत्त्व है। प्रकाश में 'नैर्मल्य' नामक एक स्वच्छतम धर्म होता है । उस सर्वोत्तम प्रकाशमय सर्वाधिक निर्मल एकमात्र धाम में प्रातिस्विकी विभेदिता का अस्तित्व नहीं होता। प्रति पदार्थ के आधार पर ही प्रातिस्विक भेद संभव है। प्रकाश ऐसा कुछ हो ही नहीं सकता ॥ २ ॥

इस तरह साधक को यह सत्य अनुभूत हो जाता है कि, स्वात्मसंविद्घन एकमात्र शिव तत्त्व है। वह विश्वव्याप्त स्वयं प्रकाश तत्त्व है। संवित् स्वयं प्रकाश रूप होती है। अत एव शिव भी प्रकाशघन तत्त्व है। इस अवस्था में एक वास्तविकता पर मनीषी का ध्यान अवश्य जाता है। वह यह कि, शिव शक्तिमान् तत्त्व है। शक्ति तत्त्व यद्यपि शिवतत्त्व से पृथक् नहीं होता फिर भी वह एक भेदात्मकता की प्रतीति होतो है। वस्तुतः शक्ति शाश्वत रूप से ग्राहिका होती है। शिव शाश्वत ग्राह्य तत्त्व है। ग्रहण धर्म महत्त्वपूर्ण धर्म है। शिष्य गुरु से ग्रहण कर गुरु रूप हो जाता है। माता वीर्य ग्रहण कर पुत्र प्रदान करती है। इसी तरह शक्ति सर्वग्राहिका बन विश्वरूप में प्रतिफलित हो जाती है । यही शिव-शक्ति विभेदिता का मर्म है ॥ ३ ॥

विचित्र बात तो यह है कि, यह भेद मूल से भिन्न नहीं माना जा सकता। दर्पण में पदार्थ का प्रतिबिम्ब बिम्ब पदार्थ से भिन्न हो ही नहीं सकता। स्वच्छन्द शिवतत्त्व जिसे हम अत्यन्त सुस्वच्छतम धाम कहते हैं, वही स्वात्मदर्पण में प्रतिबिम्बित होता है और बिम्बप्रतिबिम्ब मय भेद अज्ञ

आदर्शकुक्षौ प्रतिबिम्बकारि सबिम्बकं स्याद्यदि मानसिद्धम् ।
स्वच्छन्दसंविन्मुकुरान्तराले भावेषु हेत्वन्तरमस्ति नान्यत् ॥५॥
संविद्घनस्तेन परस्त्वमेव त्वय्येव विश्वानि चकासति द्राक् ।
स्फुरन्ति च त्वन्महसः प्रभावात् त्वमेव चैषां परमेश कर्ता ॥६॥

लोगों को भ्रम में डाल देता है । दर्पण में या निर्मल मणि में बड़े-बड़े भवन हाथी, घोड़े, बादल, समुद्र पर्वत आदि सभी प्रतिबिम्बित होते हैं। इससे वे भिन्न नहीं हो जाते वरन् वही रहते हैं ॥ ४ ॥

दर्पण माता के गर्भ के समान होता है। उपनिषद् कहती है—'आत्मा वै जायते पुत्रः' स्वयं पिता का आत्मा मातृगर्भ से पुत्र में प्रकट हो गया होता है। दर्पणगर्भ में हाथी पड़ा और हाथी का बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप में प्रकट हो गया। यह मान सिद्ध अर्थात् प्रमाण से प्रमाणित सत्य है कि, प्रतिबिम्ब सबिम्बक होता है। इसी तरह परमस्वच्छन्द शिव संवित्ति दर्पण के अन्तराल में व्याप्त नैर्मल्य में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दात्मक पदार्थ रूप भावों के प्रतिबिम्ब भाव के प्रकटन में किसी दूसरे कारण के ढूँढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं ॥ ५ ॥

यदि बिम्ब से प्रतिबिम्ब पृथक् नहीं होता, तो यह सोचने की बात है कि, हम, आप, तुम वह आदि सर्वनामों से बोधित पुरुष शिव बिम्ब से पृथक् कैसे माने जा सकते हैं। शास्त्रकार समझा रहे हैं कि, प्रिय आत्मन् ! आप भी शिव हो साक्षात् शिव ! वह संविद्घन पर परमेश्वर आप ही हो। यह सारा विश्व आप में ही प्रतिबिम्बित है। आप में प्रकाशित है अर्थात् स्वात्म ही प्रकाशमान हो रहा है। यह आप के परम नैर्मल्य का प्रभाव है। आप ही इसके कर्त्ता हो। आप ही परमेश हो। यही शैव महाभाव की समझ है। शास्त्र कहता है—'यह सुन्दर सृष्टि मुझसे ही उदित है, मुझ में ही प्रविलीन होती है। मुझसे यह नितान्त अभिन्न है।' इस पूर्ण दृष्टि से सोचना, अपनी अपूर्णता के परमावरण का निराकरण करना साधक का परम धर्म है ॥ ६ ॥

इत्थं स्वसंवेदनमादिसिद्धमसाध्यमात्मानमनीशमीशम् ।
स्वशक्तिसम्पूर्णमदेशकालं नित्यं विभुं भैरवनाथमीडे ॥ ७ ॥

सद्वृत्तसप्तकमिदं गलितान्यचिन्ताः
सम्यक् स्मरन्ति हृदये परमार्थकामाः ।
ते भैरवीयपरधाम मुहुर्विशन्ति
जानन्ति च त्रिजगतीपरमार्थचर्चाम् ॥ ८ ॥

यह आदि सिद्ध संवेदन है। स्वात्म संवेदन असाध्य है। इसे साधना क्या ? यह परम सत्य है पर विस्मृत हो गया है। आप ईश होते हुए भी अनीश हो गये हो। अनात्म हो गये हो। स्वात्म में अनात्म के इस आधान को ध्वस्त कर दो मेरे आत्मन् ! अनीशता को उतार फेंको। स्वयम् आप ही ईश हो, यही सत्य है। इस सत्य के मर्म को समझो। आप कहो कि, मैं स्वात्मशक्ति से सम्पन्न सम्पूर्ण, देश काल की सीमा से अतीत, नित्य शाश्वत विभु स्वात्म भैरवनाथ को स्वयं प्रणाम कर रहा हूँ ॥ ७ ॥

परमार्थ के चिन्तक इस परमार्थ चर्चा का सतत चिन्तन करते हैं, स्मरण करते हैं और इसी चिन्ता में रम जाते हैं। उन्हें अन्य विश्वात्मक चिन्तायें होती ही नहीं। वे स्वयं विगलित हो जाती हैं। उनके हृदय में शाश्वत सत्य का उल्लास रहता है। वे भैरवीय स्वात्म धाम में धीरे से प्रवेश पा जाते हैं। घर में एक बार प्रवेश पा जाने वाला बार बार आने जाने का अधिकारी हो जाता है। वे यह जान जाते हैं कि, इस त्रैलोक्य का मर्म क्या है ? यही परमार्थ चर्चा है ॥ ८ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्त विरचित
डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलित
परमार्थचर्चा परिपूर्ण
॥ इति शिवम् ॥

[१२]

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचितम्

डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलितम्

अनुभवनिवेदनम्

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरसौ पश्यन्नपश्यन्नपि ।
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा युष्मत्प्रसादाद् गुरो
शून्याशून्यविवर्जितं भवति यत् तत्त्वं पदं शाम्भवम् ॥ १ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित

डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक हिन्दीभाष्यसंवलित

अनुभवनिवेदन

योगी अन्तर्लक्ष्य होता है। श्वासजित् होता है। प्राणपानवाह प्रक्रिया में सिद्ध होता है। अतः चित्त और पवन प्राण को अन्तर्विलीन करने में समर्थ हो जाता है। वह त्राटक सिद्ध होता है। उसकी दृष्टि एक तारक विन्दु पर स्थिर होती है। तार प्रणव को भी कहते हैं। अतः ओंकार रूप एकाक्षर ब्रह्म में निहित हो रम रहती है। वह बाहर देखता हुआ भी ब्रह्म साक्षात्कार में ही समाहित रहता है। यही शाम्भवी मुद्रा है। शाम्भव समावेश सिद्ध की यह स्वाभाविकी मुद्रा मानी जाती है।

साधक श्रद्धालु शिष्य कहता है कि, गुरुदेव यह सब आप के कृपा-प्रसाद से हुआ है। आप ने ही इस परमसत्य का साक्षात्कार करा दिया है कि, शाम्भव पद शून्याशून्य विवर्जित होता है ॥ १ ॥

अर्धोद्घाटितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपगतौ त्रिस्पन्दभावान्तरे ।
ज्योतीरूपमशेषबाह्यरहितं चैकं पुमांसं परं
तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम् ॥ २ ॥

शब्दः कश्चन यो मुखादुदयते मन्त्रः स लोकोत्तरः
संस्थानं सुखदुःखजन्मवपुषो यत्कापि मुद्रैव सा ।
प्राणस्य स्वरसेन यत्प्रवहणं योगः स एवाद्भुतः
शाक्तं धाम परं ममानुभवतः किन्नाम न भ्राजते ॥ ३ ॥

त्राटक में समस्त रहस्यार्थ के विज्ञात हो जाने के कारण आँखें आधी खुल गयी हैं। चित्त स्थिर हो गया है। सिद्ध आसन पर एकाग्र भाव से नासिका के अग्रभाव पर मेरी दृष्टि स्थिर है। चन्द्र रूप अपान और अर्क रूप प्राण ये दोनों स्वात्म संविद् में विलीन हो गये हैं। नर, शक्ति और शिव रूप, या अपर, परापर और पर भाव अथवा भूभुर्वःस्वर्भाव अथवा ॐतत् सत् भावात्मक त्रिस्पन्दभाव में मेरो स्वता स्वयम् उल्लसित है।

मैं एक परम ज्योति का साक्षात्कार कर रहा हूँ। इसमें केवल वही है। बाह्य का अनुदर्शन नहीं है। एक परम पुरुष उस परम में अभिव्यक्त है। वही परम तत्त्व है। परम पद है। साधक उस पद पर अधिष्ठित होने को योग यात्रा सम्पन्न करता है। वहीं पहुँचता है। यह स्तोत्रकार भी उस पद पर अधिष्ठित हो गया है। अब इस विषय में, इससे अधिक कहा ही क्या जा सकता है? ॥ २ ॥

मुखारविन्द मकरन्दरस से सिक्त मेरे शब्द ही लोकोत्तर मन्त्र बन गये हैं। सुख दुःखादि की उत्पत्ति की आधार इस काया में प्रत्यक्ष दीख पड़ने वाले मेरी स्थिति ही मुद्रा है। प्राणापानवाह की प्रक्रिया ही मेरा योग है। मैं परम शाक्त धाम का साक्षात्कार कर रहा हूँ। मेरे समक्ष विश्व का

मन्त्रः स प्रतिभाति वर्णरचना यस्मिन्न संलक्ष्यते
मुद्रा सा समुदेति यत्र गलिता कृत्स्ना क्रिया कायिकी ।
योगः स प्रथते यतः प्रवहणं प्राणस्य संक्षीयते
त्वद्धामाधिगमोत्सवेषु सुधियां किं किं न नामाद्भुतम् ॥ ४॥

॥ इति अनुभवनिवेदनम् ॥

कौन ऐसा रहस्य है, जो विभ्राजित नहीं हो रहा है ? अर्थात् परमार्थ रहस्य दर्शन का मेरा अधिकार सिद्ध हो गया है ॥ ३ ॥

मेरे मन्त्र की मन्त्रसत्ता का मेरे अस्तित्व में शाश्वत भान हो रहा है। इसमें वर्ण रचना संलक्षित नहीं हो रही है। मुद्रा का स्वभाव ही मोदमयता है। इसमें काया की सारी सक्रियता विलीन हो गयी है। योग का जानना हो, तो मेरे द्वारा प्रयुक्त और प्रथित प्रक्रिया को समझिये। इसमें प्राणापान प्रवाह का सम्यक् रूप से क्षय हो जाता है। मेरे आराध्य सर्वेश्वर शिव ! आप के बोध के महोत्सव में अनवरत मना रहा हूँ। ऐसे स्वबोधसिद्ध सुधी वर्ग के मन्त्र, मुद्रा और योग के व्यवहार में ही नहीं, अपितु इनकी जीवन सरणी में ऐसे कौन से व्यवहार हैं, जो अद्भुत नहीं होते। अर्थात् ऐसे लोग विस्मय जनक सिद्धियों के आधार होते हैं ॥ ४ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्त विरचित
डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलित
अनुभव निवेदनम् परिपूर्ण
॥ इति शिवम् ॥

मूलश्लोकादिपंक्तिक्रमः

त्रिंशमाह्निकम्

श्लोकाद्यपंक्तयः	श्लोकसंख्या

एकत्रिंशमाह्निकम्

द्वात्रिंशमाह्निकम्

त्रयस्त्रिंशमाह्निकम्

चतुस्त्रिंशमाह्निकम्

पञ्चत्रिंशमाह्निकम्

षट्त्रिंशमाह्निकम्

सप्तत्रिंशमाह्निकम्

उद्धरणश्लोकादिपंक्तिक्रमः

त्रिंशमाह्निकम्

एकत्रिंशमाह्निकम्

द्वात्रिंशमाह्निकम्

त्रयस्त्रिंशमाह्निकम्

चतुस्त्रिंशमाह्निकम्

पञ्चत्रिंशमाह्निकम्

षट्त्रिंशमाह्निकम्

सप्तत्रिंशमाह्निकम्

विशिष्टशब्दादिक्रमः

विशिष्टोक्तयः

गुरवः ग्रन्थकाराश्च

शास्त्रक्रमः

नामानि	पृष्ठाङ्का
अधर शासनम्	३३२
अभिनवप्रोम्भितं	३८८
अर्धत्र्यम्बकाभिख्या	३२०,३७३
अशेषतन्त्रसारम्	३४१
आनन्दशास्त्रम्	३३३
आनन्दसन्ततिमहार्णव कर्णधारः	३७०
ईशशास्त्रम्	७१
कामिकः	२०८
कामिकशास्त्रम्	२१३
काली कुलम्	२९६
कुलगह्वरशास्त्रम्	२१४
कृष्ण वाक्यम्	३७४,३८३
गह्वरशासनम्	२१७
गुह्यशासनम्	१२४
तन्त्रविभागः	३१५-३१७
तन्त्र सद्भाव शासनम्	३९,१२४
तन्त्रालोकः	३२१
त्रिकम्	२९५
त्रिककुलम्	१२४
त्रिकज्ञानम्	११९
त्रिकशासनम्	१२०
त्रिकसद्भावशास्त्रम्	१२४
त्रिकहृदयशास्त्रम्	१२२
त्रिशिरः शास्त्रम्	२३
त्रिशिरोभैरवः	२६,२१८
त्रिशिरोभैरवशास्त्रम्	१२४,१५३
त्रिशिरोभैरवीयम्	१४३
त्रैयम्बकप्रसरः	३७१

संकेतग्रहः

संकेत	संकेतः	पृष्ठाङ्का
ई० प्र०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा	१५,१६
मा० वि०	मालिनीविजयोत्तर तन्त्रम्	२७,२९,४३,२३२,२३५,२३६, २३८,२३९
शि० सू०	शिवसूत्रम्	३३९
स्व०	स्वच्छन्दतन्त्रम्	१५,१६

शुद्धिनिर्देशः

अपमुद्रण संशोधनक्रमः

अशुद्धमुद्रणम्	शुद्धरूपम्	पृष्ठाङ्काः	पंक्तिततयः
अता	अतो	२०६	५
आगमा	आगमो	२८६	६
काला	कालो	१४	६
त्विबयम्	त्वियम्	३७	६
यध्यी	दैध्यी	१४८	८
दुयक्तं	यदुक्तं	४०	४
देवीत्रयंस्वापि	देवीत्रयस्यापि	२१	
नृ	नु	२७२	७
परस्पसंश्लेषेण	परस्पर संश्लेषेण	१३८	२
पूर्ववक्त्र	पूर्ववक्त्रं	२४	२४
प्रकर्षंण	प्रकर्षण	३८९	२
महादेवि	महादेवि	५१	१
मेढ्राधा	मेढ्राधो	२०५	७
शङ्क	शङ्कय	३७०	६
शलाग्र	शूलाग्र	१४७	६
शाकला	शकला	१७५	३
शिवत्वो	शिवत्वे	२८५	९
संष	सैष	१६५	
३६	३७	३३	

स्वात्मनिवेदनम्

आराध्या मे मयि कृतवती याममेयानुकम्पाम्
तस्यास्तत्त्वात्परिणतिरियं यन्मया भव्यभाष्यम् ।
तन्त्रालोकस्यथ विलिखितं क्षीर-नीर-प्रवेका—
भिख्यं शुभ्रं, शिखरयशसा योजितोऽहं जनन्या ॥ १ ॥

'हंसः' सोहं स्वयमनुभवाम्यात्मतत्त्वं प्रकाशं,
पश्यामीशां विकसितविभां चिन्मये चिद्विमर्शे ।
उल्लासेऽस्मिन् लसति शिवता-शक्तिता-सामरस्यं
तन्त्रालोके तदतिदयितं तन्मयत्वं मदीयम् ॥ २ ॥

वाराणस्यां निवासे प्रकृतिपरिसरे संविधायात्मसंस्थां,
तन्त्रालोकस्य भाष्यं लिखितमिह मया मातृमोदाय मञ्जु ।
कार्येऽस्मिन् तावकीने ह्यतिशयमहिते मातरासं तवैव,
भक्त्याऽऽविष्टो विशिष्टस्तव चितिचरणे चञ्चरीको मरालः ॥३॥

आसं प्राक् सुप्रसिद्धे जनपदबलियासीम्नि संशोभमाने
श्रीसम्पन्ने सुरम्ये मलयनगरके शोभने सन्निवेशे ।
भ्राता ज्येष्ठः सुविद्यः निवसति सुजनः रामजीमिश्रवर्यः
पुत्रैः पौत्रैः सुपूर्णः विलसति कुशलस्तत्र विद्यावरिष्ठः ॥ ४ ॥

विद्येशानां वरेण्यात् विविधविधिनिधेः सर्वशास्त्रार्थसिद्धात्
प्राप्ता साहित्यशिक्षा सहृदयहृदयात् गौरवेणाग्रगण्यात् ।
सूपाध्यात्सुविज्ञात् प्रथितमतिमहादेवसंज्ञात् विदेहात्
दीक्षा काश्मीरदेशे त्रिकविदितगुरोः लक्ष्मणात् सिद्धशैवात् ॥ ५ ॥

माता शाण्डिल्यगोत्रा ह्यतिशयमहिता वन्द्यवंश्या मदीया
ह्यासीद्विद्यावरेण्या ममजनिमुदिताऽशौषमन्यैः स्ववर्ग्यैः ।
षष्ठेमास्येव वत्सं ह्यसमयविवशं मां शिशुं संविहाय
पञ्चत्वं सा ह्ययासीत् अशनिनिपतनं कैः विसोढं न जाने ॥ ६ ॥

सा गता मां जगन्मातुः समर्प्यपदपद्मयोः ।
मातृहीनोऽपि पुत्रोऽस्मि पराम्बायाः कृपास्पदः ॥ ७ ॥

काश्यामधीत्य राष्ट्रस्य गौरवाय मया कृता,
यथाशक्यं परा सेवा पारतन्त्र्यनिवृत्तये ॥ ८ ॥

संस्कृतज्ञे जगत्येकः स्वातन्त्र्यान्दोलने रतः ।
सेनानी परमाचार्यः सोऽहं हंसोऽस्मि विश्रुतः ॥ ९ ॥

सूर्यनारायणः सूनुः मे माया ललिते सुते ।
मयङ्कालोकसत्येन्द्रराजेन्द्राः पौत्रकाः मम ॥ १० ॥

क्रमाज्ज्येष्ठाः, भ्रातृपुत्रावजयः कमलापतिः ।
प्रपौत्रामित आनन्दात् पूर्णाभ्यागारिकोऽधुना ॥ ११ ॥

नित्यंचिद्रसपीयूषं पायं पायं परात्मनः ।
शरणे विश्वनाथस्य सानन्दं निवसाम्यहम् ॥ १२ ॥

गणनाथं शिवं शक्तिम् अन्नपूर्णां च भैरवम् ।
काशीं गुरून् स्वात्मशिवं स्मराम्यन्ते समाहितः ॥ १३ ॥

●